अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

(PRINCIPLES OF ECONOMICS)

(द्वितीय वर्ष वाणिज्य के नवीन पाठ्यक्रमानुसार)

लेखक

फूलचन्द अग्रवाल	मातादीन अग्रवाल
एम०ए०, एम०कॉम०	एम०कॉम०
अध्यक्ष	प्राध्यापक
आर्थिक प्रशासन एवं वित्तीय प्रबन्ध विभाग, अग्रवाल महाविद्यालय, जयपुर	आर्थिक प्रशासन एवं वित्तीय प्रबन्ध विभाग, वाणिज्य अध्ययन संस्थान, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर



दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त राजस्थान विश्वविद्यालय के द्वितीय वर्ष वाणिज्य के नवीन पाठ्यक्रमानुसार लिखी गई है। यद्यपि अर्थशास्त्र विषय से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं परन्तु वे द्वितीय वर्ष वाणिज्य के विद्यार्थियों के उद्देश्य की पूर्ति नही करती हैं। कुछ मे तो पाठ्यक्रम से बहुत अधिक सामग्री दी गई है जिससे विद्यार्थी भ्रम मे रहता है कि कौन से अध्याय पाठ्यक्रम मे हैं और कौन से नही। अनेक पुस्तको में पाठ्यक्रम मे निर्धारित पूर्ण विषय सामग्री भी नही दी गई है। इन कमियो को ध्यान मे रखकर इस पुस्तक की रचना की गई है।

पुस्तक मे अर्थशास्त्र के जटिल सिद्धान्तों एव विषय को सरलतम एव रोचक ढग से प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक में प्रतिष्ठित मतो के साथ साथ आधुनिक विचारों को भी अधिक बोधगम्य ढग से प्रस्तुत किया गया है। आर्थिक सिद्धान्तों के स्पष्ट विश्लेषण के लिए अधिक से अधिक सख्या में उदाहरणों, तालिकाओं, सूत्रो एव रेखा-चित्रो का प्रयोग किया गया है। विद्यार्थियो के शीघ्र स्मरणार्थ विषय के मुख्य-मुख्य बिन्दुओं को कोष्ठको में भी दिया गया है।

आशा है, हमारी यह नवीन कृति विद्यार्थियो एव अन्य पाठकों को लाभान्वित कर हमारे प्रयासो को सफल बनाएगी।

हम हमारे उन सभी इष्ट मित्रो एव सहयोगियों के आभारी हैं जिनकी प्रेरणा एव सहयोग से इस पुस्तक की रचना संभव हुई है। हम प्रकाशक श्री ताराचन्द वर्मा मालिक फर्म दी स्टूडेन्ट्स बुक क., के अत्यन्त आभारी हैं कि जिनके सहयोग से पुस्तक पाठको को प्रस्तुत की जा रही है।

सभी प्राध्यापक बन्धुओ, विद्यार्थियो तथा अन्य पाठको से निवेदन है कि वे, पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए अपने अमूल्य सुझाव भेज कर हमे अनुग्रहीत करें।

—लेखकद्वय

प्रकाशक
दी स्टूडेण्ट्स बुक कम्पनी
चौड़ा रास्ता, जयपुर–302003

मुद्रक
दी यूनाइटेड प्रिण्टस, जयपुर–302003

द्वितीय सस्करण 1976–77

मूल्य . 18 00 रुपये

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक **अर्थशास्त्र** के सिद्धान्त राजस्थान विश्वविद्यालय के द्वितीय वर्ष वाणिज्य के नवीन पाठ्यक्रमानुसार लिखी गई है। यद्यपि अर्थशास्त्र विषय से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें बाजार में उपलब्ध हैं परन्तु वे द्वितीय वर्ष वाणिज्य के विद्यार्थियों के उद्देश्य की पूर्ति नहीं करती हैं। कुछ में तो पाठ्यक्रम से बहुत अधिक सामग्री दी गई है जिससे विद्यार्थी भ्रम में रहता है कि कौन से अध्याय पाठ्यक्रम में है और कौन से नहीं। अनेक पुस्तकों में पाठ्यक्रम में निर्धारित पूर्ण विषय सामग्री भी नहीं दी गयी है। इन कमियों को ध्यान में रख कर इस पुस्तक की रचना की गई है।

पुस्तक में अर्थशास्त्र के जटिल सिद्धान्तों एवं विषय को सरलतम एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक में प्रतिष्ठित मतों के साथ-साथ आधुनिक विचारों को भी अधिक बोधगम्य ढंग से प्रस्तुत किया गया है। आर्थिक सिद्धान्तों के स्पष्ट विश्लेषण के लिये अधिक से अधिक संख्या में उदाहरणों, तालिकाओं, सूत्रों एवं रेखाचित्रों का प्रयोग किया गया है। विद्यार्थियों के शीघ्र स्मरणार्थ विषय के मुख्य-मुख्य बिन्दुओं को कोष्ठकों में भी दिया गया है।

आशा है हमारी यह नवीन कृति विद्यार्थियों एवं अन्य पाठकों को लाभान्वित कर हमारे प्रयासों को सफल बनाएगी।

हम हमारे उनसभी इष्ट मित्रों एवं सहयोगियों के आभारी हैं जिनकी प्रेरणा एवं सहयोग से इस पुस्तक की रचना संभव हुई है। हम हमारे प्रकाशक श्री ताराचन्द वर्मा, मालिक फर्म दी स्टूडेन्ट्स बुक कं०, के अत्यन्त आभारी हैं कि जिनके सहयोग तथा अथक प्रयासों से पुस्तक को यथाशीघ्र पाठकों के हाथों में पहुँचाने में सफल हुए हैं।

सभी प्राध्यापक बन्धुओं, विद्यार्थियों तथा अन्य पाठकों से निवेदन है कि वे, पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिये अपने अमूल्य सुझाव भेज कर हमें अनुग्रहीत करें।

—लेखकद्वय

Second Year T D. C. Commerce Examination, 1976

Paper I—Principles of Economics :

The paper will be divided into two Sections, Section A and Section B. Students will be required to attempt at least two questions from each section (five questions in all).

Section A :

1 Introduction—Scope (Macro, Micro), Methods, Laws and significance of Economics.

2 Consumption—Wants, Utility, Cardinal and ardinal approaches Laws of Diminishing marginal utility Equi-marginal utility, Consumer's surplus; demand—increase and decrease; and extension and contraction of demand, law of demand, price elasticity of demand degrees of elasticity, measurement of elasticity.

3 Production—The factors of production—land labour —theories of population, division of labour, efficiency of labour. Capital—characteristics, Capital formation Organisation—the scale of production, large and small, the concept of indivisibility and internal and external economies The laws of Returns and returns to scale.

Section B :

4. Exchange—Market—its classification and cost of production—prime cost and supplementary cost concept of opportunity cost analysis of revenue, price—determination in the short and long periods under the conditions of perfect competition, monopolistic competition and monopolies—discriminating monopoly, control and monopoly.

5. Distribution—National Income and Economic Welfare. The marginal productivity theory, Theories of the determination of rent, wages, Intrest and profits

भाग—1

परिचय

(INTRODUCTION)

1. अर्थशास्त्र की परिभाषा
2. अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र
3. आर्थिक नियमों की प्रकृति
4. अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियाँ:
   निगमन एवं आगमन प्रणालियाँ
5. आर्थिक विश्लेषण की शाखाएँ:
   व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र की परिभाषा
(Definition of Economics)

अर्थशास्त्र के जन्म से लेकर आज तक अर्थशास्त्र की सर्वमान्य परिभाषा देना किसी भी अर्थशास्त्री के लिए संभव नहीं हुआ है। अर्थशास्त्र की लगातार बहुत अधिक परिभाषाओं को देख कर ही जे०एन० कीन्स ने कहा "राज्य अर्थव्यवस्था ने परिभाषाओं से अपना गला घोंट लिया है।" अर्थशास्त्र की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न मतों एवं विचारधाराओं के प्रचलित होने के कारण ही श्रीमती बारबरा वूटन ने कहा है—"जब कभी छः अर्थशास्त्री एकत्र होते हैं तो सात मतों का प्रतिपादन हो जाता है।" अर्थशास्त्र जैसे विषय के लिए यह कोई बहुत निन्दनीय स्थिति नहीं है, क्योंकि अर्थशास्त्र ज्ञान की उन शाखाओं से भिन्न है जिनकी संक्षिप्त शब्दों में सुनिश्चित एवं यथार्थ परिभाषा दी जा सकती है। जेकब वाइनर ने ठीक ही कहा है—"अर्थशास्त्री जो करते हैं, वही अर्थशास्त्र है।" अर्थशास्त्र एक विकासशील विषय है जिसे पिछले दो सौ वर्षों से परिभाषित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं और उन्हीं का परिणाम है कि आज अर्थशास्त्र की अनेक परिभाषाएँ उपलब्ध हैं। अर्थशास्त्र की अनेक परिभाषाओं के होने पर भी इनमें कोई ऐसी परिभाषा नहीं है जो दोष मुक्त हो तथा जिसे सभी स्वीकार करते हों। अर्थशास्त्र की परिभाषाओं को अध्ययन की सुविधा एवं सरलता के लिए चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

1. धन सम्बन्धी परिभाषाएँ,
2. कल्याण सम्बन्धी परिभाषाएँ,
3. दुर्लभता सम्बन्धी परिभाषाएँ, तथा
4. आवश्यकता विहीनता-सम्बन्धी परिभाषा।

1. धन सम्बन्धी परिभाषाएँ (Wealth Definitions)

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को धन के विज्ञान के रूप में परिभाषित किया है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों में अर्थशास्त्र के जनक एडम स्मिथ तथा उनके अनुयायी यथा जे०बी० से, सीनियर, जे०एस० मिल आदि, प्रमुख हैं। एडम स्मिथ ने अपनी विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'राष्ट्रों के धन के स्वरूप एवं कारणों की खोज' (An Enquiry into the Nature and Causes of Wealth of Nations) में, जो सन् 1776 में प्रकाशित हुई थी, अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान माना है।

एडम स्मिथ के अनुसार "अर्थशास्त्र वह अध्ययन है जो राष्ट्रो के धन के स्वभाव एव कारणो की जाँच करता है।"[1] इस परिभाषा से ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र धन का अध्ययन है। अर्थशास्त्र मे धन की प्रकृति तथा धन वृद्धि के कारणो का अध्ययन किया जाता है।

धन सबधी परिभाषाएँ
अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है।
प्रमुख अर्थशास्त्री—एडम स्मिथ, जे बी से, सीनियर, जे एस मिल।
प्रमुख तत्व
(1) अर्थशास्त्र धन का विज्ञान।
(2) मनुष्य स्वहित से प्रेरित होकर धन कमाने का कार्य करता है। 'आर्थिक मनुष्य'
(3) व्यक्तिगत समृद्धि से राष्ट्रीय समृद्धि।
(4) मानवीय सुखो का एक मात्र आधार धन।
प्रमुख आलोचनाएँ
(1) धन को प्रमुख व मानव को गौण स्थान।
(2) धन का सकुचित अर्थ मे प्रयोग।
(3) अर्थशास्त्र के क्षेत्र का सकुचित हो जाना।
(4) आर्थिक मनुष्य की कल्पना।

एडम स्मिथ के अनुयायियों ने स्मिथ के विचारो को आगे बढाया और उनका अधिक प्रचार किया। स्मिथ के फ्रासीसी शिष्य जे बी. से ने अर्थशास्त्र की परिभाषा करते हुए कहा है—'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धन का अध्ययन करता है।'[2] नासो विलियम सीनियर ने अपनी पुस्तक 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के विज्ञान की रूपरेखा' (An outline of the Science of Political Economy) मे अर्थशास्त्र के बारे मे लिखा है—"राजनीतिक अर्थशास्त्री का अध्ययन विषय · ··· सुख नहीं, वरन् धन है।'[3] जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'राजनीतिक अर्थशास्त्र के कुछ अनिर्णित प्रश्नो पर निबन्ध' (Essays on some Unsettled Questions of Political Economy) जो सन् 1844 मे प्रकाशित हुई थी, मे अर्थशास्त्र की परिभाषा के सबध मे लिखा है—"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो उन सामाजिक घटनाओ के नियमों का अध्ययन करता है जो मनुष्य जाति द्वारा धन के उत्पादन तथा वितरण करने से सबधित होती हैं तथा जो किसी अन्य लक्ष्य से प्रभावित नही होती हैं।"

1. "Economics is concerned with enquiring into the causes of the wealth of nations" —Adam Smith
2. "Economics is the science which treats of wealth"—J B Say
3 "The subject treated by the Political Economist .. is not happiness but wealth" —Nassau William Senior

धन संबंधी परिभाषाओं के निष्कर्ष—उपरोक्त धन संबंधी परिभाषाओं के निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :

(1) अर्थशास्त्र की अध्ययन सामग्री धन है अर्थात अर्थशास्त्र में व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के धन के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग के बारे में अध्ययन किया जाता है।

(2) मनुष्य स्वहित से प्रेरित होकर धन कमाने का कार्य करता है जिस पर नैतिक तथा अन्य विचारों का प्रभाव नहीं पड़ता है। इस प्रकार प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना की।

(3) व्यक्तिगत समृद्धि से ही राष्ट्रीय धन एवं सम्पत्तियों में वृद्धि संभव है।

(4) मानवीय सुखों का एक मात्र आधार धन ही है अर्थात प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने धन को प्रमुख तथा मनुष्य को गौण स्थान प्रदान किया।

धन संबंधी परिभाषाओं की आलोचनाएँ—अर्थशास्त्र की धन संबंधी परिभाषाओं की उदार लेखकों एवं जर्मन संप्रदाय के ऐतिहासिक परम्परा के अर्थशास्त्रियों ने कटु आलोचनाएँ की हैं। प्रमुख आलोचनाएँ निम्न हैं :

(1) **धन को प्रमुख तथा मानव को गौण स्थान**—धन संबंधी परिभाषाओं में धन को प्रमुख एवं मानव को गौण स्थान प्रदान किया गया है। वास्तविकता तो यह है कि मानव कल्याण के लिए ही धन अर्जित किया जाता है। इन अर्थशास्त्रियों के धन को प्रमुख स्थान प्रदान करने से योरुप में व्यक्तिगत धन एवं राष्ट्रीय समृद्धि में तो वृद्धि हुई परन्तु इसके अनेक घातक परिणाम वहाँ के समाज को उठाने पड़े। अधिक धन कमाने के उद्देश्य से पूँजीपतियों ने स्त्रियों एवं बच्चों को बहुत कम मजदूरी देकर तथा अधिक घन्टे काम लेकर शोषण किया। ऐसे शोषण के कार्यो मे समाज में नैतिक मूल्यों का ह्रास हुआ तथा अनैतिकता बढ़ती गई। इन शोषण एवं अनैतिकता की बढ़ती हुई प्रवृत्तियों को देख कर तत्कालीन दार्शनिकों, समाज-सुधारकों, राजनीतिज्ञों तथा साहित्यकारों ने प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विचारों की कटु आलोचनाएँ की थीं। इन आलोचकों में रस्किन, कार्लाइल, विलियम मौरिस, चार्ल्स डिकिन्स आदि प्रमुख थे। कार्लाइल ने अर्थशास्त्र की आलोचना करते हुए इसे 'कुबेर का सन्देश' (Gospel of Mammon), रस्किन ने इसे 'अधम विज्ञान' (Bastard Science) तथा अन्य लोगों ने इसे 'दु:खदायी विज्ञान' (Dismal Science), 'रोटी मक्खन का विज्ञान' (Bread and Butter Science) आदि हेय उपाधियों से विभूषित किया।

(2) **धन का संकुचित अर्थ में प्रयोग**—धन प्रधान परिभाषाओं में धन शब्द का प्रयोग अत्यन्त संकुचित अर्थ में किया गया है। इनके अनुसार धन से अभिप्राय मूर्त, स्पर्शनीय तथा दिखायी देने वाली भौतिक वस्तुओं से है; जबकि आलोचकों का कहना है कि धन में केवल भौतिक वस्तुएँ ही सम्मिलित नहीं होती हैं, बल्कि

ऐसी सेवाऐं भी सम्मिलित होनी है जो मानवीय आवश्यकता की पूर्ति करती हों तथा परिमाण मे सीमित हैं।

(3) अर्थशास्त्र के क्षेत्र का सकुचित हो जाना—धन सबधी परिभाषाओं से अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत सकुचित हो जाता है, क्योंकि इन परिभाषाओं के आधार पर केवल उन्ही मनुष्यों का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है जो धन के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग मे लगे हुए हैं।

(4) आर्थिक मनुष्य की कल्पना—धन सबधी परिभाषा देने वाले अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक मनुष्य की कल्पना की है। उनके अनुसार मनुष्य केवल स्वहित से प्रेरित होकर अपने समस्त प्रयास धनोपार्जन के लिए करता है। ऐसे आर्थिक मनुष्य पर नैतिकता, धर्म, आचार आदि बातो का कोई प्रभाव नही पडता है। परन्तु आलोचको का कहना है कि 'आर्थिक मनुष्य' की कल्पना अवास्तविक है क्योंकि प्रत्येक मनुष्य सामान्यतया दया, धर्म, राजनीति, देश प्रेम आदि तत्वों से प्रभावित होता है। अत सामाजिक मनुष्य आर्थिक मनुष्य से भिन्न है।

धन सबधी परिभाषाओ की उपरोक्त कटु आलोचनाओं से बचने के लिए अर्थशास्त्र की परिभाषा मे परिवर्तन किये गये। परन्तु जो परिवर्तन किये जाते उसके बाद नयी आलोचनाएं खडी हो जाती थीं। सुधार की प्रक्रिया चलती रही। इन प्रयत्नो के फलस्वरूप 19वीं शताब्दी के अन्त मे धन सबधी परिभाषाओ का त्याग कर दिया गया तथा इनके स्थान पर मानव कल्याण सबधी परिभाषाओ को स्वीकार किया जाने लगा।

2. कल्याण सम्बन्धी परिभाषाएं (Welfare Definitions)

धन सबधी परिभाषाओ की कटु आलोचनाओ से बचने के प्रयत्नों मे सबसे महत्वपूर्ण तथा सफल प्रयत्न उन्नीसवी शताब्दी के अन्त म अल्फ्रेड मार्शल द्वारा किया गया। मार्शल ने धन की अपेक्षा मानव-कल्याण पर अधिक बल देकर अर्थशास्त्र की परिभाषा का स्वरूप ही बदल दिया। मार्शल के प्रयत्नो से अर्थशास्त्र को पुनः सम्मान की दृष्टि से देखा जाने लगा।

मार्शल की परिभाषा—मार्शल ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (Principles of Economics) के प्रथम पृष्ठ पर अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है—"राजनीतिक अर्थव्यवस्था अथवा अर्थशास्त्र मे मानव जाति के साधारण जीवन सबधी कार्यों का अध्ययन किया जाता है। इसमे व्यक्ति तथा समाज के उन कार्यों का विश्लेषण किया जाता है जिनका समृद्धि के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओ की प्राप्ति तथा उनके उपयोग से बहुत ही घनिष्ठ सबध होता है।'[4] इसी

4 "Political Economy, or Economics is a study of mankind in the ordinary business of life, it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of the material requisites of well being."

—Marshall

सम्बन्ध में मार्शल ने आगे लिखा है—"इस प्रकार यह एक ओर तो धन का अध्ययन है, और दूसरी ओर, जो अधिक महत्वपूर्ण पहलू है, यह मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।"[5]

कल्याण संबंधी परिभाषाएँ

अर्थशास्त्र मानव कल्याण में वृद्धि का अध्ययन है।

प्रमुख अर्थशास्त्री : मार्शल, पीगू, कैनन, फेयर चाइल्ड, विवरेज, पेंसन।

मार्शल की परिभाषा की विशेषताएँ

(1) अर्थशास्त्र के अध्ययन मे मनुष्य को अधिक महत्व।

(2) सामाजिक, वास्तविक एवं सामान्य मनुष्यों की क्रियाओं का अध्ययन।

(3) साधारण जीवन सम्बन्धी कार्यों का अध्ययन।

(4) आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन।

(5) मानव के भौतिक कल्याण का अध्ययन।

(6) मुद्रा भौतिक कल्याण की मापक।

मार्शल की परिभाषा की आलोचनाएँ

(1) साधारण जीवन सम्बन्धी कार्यों का अर्थ अस्पष्ट एव भ्रामक।

(2) श्रेणी विभाजक परिभाषा है विश्लेषणात्मक नहीं।

(3) अर्थशास्त्र मानव विज्ञान है केवल सामाजिक विज्ञान नहीं।

(4) अर्थशास्त्र के क्षेत्र को संकुचित किया है।

(5) अर्थशास्त्र का कल्याण से संबंध जोड़ना गलत।

(6) भौतिक कल्याण का मुद्रा में मापन संभव नहीं।

(7) अर्थशास्त्र उद्देश्यों के बीच तटस्थ।

मार्शल की परिभाषा की व्याख्या—प्रो० मार्शल की परिभाषा का अध्ययन करने से इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं :

(1) अर्थशास्त्र के अध्ययन में मनुष्य को अधिक महत्व—मार्शल ने अर्थशास्त्र के अध्ययन में प्राचीन अर्थशास्त्रियो के विपरीत मानव को प्रधान एव धन को गौण स्थान प्रदान किया है। यद्यपि मार्शल ने अर्थशास्त्र के अध्ययन मे धन के महत्व को स्वीकार किया है परन्तु इसे अर्थशास्त्र के अध्ययन का लक्ष्य नही माना है। अर्थशास्त्र के अध्ययन का लक्ष्य तो मानव कल्याण है और धन तो इस कल्याण को प्राप्त करने का एक साधन मात्र है। अर्थशास्त्र मनुष्य का अध्ययन है। यह अन्य किसी पशु, पक्षी अथवा जीव का अध्ययन नहीं है।

(2) सामाजिक, वास्तविक तथा सामान्य मनुष्य का अध्ययन—अर्थशास्त्र में काल्पनिक, असामान्य एवं असामाजिक मनुष्यों का अध्ययन नहीं किया जाता है, बल्कि ऐसे मनुष्यों का अध्ययन किया जाता है जो समाज में रहते है तथा सामान्य प्रवृत्ति वाले वास्तविक मनुष्य हैं। समाज से दूर एकान्त मे रहने वाले मनुष्यो की क्रियाओं का अध्ययन अर्थशास्त्र में नहीं किया जाता है।

(3) साधारण जीवन सम्बन्धी कार्यों का अध्ययन—अर्थशास्त्र में मानव के साधारण जीवन सम्बन्धी कार्यो का अध्ययन किया जाता है। साधारण जीवन सम्बन्धी कार्यों का तात्पर्य उन कार्यो से है जिनमें साधारण व्यक्ति अपने जीवन का अधिकांश भाग लगाता है। धन कमाने तथा खर्च करने संबंधी क्रियाएं साधारण जीवन संबधी कार्यों

5. "Econcmic is on the one side a study of wealth and on the other and more important side, a part of the study of man."
— Marshall

मे सम्मिलित होती हैं, क्योकि साधारण मनुष्य अपने जीवन का अधिकाश भाग या समय इन्ही क्रियाओं मे लगाता है ।

(4) **आर्थिक क्रियाओ का अध्ययन**—अर्थशास्त्र मे मानव जीवन सबधी समस्त क्रियाओं का अध्ययन नहीं किया जाता है बल्कि इनमे से केवल आर्थिक क्रियाओ का, जो धन कमाने तथा व्यय करने से सम्बन्धित हैं, अध्ययन किया जाता है ।

(5) **मानव के भौतिक कल्याण का अध्ययन**—अर्थशास्त्र मे मानव के भौतिक कल्याण का अध्ययन किया जाता है । भौतिक कल्याण का तात्पर्य उस कल्याण से है जो मानव को भौतिक वस्तुओ के उपभोग से प्राप्त होता है । मार्शल ने अर्थशास्त्र का अन्तिम लक्ष्य मानव के भौतिक कल्याण मे वृद्धि को मान कर कल्याणकारी अर्थशास्त्र की नींव डाली ।

(6) **मुद्रा भौतिक कल्याण की मापक**—मार्शल की परिभाषा से यह स्पष्ट नही होता है कि भौतिक कल्याण क्या होता है ? परन्तु मार्शल ने अपनी पुस्तक मे एक अन्य जगह स्पष्ट किया है कि भौतिक कल्याण मानव कल्याण का वह भाग है जिसे मुद्रारूपी पैमाने द्वारा मापा जा सकता है ।

मार्शल की परिभाषा की आलोचनाएँ—मार्शल ने अर्थशास्त्र को धन के विज्ञान के स्थान पर मानव कल्याण का शास्त्र बताया तथा इसे सामाजिक विज्ञान के रूप मे प्रतिष्ठित किया । मार्शल की परिभाषा अनेक वर्षों तक सर्वमान्य रही परन्तु सन् 1932 मे लन्दन स्कूल आफ इकॉनॉमिक्स के प्रो॰ लियोनल रोबिन्स ने अपनी पुस्तक 'अर्थ विज्ञान की प्रकृति एव महत्व पर एक निबन्ध' (An Essay on the Nature and Significance of Economic Science) मे मार्शल की परिभाषा के दोष बताते हुये इसकी कटु आलोचनाएँ की । मार्शल की परिभाषा की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) **साधारण जीवन सबधी कार्यों का अर्थ अस्पष्ट एव भ्रामक**—मार्शल ने अपनी परिभाषा मे साधारण जीवन सबधी कार्यों का अर्थ स्पष्ट नहीं किया है । रोबिन्स ने साधारण जीवन सबधी कार्यों की आलोचना करते हुए कहा है कि मार्शल ने यह स्पष्ट नही किया कि साधारण जीवन सबधी कार्यों मे कौन कौन सी क्रियाएँ सम्मिलित की जाती हैं और कौनसी नही तथा क्यो । रोबिन्स का कहना है कि अर्थशास्त्र मे उन समस्त मानवीय क्रियाओं का अध्ययन होना चाहिए जिनका सबध मानवीय आवश्यकताओं की सतुष्टि तथा सीमित साधनों से है—चाहे ये क्रियाएँ साधारण जीवन सम्बन्धी हो या असाधारण जीवन सबधी ।

(2) **श्रेणी विभाजक परिभाषा है, विश्लेषणात्मक नहीं**—मार्शल की परिभाषा विश्लेषणात्मक न होकर श्रेणी विभाजक है । मार्शल ने मानवीय क्रियाओ को आर्थिक तथा अनार्थिक वर्गों मे बाँटा है तथा केवल आर्थिक क्रियाओ को ही अर्थशास्त्र के अध्ययन में सम्मिलित किया है । इसी तरह मार्शल ने मानव कल्याण को भौतिक तथा अभौतिक कल्याण के वर्गों में बाँटा है तथा भौतिक कल्याण को अर्थशास्त्र

में सम्मिलित किया है। रोबिन्स ने इस वर्गीकरण की आलोचना करते हुए कहा है कि मानव क्रियाओं को आर्थिक तथा अनार्थिक वर्गों में बाँटना ठीक नहीं है, क्योंकि जो क्रियाएँ किसी समय आर्थिक है वे ही अपना स्वरूप बदलकर दूसरे समय अनार्थिक हो जाती हैं।

(3) **अर्थशास्त्र मानव विज्ञान है, केवल सामाजिक विज्ञान नहीं**—मार्शल ने अर्थशास्त्र को केवल सामाजिक विज्ञान माना है और उनके अनुसार अर्थशास्त्र में केवल समाज में रहने वाले वास्तविक तथा सामान्य मनुष्यों का अध्ययन किया जाता है। रोबिन्स का इस सम्बन्ध में कहना है कि अर्थशास्त्र केवल सामाजिक विज्ञान ही नहीं है, बल्कि यह एक मानव विज्ञान भी है। रोबिन्स ने कहा है कि यदि अर्थशास्त्र में केवल सामाजिक मनुष्यों की क्रियाओं का अध्ययन किया जावेगा तो इसका क्षेत्र बहुत संकुचित हो जावेगा। उनका कहना है कि प्रत्येक मनुष्य चाहे वह समाज में रहता है या समाज से दूर एकान्त में, उसे जीवन-यापन के लिए कुछ न कुछ कार्य करना होता है जिसका सम्बन्ध उसकी अनेक आवश्यकताओं एवं सीमित साधनों से होता है, अतः सभी मनुष्यों की क्रियाओं के एक विशेष पहलू का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाना चाहिए। अर्थशास्त्र के अनेक नियम सभी स्थानों पर सभी मनुष्यों की क्रियाओं पर समान रूप से लागू होते हैं। अतः अर्थशास्त्र मानव विज्ञान है।

(4) **अर्थशास्त्र के क्षेत्र को संकुचित किया है**—मार्शल की परिभाषा ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को बहुत संकुचित कर दिया है, क्योंकि मार्शल के अनुसार अनार्थिक, अभौतिक तथा असाधारण जीवन सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन अर्थशास्त्र में नहीं किया जाता है। इसी तरह ऐसी क्रियाओं. जिनका मापन मुद्रा में सम्भव नहीं होता या जो वस्तु विनिमय के अन्तर्गत आती हैं, का अध्ययन अर्थशास्त्र में नहीं किया जाता है।

(5) **अर्थशास्त्र का कल्याण से सम्बन्ध जोड़ना अनुचित**—रोबिन्स ने कहा है कि अर्थशास्त्र का मानव के भौतिक कल्याण से सम्बन्ध जोड़ना गलत है, क्योंकि अर्थशास्त्र में ऐसी अनेक क्रियाओं का भी अध्ययन किया जाता है जिनसे मानव के कल्याण में वृद्धि के स्थान पर कमी होती है। उदाहरणार्थ, शराब तथा अन्य मादक वस्तुओं के उत्पादन की क्रियाओं का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है जबकि इनसे मानव कल्याण में कमी होती है। रोबिन्स ने तो यहाँ तक कहा है कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध अन्य किसी भी वस्तु से हो सकता है परन्तु इसका सम्बन्ध मानव के भौतिक कल्याण से नहीं हो सकता है।

(6) **भौतिक कल्याण का मुद्रा में मापन सम्भव नहीं**—भौतिक कल्याण का सम्बन्ध मानव के मन से है जो वस्तुगत नहीं बल्कि विषयगत अथवा भावात्मक है। अतः भौतिक कल्याण का मुद्रा में सही मापन सम्भव नहीं है। दो मनुष्य किसी वस्तु की समान मात्रा एक ही मूल्य पर खरीद कर भी असमान सन्तुष्टि या कल्याण प्राप्त करते हैं।

(7) अर्थशास्त्र उद्देश्यों के बीच तटस्थ—प्रो० मार्शल की परिभाषा को स्वीकार करने पर अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान हो जाता है और आदर्श विज्ञान होने के नाते अर्थशास्त्री को यह निर्णय देना पडेगा कि मानव कल्याण मे किस प्रकार वृद्धि हो सकती है अर्थात कौनसा कार्य मानव कल्याण के लिए अच्छा है और कौनसा बुरा। परन्तु रोबिन्स ने अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान माना है, अत अर्थशास्त्र को उद्देश्यो के बीच तटस्थ रहना चाहिए।

कल्याण सम्बन्धी अन्य परिभाषाएँ—मार्शल की विचारधारा का उनके शिष्यों तथा अनेक प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो ने समर्थन किया है। मार्शल के समर्थकों मे ए० सी० पीगू, कैनन, फेयर चाइल्ड बिवरेज, पैंसन आदि प्रमुख हैं। अन्य कुछ कल्याण-प्रधान परिभाषाएँ निम्न हैं .

ए० सी० पीगू की परिभाषा—ए० सी० पीगू मार्शल के शिष्य थे। उन्होंने मार्शल के विचारो को स्वीकार किया तथा उन्हें अधिक व्यापक बनाया। प्रो० पीगू ने अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है—"अर्थशास्त्र आर्थिक कल्याण का अध्ययन है, आर्थिक कल्याण से हमारा अभिप्राय सामाजिक कल्याण के उस भाग से है जिसे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मुद्रा के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।"[6]

पीगू की परिभाषा की व्याख्या—पीगू की परिभाषा मार्शल की परिभाषा से अधिक विस्तृत है। इस परिभाषा के मूल तत्व निम्न हैं . •

(1) अर्थशास्त्र मे मानव के भौतिक तथा अभौतिक कल्याण का अध्ययन किया जाता है जो मुद्रारूपी पैमाने द्वारा मापा जा सके।

(2) पीगू ने अर्थशास्त्र को व्यावहारिक अर्थशास्त्र माना है और कहा है कि अर्थशास्त्र का अध्ययन केवल ज्ञान वृद्धि के लिए नही बल्कि उसकी व्यावहारिक उपयोगिता के लिए किया जाता है।

पीगू की परिभाषा की आलोचनाएँ—पीगू की परिभाषा की आलोचनाएँ निम्न आधारो पर की जाती है :

(1) आर्थिक कल्याण का मुद्रा मे मापन सम्भव नही है।

(2) यह परिभाषा केवल मौद्रिक अर्थव्यवस्था में ही लागू होती है तथा जहाँ केवल वस्तु विनिमय प्रचलित है वहाँ इसका बिल्कुल महत्व नही होता है।

कैनन ने अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है—"अर्थशास्त्र का उद्देश्य उन सामान्य कारणो की व्याख्या करना है जिन पर मनुष्य का भौतिक कल्याण आधारित है।"

---

6. "Economics is a study of economic welfare, being described as that part of welfare which can be brought directly or indirectly into relationship with the measuring rod of money" —Pigou

फेयर चाइल्ड के अनुसार—"अर्थशास्त्र मानवीय आवश्यकताओं तथा उनको सन्तुष्ट करने के उन साधनों का विज्ञान है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने वाली वस्तुएँ प्राप्त करते हैं।

3. दुर्लभता सम्बन्धी परिभाषा (Scarcity Definitions)

दुर्लभता सम्वन्धी परिभाषा

अर्थशास्त्र असीमित आवश्यकताओं (लक्ष्यों) एवं सीमित तथा वैकल्पिक प्रयोग वाले साधनों के मध्य सम्वन्ध के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है।

प्रमुख अर्थशास्त्री—रोविन्स।

प्रमुख तत्व :

(1) मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त हैं।

(2) आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन सीमित हैं।

(3) साधनों के वैकल्पिक प्रयोग।

(4) आवश्यकताओं की तीव्रता में अन्तर।

उपरोक्त के कारण चुनाव की समस्या उत्पन्न होती है।

प्रमुख विशेषताएँ :

(1) विश्लेषणात्मक परिभाषा।

(2) अर्थशास्त्र विशुद्ध विज्ञान।

(3) अर्थशास्त्र मानव विज्ञान।

(4) अर्थशास्त्र के क्षेत्र का विस्तार।

(5) मुद्रा रूपी माप-दण्ड की आवश्यकता नहीं।

प्रमुख आलोचनाएँ :

(1) अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अनावश्यक रूप से विस्तृत कर दिया है।

प्रो० लियोनाल रोविन्स ने भौतिकतावादी अथवा कल्याण सम्वन्धी परिभाषाओं की कटु आलोचना की तथा अर्थशास्त्र की एक नवीन परिभाषा भी दी। रोविन्स ने सन् 1932 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "An Essay on the Nature and Significance of Economic Science" में अर्थशास्त्र को जिस प्रकार परिभाषित किया है, उसके अनुसार—"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो लक्ष्यों और वैकल्पिक प्रयोग वाले सीमित साधनों के मध्य पारस्परिक सम्वन्ध के रूप में मानव व्यवहार का अध्ययन करता है।"[7]

रोविन्स की परिभाषा की व्याख्या—प्रो० रोविन्स की परिभाषा का विश्लेषण करने से इसके निम्न तत्व ज्ञात होते हैं :

(1) मनुष्य की आवश्यकताएँ (लक्ष्य) अनन्त होती हैं—लक्ष्य का अर्थ आवश्यकताओं से होता है और सामान्यतया प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं। एक आवश्यकता के सन्तुष्ट करने पर दूसरी तथा दूसरी के सन्तुष्ट करने पर तीसरी आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है तथा यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

(2) आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन सीमित—मनुष्य के पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन सीमित होते हैं। अर्थशास्त्र में साधनों का तात्पर्य ऐसी वस्तुओं अथवा सेवाओं से होता है जो

7. "Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses." —Robbins

(2) साधना एवं उद्देश्यों के बीच भेद युक्ति युक्त नहीं है ।
(3) उद्देश्यों के प्रति अर्थशास्त्र की तटस्थता ठीक नहीं है ।
(4) बाहुल्यता से उत्पन्न समस्याओं की उपेक्षा की है ।
(5) रोबिन्स की परिभाषा स्थैतिक है ।
(6) आर्थिक विश्लेषण में केवल निगमन प्रणाली अपर्याप्त ।
(7) मानव आचरण सदैव विवेकशील नहीं ।
(8) पूर्ण रोजगार की धारणा गलत ।
(9) रोबिन्स की परिभाषा जटिल ।
(10) अन्य आलोचनाएँ ।

मानवीय आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर सकें। अर्थशास्त्र के अनुसार सभी साधन जो कि प्राकृतिक अथवा मनुष्य द्वारा निर्मित हैं, मांग की तुलना में सीमित होते हैं। यदि साधन असीमित होते तो प्रत्येक मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर सकता था परन्तु ऐसा नहीं है।

(3) साधनों के वैकल्पिक प्रयोग—प्रत्येक मनुष्य के पास आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए जो साधन होते हैं उनमें से प्रत्येक साधन के एक से अधिक अनेक वैकल्पिक प्रयोग हो सकते हैं। साधनों के वैकल्पिक प्रयोगों के कारण ही चुनाव की समस्या उत्पन्न होती है कि किस साधन को किस प्रयोग में लगाया जाए।

(4) आवश्यकताओं की तीव्रता में अन्तर—मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं परन्तु सभी आवश्यकताएँ समान महत्व अथवा तीव्रता वाली नहीं होती हैं। अतः मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के समय चुनाव की समस्या का सामना करना पड़ता है कि कौनसी आवश्यकताओं को पहले तथा कौनसी आवश्यकताओं को बाद में सन्तुष्ट किया जावे।

उपरोक्त तत्वों के विश्लेषण के बाद ज्ञात होता है कि रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र आर्थिक चुनाव की समस्या का अध्ययन करता है जो कि मनुष्य की अनन्त आवश्यकताओं, उनकी पूर्ति के सीमित तथा वैकल्पिक प्रयोग वाले साधनों के कारण उत्पन्न होती हैं। यदि इनमें से एक भी तत्व का अभाव हो तो चुनाव की समस्या उत्पन्न नहीं होगी। रोबिन्स के अनुसार यह चुनाव की समस्या सभी प्रकार की व्यवस्थाओं में लागू होती है चाहे वे समाजवादी हों अथवा पूँजीवादी अथवा मिश्रित। चुनाव की समस्या सामाजिक मनुष्य तथा समाज से दूर एकान्त में निवास करने वाले लोगों पर भी लागू होती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र में मनुष्य की क्रियाओं के एक विशेष पहलू का अध्ययन किया जाता है, जो मनुष्य की अनन्त आवश्यकताओं, इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सीमित तथा वैकल्पिक प्रयोग वाले साधनों से सम्बन्धित होता है।

रोबिन्स की परिभाषा की विशेषताएँ—रोबिन्स की परिभाषा की निम्न विशेषताएँ हैं

(1) **यह विश्लेषणात्मक परिभाषा है**—रोबिन्स ने मनुष्य की क्रियाओं को भौतिक, अभौतिक, साधारण, असाधारण, आर्थिक, अनार्थिक, सामाजिक, असामाजिक

आदि वर्गों में बाँट कर अध्ययन नहीं किया है बल्कि रोबिन्स ने सभी मनुष्यों की सभी क्रियाओं के एक विशेष पहलू, जो चुनाव का पहलू है, का अध्ययन किया है। अतः यह परिभाषा एक विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करती है।

(2) **अर्थशास्त्र एक विशुद्ध वास्तविक विज्ञान है**—रोबिन्स की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र एक विशुद्ध वास्तविक विज्ञान है। अर्थशास्त्र उचित तथा अनुचित की विवेचना नहीं करता है तथा यह उद्देश्यों के प्रति तटस्थ है।

(3) **अर्थशास्त्र एक मानव विज्ञान है**—अर्थशास्त्र में सभी मनुष्यों की क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है चाहे वे सामाजिक हों अथवा एकान्तवासी अथवा साधु-संन्यासी हों। रोबिन्स ने अर्थशास्त्र को मानव विज्ञान कहा है।

(4) **अर्थशास्त्र के क्षेत्र का विस्तार**—रोबिन्स की परिभाषा ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अधिक विस्तृत कर दिया है, क्योंकि इस परिभाषा से सभी मनुष्यों की सभी क्रियाओं के एक विशेष पहलू का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है।

(5) **मुद्रा के माप-दण्ड की आवश्यकता नहीं**—रोबिन्स की परिभाषा के अनुसार मानवीय प्रवृत्तियों को मुद्रा रूपी पैमाने द्वारा मापने की आवश्यकता नहीं है।

रोबिन्स की परिभाषा की आलोचनाएँ—रोबिन्स की परिभाषा वैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक होते हुए भी आलोचकों मे नहीं बच सकी है तथा इस परिभाषा की अनेक आलोचनाएँ की गयी हैं। प्रमुख आलोचनाएँ निम्न हैं :

(1) **अर्थशास्त्र के क्षेत्र को अनावश्यक रूप से विस्तृत कर दिया है**—रोबिन्स की परिभाषा ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र अनावश्यक रूप से विस्तृत कर दिया है। फलस्वरूप अर्थ विज्ञान के सही विवेचन में बाधा उत्पन्न होती है। इससे समस्याओं के विश्लेषण, विवेचन तथा सिद्धान्तों के प्रतिपादन में कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

(2) **साधनों एवं उद्देश्यों के बीच भेद युक्तियुक्त नहीं है**—साधनों एवं उद्देश्यों का अर्थ एव इनमें भेद युक्तियुक्त तथा स्पष्ट नहीं है। व्यवहार में ऐसा देखा गया है कि जो प्रारम्भ में उद्देश्य दिखायी देता है वही बाद में साधन बन जाता है। उदाहरण के तौर पर बी. कॉम. में पढ़ने वाले विद्यार्थी के लिए बी. कॉम. की उपाधि-प्राप्त करना उद्देश्य (लक्ष्य) होता है ; जब वह बी. कॉम. की उपाधि प्राप्त कर लेता है, तो यही उपाधि उसके लिए रोजगार का साधन बन जाती है।

(3) **उद्देश्यों के प्रति अर्थ-शास्त्र की तटस्थता ठीक नहीं है**—रोबिन्स ने अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान मान कर इसे उद्देश्यों के प्रति तटस्थ माना है। परन्तु उनका यह विचार ठीक नहीं है। यदि अर्थशास्त्र को उद्देश्यों के प्रति तटस्थ मान लिया जाए अर्थात यह स्वीकार कर लिया जाय कि अर्थशास्त्री को उचित-अनुचित पर निर्णय नहीं देना है, तो अर्थशास्त्र की व्यावहारिक उपयोगिता समाप्त हो जाएगी। जबकि स्वयं रोबिन्स ने अपनी एक अन्य पुस्तक

'Economic Planning and International Order' में आर्थिक समस्याओं को हल करने हेतु सुझाव दिये हैं।

(4) बाहुल्यता से उत्पन्न समस्याओं की उपेक्षा है—प्रो॰ रोबिन्स के अनुसार आर्थिक समस्या या चुनाव की समस्या सदैव दुर्लभता के कारण उत्पन्न होती है। परन्तु ऐसा होना सदैव ठीक नही है। अनेक समस्याऐं बाहुल्यता अथवा प्रचुरता के कारण भी उत्पन्न होती हैं। उदाहरणार्थ बेरोजगारी की समस्या श्रम के बाहुल्य के कारण उत्पन्न होती है। सन 1930 की महान मंदी अति-उत्पादन का परिणाम ही थी।

(5) रोबिन्स की परिभाषा स्थैतिक है—रोबिन्स ने साध्यो एवं साधनों को दिया हुआ माना है। दिये हुए साध्यो एव साधनों के मध्य जब मेल बैठाया जाता है तो यह स्थैतिक विश्लेषण होता है, जबकि व्यवहारिक जीवन में साध्य एव साधनो मे परिवर्तन होते रहते हैं। अतः रोबिन्स की परिभाषा गत्यात्मक नही है।

(6) आर्थिक विश्लेषण में केवल निगमन प्रणाली अपर्याप्त—प्रो॰ रोबिन्स ने आर्थिक निष्कर्षों को ज्ञात करने के लिए केवल निगमन प्रणाली को ही उपयुक्त माना है परन्तु व्यवहारिक जगत मे वास्तविक तथ्यो का, अध्ययन करने तथा उचित निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए आगमन प्रणाली की भी आवश्यकता होती है।

(7) मानव आचरण सदैव विवेकशील नहीं—प्रो॰ रोबिन्स ने मनुष्य को एक विवेकशील प्राणी माना है और उनका यह मत है कि वह सीमित साधनों का अपनी असीमित आवश्यकताओ के लिए प्रयोग बहुत सोच-समझकर करता है। परन्तु व्यावहारिक जीवन मे रोबिन्स की यह धारणा उचित नही है। अधिकाश व्यक्ति बगैर अधिक सोचे-समझे व्यय करते हैं तथा व्यय करते समय एक वस्तु पर किये जाने वाले व्यय से मिलने वाली संतुष्टि तथा अन्य वस्तु पर व्यय से मिलने वाली सन्तुष्टि की तुलना नही की जाती है।

(8) पूर्ण रोजगार की धारणा गलत—प्रो॰ रोबिन्स की दुर्लभता की धारणा के पीछे पूर्ण रोजगार की मान्यता निहित है जो ठीक नहीं है। आज अनेक देशो मे बेरोजगारी की स्थिति है, जहाँ मितव्ययिता के नियम के घातक परिणाम निकल सकते हैं। श्रम बाहुल्य देशो मे श्रम की किफायत वाले साधनो का प्रयोग हानिकारक अथवा घातक होता है।

(9) रोबिन्स की परिभाषा जटिल—रोबिन्स की परिभाषा अन्य अर्थशास्त्रियों की परिभाषाओं से अधिक जटिल है, अतः साधारण व्यक्ति इसे ठीक प्रकार से समझ नही सकता है।

(10) अन्य आलोचनाऐं—उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटी-छोटी आलोचनाऐं इस परिभाषा की, जाती हैं। जैसे—साधनों के साथ सीमित एव वैकल्पिक विश्लेषणो का प्रयोग व्यर्थ मे ही किया गया है क्योंकि यह तो साधनों की स्वाभाविक प्रकृति ही है तथा अन्तिम लक्ष्य अनेक नही बल्कि अधिकतम सतुष्टि प्राप्ति करना एक ही होता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि रोबिन्स की परिभाषा अधिक वैज्ञानिक होते हुए भी आलोचनाओं से नहीं बच सकी है। जहाँ रोबिन्स ने अर्थशास्त्र को अधिक वैज्ञानिक स्वरूप दिया वहाँ इसे केवल वास्तविक विज्ञान मान कर इसकी व्यावहारिक उपयोगिता को समाप्त कर दिया है।

मार्शल एवं रोबिन्स की परिभाषाओं की तुलना

(Comparison between Marshall's and Robbin's Definitions)

मार्शल तथा रोबिन्स की परिभाषाएँ अलग-अलग दृष्टिकोणों पर आधारित हैं, परन्तु फिर भी इनमें कुछ समानताएँ तथा अनेक असमानताएँ देखने को मिलती हैं :

समानताएँ—(1) मार्शल तथा रोबिन्स दोनों ने ही अर्थशास्त्र को प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विपरीत अर्थशास्त्र को धन का अध्ययन नहीं बल्कि मानव एवं उसकी क्रियाओं का अध्ययन माना है। (2) मार्शल ने अपनी परिभाषा में धन शब्द का तथा रोबिन्स ने सीमित साधन शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु थोड़ी गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि धन तथा साधन एक ही हैं। (3) दोनों ने अर्थशास्त्र को विज्ञान माना है। (4) मार्शल ने अधिकतम कल्याण तथा रोबिन्स ने मितव्ययिता को अपनी परिभाषा में स्थान दिया है जो मानव को अधिकतम संतुष्टि प्राप्ति के अन्तिम उद्देश्य की ओर ले जाते हैं।

असमानताएँ—मार्शल एवं रोबिन्स की परिभाषाओं में कुछ असमानताएँ भी हैं जिन्हें नीचे तालिका से देखा जा सकता है :

असमानता का आधार 1	मार्शल 2	रोबिन्स 3
1. सरलता	मार्शल की परिभाषा सरल है जिसे साधारण व्यक्ति समझ सकता है।	रोबिन्स की परिभाषा जटिल है जिसे साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति नहीं समझ सकता है।
2. मानवीय क्रियाओं का वर्गीकरण	मार्शल ने मानवीय क्रियाओं को आर्थिक-अनार्थिक आदि वर्गों में वर्गीकृत कर केवल आर्थिक क्रियाओं को अर्थशास्त्र में सम्मिलित किया है।	रोबिन्स ने मानवीय क्रियाओं का वर्गीकरण नहीं किया, बल्कि मानव की सभी क्रियाओं के चुनाव पहलू को अर्थशास्त्र में सम्मिलित किया है।
3. अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान	मार्शल ने अर्थशास्त्र को एक सामाजिक विज्ञान माना है तथा केवल सामाजिक मनुष्यों की क्रियाओं को इसमें सम्मिलित किया है।	रोबिन्स ने अर्थशास्त्र को मानव विज्ञान मानकर सभी मनुष्यों की क्रियाओं को अर्थशास्त्र में सम्मिलित किया है।

1	2	3
4 विज्ञान एव कला	मार्शल ने अर्थशास्त्र को विज्ञान एव कला दोनो माना है।	रोबिन्स न अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान माना है।
5. मानव-कल्याण	मार्शल ने अर्थशास्त्र का लक्ष्य मानव के भौतिक कल्याण मे वृद्धि करना माना है।	रोबिन्स ने अर्थशास्त्र को उद्देश्यो के प्रति तटस्थ माना है।
6 व्यावहारिकता	मार्शल की परिभाषा व्यावहारिक है।	रोबिन्स की परिभाषा केवल सैद्धान्तिक है।
7. मानव-क्रियाओं का माप	मार्शल के अनुसार मानव क्रियाओ को मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है।	रोबिन्स के अनुसार इन्हे मुद्रा द्वारा नहीं मापा जा सकता है और न मापने की आवश्यकता है।
8 अर्थशास्त्र का क्षेत्र	मार्शल ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र बहुत सकुचित कर दिया है।	रोबिन्स ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र अनावश्यक रूप से विस्तृत कर दिया है।

4. आवश्यकता–विहीनता की परिभाषा
(Wantlessness Difinition)

प्रो जे के मेहता ने अर्थशास्त्र को एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया है। मेहता एक भारतीय अर्थशास्त्री हैं जिनके विचार पाश्चात्य विचारों से भिन्न हैं तथा भारतीय सस्कृति एव विचारो से ओत-प्रोत हैं। पाश्चात्य विचारको के विचार भौतिकवाद पर आधारित हैं जबकि मेहता के विचार अध्यात्मिकता पर आधारित हैं।

मेहता की परिभाषा—प्रो मेहता ने अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है—"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मानवीय आचरण का, आवश्यकता-विहीनता की अवस्था मे पहुँचने के लिए, साधन के रूप मे अध्ययन करता है।"[8]

इस परिभाषा की व्याख्या करने पर ज्ञात होता है कि मानव को वास्तविक सुख आवश्यकताओं की अधिकता मे नही बल्कि न्यूनता मे प्राप्त होता है। अतः मनुष्य को सुखी बनने के लिए अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करते हुए **आवश्यकता-विहीनता** की अवस्था प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रो मेहता की परिभाषा को अधिक स्पष्ट समझने के लिए हमे सुख तथा सतुष्टि मे अन्तर समझ लेना चाहिए। सतुष्टि किसी व्यक्ति की वह अनुभूति है जो किसी इच्छा विशेष की तृप्ति पर मिलती है। अतः सतुष्टि का सम्बन्ध इच्छा

8 "Economics must, therefore, be difined as the science of human activities considered as an endeavour to reach the state of wantlessness" —J.K. Mehta

से होता है। यदि इच्छा तीव्र होगी तो संतुष्टि भी अधिक प्राप्त होगी। इस तरह इस संतुष्टि के अनुभव को आनन्द कहेंगे।

सुख संतुष्टि से भिन्न है तथा इसका अनुभव उस समय होता है जब कोई इच्छा ही न हो।

प्रो. मेहता का कहना है कि वास्तविक सुख की प्राप्ति आवश्यकताओं की वृद्धि में नहीं है बल्कि इनके कम करने में है। अधिक आवश्यकताओं के बढ़ने का तात्पर्य होगा अधिक पीड़ाओं का बढ़ना। आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए साधनों की आवश्यकता होती है। साधन सीमित होते हैं अतः सभी आवश्यकताएँ संतुष्ट नहीं होतीं और जो आवश्यकताएँ संतुष्ट नहीं होतीं उनसे कष्ट उत्पन्न होता है; अतः वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए आवश्यकताओं को कम किया जाना चाहिए। आवश्यकताओं को कम करते-करते आवश्यकता-विहीनता की अवस्था प्राप्त करनी चाहिए।

प्रो. मेहता ने आवश्यकता-विहीनता अथवा सुख की अवस्था प्राप्त करने के दो उपाय बतलाये हैं—(1) बाह्य शक्तियों में, जो असंतुलन उत्पन्न करती हैं, इस प्रकार समन्वय स्थापित किया जाय कि वे मस्तिष्क के अनुरूप हो जाएँ। (2) मस्तिष्क को ऐसी स्थिति में रखा जाय कि वह बाह्य शक्तियों द्वारा अप्रभावित रहे। इसके लिए मस्तिष्क को शिक्षित करने की आवश्यकता है।

मेहता की परिभाषा की आलोचनाएँ—प्रो. मेहता की परिभाषा की अनेक आलोचनाएँ की गई हैं और कहा गया है कि यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाए तो अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता ही समाप्त हो जायगी। मेहता की परिभाषा की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) भौतिक तथा विकासवाद के विपरीत—मेहता की परिभाषा आधुनिक भौतिकवाद तथा विकासवाद के प्रतिकूल है। इस परिभाषा को स्वीकार करने पर आर्थिक प्रगति रुक जायगी।

(2) अर्थशास्त्र स्वयं के नाश का कारण—मेहता की परिभाषा स्वीकार करने पर अर्थशास्त्र अपने नाश का स्वयं कारण बनता है, क्योंकि आवश्यकता-विहीनता की स्थिति में पहुँचने पर अर्थशास्त्र के अध्ययन की भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

(3) व्यावहारिक नहीं—मेहता की परिभाषा चाहे भारतीय दर्शन पर खरी उतरती हो, परन्तु वह आज की परिस्थितियों में व्यावहारिक नहीं है। कोई भी व्यक्ति इस भौतिकवादी युग में आवश्यकताओं को कम करके उनकी संतुष्टि के आनन्द से वंचित नहीं होना चाहेगा।

(4) अर्थशास्त्र केवल आदर्श विज्ञान ही नहीं—मेहता की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान है जबकि रोबिन्स इसे केवल वास्तविक विज्ञान मानते हैं।

अर्थशास्त्र की कौनसी परिभाषा श्रेष्ठ है ?

अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि अर्थशास्त्र की कौनसी परिभाषा श्रेष्ठ है। इसके सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि धन सम्बन्धी परिभाषाओं को आज कोई भी स्वीकार नहीं करता है। इसी तरह मेहता की आवश्यकता विहीनता की परिभाषा भी आध्यात्मिक तथा आदर्शप्रधान होने से स्वीकार नहीं की जाती है। अत मुख्य विवाद मार्शल तथा रोबिन्स की परिभाषाओं के मध्य है। आज भी अधिकांश लोग मार्शल अथवा रोबिन्स की परिभाषाओं को ही अधिक पसन्द करते हैं। मार्शल की परिभाषा सरल, व्यावहारिक तथा कल्याणकारी होने से अच्छी समझी जाती है परन्तु यह विश्लेषणात्मक न होने, आदर्शप्रधान होने तथा भौतिकता के जाल में फँसी होने के कारण अस्वीकार की जाती है। रोबिन्स की परिभाषा विश्लेषणात्मक, वैज्ञानिक तथा विस्तृत होने के कारण मार्शल से अच्छी समझी जाती है परन्तु इसमें व्यावहारिकता का अभाव है तथा जटिल होने के कारण सामान्य व्यक्ति की समझ में नहीं आती है।

अर्थशास्त्र की आधुनिक विकास केन्द्रित परिभाषा

(Modern Development Oriented Definition of Economics)

अर्थशास्त्र एक विकासशील विषय है जिसकी परिभाषा पिछले दो सौ वर्षों में लगातार परिवर्तित होती रही है। एडम स्मिथ तथा उनके अनुयायियों ने अर्थशास्त्र को धन प्रधान विषय बताया था, जबकि मार्शल एवं उनके अनुयायियों ने अर्थशास्त्र को मानव के भौतिक कल्याण में वृद्धि करने का विषय बताया था। सन् 1932 में प्रो रोबिन्स ने अर्थशास्त्र को मानव व्यवहार के उस पहलू का अध्ययन बताया जो मनुष्य की असीमित आवश्यकताओं (लक्ष्यों), सीमित एवं वैकल्पिक प्रयोग वाले साधनों के मध्य सम्बन्ध के रूप में अध्ययन करता है। प्रो रोबिन्स ने आर्थिक साधनों को सीमित एवं दिया हुआ माना था। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अर्थशास्त्रियों की अधिक रुचि का विषय विकास का अर्थशास्त्र (Economics of *Development*) हुआ, तथा उन्होंने पाया कि एक देश को अपने तीव्र विकास के लिए आर्थिक साधनों को दिया हुआ न मान कर विभिन्न प्रकार से बढ़ाना आवश्यक है। अत अर्थशास्त्र में विकास की अधिक बातें होने लगीं। आधुनिक परिभाषाएँ विकास केन्द्रित हैं। अर्थशास्त्र की आधुनिक परिभाषाओं में बोल्डिंग, स्टिग्लर, हैंडरसन क्वान्ट, मिल्टन फ्रीडमैन, पाल सेमुअलसन, लिप्से आदि की आती हैं जबकि विकास केन्द्रित परिभाषा म के जी सेठ की परिभाषा उपयुक्त है। के जी सेठ ने अर्थशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है—'अर्थशास्त्र उस मानवीय आचरण का अध्ययन करता है जिसका सम्बन्ध माँग (परिवर्तन व वृद्धि) के सन्दर्भ में उत्पादन की क्षमता के परिवर्तनों व वृद्धि से होता है।' अथवा 'अर्थशास्त्र उस मानवीय आचरण का अध्ययन करता है जिसका सम्बन्ध साध्यों के सन्दर्भ में साधनों के

परिवर्तन व विकास से होता है।"[9]

के. जी. सेठ की उपरोक्त परिभाषा गत्यात्मक दृष्टिकोण लिए हुए हैं। यह परिभाषा केवल साधनों व साध्यों के मध्य समायोजन पर ही विचार नहीं करती है बल्कि यह साधनों के विस्तार एवं विकास पर भी विचार करती है। इस परिभाषा को स्वीकार करने पर मनुष्य के बढ़ते तथा बदलते हुए लक्ष्यों को प्राप्त होने की अधिक सम्भावनाएँ प्रकट होती हैं।

विकास-केन्द्रित परिभाषाओं का अभी और विकास होना शेष है, इसलिए दुर्लभता-प्रधान परिभाषाएँ ही अधिक प्रचलित हैं।

प्रश्न एवं संकेत

1. अर्थशास्त्र की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों की व्याख्या कीजिये।

(संकेत—अर्थशास्त्र की परिभाषा के सम्बन्ध में चारों प्रकार के विचारों–धन सम्बन्धी परिभाषाएँ, कल्याण सम्बन्धी परिभाषाएँ, दुर्लभता सम्बन्धी परिभाषा एवं आवश्यकता-विहीनता की परिभाषा—को लिखें।)

2. मार्शल तथा रोबिन्स की अर्थशास्त्र की परिभाषाओं को बताइये। इसमें से आप किस परिभाषा को तथा क्यों उत्तम मानते हैं?

(संकेत—पहले मार्शल की परिभाषा लिख कर उसकी व्याख्या करें तथा बाद में रोबिन्स की परिभाषा लिख कर उसकी भी व्याख्या कर दें। अन्त में मार्शल अथवा रोबिन्स दोनों में से किसी एक परिभाषा को उत्तम बताइये। जिस परिभाषा को आप उत्तम लिखें उसकी अच्छाइयां तथा दूसरी की आलोचनाएँ लिखें। रोबिन्स की परिभाषा को उत्तम बता सकते हैं।)

3. "अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन के व्यवसाय का अध्ययन है। यह व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्य के उस भाग की व्याख्या करता है जो कि भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति तथा उनके प्रयोग से सम्बन्धित है।"—मार्शल विवेचना कीजिए।

(संकेत—मार्शल की परिभाषा की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए उत्तर लिखें।)

4. "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें साध्यों व वैकल्पिक प्रयोग वाले सीमित साधनों से सम्बन्धित मानव-व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।"—रोबिन्स विवेचना कीजिए।

---

9. "Economics studies human behaviour concerned with changes and growth in capacity to produce in relation to (changes and growth in) demand." or "Economics studies human behaviour concerned with changes and growth in means in relation to ends." —K.G. Seth

अथवा

रोबिन्स की परिभाषा की व्याख्या कीजिए।

(संकेत—रोबिन्स की परिभाषा की पहले व्याख्या करें, इसकी अच्छाइयाँ लिखें तथा अन्त में इसकी सक्षेप मे आलोचनाएँ लिखें।)

5. "अर्थशास्त्र एक विज्ञान है जो मानवीय आचरण का आवश्यकता-विहीनता की अवस्था मे पहुँचने के लिए साधन के रूप मे अध्ययन करता है।"
—मेहता

विवेचना कीजिए।

(संकेत—जे. के. मेहता की परिभाषा की सम्पूर्ण व्याख्या करके संक्षेप में इसकी आलोचनाएँ भी लिखें।)

6. "अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं ? यदि नहीं तो अर्थशास्त्र की कोई उपयुक्त परिभाषा दीजिये।

(संकेत—पहले इस कथन को समझाइए। यह कथन अर्थशास्त्र की धन सम्बन्धी परिभाषा के सम्बन्ध मे है। फिर लिखें कि इस विचार से सहमत नहीं हैं और अपने समर्थन मे धन सम्बन्धी परिभाषा की आलोचनाएँ कीजिए और अन्त मे रोबिन्स की परिभाषा लिखकर बतलाएँ कि यह उपयुक्त परिभाषा है।)

---

2 अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र
(Nature and Scope of Economics)

अर्थशास्त्र की परिभाषाओं का अध्ययन करने के बाद अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र जानना आवश्यक हो जाता है। अर्थशास्त्र का क्षेत्र क्या है ? इस प्रश्न का जवाब उतना ही कठिन एवं विवादास्पद है, जितना कठिन अर्थशास्त्र को परिभाषित करना रहा है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र की विवेचना में प्रायः निम्नलिखित बातों का अध्ययन किया जाता है :

1. अर्थशास्त्र की विषय सामग्री,
2. अर्थशास्त्र का स्वभाव, एव
3. अर्थशास्त्र की सीमाएँ।

उपरोक्त तीनों तथ्यों का यहाँ विस्तार से अध्ययन किया गया है।

1. अर्थशास्त्र की विषय सामग्री (Subject Matter of Economics)

अर्थशास्त्र की विषय सामग्री अर्थशास्त्र की परिभाषाओं के साथ-साथ परिवर्तित होती गई है और यह अर्थशास्त्र की परिभाषा की स्वीकृति पर निर्भर है। परन्तु जैसाकि पिछले अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है कि आज तक अर्थशास्त्र की कोई सर्वसामान्य परिभाषा नहीं दी जा सकी है, अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री भी विभिन्न प्रचलित दृष्टिकोणों के अनुसार भिन्न है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अर्थशास्त्र की विषय सामग्री धन रहा है अर्थात अर्थशास्त्र में इस बात का अध्ययन होता है कि धन क्या है ? धन कैसे उत्पन्न किया जाता है तथा इसका कैसे वितरण एवं प्रयोग किया जाए ?

कल्याणकारी अर्थशास्त्रियों जिनमें मार्शल, पीगू, बेवरिज, कैनन, फेयर-चाईल्ड आदि प्रमुख हैं, ने अर्थशास्त्र की विषय सामग्री मानव का भौतिक कल्याण माना है। उनके अनुसार अर्थशास्त्र में सामाजिक, वास्तविक एव सामान्य मनुष्यों की उन साधारण जीवन सम्बन्धी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है जिनसे मानव के भौतिक कल्याण में वृद्धि होती है।

दुर्लभता संबंधी दृष्टिकोण अथवा रोबिन्स के अनुसार अर्थशास्त्र एक मानव विज्ञान है तथा इसकी विषय सामग्री सभी मनुष्यों की सभी क्रियाओं के एक विशेष पहलू-चुनाव का पहलू का अध्ययन करना है।

उपरोक्त दृष्टिकोणों में आज रोबिन्स का दृष्टिकोण ही अधिक स्वीकार किया जाता है और अर्थशास्त्र की विषय सामग्री मानव क्रियाओं के चुनाव के पहलू के अध्ययन को माना जाता है।

आर्थिक क्रियाओं के विभाग—अनेक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र की विषय सामग्री इसके पांच विभागों का अध्ययन मानते हैं। ऐसे अर्थशास्त्रियों का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में आवश्यकताएँ, चेष्टाएँ एवं सन्तुष्टि का प्रवाह चलता है और इस प्रवाह में जो आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं उनका अध्ययन अर्थशास्त्र के पांच विभागों—उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण एवं राजस्व में किया जाता है।

(1) उपभोग (Consumption)—इस विभाग में मनुष्य की आवश्यकताएँ, उपयोगिता तथा इन पर आधारित नियमों का अध्ययन किया जाता है।

(2) उत्पादन (Production)—इस विभाग में उत्पादन के साधन, उत्पादन के नियम एवं उत्पादन की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

(3) विनिमय (Exchange)—इस विभाग में बाजार, वस्तुओं का मूल्य निर्धारण, मुद्रा, बैंकिंग, बीमा तथा व्यापार संबंधी समस्त क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

(4) वितरण (Distribution)—इस विभाग में राष्ट्रीय लाभांश तथा उसके वितरण की समस्याओं एवं सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है।

(5) राजस्व (Public Finance)—इस विभाग में विभिन्न सरकारों एवं स्थानीय स्वशासी संस्थाओं के आर्थिक साधनों की प्राप्ति तथा व्यय से संबंधित सिद्धान्तों एवं समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

2 अर्थशास्त्र की प्रकृति अथवा स्वभाव (Nature of Economics)

अर्थशास्त्र की प्रकृति अथवा स्वभाव की विवेचना निम्न प्रश्नों के उत्तर में निहित है—(i) क्या अर्थशास्त्र विज्ञान है ? (ii) यदि अर्थशास्त्र विज्ञान है तो क्या वह वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान ? (iii) क्या अर्थशास्त्र कला भी है ?

उपरोक्त प्रश्नों के सन्दर्भ में अर्थशास्त्र के स्वभाव का यहाँ अध्ययन किया गया है।

(i) क्या अर्थशास्त्र विज्ञान है ?—इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व विज्ञान का अर्थ जान लेना आवश्यक है। किसी भी विषय के क्रमबद्ध अध्ययन को, जो कारण एवं परिणाम में संबंध व्यक्त करता है, विज्ञान कहते हैं। एक विषय विज्ञान कहा जा सकता है यदि वह विषय निम्न शर्तों को पूरा कर दे :

(1) विषय का अध्ययन क्रमबद्ध एवं स्पष्ट होना चाहिए।
(2) विषय के अपने नियम एवं सिद्धान्त होने चाहिए।
(3) विषय के नियम एवं सिद्धान्त घटनाओं के कारण एवं परिणामों में संबंध बतलाने वाले होने चाहिए।
(4) विषय के नियमों द्वारा सार्वभौमिक सत्य का प्रतिपादन किया जाना चाहिए।

अर्थशास्त्र की प्रकृति अथवा स्वभाव

अर्थशास्त्र विज्ञान है, क्योंकि :

(1) अर्थशास्त्र मे आर्थिक तथ्यों का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है ।

(2) अर्थशास्त्र के स्वय के नियम है ।

(3) आर्थिक नियम आर्थिक घटनाओ के कारण एव परिणाम का अध्ययन करते हैं

(4) अर्थशास्त्र के कुछ नियम सार्वभौमिक हैं ।

अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है—पक्ष मे तर्क :

(1) आर्थिक विश्लेपण तर्क पर आधारित होते हैं ।

(2) श्रम-विभाजन सिद्धान्त के अनुकूल ।

(3) अर्थशास्त्र का विज्ञान के रूप मे विकास ।

(4) आदर्शो के निर्धारण में जटिलता ।

(5) भ्रम उत्पन्न होने का भय ।

(6) साम्य का तर्क ।

अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान भी है—तर्क :

(1) मनुष्य तार्किक एव भावुक दोनो होता है ।

(2) श्रम विभाजन का तर्क गलत ।

(3) साम्य संबधी तर्क अनुपयुक्त ।

(4) कल्याणवादी अर्थशास्त्र का विकास ।

(5) औद्योगिक प्रगति ।

अर्थशास्त्र विज्ञान है (Economics is a Science)—विज्ञान के अर्थ तथा किसी विपय के विज्ञान हो सकने की शर्तों को यदि अर्थशास्त्र के अन्दर देखा जाए तो यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र विज्ञान है। अर्थशास्त्र विज्ञान होने की समस्त शर्तों का पालन करता है । जैसे—

(1) **आर्थिक तथ्यों का क्रमबद्ध अध्ययन**—अर्थशास्त्र मे आर्थिक तथ्यो का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है । इस कार्य के लिए सर्वप्रथम आर्थिक तथ्यों को एकत्रित करके, फिर उनका वर्गीकरण एवं विश्लेपण किया जाता है । समस्त आर्थिक समस्याओ एवं सिद्धान्तो का अध्ययन पांच विभागो—उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण एवं राजस्व मे किया जाता हे ।

(2) **अर्थशास्त्र के आर्थिक नियम**—अर्थशास्त्र विपय के अपने स्वयं के नियम है जिन्हे आर्थिक नियमों एव सिद्धान्तों के नाम से जाना जाता है। अर्थशास्त्र के नियमों मे सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम,प्रतिस्थापन का नियम, उत्पत्ति के नियम, मांग का नियम, वितरण के सिद्धान्त आदि प्रमुख है ।

(3) **आर्थिक घटनाओं के कारण एवं परिणाम का सम्बन्ध**—आर्थिक नियम आर्थिक घटनाओं के कारण एव परिणाम के सम्बन्ध का अध्ययन करते हैं। उदाहरण के तौर पर मांग का नियम मूल्य एव माग के सम्बन्ध का अध्ययन करता है ।

(4) **अर्थशास्त्र के कुछ सार्वभौमिक नियम**—अर्थशास्त्र के कुछ नियम सार्वभौमिक सत्य का प्रतिपादन करते हैं जो सभी स्थानो एवं सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होते है। सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम, प्रतिस्थापन का नियम तथा उत्पत्ति के नियम

(6) अर्थशास्त्र के अध्ययन को इसके आदर्श विज्ञान का रूप रुचिकर बनाता है।

निष्कर्ष–अर्थशास्त्र वास्तविक एव आदर्श विज्ञान दोनो है।

अर्थशास्त्र कला भी है पक्ष मे तर्क.

(1) अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप में बाधक नहीं।

(2) अनेक समस्याएँ विशुद्ध आर्थिक।

(3) व्यावहारिक अर्थशास्त्र का वढता महत्व।

(4) अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक पक्ष।

ऐसे ही नियम हैं जिन्हें सार्वभौमिक कहा जा सकता है।

अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान अथवा आदर्श विज्ञान अथवा दोनों ?—अर्थशास्त्र को अधिकाश अर्थशास्त्री विज्ञान मानते हैं, परन्तु उनमे इस बात पर मतभेद है कि अर्थशास्त्र किस तरह का विज्ञान है ? क्या अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान अथवा दोनो ? इन प्रश्नो के उत्तर को सुनिश्चित करने के लिए वास्तविक विज्ञान एव आदर्श विज्ञानों का अर्थ जानकर उसे अर्थशास्त्र के सदर्भ मे देखा जाएगा।

वास्तविक विज्ञान का अर्थ—वास्तविक विज्ञान वह विज्ञान है जो वस्तु स्थिति का अध्ययन करता है अर्थात् जो केवल क्या है ? प्रश्न का जवाब देता है। वास्तविक विज्ञान किसी विषय के उचित अथवा अनुचित होने के सबध मे अध्ययन नही करता है। इस तथ्य को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। विष के सबध मे वास्तविक विज्ञान बतलाएगा कि विष खाने से मृत्यु हो जाती है। परन्तु वह यह नही बतलाएगा कि विषपान अच्छा है अथवा बुरा।

आदर्श विज्ञान का अर्थ—जहाँ वास्तविक विज्ञान वस्तु स्थिति का अध्ययन करता है वहाँ आदर्श विज्ञान इस बात का अध्ययन करता है कि वस्तु स्थिति कैसी होनी चाहिए। आदर्श विज्ञान किसी विषय के औचित्य अथवा अनौचित्य पर विचार करता है। उपरोक्त उदाहरण के सन्दर्भ मे आदर्श विज्ञान यह भी बतलाएगा कि विष के उपभोग से मृत्यु हो जाती है अत विषपान बुरा है और विष का उपभोग नही किया जाना चाहिए।

अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है (Economics is a Positive Science)—वास्तविक विज्ञान के अर्थ एव शर्तों को देख कर कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र भी एक वास्तविक विज्ञान है। अर्थशास्त्र मे आर्थिक तथ्यों के कारण एव परिणाम के सम्बन्ध का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। अधिकाश अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान माना है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो एव रोबिन्स ने अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान माना और कहा कि अर्थशास्त्री का कार्य *आर्थिक तथ्यो का तटस्थ रह कर अध्ययन करना है, उसका कार्य उचित अथवा अनुचित, वाछनीय एव अवाछनीय बताना नही है।* अर्थशास्त्र के वास्तविक विज्ञान होने के पक्ष मे निम्न तर्क दिये जाते हैं

(1) आर्थिक विश्लेषण तर्क पर आधारित होते हैं—अर्थशास्त्र के सभी विश्लेषण तर्क पर आधारित होने से अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है। तर्क के आधार

पर यह बताना कठिन होता है कि क्या होना चाहिए और क्या नहीं। आदर्शवादी दृष्टिकोण तर्क पर नहीं बल्कि भावनाओं पर आधारित होता है। अर्थशास्त्र भावनाओं पर नहीं आर्थिक तथ्यों एवं तर्क पर आधारित है।

(2) **श्रम विभाजन सिद्धान्त के अनुकूल**—आज श्रम विभाजन का युग है, जिसमें किसी व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह सभी कार्यों में निपुण हो तथा वह सभी कार्य करे। श्रम विभाजन का सिद्धान्त यह बताता है कि अर्थशास्त्री का कार्य आर्थिक तथ्यों का विश्लेषण करना है तथा नीति निर्धारण का कार्य नीति-शास्त्री का है। अत: अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान माना जाना चाहिए।

(3) **अर्थशास्त्र का विज्ञान के रूप में विकास**—अर्थशास्त्र एक नवीन विषय है और इसका अभी बहुत विकास होना है। यदि अर्थशास्त्र को वास्तविक विज्ञान न मानकर आदर्श विज्ञान माना जायेगा तो इसका भावी विकास रुक जायेगा, क्योंकि 'वस्तुस्थिति क्या है ?' के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में मत-भेद की बहुत कम सभावना है जबकि 'क्या होना चाहिए ?' के संबंध में मतभेद व्यापक होंगे। 'वस्तु-स्थिति क्या है ?' का अध्ययन तथ्यों एवं तर्क पर आधारित होता है जबकि 'क्या होना चाहिए ?' का अध्ययन भावनाओं एवं आदर्शों पर आधारित होता है जिसमें मतभेद होने की अधिक संभावनाएँ रहती हैं।

(4) **आदर्शों के निर्धारण में जटिलता**—अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान मानने पर आदर्शों का निर्धारण करना होगा और आदर्शों का निर्धारण बहुत जटिल कार्य है, क्योकि आदर्शों के निर्धारण में प्रत्येक व्यक्ति की धारणा अलग-अलग होती है। एक व्यक्ति जिसे बुरा समझता है, उसे दूसरा अच्छा समझ सकता है। अत: अर्थशास्त्री को भले-बुरे के चक्कर में पड कर अपने मुख्य कार्य को कुशलता से करने में बाधाएँ स्वयं उपस्थित नहीं करनी चाहिए।

(5) **भ्रम उत्पन्न होने का भय**—आर्थिक विश्लेषण में क्या है ? और क्या होना चाहिए ? दोनों को एक साथ मिला देने से भ्रम उत्पन्न हो जाएगा। किसी भी आर्थिक अन्वेषण में अर्थशास्त्री को उसके उचित अनुचित पर अपना मत प्रकट करना पड़ेगा और यदि वह किसी तथ्य की आलोचना नहीं करता तो उसे उसका समर्थक अथवा तटस्थ माना जाएगा। परन्तु इस तरह का निष्कर्ष गलत एवं अकारण होगा।

(6) **साम्य का तर्क**—अर्थशास्त्र के साम्य का विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। साम्य द्वारा इस बात का ज्ञान होता है कि साधनों का वितरण विभिन्न प्रयोगों में किस तरह किया जाय कि अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो सके। परन्तु साम्य किसी आदर्श स्थिति को नहीं बताता है, यदि स्वयं साम्य की स्थिति आदर्श नहीं है। साम्य केवल साम्य है उसमें अनुमोदन का बल नहीं है और न ही

साम्य अधिकतम कल्याण का प्रतीक है। अतः अर्थशास्त्र साम्य के तर्क के आधार पर भी केवल वास्तविक विज्ञान ही है।

अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान भी है
(Economics is a Normative Science Also)

अधिकाश अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को एक वास्तविक विज्ञान मानते हैं, परन्तु अनेक अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं जो इसे वास्तविक विज्ञान के साथ-साथ आदर्श विज्ञान भी मानते हैं। सभी कल्याणकारी अर्थशास्त्री तो अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान मानते ही हैं बल्कि हाट्रे, फ्रेजर, एव श्रीमती वूटन जैसे आधुनिक अर्थशास्त्री भी अर्थशास्त्र को एक आदर्श विज्ञान मानते हैं। हाट्रे ने कहा है, "अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से पूर्णतया पृथक नहीं किया जा सकता है।" इस कथन का तात्पर्य यह है कि अर्थशास्त्र उद्देश्यो के प्रति तटस्थ नही है तथा अर्थशास्त्री को उचित-अनुचित का निर्णय देना होता है। इस सम्बन्ध मे वूटन का कथन अधिक सही है—"अर्थशास्त्रियो के लिए यह बडा ही कठिन कार्य है कि वे अपनी विवेचना को सभी नीति-प्रधान विषयो से मुक्त रखें।" फ्रेजर ने कहा है—"अर्थशास्त्री जो केवल अर्थशास्त्री है, वह एक सुन्दर किन्तु तुच्छ मछली के समान है।" इन विचारों से स्पष्ट होता है कि अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान भी है। अर्थशास्त्र के आदर्श विज्ञान होने के पक्ष मे निम्न तर्क दिये जाते हैं :

(1) **मनुष्य तार्किक एव भावुक दोनो होता है**—मनुष्य का व्यवहार सदैव तार्किक ही नही, बल्कि भावुक भी होता है। इसलिए मनुष्य के किसी भी व्यवहार का केवल शुद्धतः तार्किक अध्ययन ही पर्याप्त नही होता है। मनुष्य मे तर्क तथा भावना दोनो गुण एक साथ उपलब्ध होते हैं, अत आर्थिक विश्लेषण मे भी तर्क एवं भावना दोनो का एक साथ प्रयोग किया जाना चाहिए। जब आर्थिक विश्लेषण मे तर्क के साथ भावना अथवा आदर्श का प्रयोग आवश्यक है तब अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान के साथ आदर्श विज्ञान भी है।

(2) **श्रम विभाजन का तर्क गलत**—अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानने के लिए जो श्रम विभाजन का तर्क दिया जाता है वह भ्रमात्मक तथा गलत है। एक अर्थशास्त्री केवल किसी विषय के तथ्यों का विश्लेषण कर उसके कारण एव प्रभाव के सम्बन्ध को व्यक्त करदे तथा जब उद्देश्यो का निर्धारण करना हो तब यह कार्य किसी अन्य राजनीतिज्ञ अथवा नीतिशास्त्री पर छोड देना गलत होगा। यह तो ठीक उसी तरह का श्रम विभाजन होगा जिसमे एक व्यक्ति केवल खाना खाये तथा दूसरा व्यक्ति केवल पानी पिये।

(3) **साम्य सबधी तर्क अनुपयुक्त**—अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानने पर यदि कोई भी आर्थिक तथ्य साम्य में है तो उसमे सुधार के प्रयत्नों की आवश्यकता नही मानी जाती है। परन्तु इस तरह के साम्य का विचार जनता को

सन्तुष्ट नहीं कर सकेगा । उदाहरण के तौर पर भारत में कृषि श्रमिकों की नीची मजदूरी के लिए यह कहा जाए कि यह स्थिति कृषि श्रमिकों की माँग तथा पूर्ति के साम्य के कारण ही है और इसमें किसी प्रकार की वृद्धि नहीं की जा सकती है तो यह ठीक नहीं होगा । सरकार को न्यूनतम मजदूरी अधिनियम आदि लागू करके मजदूरी वृद्धि के प्रयत्न करने होते है ।

(4) कल्याणवादी अर्थशास्त्र का विकास—आधुनिक युग में कल्याणवादी अर्थशास्त्र का तेजी से विकास होता जा रहा है जो अर्थशास्त्र के आदर्श विज्ञान का रूप है । आज मानव कल्याण में वृद्धि के लिए तेजी से आर्थिक विकास एवं वेरोजगारी दूर करने की आवश्यकता है और इसके लिए आर्थिक नियोजन का प्रयोग किया जाता है । आर्थिक नियोजन एवं राजस्व अर्थशास्त्र के क्षेत्र के ही ऐसे विषय है जिनमें अर्थशास्त्री आदर्श पक्ष की उपेक्षा नहीं कर सकता है ।

(5) औद्योगिक प्रगति—औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम इंगलैण्ड में हुई तथा आज वह अधिकांश देशों में फैल चुकी है । औद्योगिक क्रान्ति से उद्योग-धन्धों का तेजी से विकास हुआ है और इस औद्योगिक विकास ने अनेक समस्याओं जैसे—श्रम अशान्ति, श्रम-कल्याण की समस्या, आवास व परिवहन की समस्या आदि को जन्म दिया है । इन समस्याओं के समाधान के लिए अर्थशास्त्री को अपने सुझाव व निर्णय देने होते हैं जो आदर्श का सूचक है ।

(6) आदर्शात्मक रूप अर्थशास्त्र को रुचिकर बनाता है—अर्थशास्त्र को केवल वास्तविक विज्ञान मानने पर इसका अध्ययन अरुचिकर एवं फीका रह जायगा जबकि आर्थिक खोजकर्त्ताओं के समक्ष आदर्श या उद्देश्यों का आकर्षण रहेगा तो अध्ययन रुचिकर एवं उपयोगी होगा ।

निष्कर्ष—अर्थशास्त्र के वास्तविक विज्ञान तथा आदर्श विज्ञान होने के संबंध में दिये गये उपरोक्त तर्कों से ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र केवल वास्तविक विज्ञान ही नहीं, बल्कि आदर्श विज्ञान भी है । अर्थशास्त्री को व्यावहारिक जीवन में आर्थिक तथ्यों एवं समस्याओं का विश्लेषण करके न केवल वस्तुस्थिति स्पष्ट करनी होती है बल्कि उसे परामर्श भी देना होता है । आज अर्थशास्त्री आर्थिक समस्याओं को हल करने के लिए आवश्यक सुझाव भी देते है ।

क्या अर्थशास्त्र एक कला है ? (Is Economics an Art)—अर्थशास्त्र के कला होने या न होने के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में तीव्र मतभेद है । एडम स्मिथ, रिकार्डो, मिल, मार्शल, पीगू आदि अर्थशास्त्र को कला मानते है जबकि वालरस सीनियर, शुम्पीटर, कूर्नो, रोबिन्स आदि इसे कला नहीं मानते हैं । यहां दोनों प्रकार के विचारों का अध्ययन किया गया है ।

कला किसी कार्य को करने का सर्वोत्तम ढंग होती है ।

अर्थशास्त्र को कला न मानने के पक्ष में तर्क—जो अर्थशास्त्री इसे कला नहीं मानते, वे अपने समर्थन में निम्न तर्क देते हैं :

(1) अर्थशास्त्र को विशुद्ध विज्ञान बनाये रखना—अर्थशास्त्र एक विशुद्ध

वास्तविक विज्ञान है और इसका यही रूप बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि इसको कला न माना जाए। विशुद्ध विज्ञान उद्देश्यों के प्रति तटस्थ रहता है जबकि कला उद्देश्यों की प्राप्ति का मार्ग बतलाती है।

(2) **कला और विज्ञान की अलग-अलग प्रकृति**—कला और विज्ञान की अलग-अलग प्रकृति है, अतः यदि हम अर्थशास्त्र को विज्ञान स्वीकार करते हैं तो यह कला नहीं हो सकती है।

(3) **आर्थिक समस्याओं की प्रकृति**—अधिकांश आर्थिक समस्याएँ विशुद्ध आर्थिक नहीं होती हैं बल्कि उनमें सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक तत्वों का समावेश होता है। अतः ऐसी स्थिति में अर्थशास्त्री के लिए यह कैसे सम्भव है कि वह केवल आर्थिक दृष्टिकोण के आधार पर इन समस्याओं के निराकरण के लिए उचित नीति का निर्माण कर सकता है।

(4) **अर्थशास्त्र कोई सुनिश्चित निष्कर्ष प्रदान नहीं करता**—अर्थशास्त्र निष्कर्ष निकालने में सहायक होता है। यह कोई ऐसे सुनिश्चित एवं स्पष्ट निष्कर्ष प्रदान नहीं करता है जिन्हें तत्काल आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए लागू किया जा सके अतः अर्थशास्त्र कला नहीं है।

अर्थशास्त्र को कला मानने के पक्ष में तर्क—अनेक अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को कला मानते हैं तथा इसके पक्ष में निम्न तर्क देते हैं :

(1) **कला अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप के विकास में बाधक नहीं**—अर्थशास्त्र के कला मानने पर इसके वैज्ञानिक स्वरूप के विकास में किसी तरह की बाधा उपस्थित नहीं होगी, क्योंकि अर्थशास्त्री के लिए अपने विषय का अध्ययन सत्य के लिए सत्य की खोज जानना नहीं होना चाहिए। बल्कि अर्थशास्त्र, जो कि एक मानवीय विज्ञान है, का उद्देश्य मानवीय समस्याओं को हल करने में सहायक होना चाहिए। इस सन्दर्भ में पीगू का यह कथन सत्य है—"अर्थशास्त्र के अध्ययन में हमारा दृष्टिकोण ज्ञान की खोज के लिए ज्ञान नहीं होता बल्कि उस डाक्टर की तरह होता है जो अपने ज्ञान की सहायता से रोगियों का निदान करता है।"

(2) **अनेक समस्याएँ विशुद्ध आर्थिक होती हैं**—अनेक आर्थिक समस्याएँ विशुद्ध आर्थिक होती हैं जिनका निराकरण अर्थशास्त्री आर्थिक दृष्टिकोण से कर सकते हैं। विनिमय दर, बैंक दर, मुद्रा तथा साख से सबंधित समस्याएँ विशुद्ध आर्थिक समस्याएँ ही हैं।

(3) **व्यावहारिक अर्थशास्त्र का बढ़ता हुआ महत्व**—आज आर्थिक विषयों में व्यावहारिक अर्थशास्त्र, नियोजन, राजस्व, कल्याणवादी अर्थशास्त्र आदि का महत्व बढ़ता जा रहा है जो अर्थशास्त्र के कला के रूप को स्पष्ट करता है।

(4) **अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष**—अर्थशास्त्र विषय के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्ष होते हैं। इसका सैद्धान्तिक पक्ष इसके वैज्ञानिक स्वरूप को तथा व्यावहारिक पक्ष इसके कला के स्वरूप को बताता है।

निष्कर्ष—अर्थशास्त्र की वास्तविक प्रकृति अथवा स्वभाव का अध्ययन करके यह कहा जा सकता है कि एक तरफ अर्थशास्त्र विज्ञान है क्योंकि यह आर्थिक तथ्यों

का क्रमबद्ध अध्ययन है। इसके स्वयं के नियम हैं जो आर्थिक घटनाओं के कारण एवं प्रभाव के मध्य सम्बन्ध बताते हैं तथा जिनके आधार पर भविष्यवाणी भी की जा सकती है और दूसरी तरफ अर्थशास्त्र कला भी है, क्योंकि आर्थिक विश्लेषण अनेक समस्याओं के निराकरण में सहायक होते हैं। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त इसके वैज्ञानिक स्वरूप में आते हैं तथा इन सिद्धान्तों का प्रयोग व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में किया जाना इसके कला स्वरूप को बताते हैं।

3. अर्थशास्त्र की सीमाएँ (Limitations of Economics)

अर्थशास्त्र की सीमाओं का अध्ययन करने से हमें अर्थशास्त्र को अन्य विषयों से अलग करने में सहायता मिलती है तथा इनके द्वारा हम यह भी जान सकते हैं कि कौन से तथ्य अर्थशास्त्र के अध्ययन में सम्मिलित हो सकते हैं और कौन से नहीं। अर्थशास्त्र की निम्न सीमाएँ स्वीकार की जाती हैं :

(1) **मानवीय क्रियाओं का अध्ययन**—अर्थशास्त्र में केवल मानवीय क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। इसमें पशु-पक्षियों तथा अन्य प्राणियों का अध्ययन नहीं किया जाता है।

(2) **सामाजिक, वास्तविक एवं सामान्य मनुष्यों की क्रियाओं का अध्ययन**—अर्थशास्त्र में केवल समाज में रहने वाले वास्तविक तथा सामान्य मनुष्यों की क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। काल्पनिक तथा असामान्य मनुष्यों की क्रियाओं का अध्ययन अर्थशास्त्र में नहीं किया जाता। रोबिन्स अर्थशास्त्र के अध्ययन में सामाजिक तथा समाज से दूर एकान्तवासियों को भी अर्थशास्त्र के अध्ययन में सम्मिलित करते हैं।

अर्थशास्त्र की सीमाएँ

(1) मानवीय क्रियाओं का अध्ययन।
(2) सामाजिक, वास्तविक एवं सामान्य मनुष्य की क्रियाओं का अध्ययन।
(3) आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन।
(4) अर्थशास्त्र विज्ञान एवं कला दोनों है।
(5) अर्थशास्त्र के नियम कम निश्चित हैं।

(3) **आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन**—अर्थशास्त्र में मनुष्यों की केवल आर्थिक क्रियाओं का ही अध्ययन किया जाता है, अनार्थिक क्रियाओं का नहीं। प्रो. रोबिन्स मनुष्यों की सभी क्रियाओं के एक विशेष पहलू, जो असीमित आवश्यकताओं तथा सीमित एवं वैकल्पिक प्रयोग वाले साधनों के सम्बन्ध का पहलू है, जिसे चुनाव का पहलू भी कहा जाता है, का अध्ययन अर्थशास्त्र में सम्मिलित करते हैं।

(4) **अर्थशास्त्र विज्ञान एवं कला दोनों है**—अर्थशास्त्र को सभी अर्थशास्त्री विज्ञान मानते हैं। उनमें से कुछ इसे केवल वास्तविक विज्ञान ही मानते हैं जबकि अन्य इसे वास्तविक एवं आदर्श दोनों प्रकार का विज्ञान मानते हैं। इसे अनेक अर्थशास्त्रियों द्वारा कला भी स्वीकार किया गया है। वास्तविकता यह है कि अर्थशास्त्र कला एवं विज्ञान दोनों है।

(5) अर्थशास्त्र के नियम कम निश्चित हैं—अर्थशास्त्र के नियम भौतिक शास्त्र के नियमो की तरह अत्यधिक निश्चित एव सुस्पष्ट नही हैं।

प्रश्न एव सकेत

(1) अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री तथा क्षेत्र का विवेचन कीजिए।

(सकेत—सर्वप्रथम लिखें कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे तीन बातें सम्मिलित होती हैं—अर्थशास्त्र की विषय सामग्री, अर्थशास्त्र का स्वभाव एव इसकी सीमाएँ। अत विषय सामग्री अर्थशास्त्र के क्षेत्र का ही एक भाग है। बाद मे इन तीनो बातो को समझाकर लिखें।)

(2) अर्थशास्त्र के क्षेत्र का परीक्षण कीजिए। क्या मानवीय क्रियाओ का आर्थिक तथा अनार्थिक क्रियाओ मे वर्गीकरण किया जा सकता है ?

(सकेत—प्रथम भाग मे अर्थशास्त्र के क्षेत्र से सबधित तीनो बातें लिखें। द्वितीय भाग के उत्तर म लिखें—मोटे तौर पर मनुष्य की क्रियाओ का आर्थिक तथा अनार्थिक क्रियाओ मे वर्गीकरण किया जा सकता है। मनुष्य की वे सभी क्रियाएँ जो आर्थिक उद्देश्य से की जाएँ, आर्थिक क्रियाएँ होगी तथा शेष अनार्थिक।)

(3) वास्तविक विज्ञान, आदर्श विज्ञान एव कला के रूप मे अर्थशास्त्र के स्वभाव की विवेचना कीजिए। आपके मत के अनुसार अर्थशास्त्र का वास्तविक स्वभाव क्या है ?

(सकेत—सर्वप्रथम वास्तविक विज्ञान, आदर्श विज्ञान एव कला का अर्थ लिख कर इनका भाव अर्थशास्त्र के बारे मे लिखें तथा तर्क दें कि अर्थशास्त्र विज्ञान है तथा यह वास्तविक एव आदर्श विज्ञान दोनो है। फिर लिखें अर्थशास्त्र कला भी है। अपने मत के बारे मे आप अर्थशास्त्र को विज्ञान एव कला दोनो बता सकते हैं।)

(4) "अर्थशास्त्र उद्देश्यो के बीच तटस्थ है।" व्याख्या कीजिए।

(सकेत—इस कथन को स्पष्ट करने से पूर्व लिखें कि अर्थशास्त्र वास्तविक एव आदशप्रधान दोनो तरह का विज्ञान है। केवल वास्तविक विज्ञान मानने वाले अर्थशास्त्र को उद्देश्यो के बीच तटस्थ मानते हैं। यहाँ कथन को स्पष्ट करते हुए लिखें कि अर्थशास्त्र उद्देश्यो के बीच तटस्थ नही है।)

---

3 आर्थिक नियमों की प्रकृति
(Nature of Economic Laws)

नियम शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। प्राय: सभी विज्ञानों के अपने नियम होते हैं तथा प्रत्येक विज्ञान की सफलता उसके नियमों की संख्या एवं उनकी सत्यता एवं निश्चितता पर निर्भर करती है। अर्थशास्त्र भी एक विज्ञान है जिसके स्वयं के अनेक नियम एवं सिद्धान्त हैं। अर्थशास्त्र के नियमों की प्रकृति को समझने से पूर्व नियम शब्द का अर्थ एवं प्रकार समझ लेना अधिक उपयुक्त रहेगा।

नियम का अर्थ—**मार्शल** ने नियम शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है—"नियम शब्द का अर्थ सामान्य कथन अथवा प्रवृत्तियों के कथन से कुछ अधिक नहीं है जो कि अधिक या कम सत्य, अधिक या कम निश्चित होते हैं।"[1] नियम सामान्य कथन होते हैं जो सामान्यतया सत्य एवं निश्चित होते हैं। **प्रो० टगवैल** के अनुसार "एक नियम देखे गए सम्बन्धों का सारांश है, अनुभव का संक्षिप्त विवरण है, एक संक्षिप्त चिन्ह है जो कि बहुत-सी सम्बन्धित बातों को समझने में सहायता करता है।"

नियमों के प्रकार—नियमों का प्रयोग ज्ञान की प्राय: सभी शाखाओं में होता है। विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग किए जाने वाले नियमों को निम्न वर्गों या प्रकारों में बाँट सकते हैं :

(1) **सरकारी या वैधानिक नियम** (Statutory Laws)—सरकारी नियम देश में प्रशासन चलाने एवं शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने के लिए सरकार द्वारा बनाए जाते हैं। ये नियम आदेश मूलक होते हैं। इनका पालन करना आवश्यक होता है। इनका उल्लंघन करने पर सम्बन्धित व्यक्ति अथवा व्यक्तियों को दण्ड दिए जाने की व्यवस्था होती है। वैधानिक नियम देश की संसद द्वारा बनाए जाते हैं। इनका पालन सरकार द्वारा करवाया जाता है। आर्थिक नियम आज्ञामूलक नहीं होते हैं और उनका पालन न करने पर किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नहीं होती है।

---

1. "The term law means nothing more than the general proposition or statement of tendencies, more or less certain, more or less definite." —Marshall

(2) सामाजिक या प्रथामूलक नियम (Social Laws)—सामाजिक या प्रथामूलक नियम समाज के रीति रिवाजो एव प्रथाओ द्वारा निर्धारित होते हैं। विवाह, जन्म, मृत्यु आदि के समय किस तरह का व्यवहार किया जाए यह बताने वाले नियम सामाजिक नियम कहलाते हैं। इन नियमो का पालन एक व्यक्ति द्वारा अपने समाज मे अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए किया जाता है तथा इन नियमो का पालन न करने वाला व्यक्ति समाज मे अनादर की दृष्टि से देखा जाता है। आर्थिक नियम प्रथामूलक नही होते हैं।

(3) नैतिक नियम (Moral Laws)—ये नियम व्यक्ति के सामने आदर्श प्रस्तुत करते हैं। ये नियम यह बताते हैं कि व्यक्ति को किस तरह का व्यवहार करना चाहिए और किस तरह का नहीं। ये नियम धर्म तथा नीति शास्त्र की पुस्तको मे मिलते हैं। इन नियमो का पालन समाज मे धार्मिक विश्वास तथा जनमत के डर से किया जाता है। अर्थशास्त्र के नियम आदर्शमूलक होते हैं परन्तु उनके पालन करने या न करने के सम्बन्ध मे किसी तरह का भय नही होता है।

(4) सस्थागत नियम या खेल के नियम (Institutional Laws)—किसी कार्य का सचालन व्यवस्थित रूप से किस तरह किया जाए यह बतलाने वाले नियम सस्थागत नियम कहलाते हैं। एक सभा के सचालन से सम्बन्धित नियम इसी वर्ग मे आते हैं। फुटबाल, क्रिकेट, वॉलीवाल आदि खेलो के नियम भी सस्थागत अथवा खेल के नियम होते हैं।

(5) वैज्ञानिक या प्राकृतिक नियम (Scientific or Natural Laws)—वैज्ञानिक नियमो का प्रतिपादन अनुसन्धान एव खोज के द्वारा होता है। ये नियम किसी घटना के कारण एव परिणाम में सम्बन्ध व्यक्त करते हैं। उदाहरण के तौर पर रसायनशास्त्र का एक नियम यह बताता है कि यदि एक निश्चित तापक्रम एव दबाव पर हाइड्रोजन गैस के दो अश तथा आक्सीजन का एक अश मिलाया जाता है, तो पानी बन जाता है। इसी तरह गुरुत्वाकर्षण का नियम यह बताता है कि किसी भी वस्तु को ऊपर की ओर फेंका जाए तो वह पृथ्वी पर वापस गिर जाती है।

आर्थिक नियम भी वैज्ञानिक नियमो की श्रेणी मे आते हैं और ये नियम आर्थिक घटनाओ के कारण एव परिणाम मे सम्बन्ध बताते हैं। अर्थशास्त्र मे मांग का नियम वस्तु की मांगी गई मात्रा एव मूल्य म सम्बन्ध को व्यक्त करता है।

आर्थिक नियम परिभाषा एव अर्थ

मार्शल के अनुसार, "आर्थिक नियम अथवा आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन ऐसे सामाजिक नियम हैं जिनका सम्बन्ध आचरण की उन शाखाओं से होता है जिनमे मुख्य उद्देश्यों की शक्ति को मुद्रा के द्वारा मापा जा सकता है।"[1]

1. "Economic laws or statements of economic tendencies are those social laws which relate to branches of conduct in which *the strength of the motives chiefly concerned can be measured* by a money price" —Marshall

आर्थिक नियमों की प्रकृति

अर्थ—आर्थिक नियम अथवा आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन ऐसे सामाजिक नियम हैं जिनका सम्बन्ध आचरण की उन शाखाओं से होता है जिनमें मुख्य उद्देश्यों की शक्ति को मुद्रा के द्वारा मापा जा सकता है।

विशेषताएँ :

(1) आर्थिक नियम काल्पनिक होते हैं।

(2) आर्थिक नियम सापेक्षिक होते हैं।

(3) आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों से कम निश्चित होते हैं।

(4) आर्थिक नियम पूर्ण नहीं होते हैं।

आर्थिक नियमों की प्राकृतिक नियमों से कम निश्चितता के कारण :

(1) अर्थशास्त्र का विषय मानव आचरण है, जड़ पदार्थ नहीं।

(2) आर्थिक नियमों का प्रयोगशाला में परीक्षण सम्भव नहीं है।

(3) अर्थशास्त्र का माप-दण्ड—मुद्रा—दोषपूर्ण एवं अविश्वसनीय है।

(4) विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रभाव।

मार्शल की परिभाषा की व्याख्या से आर्थिक नियमों के सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि (i) आर्थिक नियम सामाजिक नियम होते हैं; (ii) वे मानवीय व्यवहार पर आधारित हैं तथा (iii) आर्थिक नियमों का सम्बन्ध उस मानवीय व्यवहार से होता है, जिसे मुद्रारूपी पैमाने द्वारा मापा जा सकता है।

रोबिन्स के अनुसार, "आर्थिक नियम मानव व्यवहार के सम्बन्ध में उन समानताओं के कथन होते हैं जिनका सम्बन्ध असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वैकल्पिक प्रयोग वाले सीमित साधनों के प्रयोग से होता है।"[2]

रोबिन्स के अनुसार (i) आर्थिक नियम मानव व्यवहार से सम्बन्धित होते हैं; (ii) ये नियम मानव के उस व्यवहार से सम्बन्धित होते हैं जो मनुष्य की असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सीमित तथा वैकल्पिक प्रयोग वाले साधनों से सम्बन्धित हैं तथा (iii) आर्थिक नियम मानव व्यवहार से सम्बन्धित कुछ समानताओं को व्यक्त करते हैं।

आर्थिक नियमों की विशेषताएँ :

आर्थिक नियम आर्थिक घटनाओं के कारण एवं प्रभाव के सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। इनकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित होती हैं :

(1) आर्थिक नियम काल्पनिक (Hypothetical) अथवा मान्यता प्रधान होते हैं—आर्थिक नियम आर्थिक प्रवृत्तियों के कथन मात्र होते हैं अतः उनमें कल्पना

2. "Economic laws are statement of unifoumities about human behaviour concerning the disposal of scarce means with alternative uses for the achievement of ends that are unlimited."
—Robbins

(5) प्रभाव डालने वाली प्रवृत्तियाँ परिवर्तनशील हैं।
(6) अज्ञात तत्वों का प्रभाव।
(7) अर्थशास्त्र एक विकासशील विषय है।

आर्थिक नियमों की वास्तविक प्रकृति—आर्थिक नियम वैज्ञानिक नियम हैं परन्तु इनकी प्रकृति गुरुत्वाकर्षण जैसे साधारण एवं निश्चित नियम जैसी नहीं है, बल्कि ज्वार-भाटे के नियमों जैसी है।

अधिक तथा निश्चितता कम होती है। आर्थिक नियमों की सत्यता 'अन्य बातों के समान' होने पर निर्भर करती है और व्यवहार में अन्य बातें सदैव समान नहीं रहती हैं। परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ-साथ ये अन्य बातें परिवर्तित होती रहती हैं। अतः आर्थिक नियमों को काल्पनिक कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर माँग का नियम यह बताता है कि अन्य बातें समान रहने पर वस्तु का मूल्य कम होने पर वस्तु की माँग बढ़ जाती है परन्तु यदि वस्तु गुणकारी की अपेक्षा हानिकारक सिद्ध हो जाए तो उसका मूल्य कम होने पर भी माँग में वृद्धि नहीं होगी।

परन्तु उपरोक्त विवरण से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि आर्थिक नियम काल्पनिक होते हैं, अतः इनका अध्ययन व्यर्थ है। वास्तविकता तो यह है कि अन्य विज्ञानों के नियमों में भी कल्पना का अंश होता है। उदाहरणार्थ, गुरुत्वाकर्षण का नियम ही लें तो ज्ञात होता है कि इस नियम के अनुसार आकाश में किसी भी वस्तु को फेंकने पर वह नीचे की ओर गिरती है। परन्तु एक गुब्बारे में हवा से हल्की गैस भरकर छोड़ने पर वह नीचे की ओर गिरने की अपेक्षा ऊपर उड़ता चला जाता है। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि भौतिक विज्ञान के नियम भी काल्पनिक होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि अर्थशास्त्र के नियम भौतिक विज्ञान के नियमों की तुलना में अधिक काल्पनिक होते हैं।

(2) आर्थिक नियम सापेक्षिक (Relative) होते हैं—नियम दो प्रकार के हो सकते हैं—प्रथम सार्वभौमिक नियम जो सभी स्थानों एवं समयों पर सही उतरते हैं तथा द्वितीय सापेक्षिक नियम जो विशेष स्थान, समय एवं परिस्थितियों में ही लागू होते हैं। अर्थशास्त्र में सार्वभौमिक नियम बहुत कम हैं। इस वर्ग में उपयोगिता ह्रास नियम, माँग व पूर्ति के नियम आदि आते हैं। अर्थशास्त्र के अधिकांश नियम सापेक्षिक हैं जो विशेष समय, स्थान एवं परिस्थितियों में ही सही उतरते हैं। बैंकिंग, मुद्रा, उद्योग, वाणिज्य से सम्बन्धित नियम सापेक्षिक होते हैं, क्योंकि ये आर्थिक संगठन की अलग-अलग प्रणालियों पर आधारित हैं। यही कारण है कि स्वतन्त्र व्यापार की नीति उन्नसवीं शताब्दी में ब्रिटेन के आर्थिक विकास के लिए बहुत अधिक उपयोगी सिद्ध हुई जबकि आज के अर्द्ध-विकसित देशों के लिए यह हानिप्रद सिद्ध होती है। माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त भी वर्तमान परिस्थितियों में सही नहीं है।

(3) आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों से कम निश्चित होते हैं—आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों की तुलना में कम निश्चित होते हैं। प्राकृतिक नियमों

की क्रियाशीलता व्यापक एवं अधिक निश्चित होती है जबकि आर्थिक नियम कुछ कारणों से सभी स्थानों एवं समयों पर समान रूप से लागू नहीं होते हैं। उदाहरण के तौर पर रसायन शास्त्र का एक नियम कि, दो अंश हाइड्रोजन एवं एक अंश ऑक्सीजन एक निश्चित दवाव व तापक्रम पर मिलाने पर पानी बन जाता है। यह नियम सर्वत्र और सभी समयों पर लागू होगा। परन्तु अर्थशास्त्र का माँग का नियम मूल्य बढ़ने पर वस्तु की माँग घट जाती है, समान रूप से सदैव सभी स्थानों पर लागू नहीं होता है।

(4) **आर्थिक नियम पूर्ण (Exact) नहीं होते हैं**—आर्थिक नियमों में गणितात्मक शुद्धता का अभाव होता है, क्योंकि आर्थिक नियम गुणात्मक होते हैं परिमाणात्मक नहीं। इसका यह तात्पर्य है कि प्राकृतिक नियमों से हम तथ्यों की पूर्णता ज्ञात कर सकते हैं जवकि आर्थिक नियमों से हम ऐसा नहीं कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन की मात्रा दुगनी करने पर इनके मिश्रण से बनने वाले पानी की मात्रा भी दुगनी होगी, परन्तु 'माँग के नियम' से यह नहीं कह सकते कि मूल्य घटाकर आधा कर दिया जाए तो वस्तु की माँग बढ़कर दुगनी हो जाएगी।

आर्थिक नियमों की प्राकृतिक नियमों की तुलना में कम निश्चितता अथवा भिन्नता के कारण

आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमों की तुलना में कम निश्चित होते हैं, इसके निम्नलिखित कारण हैं :

(1) **अर्थशास्त्र का विषय मानव आचरण है, जड़ पदार्थ नहीं**—प्राकृतिक विज्ञानों में जड़ पदार्थो का अध्ययन किया जाता है जवकि अर्थशास्त्र में मानव आचरण का अध्ययन होता है। मनुष्य एक चेतन एवं विवेकशील प्राणी है जिसका आचरण न केवल आर्थिक तत्वों से वल्कि अनार्थिक तत्वों जैसे दया, धर्म, परोपकार, देश-प्रेम आदि से भी प्रभावित होता है। इसीलिए मानव आचरण के वारे में सही पूर्वानुमान लगाना कठिन होता है। विभिन्न मनुष्यों के स्वभाव, रुचि, व्यवहार आदि में भिन्नता के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि सभी मनुष्य समान परिस्थितियों में समान कार्य करेंगे। जवकि जड़ पदार्थ अचेतन होते हैं; उनकी कोई अपनी इच्छा नहीं होती है अतः उन पर समय एवं स्थान परिवर्तन का प्रभाव नहीं पड़ता है। इसीलिए प्राकृतिक नियम अधिक निश्चित तथा आर्थिक नियम कम निश्चित होते हैं। मार्शल का कथन इसे अधिक स्पष्ट करता है। मार्शल ने कहा है कि "एक रसायनशास्त्री जिस वस्तु का अध्ययन करता है, वह सदा एकसी रहती है लेकिन अर्थशास्त्र जीवशास्त्र की भाँति ऐसे विषय का अध्ययन करता है जिसका आन्तरिक स्वभाव, वनावट एवं वाह्य रूप वरावर वदलते रहते हैं।"

(2) **आर्थिक नियमों का परीक्षण प्रयोगशाला में सम्भव नहीं है**—प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन की वस्तु जड़ पदार्थ हैं जिन पर प्रयोगशाला में वैठकर

सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रयोग किए जा सकते हैं और इन प्रयोगो के आधार पर ही प्राकृतिक विज्ञानो के नियमो की रचना की जाती है जबकि अर्थशास्त्र की विषयवस्तु मानव व्यवहार है तथा मनुष्य पर प्रयोगशाला मे प्रयोग सम्भव नही हैं।

(3) **अर्थशास्त्र का मुद्रा रूपी मापदण्ड दोषपूर्ण एवं अविश्वसनीय है**—प्राकृतिक विज्ञानों के पास उनके मापदण्ड विश्वसनीय एव निश्चित हैं। अर्थशास्त्र का मापदण्ड मुद्रा है जो कि अविश्वसनीय एव दोषपूर्ण है। मुद्रा का स्वय का मूल्य परिवर्तित होता रहता है अत. यह मापदण्ड स्थिर नही है। मुद्रा द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की तीव्रता का ठीक ठीक मापन सम्भव नही है, क्योंकि मुद्रा की उपयोगिता समाज के विभिन्न वर्गों के लिए अलग-अलग होती है।

(4) **विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रभाव**—मनुष्य के व्यवहार पर केवल आर्थिक परिस्थितियो का ही प्रभाव नहीं पडता है बल्कि सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियो का प्रभाव भी पडता है। आर्थिक तत्वों के अतिरिक्त गैर आर्थिक तत्वो के प्रभाव के कारण आर्थिक नियमो का व्यवहार मे क्रियाशील होना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र का यह नियम है कि उत्पादन का साधन (श्रम) वहाँ कार्य करेगा जहाँ उसे ऊँची मजदूरी मिलेगी, परन्तु भारत मे हम देखते हैं कि पारिवारिक स्नेह तथा अन्य कारणो से श्रम की गतिशीलता बहुत कम है तथा वह कम मजदूरी के स्थान से ऊँची मजदूरी के स्थान पर नहीं जाता है।

(5) **प्रभाव डालने वाली प्रवृत्तियों का स्वय परिवर्तनशील होना**—आर्थिक घटनाओं के कारणो को अपना प्रभाव दिखाने म कुछ समय लगता है, परन्तु इस बीच न केवल कारणों द्वारा प्रभावित होने वाले तत्व बदल जाते हैं, बल्कि वे कारण भी स्वय बदल जाते हैं। ऐसी स्थिति म सम्भावित परिणाम प्राप्त नही होते हैं अथवा आंशिक रूप मे ही प्राप्त होते हैं। इसीलिए मानव व्यवहार के बारे मे निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है।

(6) **अज्ञात तत्वों का प्रभाव**—मनुष्य पर अनेक तत्वो का प्रभाव पडता है जिनमे से अनेक तत्वो का अर्थशास्त्रियो को ज्ञान नही होता है; अत ज्ञात तत्वों के आधार पर की गयी भविष्यवाणी अज्ञात तत्वा के प्रभाव से गलत हो जाती है।

(7) **अर्थशास्त्र एक विकासशील विषय है**—अर्थशास्त्र आज पूर्ण रूप से विकसित विषय नहीं है। अभी इसका विकास होना शेष है, अत इस बात की अधिक सभावना है कि भविष्य मे आर्थिक नियमो मे अधिक शुद्धता आ सकेगी। इसी कारण अभी आर्थिक नियम कम निश्चित हैं।

उपरोक्त कारणो से स्पष्ट होता है कि आर्थिक नियम प्राकृतिक विज्ञानो के नियमों से कम निश्चित हैं परन्तु अर्थशास्त्र के नियम अन्य सामाजिक विज्ञानो की अपेक्षा अधिक पूर्ण एव निश्चित हैं।

आर्थिक नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण के साधारण एवं निश्चित नियम की अपेक्षा ज्वार-भाटे के नियमों से करनी चाहिए।

प्रो० मार्शल ने आर्थिक नियमो की सही प्रकृति की जानकारी के लिए कहा है आर्थिक नियमो की तुलना गुरुत्वाकर्षण के साधारण एव निश्चित नियम से नहीं

बल्कि ज्वार-भाटे के नियमों से करनी चाहिए। गुरुत्वाकर्षण एवं ज्वार-भाटे के नियमों में मूल अन्तर हैं। गुरुत्वाकर्षण का नियम एक पक्का एवं सही नियम है जो प्रत्येक स्थान एवं समय पर सही उतरता है। ज्वार-भाटे के नियम अपेक्षाकृत कम निश्चित हैं। आर्थिक नियम भी ज्वार-भाटे की तरह होते हैं। ज्वार-भाटे का नियम हमें यह बताता है कि पूर्ण चन्द्रमा के रोज समुद्र में ज्वार सबसे ऊँचा होता है तथा जैसे-जैसे चन्द्रमा का आकार छोटा होता है वैसे-वैसे ज्वार की ऊँचाई भी कम होती जाती है। हम चन्द्रमा के आकार को देख कर यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि ज्वार की ऊँचाई किस रोज सबसे ज्यादा होगी। परन्तु यहाँ यह ध्यान देने की आवश्यकता है कि हम यह भविष्यवाणी निश्चिततापूर्वक नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वर्षा, आँधी, तूफान आदि के कारण ज्वार के उतार-चढ़ाव में काफी परिवर्तन हो जाय और हमारी भविष्यवाणी गलत सिद्ध हो जाय। अतः कहा जा सकता है कि ज्वार-भाटे के नियम सामान्य परिस्थितियों में ही सही उतरते हैं। ठीक इसी तरह आर्थिक नियमों के अनुमान भी सामान्य परिस्थितियों के सन्दर्भ में किये जाते हैं जो परिस्थितियाँ परिवर्तित होने पर क्रियाशील न हों अथवा कम हों। इसी कारण आर्थिक नियमों के साथ अन्य बातें समान रहें, वाक्यांश जुड़ा रहता है। आर्थिक नियम आर्थिक प्रवृत्तियों के केवल कथन मात्र होते हैं जो सामान्य परिस्थितियों में ही सही होते हैं।

आर्थिक नियमों के काल्पनिक होने पर क्या अर्थशास्त्र को विज्ञान कहना उचित है और क्या इसका अध्ययन लाभप्रद है ?

अर्थशास्त्र के नियमों की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए पिछले पृष्ठों पर बताया गया कि अर्थशास्त्र के नियम काल्पनिक एवं कम निश्चित हैं और ये सार्वभौमिकता का गुण नहीं रखते हैं। ऐसी परिस्थिति में अर्थशास्त्र को विज्ञान कहना कहाँ तक उचित है ? इस प्रश्न के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक विज्ञानों की तरह बिल्कुल निश्चित नहीं हैं, क्योंकि अर्थशास्त्र की विषय वस्तु जड़ पदार्थ न होकर चेतन मनुष्य का व्यवहार है। अर्थशास्त्र के नियम कम निश्चित होने पर भी अर्थशास्त्र को विज्ञान कहना उचित है। इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते

(1) कुछ आर्थिक नियम सार्वभौमिक होते हैं—अर्थशास्त्र के कुछ नियम सार्वभौमिक हैं जो सभी स्थानों एवं समयों पर देर-सवेर अवश्य लागू होते हैं जैसे, सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम, उत्पत्ति ह्रास नियम, माँग व पूर्ति के नियम आदि।

(2) सामाजिक विज्ञानों के नियमों से अधिक निश्चित होते हैं—आर्थिक नियम प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों से कम तथा सामाजिक विज्ञानों के नियमों से अधिक निश्चित होते हैं। सामाजिक विज्ञानों के पास अपना मापदण्ड नहीं होता है जबकि अर्थशास्त्र के पास मुद्रा अपना मापदण्ड है। अतः जब सामाजिक विज्ञान के विषय विज्ञान कहलाते हैं तो अर्थशास्त्र विज्ञान अवश्य कहा जा सकता है।

(3) *सामूहिक व्यवहार के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी सभव है*—किसी व्यक्ति विशेष के व्यवहार के सम्बन्ध मे निश्चित भविष्यवाणी सभव नही है परन्तु सामूहिक व्यवहार आर्थिक नियमो के अनुरूप ही होता है, अत उसके बारे में पूर्वानुमान करके भविष्यवाणी की जा सकती है।

(4) *अर्थशास्त्र एक उपयोगी विषय है*—अर्थशास्त्र का अध्ययन केवल ज्ञान के लिए ज्ञान प्राप्ति के सिद्धान्त के अनुसार नही किया जाता है। अर्थशास्त्र मौसम विज्ञान एव जीव विज्ञान की तरह से एक उपयोगी विषय है। अत. इसे केवल इसीलिए विज्ञान न कहना कि इसके नियम कम निश्चित होते हैं, उचित नही है।

अर्थशास्त्र के नियम काल्पनिक होने पर भी अर्थशास्त्र का अध्ययन लाभप्रद है—आर्थिक नियमो के काल्पनिक एव कम निश्चित होते हुए भी अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यावहारिक उपयोगिता का है, क्योकि .

(i) आर्थिक नियमो के अध्ययन से आर्थिक प्रवृत्तियो का पूर्वानुमान किया जा सकता है।

(ii) आर्थिक समस्याओ के समाधान मे आर्थिक नियम सहायक सिद्ध होते हैं।

(iii) आर्थिक नियमो के पालन से आर्थिक साधनो के सर्वोत्तम आवटन द्वारा सामाजिक उपयोगिता या सतुष्टि अधिकतम की जा सकती है।

(iv) समाज के विभिन्न वर्ग इनके अध्ययन से अपना कार्य सरलता से कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, उपभोक्ता का उपयोग कार्य आर्थिक नियमो की सहायता से अधिक वैज्ञानिक एवं लाभप्रद हो सकता है तथा उत्पादक अपने साधनो के प्रयोग मे प्रतिस्थापन के नियम को लागू करके उत्पत्ति की मात्रा अधिकतम कर सकता है। वित्त मन्त्री आर्थिक नियमो के अध्ययन के द्वारा कर भार का समाज के विभिन्न व्यक्तियो पर उचित वितरण कर सकता है। समाज सुधारक आर्थिक नियमो के अध्ययन से समाज की आर्थिक स्थिति मे सुधार के लिए सरकार से आवश्यक उपाय करने के लिए कह सकता है।

प्रश्न एव संकेत

1. आर्थिक नियम शब्द को समझाइए और आर्थिक नियमो की प्रकृति बतलाइए। (सकेत—सर्वप्रथम आर्थिक नियम शब्द की परिभाषा देकर अर्थ स्पष्ट करदें। बाद मे आर्थिक नियमो की विशेषताएँ बताते हुए स्पष्ट करें कि आर्थिक नियमो की प्रकृति ज्वार-भाटे के नियमों की तरह होती है।)
2. 'आर्थिक नियम' की व्याख्या कीजिए। क्या आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमो के समान हैं ? वे प्राकृतिक नियमो की अपेक्षा कम निश्चित क्यो होते हैं ? (सकेत—आर्थिक नियम का अर्थ लिखकर आर्थिक नियम की विशेषताएँ लिखें। प्रश्न के दूसरे भाग के बारे में लिखें, आर्थिक नियम प्राकृतिक नियमो

की अपेक्षा कम निश्चित होते है। अन्त में इस कम निश्चितता के कारण लिख दें।)

3. "आर्थिक नियमों की तुलना गुरुत्वाकर्षण-नियम की अपेक्षा ज्वार-भाटे के नियमों से की जा सकती है।" (मार्शल) व्याख्या कीजिए।

(संकेत—उपरोक्त मार्शल का कथन आर्थिक नियमों की प्रवृत्ति की व्याख्या करता है। इस कथन को स्पष्ट करने के लिए आर्थिक नियमों की विशेषताएँ बताकर लिखें कि इनकी तुलना गुरुत्वाकर्षण-नियम की अपेक्षा ज्वार-भाटे के नियमों से करनी चाहिए।)

4. "यदि अर्थशास्त्र के नियम काल्पनिक हैं, तो अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ है।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

(संकेत—इस कथन को पहले स्पष्ट करें और बताएँ कि अर्थशास्त्र के नियम काल्पनिक एवं कम निश्चित हैं। बाद में लिखें कि हम इस कथन से सहमत नहीं हैं और अपने कथन के पक्ष में आवश्यक तर्क दे दें।)

————

4 अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियाँ : निगमन एवं आगमन प्रणालियाँ
(Methods of the Study of Economics : Deductive and Inductive Methods)

अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। अर्थशास्त्र मे भी अन्य विज्ञानो की तरह नियम अथवा सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जाता है। आर्थिक नियम आर्थिक घटनाओ के कारण एव परिणाम के बीच सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। जिन रीतियो, प्रणालियो अथवा विधियो द्वारा आर्थिक नियमो का निर्माण किया जाता है, उनकी सत्यता की जाँच की जाती है तथा उनका विश्लेषण किया जाता है, वे आर्थिक विश्लेषण की रीतियाँ (Methods) कहलाती हैं। कोसा के अनुसार "रीति शब्द का अर्थ उस तर्कपूर्ण प्रणाली से होता है जिसका प्रयोग सच्चाई को खोजने अथवा उसे व्यक्त करने के लिए किया जाता है। अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए प्रमुखत: दो प्रणालियाँ अथवा रीतियो का प्रयोग किया जाता है : जो (1) निगमन प्रणाली (Deductive Method) एव (2) आगमन प्रणाली (Inductive Method) हैं। निगमन प्रणाली का प्रयोग प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो द्वारा अधिक किया गया जबकि आगमन प्रणाली का प्रयोग ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियो द्वारा अधिक किया गया।

1. निगमन प्रणाली (Deductive Method)

निगमन प्रणाली आर्थिक अध्ययन की सबसे पुरानी प्रणाली है जिसका आज भी बहुत अधिक प्रयोग होता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत कुछ आधारभूत, स्वयसिद्ध एवं निर्विवाद धारणाओ को आधार मानकर विशिष्ट नियमो का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत कुछ सामान्य सत्यों के आधार पर तर्क द्वारा विशिष्ट सत्यो की खोज की जाती है। इसमे तर्क सामान्य से विशिष्ट की ओर जाता है। इस प्रणाली को प्रो० जेवेन्स ने 'ज्ञान से ज्ञान प्राप्त करना' कहा है। प्रो० बोल्डिग ने इस प्रणाली को 'मानसिक प्रयोग की रीति' कहा है। निगमन प्रणाली को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरणार्थ 'मनुष्य एक मरणशील प्राणी है' यह एक स्वयंसिद्ध सत्य है। इस स्वयसिद्ध सत्य से विशिष्ट सत्य का पता लगाया जा सकता है। मोहन एक मनुष्य है; अतः तर्क के आधार पर कहा जा सकता है कि मोहन भी मरणशील है।

निगमन रीति के दो रूप होते हैं—गणितीय (Mathematical) तथा अगणितीय (Non-mathematical)। गणितीय रीति का अधिक प्रयोग एजवर्थ तथा मिल ने किया जबकि अगणितीय रीति का प्रयोग अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने किया था। आज अर्थशास्त्र में गणित, रेखा-चित्र आदि का प्रयोग बहुत अधिक होने लगा है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियाँ

अर्थशास्त्र के अध्ययन की दो रीतियाँ हैं—(1) निगम एवं (2) आगमन।

निगमन प्रणाली

अर्थ—यह एक वह प्रणाली है जिसमें कुछ आधारभूत, स्वयं-सिद्ध एवं निर्विवाद धारणाओं के आधार पर विशिष्ट निष्कर्ष निकाले जाते हैं। तर्क सामान्य से विशिष्ट की ओर चलता है।

गुण :

1. सरलता।
2. निश्चितता एवं स्पष्टता।
3. सर्वव्यापकता।
4. निष्पक्षता।
5. भविष्यवाणी।
6. मितव्ययी।
7. अधिक उपयुक्त।
8. आगमन प्रणाली के निष्कर्षों की जांच।
9. आगमन प्रणाली की पूरक।

दोष :

1. निष्कर्ष काल्पनिक एवं अवास्तविक।
2. निष्कर्षों की जाँच का अभाव।
3. सभी समस्याओं का अध्ययन सम्भव नहीं।
4. स्थिर दृष्टिकोण पर आधारित।

आगमन प्रणाली

अर्थ—इस विधि में तथ्यों, आंकड़ों एवं प्रयोगों के आधार पर विशिष्ट निष्कर्षों से सामान्य निष्कर्षों, सिद्धान्तों या नियमों का प्रतिपादन किया जाता है। तर्क विशिष्ट से सामान्य की ओर जाताहै।

अधिकांश प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री निगमन रीति के समर्थक रहे हैं। एडमस्मिथ, रिकार्डो, मिल, सिनियर, कैरनेस आदि अर्थशास्त्रियों ने इस प्रणाली को अधिक उपयुक्त माना था।

निगमन प्रणाली के गुण (Merits of Deductive Method)

निगमन प्रणाली में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं :

(1) **सरलता** – निगमन प्रणाली अत्यन्त सरल प्रणाली है, क्योंकि इस प्रणाली में आंकड़े एकत्र करने तथा उनका विश्लेषण करने जैसा जटिल कार्य नहीं करना पड़ता है। सामान्य सत्यों के आधार पर तर्क के द्वारा विशिष्ट सत्य सरलता से जाने जा सकते हैं।

(2) **निश्चितता एवं स्पष्टता**—यदि स्वयंसिद्ध धारणाएँ सही हैं तो उनके आधार पर निकाले गए निष्कर्ष अधिक शुद्ध, निश्चित तथा स्पष्ट होते हैं। त्रुटियों को तर्क तथा गणित के प्रयोग से निकाला जा सकता है।

(3) **सर्वव्यापकता**—इस प्रणाली द्वारा ज्ञात निष्कर्ष सभी स्थानों एवं समयों पर लागू होते हैं, क्योंकि निष्कर्ष मनुष्य की सामान्य प्रकृति एवं स्वभाव पर आधारित होते हैं। सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम निगमन प्रणाली पर आधारित है तथा यह नियम सभी स्थानों एवं समयों पर लागू होता है।

गुण —

1 निष्कर्षों का वास्तविकता के निकट होना।

2 निष्कर्षों की जाँच सम्भव।

3 प्रावैगिक दृष्टिकोण।

4 निगमन प्रणाली की पूरक।

दोष —

1 जटिल एव कठिन।

2 पक्षपात सम्भव।

3 खर्चीली।

4 सामाजिक विज्ञानों के लिए कम उपयोगी।

5 सीमित क्षेत्र के अवलोकन पर आधारित निष्कर्ष दोष-पूर्ण।

6 अर्थशास्त्र के विकास मे अपर्याप्त।

दोनो प्रणालियों मे श्रेष्ठता का विवाद

कोई भी प्रणाली अकेले मे श्रेष्ठ नहीं है। अर्थशास्त्र के अध्ययन मे दोनो की आवश्यकता है।

(4) निष्पक्षता—एक अन्वेषक निगमन प्रणाली के अन्तगत निष्कर्ष निकालने मे पक्षपात नही कर सकता है, क्योकि निष्कर्ष निर्विवाद तथा स्वय सिद्ध सत्यो के आधार पर निकाले जाते हैं।

(5) भविष्यवाणी-निगमन प्रणाली के आधार पर आर्थिक घटनाओ का पूर्वानुमान लगाकर भविष्यवाणी की जा सकती है।

(6) मितव्ययी—निगमन प्रणाली मे प्रयोग करने, आँकडे एकत्र करने तथा उनका विश्लेषण करने मे धन व्यय करने की आवश्यकता नहीं है। अत यह प्रणाली मितव्ययी है।

(7) अधिक उपयुक्त—निगमन प्रणाली अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञान के विषयो मे जहाँ प्रयाग करना सभव न हो तथा आकडो का सकलन कठिन है अधिक उपयुक्त है।

(8) आगमन प्रणाली के निष्कर्षों की जांच—आगमन प्रणाली द्वारा निकाले गए निष्कर्षों की जाच इस प्रणाली द्वारा की जा सकती है।

(9) आगमन प्रणाली की पूरक—निगमन प्रणाली का प्रयोग उन क्षेत्रो मे भी किया जा सकता है जहाँ आगमन प्रणाली का प्रयोग सम्भव न हो।

निगमन प्रणाली के दोष (Demerits of Deductive Method)

निगमन प्रणाली मे उपरोक्त गुणों के साथ साथ कुछ दोष भी हैं जिनके कारण इस प्रणाली की आलोचनाएँ की जाती हैं। निगमन प्रणाली के प्रमुख दोष —हैं—

(1) निष्कर्ष काल्पनिक एव अवास्तविक—सामान्य सत्यो अथवा स्वयसिद्ध धारणाओं के गलत होने पर निष्कर्ष काल्पनिक एव अवास्तविक होते हैं।

(2) निष्कर्षों की जाँच का अभाव—निगमन प्रणाली मे आँकडो के सकलन करने एव प्रयोग करने का अभाव होता है, अत निष्कर्षों की जाच की कोई व्यवस्था नही है।

(3) सभी आर्थिक समस्याओं का अध्ययन सम्भव नहीं—निगम प्रणाली द्वारा ऐसी समस्याओ का अध्ययन सम्भव नही है जो विश्व मे प्रथम बार उपस्थित

हुई हों, क्योंकि उनके सम्बन्ध में स्वयंसिद्ध धारणाओं का अभाव होता है और ऐसी स्थिति में उनका हल इस विधि द्वारा संभव नहीं है।

(4) **स्थिर दृष्टिकोण पर आधारित**—इस प्रणाली के अन्तर्गत निष्कर्ष कुछ स्वयंसिद्ध बातों को स्थिर मानकर निकाले जाते हैं अतः इस प्रणाली में गतिशीलता का अभाव है। यह प्रणाली परिवर्तनशील परिस्थितियों में उपयुक्त नहीं है।

2. आगमन प्रणाली (Inductive Method)

आगमन प्रणाली निगमन प्रणाली से बिल्कुल विपरीत है। इस प्रणाली में कुछ तथ्यों का निरीक्षण और प्रयोग करके विशिष्ट निष्कर्ष निकाले जाते हैं और इन विशिष्ट निष्कर्षों के आधार पर सामान्य निष्कर्षों, सिद्धान्तों अथवा नियमों का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रणाली में तर्क का क्रम विशिष्ट से सामान्य की ओर जाता है। आगमन प्रणाली को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। उदाहरणार्थ, हमने प्रयोग करके देखा कि किसी वस्तु का मूल्य घटने पर राम ने अधिक वस्तु खरीदी, सोहन ने अधिक खरीदी, मोहन ने अधिक खरीदी तथा अन्य 20 लोगों ने अधिक खरीदी। अतः इन विशिष्ट निष्कर्षों से यह एक सामान्य निष्कर्ष निकाला कि मूल्य घटने पर वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जाती है।

आगमन रीति के दो रूप हैं–प्रयोगिक रूप (Experimental Form) तथा सांख्यिकी रूप (Statistical Form)। प्रयोगिक रूप में विशिष्ट प्रयोगों के आधार पर सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है। अर्थशास्त्र में प्रयोगिक रूप के प्रयोग का क्षेत्र बहुत सीमित है, क्योंकि अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञान में प्रयोगों की संभावना बहुत कम है। सांख्यिकी रूप के अन्तर्गत आगमन प्रणाली में सम्बन्धित आर्थिक घटनाओं के आँकड़े एकत्र कर उनका विश्लेषण किया जाता है तथा इस विश्लेषण के आधार पर आर्थिक नियमों व सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है।

आगमन प्रणाली को अनेकों नामों से पुकारा जाता है। यह ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित होने के कारण ऐतिहासिक प्रणाली, वास्तविक तथ्यों पर आधारित होने के कारण वास्तविक प्रणाली, सांख्यिकी समंकों पर आधारित होने के कारण सांख्यिकी प्रणाली, प्रयोगों पर आधारित होने के कारण प्रयोगिक प्रणाली तथा विभिन्न प्रकार के परस्पर निर्भर एकत्रित तथ्यों के समन्वय पर सामान्य निष्कर्ष आधारित होने के कारण समन्वित प्रणाली कहलाती है।

रोशर, हिल्डेब्राड, नीज, श्मोलर, फ्रेडरिक, लिस्ट, लैस्ली आदि अर्थशास्त्रियों ने आगमन प्रणाली के उपयोग को अधिक महत्व प्रदान किया था।

आगमन प्रणाली के गुण (Merits of Inductive Method)

आगमन प्रणाली का प्रयोग अर्थशास्त्र में अधिक बढ़ता जा रहा है। यह प्रणाली आर्थिक अनुसंधान एवं खोज की एक महत्वपूर्ण प्रणाली है। इसके निम्नलिखित गुण हैं :

है ।"[2] वैगनर ने इन दोनो प्रणालियो के मध्य विवाद को समाप्त करते हुए लिखा है 'अर्थशास्त्र की प्रणाली के इस वाद-विवाद का वास्तविक हल निगमन अथवा आगमन के निर्वाचन मे नही, वरन् निगमन एव आगमन दोनो की स्वीकृति मे है ।"

निष्कर्ष—आज निगमन एव आगमन प्रणालियो के मध्य चुनाव अथवा दोनो मे किसी एक की श्रेष्ठता का विवाद समाप्त हो गया है तथा दोनो ही प्रणालियो को अर्थशास्त्र के अध्ययन मे आवश्यक समझा जाता है ।

प्रश्न एव संकेत

1 आर्थिक अध्ययन मे प्रयोग की जाने वाली विभिन्न रीतियो का सक्षेप मे वर्णन कीजिए ।

(सकेत—अर्थशास्त्र के अध्ययन की दोनो रीतियो के अर्थ एव गुण दोषो का सक्षेप मे वर्णन करें ।)

2 "जिस प्रकार चलने के लिए दाएँ एव बाएँ दोनो पैरों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए निगमन तथा आगमन दोनो प्रणालियाँ आवश्यक हैं ।" (श्मोलर) विवेचना कीजिए ।

अथवा

"अर्थशास्त्र की प्रणालियो के वाद विवाद का वास्तविक हल निगमन अथवा आगमन के निर्वाचन मे नही वरन् निगमन एवं आगमन दोनो की स्वीकृति मे हैं ।" (वैगनर) विवेचना कीजिए ।

अथवा

'अन्वेषण की कोई भी एक ऐसी प्रणाली नही है जिसे अर्थशास्त्र के अध्ययन की उचित प्रणाली कहा जा सके, वरन् प्रत्येक का यथास्थान अकेले मे या मिश्रित रूप मे प्रयोग किया जाना चाहिए ।"

(संकेत—उपरोक्त सभी प्रश्नो का उत्तर एक ही है । इनके उत्तर मे पहले निगमन एव आगमन प्रणालियो का अर्थ, उनके गुण व दोष लिखें तथा अन्त मे निष्कर्ष दें कि आर्थिक अध्ययन मे दोनो ही प्रणालियों का प्रयोग आवश्यक है ।)

3 आर्थिक नियमो के निकालने की रीतियाँ बताइए । क्या ये रीतियाँ एक दूसरे की सहायक होती हैं ?

(सकेत—प्रश्न के प्रथम भाग में आर्थिक रीतियो के दोनों प्रकारो का विश्लेषण करना है । दूसरे भाग मे बताना है कि ये रीतियाँ किस सीमा तक एक दूसरे की सहायक होती हैं ।)

---

2 "Induction and deduction are both necessary for scientific thought just as the right and left foot, both are needed for walking."

—Schmoller

5

आर्थिक विश्लेषण की शाखाएँ–व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र
Branches of Economic Analysis–Micro and Macro Economics

आर्थिक विश्लेषण की दो शाखाएं होती हैं—(1) व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं (2) समष्टि अर्थशास्त्र। व्यष्टि अर्थशास्त्र में ऐसी घटनाओं का अध्ययन किया जाता है जो किसी व्यक्ति विशेष अथवा व्यवसाय विशेष से सम्बन्धित होती हैं। समष्टि अर्थशास्त्र में ऐसी घटनाओं का अध्ययन किया जाता है जिनका सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अथवा समग्र से होता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जिसमें विशेष व्यक्ति, परिवार, उद्योग, फर्म, वस्तु का मूल्य, श्रम की मजदूरी और आय इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। इसके विपरीत समष्टि अर्थशास्त्र वह शाखा है जो कि अर्थव्यवस्था का उसके सम्पूर्ण रूप में अध्ययन करती है जैसे कुल राष्ट्रीय आय, कुल उत्पादन, कुल उपभोग, कुल बचत, कुल मांग कुल विनियोग, कुल रोजगार आदि। व्यष्टि अर्थशास्त्र का विकास प्रतिष्ठित तथा नवप्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया था जबकि समष्टि अर्थशास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान इन वणिकवादियों (Mercantilists) तथा प्राकृत कर्मवादियों (Physiocrats) द्वारा करवाया गया था। परन्तु इसे लोकप्रिय बनाने का श्रेय लार्ड कीन्स को है। समष्टि अथशास्त्र के विकास में वालरस, विकसैल, फिशर, कुन्ट, शुम्पीटर आदि का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

व्यष्टि या सूक्ष्म या व्यक्तिगत अर्थशास्त्र (Micro Economics)

व्यष्टि अर्थशास्त्र का अर्थ—व्यष्टि अर्थशास्त्र के हिन्दी में अनेक नाम हैं जैसे सूक्ष्म अर्थशास्त्र, आर्थिक व्यष्टि भाव, व्यक्तिगत अर्थशास्त्र, सीमित अर्थशास्त्र आदि। व्यष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा है जिसमें वैयक्तिक इकाइयों के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। इसमें व्यक्तिगत उपभोक्ता, व्यक्तिगत कर्म, व्यक्तिगत उद्योग, तथा व्यक्तिगत वस्तुओं के मूल्य के सम्बन्ध में अध्ययन किया जाता है। व्यष्टि अर्थशास्त्र में विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों की आय, उपभोग, बचत तथा विनियोग, विशिष्ट फर्म

> **आर्थिक विश्लेषण की शाखाएं**
> आर्थिक विश्लेषण की दो शाखाएं हैं–(1) व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं (2) समष्टि अर्थशास्त्र।
> **व्यष्टि अर्थशास्त्र**
> **अर्थ**—यह आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा है जिसमें वैयक्तिक इकाइयों

के आर्थिक व्यवहार का अध्ययन किया जाता है।

उपयोग एवं महत्व

(1) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के अध्ययन मे सहायक।

(2) समष्टि आर्थिक विश्लेषण मे सहायक।

(3) वैयक्तिक इकाइयो के निर्णय लेने मे सहायक।

(4) राजस्व क्रियाओ के प्रभावो के अध्ययन मे सहायक।

(5) वस्तुओ के मूल्य तथा उत्पादन साधनो के मूल्य निर्धारण मे सहायक।

(6) आर्थिक कल्याण की जाच मे सहायक।

सीमाएं एवं दोष

(1) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर प्रकाश नही डालता है।

(2) व्यष्टि मूलक विश्लेषण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर लागू नही होता।

(3) पूर्ण रोजगार की गलत मान्यता पर आधारित है।

(4) इसमे कुछ समस्याओ का अध्ययन सम्भव नही है

समष्टि अर्थशास्त्र

अर्थ—समष्टि अर्थशास्त्र मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित समस्याओ की लागत एव आगम, विशिष्ट उद्योग की लागत तथा मूल्य, विशिष्ट वस्तु के मूल्य आदि का विश्लेषण किया जाता है। श्री बोल्डिग के अनुसार "व्यष्टि अर्थशास्त्र विशिष्ट आर्थिक अगो तथा उनके पारस्परिक प्रभाव का अध्ययन है, और इसमे विशिष्ट आर्थिक मात्राएं तथा उनका निर्धारण भी सम्मिलित है।"[1] इस परिभाषा के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि व्यष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तिगत आर्थिक इकाइयो का अध्ययन है। हैंडरसन एव क्वान्ट के अनुसार, "व्यष्टि अर्थशास्त्र व्यक्तियो व व्यक्तियो के ठीक से परिभाषित समूहों की आर्थिक क्रियाओ का अध्ययन होता है"।[2]

व्यष्टि अर्थशास्त्र का क्षेत्र—व्यष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध व्यक्तिगत इकाइयो से है अतः इसमे व्यक्तिगत इकाइयो से सम्बन्धित व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। सीमान्त विश्लेषण व्यष्टि अर्थशास्त्र का एक आवश्यक यन्त्र है और इस पर आधारित सभी आर्थिक नियमो का अध्ययन व्यष्टि अर्थशास्त्र मे किया जाता है। जैसे उपभोग के क्षेत्र में सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम, सम सीमान्त उपयोगिता नियम, उपभोक्ता की बचत आदि व्यष्टि अर्थशास्त्र से सम्बन्धित हैं। उत्पादन मे व्यक्तिगत फर्म एव व्यक्तिगत उद्योग की लागतें एव आगम, प्रतिस्थापन का नियम, सीमान्त उत्पत्ति पर आधारित

---

1 "Micro Economics is the study of particular economic organism and their interaction and of particular economic quantities and their determination" —K. E. Boulding

2. "Micro economics is the study of economic actions of individuals and well defined groups of individuals". —Henderson and Quant

का अध्ययन किया जाता है। इसमें समूहों एवं औसतों का अध्ययन होता है।

उपयोग एवं महत्व—

(1) आर्थिक नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण।
(2) आर्थिक नियोजन में महत्वपूर्ण।
(3) व्यष्टि अर्थशास्त्र के विकास में सहायक।
(4) अर्थव्यवस्था के कार्य निष्पादन का मूल्यांकन।
(5) समष्टि मूलक विरोधाभासों के कारण समग्र का अलग से अध्ययन आवश्यक।
(6) व्यष्टि अर्थशास्त्र द्वारा अनेक समस्याओं का हल न किया जाना।

सीमाएं एवं दोष :

(1) वैयक्तिक इकाइयों या लघु समूहों के आधार पर निकाले निष्कर्ष भ्रामक।
(2) समूह की अपेक्षा समूह की रचना महत्वपूर्ण होती है।
(3) समूहों का मापन कठिन होता है।
(4) समष्टि विश्लेषण जटिल होता है।

निष्कर्ष—व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की दो शाखायें हैं। दोनों में अनेक भिन्नताएं हैं परन्तु आर्थिक अध्ययन के लिए दोनों आवश्यक है।

नियम आदि का अध्ययन व्यष्टि अर्थशास्त्र के विषय हैं। इसी तरह विनिमय में व्यक्तिगत इकाइयों द्वारा मूल्य निर्धारण तथा वितरण में विभिन्न उत्पत्ति के साधनों में राष्ट्रीय आय के वितरण से सम्बन्धित तथ्यों का अध्ययन व्यष्टि अर्थशास्त्र में किया जाता है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र की आवश्यकता एवं उपयोग, अथवा महत्व—व्यष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण शाखा है। इसके आर्थिक विश्लेषण में अनेक उपयोग हैं। व्यष्टि अर्थशास्त्र की प्रमुख आवश्यकता एवं उपयोग निम्न हैं :

(1) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के अध्ययन में सहायक—सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था वैयक्तिक इकाइयों के योग से बनती है अतः सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के अध्ययन के लिए वैयक्तिक इकाइयों का अध्ययन आवश्यक होता है।

(2) समष्टि आर्थिक विश्लेषण में सहायक—व्यष्टि अर्थशास्त्र वैयक्तिक आय, व्यय एवं बचत की प्रकृति एवं श्रोतों का अध्ययन करती है जो समष्टि मूलक विश्लेषण में सहायक होता है।

(3) वैयक्तिक इकाइयों को निर्णय लेने में सहायक—व्यष्टि अर्थशास्त्र वैयक्तिक इकाइयों तथा व्यक्तिगत उपभोक्ता, व्यक्तिगत परिवार आदि को अपने-अपने क्षेत्रों में उचित आर्थिक निर्णय लेने में सहायक होता है। उदाहरणार्थ व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन से एक उपभोक्ता अपनी सीमित आय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त कर सकता है।

(4) राजस्व क्रियाओं के वैयक्तिक इकाइयो पर पड़ने वाले प्रभावों के अध्ययन मे सहायक—सरकार की राजस्व क्रियाओं का विभिन्न वैयक्तिक इकाइयों पर पड़ने वाला प्रभाव व्यष्टि अर्थशास्त्र के माध्यम से जाना जा सकता है। उदाहरण के तौर पर सरकार द्वारा चीनी के उत्पादन पर लगाये गये कर एव मूल्य नियन्त्रण का चीनी उद्योग, चीनी के उपभोक्ता तथा गन्ना उत्पादको पर क्या प्रभाव पड़ने वाला है यह जाना जा सकता है।

(5) वस्तु के मूल्य तथा उत्पादन साधनो के पुरस्कार निर्धारण मे सहायक—व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु का मूल्य किस तरह निर्धारित किया जाता है तथा सयुक्त उत्पादन के द्वारा प्राप्त वस्तु का उत्पादन के विभिन्न साधनो मे वितरण किस तरह किया जाना चाहिए।

(6) आर्थिक कल्याण की जाच मे सहायक—व्यष्टि अर्थशास्त्र की सहायता से आर्थिक कल्याण की जाच की जा सकती है। उदाहरणार्थ इसकी सहायता से यह जाना जा सकता है कि उपभोक्ताओं को अपने उपभोग की वस्तुओं एव सेवाओं से कितनी सतुष्टि प्राप्त होती है तथा आदर्श स्थिति किस तरह प्राप्त की जा सकती है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र की सीमाए अथवा दोष (Limitations or Demerits of Micro Economics—) व्यष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण मे बहुत अधिक उपयोगी एव लाभप्रद है परन्तु इसकी कुछ सीमाए अथवा कमिया है जिनके कारण समष्टि अर्थशास्त्र का सहारा लेना आवश्यक होता है। इसकी प्रमुख सीमाए निम्न हैं :

(1) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर प्रकाश नहीं डालता है—व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के बारे मे ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि व्यष्टि अर्थ शास्त्र मे केवल वैयक्तिक इकाइयों का अध्ययन किया जाता है इसमे समग्र का अध्ययन नही किया जाता है।

(2) व्यष्टि मूलक आर्थिक विश्लेषण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर लागू नहीं होते हैं—व्यक्तिगत इकाइयो के आधार पर निकाले गये अनेक निष्कर्ष सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर लागू नहीं होते हैं। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति के लिए बचत करना अच्छा माना जाता है परन्तु इसके आधार पर समाज के सभी व्यक्ति एक साथ बचत करने लगें तो यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए हानिकारक होगा, क्योंकि इससे उपभोग वस्तुओं की माग कम होगी रोजगार कम होगा तथा राष्ट्रीय आय मे कमी होगी।

(3) पूर्ण रोजगार की गलत मान्यता पर आधारित है—व्यष्टि अर्थशास्त्र पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है जबकि व्यवहार म पूर्ण रोजगार की स्थिति सामान्यत नही पाई जाती है। कीन्स ने कहा है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति मानकर हम अपनी कठिनाइयो से मुंह मोड लेते हैं। इसी तरह पूर्ण प्रतियोगिता

की मान्यता भी अवास्तविक है। हमें कठिनाइयों को हल करने के लिए इन अवास्तविक मान्यताओं को त्याग देना चाहिए।

(4) **कुछ आर्थिक समस्याओं का अध्ययन व्यष्टि अर्थशास्त्र में सम्भव नहीं है**—राजस्व, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय, मुद्रा, बैंकिंग, आर्थिक नियोजन इत्यादि से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन व्यष्टि अर्थशास्त्र में सम्भव नहीं है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र उपरोक्त की सीमाओं के कारण ही समष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन आवश्यक होता है।

समष्टि या व्यापक अर्थशास्त्र (Macro Economics)

समष्टि अर्थशास्त्र में व्यक्तिगत इकाइयों का अध्ययन नहीं किया जाता है बल्कि समस्त इकाइयों का सामूहिक रूप से अध्ययन किया जाता है। इसमें सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। कुल राष्ट्रीय आय, कुल रोजगार, कुल बचत, कुल उपभोग, कुल विनियोग आदि का अध्ययन समष्टि अर्थशास्त्र में किया जाता है। समष्टि अर्थशास्त्र में समूहों का अध्ययन किया जाता है। प्रो. बोल्डिंग के अनुसार, "समष्टि अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र का वह भाग है जो अर्थव्यवस्था के बड़े समूहों और औसतों का अध्ययन करता है न कि उसकी विशेष मदों का, और इन समूहों को उपयोगी ढंग से परिभाषित करने का प्रयत्न करता है तथा इनके पारस्परिक संबन्धों की जांच करता है।"[3] गार्डनर ऐक्ले ने समष्टि अर्थशास्त्र के स्वरूप को अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है, "समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विषयों पर 'व्यापक रूप' में विचार करता है। इसका सम्बन्ध आर्थिक जीवन के सम्पूर्ण अंगों (Overall dimensions) से होता है। यह व्यक्तिगत अंगों के कार्य-संचालन या पहचान या विस्तार की अपेक्षा आर्थिक अनुभव के 'हाथी' के कुल आकार व शक्ल और संचालन का अध्ययन करता है। रूपक को बदल दें तो कहा जा सकता है कि यह किसी वन की प्रकृति का अध्ययन करता है न कि उन पेड़ों का जिनसे वह वन बना हुआ है।"[4]

3. "Macro Economics, then, is that part of the subject which deals with the great aggregates and averages of the system rather than with particular items in it, and attempts to define these aggregates in a useful manner and to examine their-relations"—Boulding

4. Macro economics deals with economic affairs 'in the large'. It concerns with the overall dimensions of economic life. It looks at the total side and shape and functioning of elephant' of economic experience, rather than the working or articulation or dimensions of the individual parts. To alter the metaphor, it studies the character of the forest, independently of the trees which compose it.''—Gardner Ackley

इस प्रकार उपरोक्त कथनो से स्पष्ट होता है कि समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की वह शाखा है जिसमें कुल योगो, बडे समूहो एव औसतो का अध्ययन किया जाता है।

समष्टि अर्थशास्त्र के उपयोग अथवा महत्व—तीसा की महान आर्थिक मन्दी के बाद से समष्टि अर्थशास्त्र का महत्त्व तेजी से बढता जा रहा है आज की व्यापक आर्थिक समस्याओ का हल समष्टि विश्लेषण द्वारा ही सभव हो रहा है। समष्टि अर्थशास्त्र के निम्नलिखित उपयोग महत्वपूर्ण हैं।

(1) **आर्थिक नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण**—वर्तमान समय मे प्रत्येक देश मे उस देश की सरकार आर्थिक नीति का निर्धारण करती है जिससे देश मे रोजगार के स्तर, उत्पादन तथा उपभोग म वाछनीय प्रगति हो सके। सरकार की नीति निर्धारण मे अर्थव्यवस्था के आंकडो का सग्रहण एव विश्लेषण आवश्यक है। इस कार्य म समष्टि अर्थशास्त्र सहायक होता है। समष्टि विश्लेषण के आधार पर सरकार रोजगार, उत्पादन, विनियोग, मुद्रा एव राजस्व सम्बन्धी नीति निर्धारित करती है।

(2) **आर्थिक नियोजन में महत्वपूर्ण**—आज दुनिया के अधिकाश विकसित एव विकासशील देशो ने अपने तीव्र विकास के लिए आर्थिक नियोजन को अपना रखा है। आर्थिक नियोजन पूर्व निर्धारित उद्देश्यो के लिए देश के साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग होता है। यह समष्टि अर्थशास्त्र का विषय है। आर्थिक नियोजन में विकास की दर निर्धारित करके उसे प्राप्त करने के लिए अनेक परिवर्तनशील समूहो (Aggregate variables) को प्रभावित करने का कार्य किया जाता है। ये कार्य समष्टि आर्थिक विश्लेषण द्वारा ही सम्भव होते हैं।

(3) **व्यष्टि अर्थशास्त्र के विकास मे सहायक**—अनेक व्यष्टिगत विश्लेषणो के लिए भी समष्टिगत अध्ययन आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ किसी उद्योग विशेष (जैसे लोहा एव इस्पात) म मजदूरी का निर्धारण अर्थव्यवस्था मे प्रचलित मजदूरी की सामान्य दर से प्रभावित होता है। वस्तु विशेष का मूल्य भी देश के सामान्य मूल्य स्तर स प्रभावित होता है। इस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए समष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन लाभप्रद होता है।

(4) **अर्थव्यवस्था के कार्य निष्पादन का मूल्याकन**—समष्टि अर्थशास्त्र द्वारा किसी भी अर्थव्यवस्था के कार्य निष्पादन का मूल्याकन किया जा सकता है। सन् 1929 की महान मन्दी के बाद यह आवश्यक हो गया कि एक अर्थव्यवस्था म अति उत्पादन तथा बेरोजगारी की स्थिति न आने दी जाय और इसके लिए अर्थव्यवस्था म आर्थिक क्रिया कलापो की समय समय पर गणना की जाय और जैसे ही अति उत्पादन अथवा बेरोजगारी के लक्षण नजर आयें, उन्हें दूर करने के

उपाय किये जांय। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित गणनाओं का कार्य समष्टि अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है।

(5) **समष्टि मूलक विरोधाभासों के कारण समग्र अथवा समूह का अलग से अध्ययन आवश्यक**—समग्र या समूह केवल व्यक्तिगत इकाइयों का योग मात्र नहीं होता है बल्कि समग्र की अपनी कुछ स्वतन्त्र विशेषताएं होती हैं। उदाहरण के तौर पर व्यक्ति के लिए बचत करना अच्छाई माना जाता है परन्तु एक साथ समाज के सभी व्यक्ति बचत करने लगे तो यह समाज के लिए हानिकारक होगा अतः इन समष्टिमूलक विरोधाभासों की उपस्थित के कारण समग्र का अलग से अध्ययन आवश्यक होता है। एक अर्थव्यवस्था केवल व्यक्तिगत इकाइयों का योग नहीं होती है। एक अर्थव्यवस्था में पुराने उद्योग नष्ट होते रहते है तथा नये उद्योग विकसित होते रहते हैं तथा अर्थव्यवस्था चलती रहती है। अतः सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अलग से अध्ययन अपना महत्व रखता है।

(6) **अनेक समस्याओं का व्यष्टि अर्थशास्त्र समाधान नहीं कर सकता है**—अनेक ऐसी समस्याएं हे जिनका समाधान व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण द्वारा संभव नही होता। उदाहरणार्थ राजस्व, विदेशी व्यापार, विदेशी-विनमय, मुद्रा बैंकिग आदि से सम्बन्धित समस्याएं समष्टि आर्थिक विश्लेषण द्वारा ही हल हो सकती है।

समष्टि अर्थशास्त्र की सीमाएं अथवा कठिनाइयां (Limitations or difficulties of Macro economics)—समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण शाखा है तथा आर्थिक विश्लेषण में इसका महत्त्व लगातार बढ़ता जा रहा है परन्तु इसकी कुछ सीमाएं अथवा कठिनाइयां है जो इसके उपयोग में अधिक सावधानी का प्रयोग करना आवश्यक बनाती हैं। समष्टि विश्लेषण की प्रमुख सीमाएं निम्न हैं :

(1) **व्यक्तिगत इकाइयों अथवा व्यक्तियों के छोटे समूहों के आधार पर निकाले जाने वाले निष्कर्ष भ्रामक**—समष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध योगों एवं औसतों से होता है। जब कुछ व्यक्तियों या व्यक्तियों के छोटे समूहों के सम्बन्ध में निकाले गये निष्कर्ष समग्र पर लागू कर दिये जाते हैं तो वे सत्य सिद्ध नहीं होते बल्कि बड़े भ्रामक होते हैं। उदाहरण के तौर पर यदि बैंक का कोई जमाकर्त्ता बैंक से कभी भी धन निकाल ले तो इसका बैंक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु यदि सभी जमाकर्त्ता एक साथ बैंक में जमा किया हुआ धन निकालने लगें तो इसका परिणाम बैंक के लिए बुरा होगा, बैंक असफल हो जाएगा। प्रो. सेमुअलसन ने इस तरह के विरोधाभासों के अनेक उदाहरण दिये हैं।

(2) **समूह की अपेक्षा समूहों की रचना महत्वपूर्ण**—समष्टि अर्थशास्त्र में हम समूह अथवा समग्र के सम्बन्ध में निष्कर्ष इस आधार पर निकाल लेते हैं कि समूह जिन इकाइयों के योग से मिल कर बना है वे सभी इकाइयां समान गुण एवं

आकार की हैं परन्तु व्यवहार मे समूह की रचना मे सब इकाइयाँ समान नहीं होती हैं। अत औसत के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष सही नही होते हैं। उदाहरणार्थ सामान्य मूल्य स्तर बढता हुआ हो उस समय कुछ वस्तुओ का मूल्य गिरता हुआ भी हो सकता है।

(3) समष्टि विश्लेपण में समूहों का माप कठिन होता है—समष्टि विश्लेपण के लिए अर्थव्यवस्था के विभिन्न समूहो का माप करना होता है और यह कार्य कठिन होता है। उदाहरण के तौर पर राष्ट्रीय उत्पादन की गणना के लिए देश मे उत्पन्न सभी वस्तुओ के उत्पादन का योग करना होता है तथा विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन के माप के लिए अलग-अलग इकाइयो का प्रयोग किया जाता है, जिन्हें एक दूसरे मे मिलाया नही जा सकता है। अत मुद्रा का प्रयोग करना आवश्यक होता है जो इस अध्ययन की वास्तविकता को कम कर देता है।

(4) समूह रोचक होना चाहिए—समष्टि अर्थशास्त्र मे प्रयोग किये जाने वाले समूह रोचक होने चाहिये तथा *आपस में विरोधी प्रवृत्तियो वाले न हों।* उदाहरण के तौर पर प्रतिभूतियो के मूल्यो की प्रवृत्ति तेजी से घटने बढने की होती जबकि मकानो के किराये की प्रवृत्ति धीरे-धीरे घटने बढने की होती है। यदि इन दोनो के परिवर्तन को जोडकर मूल्य स्तर ज्ञात किया जाय तो उसका कोई महत्त्व नही रह जायेगा।

(5) समष्टि विश्लेषण जटिल होता है-समष्टि विश्लेपण की प्रक्रिया सैद्धान्तिक रूप में बडी सरल लगती है परन्तु यह व्यावहारिक दृष्टि से बडी कठिन होती है। समष्टि अर्थशास्त्र की जटिलता एव कठिनाइयो का आभास राष्ट्रीय आय की गणना की कठिनाइयो को देखकर किया जा सकता है।

व्यष्टि अर्थशास्त्र और समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर—व्यष्टि अर्थशास्त्र एव समष्टि अर्थशास्त्र आर्थिक विश्लेपण की दो शाखाएँ हैं। व्यष्टि अर्थशास्त्र मे जहा व्यक्तिगत इकाइयो का अध्ययन किया जाता है वहाँ समष्टि अर्थशास्त्र मे समूहो अथवा समग्र का अध्ययन किया जाता है। इन दोनो म महत्वपूर्ण अन्तर निम्न हैं

व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र में अन्तर

व्यष्टि अर्थशास्त्र	समष्टि अर्थशास्त्र
1 इसका सम्बन्ध वैयक्तिक इकाइयो यथा विशिष्ट व्यक्ति, परिवार, फर्म, उद्योग मे होता है।	1 इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अथवा समग्र से होता है। इसमे कुल रोजगार, कुल उत्पादन, कुल विनियोग, कुल व्यय, कुल बचत इत्यादि का अध्ययन किया जाता है।

2. यह मूल्य सिद्धांत या सीमांत विश्लेपण के नाम से जाना जाता है । इसमें वस्तुओं के मूल्य निर्धारण तथा उत्पादन के साधनों के पुरस्कार निर्धारण का अध्ययन किया जाता है ।	2. यह आय एवं रोजगार विश्लेपण के नाम से जाना जाता है । इससे अर्थ-व्यवस्था में आय, रोजगार, विनियोग, प्रभावोत्पादक मांग, कुल उपभोग, कुल बचत आदि के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती हैं ।
3. व्यष्टि आर्थिक विश्लेपण व्यक्तिगत उपभोक्ता फर्म अथवा उद्योग को आदर्श स्थिति प्राप्त करने में सहायता पहुंनाता है ।	3. समष्टि आर्थिक विश्लेपण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को आदर्श स्थिति में पहुँचाने में सहायक होता है ।
4. यह आधुनिक युग की महान समस्याओं यथा बेरोजगारी, मुद्रा स्फीति तथा आर्थिक विकास का समाधान प्रस्तुत नहीं करता है ।	4. यह आधुनिक युग की महान समस्याओं का समाधान प्राप्त करने में सहायक होता है।
5. इसका महत्त्व राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नीति निर्धारण में कम है ।	5. इसका महत्त्व राष्ट्रीय एवं अन्त-र्राष्ट्रीय स्तर पर नीति निर्धारण में बहुत अधिक है ।
6. यह विश्लेपण सरल है ।	6. यह विश्लेपण अत्यधिक जटिल है ।

व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र की पारस्परिक निर्भरता (Interdependence of Micro and Macro Economics)—व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों एक दूसरे से विपरीत तथा प्रतिस्पर्धी हैं परन्तु गहन अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं । इनमें से कोई भी प्रणाली अपने आप में पूर्ण नहीं है दोनों के अपने उपयोग एवं सीमाएं हैं । दोनों की पारस्परिक निर्भरता को यहां कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

व्यष्टि आर्थिक विश्लेपण को समष्टि आर्थिक विश्लेपण की सहायता की आवश्यकता होती है, क्योंकि :

(1) एक फर्म या उद्योग द्वारा उत्पादन में प्रयुक्त उत्पादन के साधनों का जो मूल्य चुकाया जाता है वह केवल इसी फर्म अथवा उद्योग की मांग पर निर्भर नहीं करता है बल्कि अर्थव्यवस्था में इन साधनों की समग्र मांग पर भी निर्भर करता है ।

(2) एक फर्म अपना माल बाजार में कितना विक्रय कर पावेगी यह केवल फर्म द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग पर ही निर्भर नहीं करता है बल्कि यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि समाज की कुल क्रय-शक्ति कितनी है।

(3) एक फर्म की वस्तु का मूल्य केवल उस फर्म की वस्तु की माग तथा पूर्ति पर ही निर्भर नही करता है बल्कि वह इस बात पर भी निर्भर करता है कि अर्थव्यवस्था मे अन्य वस्तु की कीमत कितनी है।

(4) किसी वस्तु की माग मे वृद्धि अथवा कमी का कारण उस वस्तु के मूल्य अथवा लागत मे परिवतन न होकर समाज मे कुल आय एव रोजगार मे वृद्धि या कमी होना हो सकता है।

समष्टि आर्थिक विश्लेषण को व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण की सहायता आवश्यक होती है, क्योकि

(1) कुल माँग मे वृद्धि हो तब यह भी हो सकता है कि कुछ वस्तुओ की माग स्थिर हो अथवा गिर गई हो। अत कुल माग म वृद्धि का तात्पर्य यह नहीं है कि सभी उद्योगो का विकास अथवा विस्तार हो रहा है। इसी तरह कुल माग मे कमी हो तब कुछ वस्तुओ की माग बढ सकती है तथा कुछ वस्तुओ की माग स्थिर रह सकती है।

(2) सभी वस्तुओ की माग मे वृद्धि होन पर भी यह आवश्यक नही है कि सभी उद्योगो के उत्पादन म समानुपातिक वृद्धि हो, क्योकि जिन उद्योगो मे उत्पत्ति ह्रास नियम अथवा लागत वृद्धि नियम लागू हो उनको उत्पादन बढाने मे सकोच होगा।

(3) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अथवा समग्र की रचना व्यक्तिगत इकाइयो से होती है। अत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली एव स्वभाव के अध्ययन के लिए व्यक्तिगत इकाइयो एव उनके पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन आवश्यक होता है।

उपरोक्त उदाहरणो से स्पष्ट होता है कि आर्थिक विश्लेषण की दोनों शाखाए परस्पर निर्भर है। आर्थिक विश्लेषण के लिए दोनो प्रणालियो का ही ज्ञान आवश्यक है। प्रो सेम्युलसन के शब्दो मे "वास्तव म व्यष्टि अर्थशास्त्र एव समष्टि अर्थशास्त्र म कोई विरोध नही है। दोनो अत्यन्त आवश्यक है। यदि आप एक को समझते है और दूसरे से अनभिज्ञ रहते है तो आप केवल अर्द्ध-शिक्षित है"।[5]

व्यष्टि एव समष्टि अर्थशास्त्र यद्यपि परस्पर निर्भर हैं परन्तु फिर भी दोनो मे मूल अन्तर है। व्यष्टिमूलक समस्याओ का हल व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण से तथा समष्टिमूलक समस्याओ का अध्ययन समष्टि आर्थिक विश्लेषण द्वारा किया जाना चाहिए। जहा दोनो की आवश्यकता हो वहा दोनो का प्रयोग किया जाये तथा एक

5. "There is really no opposition between micro and macro economics Both are absolutely vital and you are only half educated if you understand the one while being ignorant of the other"—Samuelson

के परिणामों की जांच यदि दूसरे विश्लेषण से संभव हो तो कर लेना चाहिए। गार्डनर एकले का यह कथन यहां अधिक उपयुक्त होगा। गार्डनर एकले के शब्दों में "दोनों के बीच कोई सुनिश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती लेकिन सार्थक परिणामों पर पहुंचने के लिए समष्टि मूलक समस्याओं का समष्टि मूलक उपकरणों से तथा व्यष्टिमूलक समस्याओं का व्यष्टि मूलक उपकरणों से हल निकाला जाना चाहिए।

प्रश्न एवं संकेत

1. आर्थिक व्यष्टि भाव तथा आर्थिक समष्टि भाव मे अन्तर स्पष्ट कीजिये तथा इनकी पारस्परिक निर्भरता को समझाइये।

(**संकेत**—आर्थिक व्यष्टि भाव का तात्पर्य व्यष्टि अर्थशास्त्र से तथा आर्थिक समष्टि भाव का तात्पर्य समष्टि अर्थशास्त्र से है। पहले व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र का अर्थ बता कर इनका अन्तर बतलावें बाद में दोनों की पारस्परिक निर्भरता का वर्णन कर दें।)

2. "अर्थशास्त्री को व्यष्टि मूलक तथा समष्टि मूलक दोनों प्रकार की समस्याओं का अध्ययन करना पड़ता है। दोनों एक दूसरे के विकल्प नहीं बल्कि पूरक हैं।" विवेचना कीजिए।

अथवा

"वास्तव में व्यष्टि अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं है। दोनों अत्यन्त आवश्वयक हैं। यदि आप एक को समझते हैं और दूसरे से अनभिज्ञ रहते हैं तो आप केवल अर्द्ध-शिक्षित हैं" : (सेम्युलसन)। विवेचना कीजिये।

(**संकेत**—उपरोक्त दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही है। पहले आप दोनों का अलग-अलग अर्थ बतावें फिर इनके उपयोग अथवा महत्व का वर्णन करें और निष्कर्ष में लिखें कि दोनों परस्पर निर्भर हैं विरोधी नहीं तथा आर्थिक अध्ययन में दोनों आवश्यक हैं।

— —

6. उपभोग का अर्थ, महत्व एवं उपभोक्ता की प्रभुसत्ता
7. आवश्यकताएं
8. उपयोगिता विश्लेषण—सीमान्त उपयोगिता एवं कुल उपयोगिता (गणनावाचक एवं क्रम वाचक विचार)
9. सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम
10. सम-सीमान्त उपयोगिता नियम
11. उपभोक्ता की बचत
12. मांग एवं मांग का नियम
13. मांग की लोच एवं इसका माप
14. पूर्ति एवं पूर्ति का नियम

6

उपभोग का अर्थ, महत्व एवं उपभोक्ता की प्रभुसत्ता

(Consumption meaning, Importance & Consumer's Sovereignity)

"अर्थशास्त्र का सम्पूर्ण वैचारिक तंत्र उपभोग के सही सही विचार पर आधारित है।" जैवन्स

उपभोग क्या है?

मनुष्य की अनन्त आवश्यकताएं होती है। वे अलग-अलग प्रकार की होती हैं। वे तीव्रता में भी भिन्न होती हैं। परन्तु मनुष्य धन अथवा साधनों का प्रयोग करके इन सभी आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास करता है। इस प्रकार **आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष सन्तुष्टि के लिये धन का प्रयोग ही उपभोग कहलाता है।**

आवश्यकताओं की पूर्ति धन के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार के प्रयोग द्वारा हो सकती है। अत धन का प्रयोग आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता है। कोयला जलाकर घर में भोजन भी पकाया जा सकता है और वही कोयला लुहार द्वारा लोहा गलाने के लिये भट्टी में भी जलाया जा सकता है। घर में भोजन पकाने के लिये कोयले का उपयोग तो उपभोग कहलायेगा, क्योंकि इस प्रकार कोयले का उपयोग करने से आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्यक्ष रूप से होती है जब कि भट्टी में लोहा गलाने के लिये प्रयोग में लाया गया कोयला आवश्यकताओं की पूर्ति तो करेगा परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से-उत्पादन की क्रिया के रूप में न कि उपभोग के रूप में।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि जब किसी वस्तु का उपयोग आवश्यकता की पूर्ति के लिये किया जाता है तो उस वस्तु का क्या होता है? कोयला जलने पर राख हो जाता है। एक अनभिज्ञ व्यक्ति तो यही कहेगा कि कोयले का विनाश हो गया। परन्तु ऐसा कहना सत्य नहीं है। क्योंकि 'तत्व' नाशवान नहीं है। कोयला जलाने से हमने उसकी ऊष्मा का प्रयोग कर लिया है। परन्तु कोयले के अन्दर विद्यमान विभिन्न तत्व (Elements) वायुमंडल में व्याप्त हो गये हैं। इस प्रकार कोयले को जलाकर हमने कोयले के रूप में इसकी उपयोगिता को समाप्त कर दिया है। अत हम कह सकते हैं कि प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिये धन की उपयोगिता को समाप्त करना ही उपभोग है।

उपभोग

अर्थ—उपभोग का तात्पर्य मानवीय आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष संतुष्टि के लिए वस्तुओं तथा सेवाओं के उपयोग से होता है।

प्रकार—उपभोग के अनेक प्रकार होते हैः

(1) उत्पादक तथा अन्तिम उपभोग
(2) मन्द एवं शीघ्र उपभोग

महत्व :

I सैद्धान्तिक महत्व

(1) उपभोग समस्त क्रियाओं का प्रारम्भ है।
(2) उपभोग समस्त क्रियाओं का अन्तिम लक्ष्य होता है।
(3) व्यक्ति एवं समाज की प्रगति का प्रतिबिम्ब होता है।
(4) राष्ट्रीय एवं सामाजिक कल्याण की आवश्यकता होती है।
(5) रोजगार वृद्धि का आधार होता है।

II व्यवहारिक महत्व

(1) गृह-स्वामी के लिए उपयोगी
(5) समाज सुधारक के लिए उपयोगी
(3) राजनीतिज्ञ के लिए उपयोगी
(4) सरकार के लिए उपयोगी
(5) उत्पादक एवं व्यापारियों के लिए उपयोगी।

इस प्रकार उपभोग के अन्तर्गत तीन तत्व विद्यमान होते हैं। प्रथम—प्रत्येक प्रकार के उपभोग द्वारा मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है; द्वितीय—धन के उपयोग द्वारा आवश्यकताओं की संतुष्टि प्रत्यक्ष रूप से होती है; तथा तृतीय—उपभोग द्वारा धन की उपयोगिता नष्ट होती है न कि वस्तु के अन्दर विद्यमान तत्व (matter)। इसीलिये मार्शल ने उपभोग को 'प्रतिकूल या नकारात्मक उत्पादन' (negative production) कहा है।

उपभोग की अन्य परिभाषायें :

मेयर्स (Meyers) के अनुसार 'स्वतंत्र मानव समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं अथवा सेवाओं का प्रत्यक्ष तथा अन्तिम प्रयोग ही उपभोग है।'[1] मेयर्स द्वारा उपभोग की दी गई यह परिभाषा उपभोग का वास्तविक भाव प्रकट करती है।

प्रो० थोमस ने उपभोग को 'मूल्यों का विनाश' (destruction of values) कहकर इस बात को स्पष्ट किया है कि वस्तु अथवा सेवाओं का मूल्य उपभोग के कारण इसकी 'मूल शक्ल' में समाप्त हो जाता है।

एली के अनुसार "विस्तृत अर्थ में उपभोग का तात्पर्य मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हेतु वस्तुओं तथा व्यक्तिगत सेवाओं के उपभोग से है।"[2] उपभोग

1. Consumption is the direct and final use of goods or services in satisfying the wants of free human beings."—Meyers
2. Consumption in its broadest sense means the use of the economic goods and personal services in the satisfaction of human wants." R. T. Ely.

की यह परिभाषा मेयर्स की परिभाषा से मिलती जुलती परिभाषा है। अन्तर केवल इतना है कि एली ने मेयर्स द्वारा प्रयुक्त शब्द 'स्वतन्त्र मानव' मे से स्वतन्त्र शब्द को महत्व नही दिया है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओ अथवा सेवाओ के प्रत्यक्ष, उपयोग को ही उपभोग कहते हैं।

उपभोग के प्रकार

मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वस्तुओं का उपयोग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष हो सकता है, इसी प्रकार वस्तुओ का रूप-रग एक बारके प्रयोग से ही बदल सकता है और एक बार के प्रयोग से ही उपयोगिता नष्ट हो सकती है या बारम्बर के प्रयोग से भी रूप रग नही बदलता और धीरे-धीरे ही उपयोगिता समाप्त होती है। इन बातो को ध्यान मे रखकर उपभोग दो प्रकार का हो सकता है—

(1) उत्पादक (Productive) और अन्तिम (Final) उपभोग—वैसे तो समस्त धनोत्पादन का लक्ष्य उपभोग ही है परन्तु जब धन प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयोग में लाया जाता है तो यह उपभोग कहा जाता है। और जब धन का उपयोग अप्रत्यक्ष रूप से आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु किया जाता है तो इस प्रकार के उपयोग को उत्पादन की सज्ञा दी जाती है। उदाहरणार्थ एक होटल का स्वामी कोयले या लकडी का उपयोग ग्राहको के वास्ते भोजन पकाने मे करता है तो ईधन का यह उपयोग उत्पादन कहा जाता है क्योकि ग्राहको को भोजन करा कर वह अपनी जीविका कमाता है। परन्तु जब वह अपने घर में अपने परिवार के लिये भोजन पकाने मे ईधन का प्रयोग करता है तो ईधन का यह प्रयोग उपभोग कहलाता है।

(2) दीर्घकालीन या मन्द (Slow) तथा द्रुतगामी या शीघ्र (Quick) उपभोग—जब वस्तुओ अथवा सेवाओ की उपयोगिता एक बार के उपयोग से ही समाप्त हो जाती है अथवा एक बार के उपयोग मे ही रूप बदल जाता है तो इस प्रकार का उपभोग 'शीघ्र' उपभोग कहलाता है। जैसे भोजन, पानी ईधन आदि का उपभोग। परन्तु जब वस्तुओ तथा सेवाओ की उपयोगिता तथा रूप-रग बारम्बार के उपयोग पर भी लगभग वही बना रहता है तो इस प्रकार का उपभोग दीर्घकालिक या मन्द उपभोग कहलाता है। जैसे मेज, कुर्सी, वस्त्र, मकान आदि। फाउन्टेन पैन का उपभोग दीर्घकालिक और स्याही का उपभोग द्रुतगामी या शीघ्र होता है। प्रो॰ जे के मेहता ने दीर्घकालिक उपयोग को ही उपभोग कहा है। उनका कहना है कि उपयोगिता की समाप्ति धीरे-धीरे ही होती है एकदम शीघ्र नही।

उपभोग का महत्व

कीन्स के अनुसार "उपभोग का सच्चा सिद्धान्त या मत ही अर्थ शास्त्र का मूल तत्व है।"[3] आर्थिक क्षेत्र मे उपभोग का अत्यधिक महत्व होते हुए भी उपभोग

3 "A true theory of consumption is the keystone of political economy" J N Keynes

का, एक अलग विषय के रूप में अध्ययन, नया ही है। प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियों ने केवल 'उत्पादन' पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया और उपभोग की उपेक्षा की। एडमस्मिथ ने इस बात पर जोर दिया कि 'उपभोग ही समस्त उत्पादन का एक मात्र उद्देश्य एवं प्रयोजन' (Sole end and Purpose) है। **बेन्थम** (Bentham) ने अर्थ शास्त्र को 'उपयोगिता' (utility) शब्द दिया। आगे चल कर मेंजर, वालरस, जैवन्स, वॉम-बवर्क आदि आस्ट्रियन स्कूल के विचारकों ने-आर्थिक विज्ञान की विषय विवेचना में इस बात पर बल दिया कि उपभोग ही अर्थशास्त्र का आधार है। मार्शल, रोबिन्स, श्रीमती जे. रोबिन्सन तथा हिक्स आदि आधुनिक अर्थ शास्त्रियों ने उपभोग को अर्थ शास्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग मानते हुए समस्त आर्थिक क्रिया का आधार माना है।

उपभोग के महत्व का अध्ययन हम दो भागों में कर सकते हैं—(i) सैद्धान्तिक (Theoretical) महत्व एवं (ii) व्यावहारिक (Practical) महत्व।

(1) **सैद्धान्तिक महत्व**—उपभोग के सिद्धान्त के अध्ययन से हमें अर्थशास्त्र के एक अंग के रूप में उपभोग के महत्व का ज्ञान होता है। इसे हम निम्न भागों में बांट सकते हैं :

(1) उपभोग समस्त आर्थिक क्रियाओं का प्रारम्भ है–इसका अर्थ यही है कि कार्य करने की प्रेरणा आवश्यकताओं की पूर्ति करने की दृष्टि से ही मिलती है। जिस मनुष्य की जितनी अधिक आवश्यकताएं होती हैं वह उतनी ही अधिक आर्थिक क्रियाएं करता दिखाई देता है। जंगल में निवास करने वाले एक आदिवासी की आवश्यकताएं एक मात्र पेट भरने तक ही सीमित होने के कारण उसकी आर्थिक क्रियाएं नहीं के बराबर होती हैं, परन्तु वही आदिवासी नगर में निवास करने लगता है तो उसकी आवश्यकतायें भी बढ़ जाती हैं और वह हर समय इन आवश्यकताओं की उधेड़-बुन में विविध आर्थिक क्रियाओं में व्यस्त दिखाई देता है।

(2) उपभोग समस्त आर्थिक क्रियाओं का अन्तिम उद्देश्य, प्रयोजन एवं लक्ष्य भी है–आर्थिक क्रियाओं के माध्यम से जो धन कमाया जाता है उसका एक मात्र लक्ष्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वर्तमान अथवा भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। इसी दृष्टिकोण से ही उत्पादन, विनिमय तथा वितरण एवं राजस्व की क्रियायें चलाई जाती हैं।

मनुष्य उपभोग के लिये जिस प्रकार की वस्तुएं चाहता है उसी प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है, उन्हीं का क्रय-विक्रय होता है और उन्हीं का उपभोग किया जाता है।

(3) उपभोग व्यक्ति एवं समाज की आर्थिक प्रगति का प्रतिबिम्ब होता है—किसी व्यक्ति या समाज की आर्थिक प्रगति का ज्ञान उसके उपभोग को देख कर प्राप्त किया जा सकता है। उन्नत जीवन स्तर, भरा-पूरा एवं आर्थिक दृष्टि से उन्नत एवं सुखमय जीवन आदि एक प्रगतिशील समाज का परिचायक होते हैं। निम्न जीवन स्तर तथा अभाव पूर्ण कष्टमय जीवन आर्थिक क्रियाओं का पिछड़ापन व हीनता दर्शाता है।

(4) उपभोग राष्ट्रीय एवं सामाजिक कल्याण का आधार होता है—प्रत्येक

राष्ट्र में सामाजवादी विचारधारा के पनपने से। कल्याणकारी राज्य एव कल्याण कारी समाज की स्थापना प्रमुख लक्ष्य एव उद्देश्य बन गया है जिनकी स्थापना का प्रमुख आधार उपभोग ही माना गया है। समाज के घटको के उपभोग को बढाकर ही उनके जीवन स्तर को अधिक उन्नत किया जा सकता है तथा उनके जीवन को भरा पूरा एव सुखमय बनाया जा सकता है। किन किन वस्तुओ का उपभोग किया जा रहा है, यह भी ध्यान देने योग्य बात है। विलासिता पूर्ण, मादक एव नशीली वस्तुओ के उपभोग पर प्रतिबन्ध मानव कल्याण की दृष्टि से, लगाया जाता है। धन कमाने की अपेक्षा धन का उचित रीति से उपयोग अधिक कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

(5) रोजगार वृद्धि का आधार उपभोग ही है—समाज कल्याण मे वृद्धि का आधार उपभोग मे वृद्धि है। बढी हुई आय से ही बढे हुए उपभोग की पूर्ति सभव है। और रोजगार मे वृद्धि करके ही आय बढाना सभव है। इस प्रकार उपभोग 'रोजगार सभावनाओ' मे वृद्धि एव 'रोजगार नियोजन' का आधार है।

(II) व्यावहारिक महत्व— व्यावहारिक जीवन मे उपभोग का अत्यधिक महत्व है। समाज के विभिन्न वर्गों के लिये उपभोग का जो महत्व है उसका अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

(1) गृह स्वामी के लिये—एक गृह स्वामी, परिवार के सभी छोटे बडे व बच्चे-बूढे सदस्यो की विभिन्न आवश्यकताओ के ज्ञान के आधार पर ही अपने परिवार को सुखी एव सन्तुष्ट रख सकता है। उसे परिवार के एक-डेढ वर्ष के शिशु के लिये खिलौनो का भी ध्यान है तथा अपने वृद्ध माता पिता की दुर्बल आंखो के लिये चश्मे का भी ध्यान है तभी वह कुशलता पूर्वक अपने परिवार को चला सकता है। अर्थात् अपने परिवार के समस्त उपभोग को ध्यान में रख कर उसकी पूर्ति हेतु साधन जुटाने में समर्थ होगा अन्यथा नही। इसी कारण वह बच्चों की शिक्षा दीक्षा, उनके शादी-ब्याह, सदस्यों की हारी-बीमारी आदि बातो को ध्यान में रखकर उपार्जित धन में से कुछ न कुछ बचाकर रखना श्रेयस्कर समझता है।

(2) समाज सुधारक के लिये—समाज सुधारक विभिन्न वर्गों के पारिवारिक बजटों का अध्ययन करके उनके उपभोग को जान जाता है और इस प्रकार उसे ज्ञात हो जाता है कि लोग किन किन आवश्यकताओ पर धन का व्यय कर रहे हैं। वह मादक व विलासितापूर्ण वस्तुओ के उपभोग को रोकने के लिये प्रयास करेगा व वह दहेज प्रथा की समाप्ति के भी प्रयास करेगा। समाज के निर्धन तथा पिछडे वर्गों के लिये नि शुल्क शिक्षा-दीक्षा, चिकित्सा एव स्वास्थ्य सेवाओ, आमोद प्रमोद आदि बातो की व्यवस्था के प्रयास भी करेगा। प्राचीन समय से चले आ रहे दान पुण्य, सदावर्त आदि इसके प्रमाण हैं।

(3) राजनीतिज्ञ के लिये—समाज सुधारक राजनीतिज्ञों के रूप म व्याव हारिक समस्याओ को सुलझाने की दृष्टि से विधान आदि के माध्यम से प्रयास करते

हैं। परन्तु उसे एक सफल राजनीतिज्ञ बनाने की दृष्टि से अपने क्षेत्र के उपभोग सम्बन्धी ढांचे का पूरा-पूरा ज्ञान होना आवश्यक है। तभी वह राष्ट्र कल्याण, समाज कल्याण, पूंजीवाद, समाजवाद, कल्याणकारी राज्य, सफल नियोजन आदि की कल्पना कर सकता है।

(4) सरकार के लिये—सफल सरकार वही मानी जा सकती है जिसे अपने देश के जन-जन के उपभोग की संरचना का पूरा-पूरा ज्ञान होता है। तभी वह आवश्यक आर्थिक नियोजन, उपभोग नियंत्रण, मूल्य नियंत्रण, राशनिंग, रोजगार व्यवस्था, करारोपण व्यवस्था, अशक्त वर्गों के लिये कल्याणकारी योजनायें, बचत प्रोत्साहन आदि-आदि की व्यवस्था कर सकती है।

(5) उत्पादक एवं व्यापारियों के लिये—समाज में प्रचलित मांग के आधार पर ही किसी वस्तु के उपभोग का आंकलन किया जा सकता है और उत्पादक मांग का पूर्वानुमान लगा कर ही उत्पादन का पैमाना व स्वभाव निर्धारित करता है। उपभोग का सही-सही अनुमान लगा कर वह अपने लाभ को सर्वाधिक कर सकता है। इसके अतिरिक्त उसे फैशन व रुचि को भी ध्यान में रखना पड़ता है। इसी प्रकार व्यापारी उन्हीं वस्तुओं का लेन-देन करता है जो सर्वाधिक मांग की होती हैं। माल के आयात-निर्यात व्यापार का आधार उपभोग होता है। समाज में व्याप्त तेजी-मन्दी न्यून एवं अत्युत्पादन आदि साधारण-असाधारण परिस्थितियों का जन्म उपभोग सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण होता है। उपभोग समाज की आर्थिक प्रगति का सूचक होता है; उपभोग का नियंत्रण पूंजी संचय में सहायक होता है; उपभोग रहन-सहन के स्तर को प्रभावित करता है और इस प्रकार श्रम की कार्य-क्षमता को प्रभावित किये बिना नहीं रहता; उपभोग आर्थिक नियोजन को संभव बनाता है; विभिन्न वर्गों के आर्थिक एव भौतिक कल्याण की तुलना उनके उपभोग से की जा सकती है; और करारोपण विधि, कर की मात्रा, युद्ध काल में उपभोग पर नियंत्रण आदि सभी बातें उपभोग पर निर्भर करती हैं। इस प्रकार आसानी से कहा जा सकता है कि उपभोग समस्त आर्थिक क्रियाओं का आधार तथा अन्त होता है।

उपभोक्ता की प्रभुसत्ता (Consumer's Sovereignity)

मनुष्य की आवश्यकतायें तो अनन्त होती हैं पर उसके पास उनकी पूर्ति के साधन सीमित होते हैं। परन्तु यह सन्तोष की बात है कि इन साधनों के वैकल्पिक प्रयोग संभव हैं तभी एक उपभोक्ता अपनी तीव्रतम आवश्यकताओं की पूर्ति को प्राथमिकता देता है और कम तीव्र आवश्यकताओं की पूर्ति बाद में करता है इस प्रकार उसके सम्मुख चयन या निर्णय की समस्या सदैव बनी रहती है। मुक्त अर्थ-व्यवस्था में उपभोक्ता को इस बात की स्वतन्त्रता होती है कि वह अपनी सीमित आय को किन-किन आवश्यकताओं की पूर्ति पर किस-किस मात्रा में व्यय करे। इस प्रकार उपभोक्ता किसी वस्तु को किसी मात्रा में खरीदने को स्वतन्त्र होता है। उसके ये विकल्प इस बात को निर्धारित करते हैं कि समाज में किस वस्तु का किस मात्रा में उत्पादन

(4) सामाजिक रीति रिवाज—सामाजिक रीति रिवाज उपभोक्ता की प्रभुसत्ता को एक दम सीमित कर देते हैं। उसे अनिच्छापूर्वक दहेज देना पड़ता है और प्रबल इच्छा होते हुए भी मादक वस्तुओं का प्रयोग छिपकर करना पड़ता है।

(5) समाजकी उत्पादन क्षमता व शक्तिया—समाज में उपलब्ध प्राकृतिक साधन, पूंजी व प्राविधिक ज्ञान द्वारा उत्पादन की मात्रा व किस्म निर्धारित होती है। पिछड़ी हुई एव विकासशील अर्थव्यवस्थाओ में उपभोक्ता को विशेष प्रकार की वस्तु की इच्छा रखते हुए भी उन्ही वस्तुओं से अपनी आवश्यकता की तुष्टि करनी पड़ती है जिनका कि उत्पादन हो रहा होता है। हम भीड़ रहित रेल गाड़ियों में बैठकर यात्रा करने की इच्छा रहते हुए भी भीड़-भाड़ वाली गाड़ियों में यात्रा करनी पड़ती है।

(6) धन का वितरण—समाज के धनिक उपभोक्ता के दिखावे की इच्छा की तुष्टि के लिए एक चतुर उत्पादक अपनी उन वस्तुओं का दाम अत्यधिक ऊंचा रखते हैं जिनका उपभोग धनिक वर्ग द्वारा किया जाता है। धनिक लोग अपने धन के दिखावे की होड़ में एक दूसरे की देखा देखी इन महंगी वस्तुओं का उपभोग करने को विवश होते हैं। दूसरी ओर साधारण उपभोक्ताओं को आकर्षित करने के लिए उत्पादक इन वस्तुओं का मूल्य काफी कम रखता है।

(7) विक्रय प्रणाली—विक्रय प्रणाली के अन्तर्गत उपभोक्ता को आकर्षित करके विक्रय को बढ़ाने की समस्त विधियां आ जाती हैं। जैसे विज्ञापन तथा प्रचार सवेष्टन (packing), उधार तथा किश्तों मे बिक्री की सुविधा। इसी कारण जिस उत्पादक का विज्ञापन एव प्रचार अधिक एव प्रभावशाली होता है वह अधिक माल बेचने में समर्थ होता है। इसी प्रकार आकर्षक पैकिंग अधिक माग को बढ़ावा देता है। उधार बिक्री व छोटी छोटी किश्तों में भुगतान की व्यवस्था भी अधिक माग को बढ़ावा देती है। इस प्रकार ये बातें उपभोक्ता की चुनाव स्वतन्त्रता को प्रभावित करती रहती हैं।

(8) एकाधिकारी प्रवृत्तियां—उत्पादन कर्ता को अगर एकाधिकार प्राप्त है तो वह उपभोक्ता की प्रभुसत्ता को एक दम समाप्त कर देता है। ऐसी अवस्था में बाजार विक्रेता का होता है न कि उपभोक्ता का। बिजली, पानी आदि की पूर्ति इसके ज्वलंत उदाहरण हैं।

(9) प्रमापित वस्तुओं का उत्पादन—वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक बड़े पैमाने की अर्थव्यवस्था में अधिकांश उत्पादन मशीनों तथा यन्त्रों की सहायता से होता है। उपभोक्ता की व्यक्तिगत रुचि व पसन्द पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता वरन् सस्ती एव प्रमापित वस्तुओं के उत्पादन का ही ध्यान रखा जाता है। उपभोक्ता इन्ही को खरीदने को विवश होता है और उसकी प्रभुता समाप्त हो जाती है।

(10) सरकारी नियन्त्रण—'समाज कल्याण' की दृष्टि से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में भी सरकार व्यक्तिगत उपभोग पर अंकुश लगाती है। तम्बाकू, शराब तथा अन्य मादक वस्तुओं के उपभोग को अधिक कर लगाकर सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है।

आन्तरिक उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए विदेशी आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर विदेशी वस्तुओं के उपभोग को सीमित कर दिया जाता है। उपयोगी एवं हितकर वस्तुओं के उपभोग को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से इन वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए सरकार अनेक प्रकार की सहायता एवं प्रोत्साहन देती है। बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा, दूध एवं पौष्टिक आहार की स्कूलों में व्यवस्था आदि इसी गणना में आते हैं।

समाजवादी देशों में तो सरकार द्वारा उपभोक्ता की सम्प्रभुता को एक दम समाप्त कर दिया जाता है। जनता क्या और कितना उपभोग करे यह सरकार द्वारा निर्धारित किया जाता है।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुक्त एवं प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता की चुनाव-शक्तिकी परिसीमायें होते हुए भी वह साधारणतः वस्तुओं एवं सेवाओं के उपभोग में स्वतन्त्र होता है। परन्तु समाजवादी अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता जैसी कोई बात नहीं होती है। दूसरे विकासशील अर्थव्यवस्था की सफलता पूर्णतः उपभोक्ता, उत्पादक एवं सरकार के आपसी सहयोग पर निर्भर करती है।

प्रश्न एवं संकेत

1. अर्थशास्त्र में उपभोग से आप क्या समझते हैं ? उपभोग तथा विनाश में क्या अन्तर है ?

(संकेत—उपभोग का साधारण भाषा में अर्थ बताते हुए, अर्थशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग किस रूप में किया जाता है उसका उल्लेख करें। उपभोग द्वारा आवश्यकता की पूर्ति के लिये वस्तु की उपयोगिता को समाप्त किया जाता है जबकि विनाश या बर्बादी में उपयोगिता के विनाश से आवश्यकता पूर्ति नहीं होती वरन् आर्थिक हानि होती है।)

(2) "उपभोग अर्थशास्त्र का आदि तथा अन्त है।" इस कथन की व्याख्या करते हुए उपभोग का महत्व समझाइए।

(संकेत—पहिले इस कथन का विश्लेषण करें और बतावें कि समस्त आर्थिक क्रिया का आधार आवश्यकता होती है। उत्पादन को आवश्यकता पूर्ति के लिये उपयोग किया जाता है। बाद में उपभोग के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक महत्व का वर्णन करें।)

3. उपभोक्ता की प्रभुसत्ता का क्या अर्थ है ? क्या यह प्रभुसत्ता पूर्णतया निरंकुश या असीमित होती है ?

4. "मुक्त एवं प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता एक सम्राट होता है।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

5. "उपभोक्ता इतना निरंकुश सम्राट नहीं होता जितना कि वह समझा जाता है। अधिक से अधिक वह वैधानिक सम्राट है जो राज्य करता है, शासन नहीं।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

(संकेत—उपभोक्ता की प्रभुसत्ता से सम्बन्धित उपरोक्त सभी प्रश्नों का उत्तर लगभग एक ही होगा। सर्वप्रथम उपभोक्ता की प्रभुसत्ता का अर्थ बताना है व इसका महत्व भी देना है और अन्त में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता की सीमाओं की विवेचना करते हुए निष्कर्ष निकालना है कि वर्तमान युग में उपभोक्ता की प्रभुसत्ता सीमित होती है।)

(2) समाजिक वातावरण।
(3) धार्मिक एव नैनिक बाते।
(4) व्यक्तिगत तत्व।
(5) आदत, रुचि व फैशन।
(6) आर्थिक तत्व।
(7) वस्तुगत तत्व।
(8) मूल्य स्तर।

आवश्यकताओ के वर्गीकरण का आधार

(1) कार्यक्षमता का आधार।
(2) सुख-दुःख का आधार।
(3) मूल्य और माग का आधार।

जननी कहा जाता है। इच्छाओ की कोई सीमा न होने के कारण आवश्यकतायें भी अनन्त होती है। एक के बाद एक आवश्यकतायें जन्म लेती रहती हैं। बढी हुई आवश्यकताओ को भौतिक समृद्धि का प्रतीक माना जाता है। बढती हुई आवश्यकताओ को शीघ्रातिशीघ्र पूरा करने के लिए उत्पादन को बढाने के प्रयत्न किये जाते है। परिणाम स्वरूप देश की भौतिक अथवा आर्थिक प्रगति स्वाभाविक है। कहावत प्रसिद्ध भी है 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है।" इस प्रकार 'प्रगति के नियम' (Laws of Progress) का मुख्य आधार आवश्यकताओ का अगणित होना है।

(2) आवश्यकता विशेषकी पूर्ति की जा सकती है—आवश्यकताए अनन्त होती हैं परन्तु उपभोक्ता अपने सीमित साधनो के प्रयोग के विकल्प के कारण अपनी सीमित आय को अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति पर व्यय करने के स्थान पर आवश्यकता विशेष की पूर्ति के लिये व्यय करता है। ज्यो-ज्यो वह उस आवश्यकता विशेष की तुष्टि हेतु किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयो का प्रयोग करता जाता है त्यो-त्यो उसे उस वस्तु के उपभोग से गिरती हुई दर पर उपयोगिता प्राप्त होने लगती है तथा शीघ्र ही वस्तु से प्राप्त उपयोगिता तथा वस्तु हेतु किया गया त्याग बराबर हो जाते हैं। यही पूर्ण सन्तुष्टि की स्थिति होती है। आवश्यकताओ की इस विशेषता पर 'उपयोगिता ह्रास नियम' (Law of Diminishing Utility) आधारित है।

(3) आवश्यकताओं मे परस्पर प्रतियोगिता होती है—मानवीय साधन तो सीमित होते हैं परन्तु उसकी आवश्यकतायें अनन्त होती हैं। अतः उसे आवश्यकताओ के मध्य चयन करना पडता है कि किस आवश्यकता की पूर्ति करे और किस की नही। वह अपनी सीमित आय को अपनी विविध आवश्यकताओ पर इस प्रकार व्यय करता है कि उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके। अत, सबसे पहले वह उसी आवश्यकता की पूर्ति करता है जिसकी तुष्टि से उसे सर्वाधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। इसी क्रम से वह अपनी आवश्यकताओ पर साधनो को व्यय करता चला जाता है जब तक कि प्रत्येक वस्तु की अन्तिम इकाई से प्राप्त उपयोगिता लगभग समान नही हो जाती है। इसी प्रवृत्ति पर 'प्रतिस्थापन' या 'समसीमान्त उपयोगिता नियम' (Law of Substitution or Law of Equi Marginal Utility) आधारित है।

(4) **आवश्यकतायें बारम्बर जन्म लेती हैं**—मनुष्य की अनेक ऐसी आवश्यकतायें होती हैं जो वारम्वर जन्म लेती हैं। भोजन, वस्त्र, लिखने-पढ़ने की सामग्री आदि की आवश्यकता इसी प्रकार की आवश्यकतायें हैं।

(5) **कुछ आवश्यकतायें एक दूसरे की पूरक होती है**—अनेक बार किसी एक वस्तु की आवश्यकता की पूर्ति हेतु किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता की पूर्ति भी आवश्यक होती है। उस पूरक वस्तु के अभाव में प्रथम वस्तु का उचित उपभोग नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ पैन के साथ स्याही, कार के साथ पैट्रोल, अनाज के साथ सब्जी, घी, मसाला आदि की मांग साथ-साथ उठ खड़ी होती है। इस विशेषता पर **संयुक्त मांग** (Joint Demand) का नियम आधारित है।

(6) **आवश्यकतायें आदत का रूप धारण कर लेती हैं**—चाय, पान, बीड़ी, सिगरेट, शराब आदि अनेक वस्तुएं ऐसी हैं जिनके उपभोग की मनुष्य की आदत बन जाती है। इनका उपभोग उसके लिये लगभग अनिवार्य हो जाता है। इनके उपभोग न करने से उसकी कार्य कुशलता का ह्रास होता है। उसके रहन-सहन के स्तर के अनुरूप कुछ वस्तुओं की आवश्यकता आदत का रूप धारण कर लेती हैं।

(7) **आवश्यकताओं की तुष्टि वैकल्पिक साधनों द्वारा की जा सकती है**—भूख सन्तुष्ट करने की आवश्यकता अन्न-गेहूं, चावल, ज्वार, बाजरा आदि की बजाय फल, दूध, दही आदि के प्रयोग से पूरी की जा सकती है। ऊनी, सूती, रेशमी, टेरीकाट आदि वस्त्रों से वस्त्र की आवश्यकता की पूर्ति संभव है।

(8) **वर्तमान आवश्यकतायें भविष्य की आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक प्रबल होती हैं**—साधारणतः मनुष्य वर्तमान के लिये अधिक चिन्तित रहता है और वैसे भी भविष्य अंधकारमय एवं अनिश्चित होता है। वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति न करने से उपभोक्ता को अधिक कष्ट होता है। इन्हीं बातों के कारण मनुष्य भविष्य की आवश्यकताओं की तुलना में वर्तमान आवश्यकताओं को अधिक महत्व देता है। मानवीय आवश्यकताओं की इस विशेषता के आधार पर **"ब्याज का समय अधिमान सिद्धान्त"** (The Time-Preference-Theory of Interest) आधारित है।

(9) **आवश्यकतायें तीव्रता में भिन्न होती हैं**—एक ही वस्तु की आवश्यकता तीव्रता में अलग अलग व्यक्तियों के लिये अलग-अलग हो सकती है और एक ही व्यक्ति के लिये भी अलग-अलग समय, स्थान व परिस्थितियों में भिन्न हो सकती है। उदाहरणार्थ मोटर कार एक डाक्टर या वकील के लिये अति आवश्यक हो सकती है परन्तु एक साधारण क्लर्क या अध्यापक को उसकी आवश्यकता नगण्य होती है। इसी प्रकार चावल बंगाल के निवासियों के लिये भोजन का अत्यावश्यक अंग होता है परन्तु राजस्थान के निवासियों के भोजन में चावल का स्थान एकदम गौण होता है।

(10) **आवश्यकताओं पर फैशन, सामाजिक रीति-रिवाज व मानव सभ्यता के विकास का प्रभाव पड़ता है**—फैशन व रुचि में परिवर्तन के साथ-साथ आवश्यकताओं में परिवर्तन भी होता रहता है। साड़ियाँ ब्लाउज, बुश शर्ट, पेंट, बाल कटाने

आदि के बदलते फैशन इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मानव जिस समाज में रहता है उस समाज के रीति रिवाजों का प्रभाव, उसकी आवश्यकताओं पर पड़े बिना नहीं रहता। ग्रामीण क्षेत्रों में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि के खान, पान, वेष भूषा लगभग एक जैसे होते हैं। मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ आवश्यकताओं में वृद्धि एवं परिवर्तन होते चले जाते हैं। शिकारी युग के मनुष्य की आवश्यकतायें आज के मनुष्य की तुलना में नगण्य थीं केवल पेट भरने तक ही सीमित थी।

(11) आवश्यकतायें आर्थिक विकास की प्रेरक होती हैं—आवश्यकता→प्रयत्न→सन्तुष्टि का क्रम चलता ही रहता है। इस प्रकार आवश्यकताओं में वृद्धि के कारण समाज का आर्थिक विकास स्वाभाविक है।

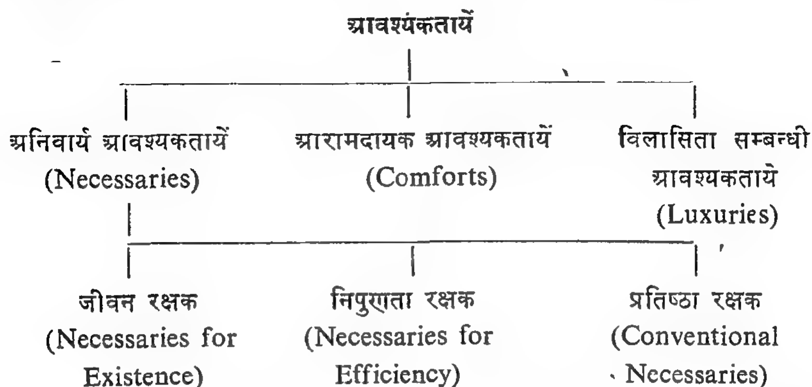
(12) ज्ञान वर्द्धन द्वारा आवश्यकताओं में वृद्धि होती है—मनुष्य को जैसे ही किसी वस्तु का ज्ञान होता है वह उस वस्तु की आवश्यकता अनुभव करने लगता है। इस प्रकार मनुष्य को विज्ञापन, समाचार पत्र, रेडियो, यातायात एवं संचार व्यवस्था आदि के माध्यम से नई-नई वस्तुओं का ज्ञान होने से उसको उन वस्तुओं की आवश्यकता होने लगती है। आधुनिक युग में आकर्षक-विज्ञापन कला विक्रय का एक सफल एवं प्रभावी माध्यम बना हुआ है।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण
(Classification of Wants)

आवश्यकताओं की विशेषताओं में हम पढ़ चुके हैं कि आवश्यकताएं तीव्रता में भिन्न होती हैं तथा इनमें प्रतिस्पर्धा होती है। अतः आवश्यकताओं को भिन्न भिन्न वर्गों में बांटा जा सकता है। सर्व प्रथम जर्मन अर्थशास्त्री वॉन हेरमन (Von Hermann) ने आवश्यकताओं को निरपेक्ष तथा सापेक्ष (Absolute and Relative) उच्चतर तथा निम्नतर (Higher and Lower), आवश्यक तथा स्थगित करने योग्य (Urgent and Deferred), धनात्मक तथा ऋणात्मक (Posetive and Negative), प्रत्यक्ष व परोक्ष (Direct and Indirect), सामान्य तथा विशेष (Generel and Particular), व्यक्तिगत तथा सामूहिक (Individual and Collective), स्थायी तथा अस्थायी (Permanent and Temporary), लगातार तथा अवरोधित (Constant and Interrupted), साधारण तथा असाधारण (Ordinary and Extraordinary) तथा वर्तमान एवं भविष्य (Present and Future) वर्गों में बांटा। आगे चल कर कुछ फ्रांसीसी तथा जर्मन अर्थशास्त्रियों ने भी इस सम्बन्ध में अपने मत व्यक्त किये। इंगलैंड में जेवन्स तथा आस्ट्रियावादी सम्प्रदाय के विचारक कार्ल मैंगर ने भी आवश्यकताओं की व्यापक रूप से चर्चा की।

आवश्यकताओं के प्रकार—आवश्यकताओं की तीव्रता के आधार पर मानवीय आवश्यकताओं को तीन वर्गों में बांटा जाता है (1) अनिवार्य या अपरिहार्य आव- [illegible] (Necessaries) (2) आरामदायक आवश्यकतायें (Comforts) तथा (3) [illegible] सम्बन्धी आवश्यकतायें (Luxuries)। अनिवार्य आवश्यकताओं को पुन.

तीन उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है (अ) जीवन रक्षक अनिवार्य आवश्यकतायें (ब) निपुणता रक्षक अनिवार्य आवश्यकताये तथा (स) प्रतिष्ठा रक्षक अनिवार्य आवश्यकतायें । निम्न चार्ट द्वारा आवश्यकताओं के वर्गीकरण को दर्शाया गया है—



(1) **अनिवार्य आवश्यकताएं**—जिन आवश्यकताओं की पूर्ति जीवन-रक्षा, कार्यक्षमता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की रक्षा की दृष्टि से आवश्यक होता है वे अनिवार्य या अपरिहार्य आवश्यकताओं की श्रेणी में आती हैं। इनकी सन्तुष्टि के बिना न तो वह जीवित ही रह सकता है, न अपनी कार्यक्षमता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा की ही रक्षा कर सकता है। इसीलिये मनुष्य सबसे पहिले अपनी इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। ये तीन प्रकार की होती हैं—

(अ) **जीवन रक्षक अनिवार्यताएं**—न्यूनतम भोजन, वस्त्र एवं आवास के बिना मनुष्य का जीवित रहना असंभव होता है। भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार इनकी मात्रा में न्यूनाधिक कमी-वेशी हो सकती है।

(ब) **निपुणता रक्षक अनिवार्यताएं**—आर्थिक प्रयत्नों में सफलता प्राप्त करने के लिए निपुणता बनाये रखना आवश्यक है। अतः निपुणता की रक्षा की दृष्टि से जिन-जिन वस्तुओं का उपभोग आवश्यक है वे निपुणता रक्षक अनिवार्य आवश्यकताओं की श्रेणी में आती हैं। पौष्टिक एवं सन्तुलित भोजन, पर्याप्त वस्त्र, स्वच्छ एवं स्वास्थ्यप्रद निवास, उचित शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा तथा आमोद प्रमोद की व्यवस्था इसी श्रेणी में आती हैं। उदाहरणार्थ एक कुशल डाक्टर के लिए मोटर कार उसकी निपुणता में वृद्धि की दृष्टि से अनिवार्य है। चाय-पान साधारण व्यक्ति के लिए इसी प्रकार को अनिवार्य आवश्यकता है।

(स) **प्रतिष्ठा रक्षक अनिवार्यताएं**—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जिस समाज में रहता है उसके रीति-रिवाजों का पालन करना उसके लिये अनिवार्य है। जैसे ग्रामीण क्षेत्रों में आतिथ्य सत्कार में हुक्कापानी तथा नगरीय क्षेत्रों में चाय-नाश्ता अनिवार्य हैं। हिन्दुओं के लिये श्राद्धकर्म, होली-दिवाली आदि तीज-त्यौहारों पर विशेष-व्यय इसी श्रेणी में आते हैं। इस प्रकार समाज में

अपना स्थान एवं प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये प्रत्येक व्यक्ति के लिये इन आवश्यकताओं की पूर्ति करना अनिवार्य होता है।

(2) आरामदायक आवश्यकताएं — आवश्यकताओं की इस श्रेणी में वे वस्तुएं तथा सेवायें आती हैं जिनके उपभोग से मनुष्य की कार्य क्षमता में वृद्धि होती है तथा जीवन सुखकर एवं भरापूरा लगता है। इनके उपभोग के बिना हम जीवित रह सकते हैं परन्तु इनके उपभोग के बिना जीवन स्तर तथा कार्यक्षमता का ह्रास होता है। उदाहरणार्थ हम 4 कि मी दूर स्थित अपने घर से कालेज पैदल आ-जा सकते हैं परन्तु साइकिल के प्रयोग से आने-जाने में सुविधा एवं आराम का अनुभव होगा, साथ साथ ही समय की भी बचत होगी जिसका प्रयोग और अधिक अध्ययन में किया जा सकता है।

(3) विलासिता सम्बन्धी आवश्यकतायें—इन आवश्यकताओं की श्रेणी में वे वस्तुएं आती हैं जिनके उपभोग से हम अत्यधिक आनन्द का अनुभव होता है तथा हमारी दिखाने की भावना की तुष्टि होती है परन्तु हमारी कार्यक्षमता में कोई वृद्धि नहीं होती। दूसरी ओर इनके उपभोग के अभाव में न तो हमें किसी भी प्रकार के कष्ट तथा अभाव का अनुभव होता है और न हमारी कार्यक्षमता में ही ह्रास आता है। उल्टे कभी कभी कार्यक्षमता इनके उपभोग से गिरने लगती है। उदाहरणार्थ हम कालेज के कम्पाउण्ड में बने छात्रावास से अगर साइकिल या मोटर साइकिल से कालेज जायें तो यह विलासिता ही होगी। कारण कमरे से साइकिल निकालने-रखने में ही कालेज तक पैदल आने जाने में लगने वाले समय की तुलना में अधिक समय बर्बाद होगा और साइकिल के रख रखाव पर जो व्यय होगा सो अलग। इसीलिए प्रो० जीड ने इन्हें अनावश्यक आवश्यकताओं तथा ऐली ने अत्यधिक व्यक्तिगत उपभोग की संज्ञा दी है। इनकी पूर्ति के पीछे विलास एवं प्रमोद की भावना काम करती है।

क्या विलासिताओं का उपभोग वांछनीय है (Is Consumption of luxuries Desirable ?)—उपभोग आर्थिक प्रगति का प्रेरक है तथा मुक्त प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थ-व्यवस्था में उपभोक्ता 'सम्राट' होने के नाते उत्पादन की मात्रा व स्वभाव निर्धारित करता है। इस प्रकार अधिक उपभोग समाज को पूर्ण रोजगार देकर समाज की आर्थिक प्रगति सम्भव बनाता है। अतः विलासिताओं का उपभोग भी वांछनीय है। परन्तु यह देखना आवश्यक है कि क्या विलासिताओं का उपभोग सम्पूर्ण समाज के कल्याणकारी दृष्टि से वांछनीय है ?

विलासिताओं का उपभोग केवल धनी मानी व्यक्ति ही कर पाते हैं। पूँजी-वादी अर्थव्यवस्था में समाज के अधिकांश वर्ग की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती। क्या यह विषमता न्यायोचित मानी जा सकती है ? कभी भी नहीं। व्यक्तिगत आय को स्वतन्त्रतापूर्वक व्यय करने का सभी को अधिकार है परन्तु समाज के अधिकांश वर्ग के हितों को तिलांजलि देकर नहीं। सामाजिक अहित के

उपभोग को प्रतिबन्धित करना आवश्यक है । समाज के एक अल्पवर्ग को विलासिताओं को उपभोग करते देखकर स्वयं अनिवार्य आवश्यकताओं के उपभोग से वंचित रहकर निर्धन वर्ग के मन में धनिक वर्ग के प्रति विद्वेष की भावना उत्पन्न होती है । वर्ग सघर्ष बढ़ता है और 1917 की रूस की सी लाल क्रांति होना स्वाभाविक है दूसरे विलासिताओं के उत्पादन में एक अल्पवर्ग को ही रोजगार मिल पाता है और विलासिताओं के उत्पादन पर व्यय की जाने वाली पूंजी से अनिवार्य तथा आरामदायक आवश्यकताओं का बहुत बड़ी मात्रा में उत्पादन सम्भव है जिसमें समाज के एक बड़े वर्ग को रोजगार मिलता है और समाज की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है । अतः विलासिताओं का उपभोग किसी भी अवस्था में वांछनीय नहीं माना जा सकता ।

आवश्यकताओं का वर्गीकरण सापेक्षिक है (Classification of wants is relative)—आवश्यकताओं का वर्गीकरण सापेक्षिक है वस्तुगत नहीं । अर्थात् एक ही वस्तु जैसे पैन या मोटरकार एक व्यक्ति के लिए अनिवार्य आवश्यकता हो सकती है तो दूसरे के लिए आरामदायक आवश्यकता तथा किसी अन्य तीसरे के लिए विलासिता की ।

डा० रिचार्ड (Richards) के शब्दों में "अनिवार्यताए, आरामदायक तथा विलासितायें शब्द सापेक्षिक हैं ।" एक ही व्यक्ति के लिये वही वस्तु किसी समय तथा परिस्थित में अनिवार्यता हो सकती है तो अन्य समय या परिस्थितियों में आरामदायक और कभी बिलासिता भी हो सकती है । मोटर कार एक अच्छी प्रैक्टिस वाले डाक्टर के लिये अनिवार्यता की वस्तु है तो ऐक प्रोफेसर के लिये आरामदायक आवयकता की वस्तु परन्तु एक मामूली कृषक के लिये तो यह विलासिता ही होगी । इसी प्रकार एक मामूली प्रैक्टिस वाले नौसिखिये डाक्टर के लिये तो साइकिल का खर्चा निकालना असम्भव होता है तो मोटरकार उसके लिये विलासिता होगी । थोड़ी प्रैक्टिस और बढने पर मोटरकार उसके लिये आरामदायक आवश्यकता की वस्तु हो सकती है और जब उसकी प्रसिद्धी बढ़ जाती है तथा उसकी प्रैक्टिस अच्छी चल निकलती है तो उसको अनेक मरीजों को देखना पड़ता है; उसका समय अति मूल्यवान हो जाता है । इस अवस्था में मोटरकार का प्रयोग उसके लिये अनिवार्य हो जाता है । इसी प्रकार एक प्राथमिक कक्षा के छात्र के लिये फाउन्टेन पैन विलासिता की वस्तु है; क्योंकि उसका 'लेख' बिगड़ने की संभावना रहती है । जब वह सैकन्ड्री या हायर सैकन्ड्री का छात्र बन जाता है तो पैन उसके लिये आरामदायक आवश्यकता का रूप धारण कर लेता है और जब वह स्नातक या स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्ययन करने लगता है तो वही पैन उसके लिये अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु बन जाता है ।

आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करने वाली बातें (Factors affecting Classification of Watns)—अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि

आवश्यकताओं के वर्गीकरण पर किन किन बातों का प्रभाव पड़ता है ? इनका अध्ययन हम निम्न लिखित भागों में कर सकते हैं।

(1) भौतिक तत्व—देश की प्राकृतिक बनावट व जलवायु का मनुष्य की आय तथा उपभोग पर गहरा प्रभाव पड़ता है। मैदानी क्षेत्रों मे पर्वतीय, पठारी या मरुस्थलीय क्षेत्रों की तुलना मे आसानी से जीविकोपार्जन होने के कारण अधिक एवं मूल्यवान वस्तुओं का उपभोग सभव होता है। बगाल मे चावल तथा राजस्थान मे मोटे अनाज यथा ज्वार-बाजरे का उपभोग जलवायु सम्बन्धी भिन्नता के कारण ही होता हैं। शीत काल में गर्म वस्त्र तथा पौष्टिक भोजन अनिवार्य होते हैं पर ग्रीष्म काल में इनका उपभोग नही होता।

(2) सामाजिक वातावरण—सामाजिक रीति रिवाज हमारी आवश्यकताओं को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। शादी व्याह के अवसर पर एक निर्धन व्यक्ति के लिये भी बरातियों को मिलनी रोज, चाय-नाश्ता, अच्छी दावत आदि देना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

(3) धार्मिक तथा नैतिक बातें—हिन्दू धर्म मे सादा जीवन उच्च विचार, आत्मा अमर है, दूसरे का धन मिट्टी के समान है, चोरी करना महा पाप है आदि बातें प्रचलित होने के कारण भौतिक प्रगति गौण मानी जाती है और इच्छाओं पर विजय प्राप्त करके इन्हें मारने तथा कम से कम करने की बात कही जाती है। नैतिक पतन के कारण आज भारत मे भ्रष्टाचार का बोल बाला है और चारो ओर विलासिताओं के उपभोग की दौड दिखायी देती है।

(4) व्यक्तिगत तत्व—व्यक्ति की शारीरिक बनावट तथा उसका स्वास्थ्य आदि का उसकी आवश्यकताओं पर भारी प्रभाव पड़ता है। बगाल तथा तमिलनाड के निवासी के लिये दूध घी अपाचक होने के कारण अनावश्यक से हैं तो उत्तर प्रदेश, पजाब तथा हरियाणा के निवासियों के लिये आवश्यक। परन्तु रोगग्रस्त होने पर तो केवल मूग की दाल का पानी ही आवश्यक होता है।

(5) आदत रुचि व फैशन आदि—आवश्यकताओं पर आदत, रुचि, फैशन, स्वभाव आदि का भारी प्रभाव पडता है। चाय पान, बीडी, सिगरेट की आदत लगने पर इनके उपभोग के बिना मनुष्य छट-पटाने लगता है। बदलती हुई रुचि व फैशन के कारण पेंट, बुशशर्ट, चूडी, बिन्दी, साटी आदि विविध वस्तुओं का प्रयोग भी बदलता रहता है।

(6) आर्थिक तत्व—मनुष्य के व्यवसाय का स्वभाव तथा उसकी आर्थिक स्थिति उसकी आवश्यकताओं को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। जैसे एक बडे व्यापारी तथा अच्छी प्रैक्टिस वाले डाक्टर के लिय मोटर कार अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु होती है। दूसरी ओर आर्थिक स्थिति का भी आवश्यकताओं पर भारी

प्रभाव पड़ता है। पैट्रोल के दामों में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण मध्यम वर्ग के लोगों ने मोटर कार, स्कूटर, मोटर साइकिलें आदि का उपयोग काफी कम कर दिया है।

(7) वस्तुगत तत्व—इस श्रेणी में वे तत्व आते हैं जो वस्तु के स्वभाव तथा मात्रा से सम्बन्धित होते हैं। भोजन अनिवार्य आवश्यकता है परन्तु आवश्यकता से अधिक हानिकारक सिद्ध होता है। पेट खराब होने पर वैद्य-डाक्टर को अनावश्यक रूप से पैसा देना पड़ता है। ब्लेड का एक पैकेट आवश्यक आवश्यकता दो-चार आरामदायक आवश्यकता के हो सकते हैं परन्तु 20-25 पैकेट तो विलासिता की श्रेणी में ही आयेंगे। इन पर व्यय किये गये धन से अधिक आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तु प्राप्त की जा सकती हैं।

(8) मूल्य स्तर—आवश्यकताओं के निर्धारण पर प्रचलित मूल्य स्तर का भारी प्रभाव पड़ता है। पेट भरने के लिये गेहूं एक अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु है। परन्तु एक मध्यम वर्ग के सीमित आय वाले व्यक्ति के लिये 2-2·5 रु० किलो का गेहूं विलासिता ही है। इसी प्रकार दूध उसके लिये आरामदायक आवश्यकता की वस्तु है परन्तु 3-3·5 रु० किलो के भाव का दूध उसके लिये विलासिता है। इन दोनों परिस्थितियों में उसकी आय का अधिकांश भाग भोजन तथा दूध पर ही व्यय हो जायगा और वह अपनी अन्य प्रकार आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ रहेगा।

इस प्रकार हम कह सकते है कि आवश्यकताओं का वर्गीकरण वस्तुगत नहीं होता है। आवश्यकताओं के वर्गीकरण पर देश, काल, परिस्थितियां, व्यक्तिगत, तथा आर्थिक बातों का भारी प्रभाव पड़ता है। एक ही वस्तु अनिवार्य आवश्यकता भी हो सकती है और आरामदायक आवश्यकता तथा किन्हीं परिस्थितियों में विलासिता भी हो सकती हैं।

आवश्यकताओं के वर्गीकरण का आधार—अन्त में यह बता देना भी आवश्यक है कि किसी वस्तु को आवश्यकता की किस श्रेणी में रखा जाय। इस दृष्टि से हम तीन बातों को ध्यान में रखते हैं—

(1) उपभोक्ता की कार्यक्षमता (2) उसका सुख-दुःख तथा (3) वस्तु का मूल्य और उसकी मांग।

(1) कार्य क्षमता का आधार (i) अगर किसी वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता की कार्यक्षमता काफी बढ़ जाती है और उपभोग के अभाव में काफी कम हो जाती है तो वह वस्तु उसके लिये अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु है। (ii) जब उसके उपभोग से कार्य क्षमता में वृद्धि होती है और उपभोग के अभाव में कार्य क्षमता में मामूली सी कमी आती है तो उस अवस्था में वह वस्तु उसके लिये आरामदायक आवश्यकता है। (iii) और जब उस वस्तु के उपभोग करने से कार्यक्षमता में तनिक भी वृद्धि नहीं

होती उल्टे कार्य क्षमता का कुछ कुछ ह्रास होता है तो उसे विलासिता ही कहा जायगा। (iv) और जब उस वस्तु के उपभोग मे उपभोक्ता की काय क्षमता मे काफी कमी आ जाती है तथा वह अपनी अनिवाय आ यकताओ की पूर्ति भी नही कर पाता तो इस उपभोग को फजूल खर्ची कहेंगे ।

(2) सुख दुख का आधार—(i) इसी प्रकार जिस वस्तु के उपभोग से काफी सुख मिलता है और उपभोग न करने पर तीव्र दु ख का अनुभव होता है तो वह वस्तु अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु है (ii) जब उपभोग करने या न करने पर सुख दु ख मे मामूली सा अन्तर आता है तो यह वस्तु आराम दायक वस्तु की श्रेणी मे आती है और (iii) जब किसी वस्तु के उपभोग से तो अत्यधिक सुख तो मिलता हो पर उपभोग न करने पर लेश मात्रा भी कष्ट न होता हो, वरन् बचत को अन्य वस्तुओ पर व्यय करके उल्टे और अधिक सुख प्राप्त किया जा सकता हो तो ये वस्तुए विलासिता की श्रेणी में गिनी जायगी ।

(3) मूल्य और माग का आधार—(i जब किसी वस्तु के मूल्यो के उतार चढाव का उसकी माँग पर कोई भी प्रभाव न पडता हो या मामूली प्रभाव पडता हो तो ये वस्तुए अनिवार्य आवश्यकता की वस्तु होती हैं। (ii) जब वस्तु के मूल्यो मे परिवर्तनों का उसकी माँग पर भी उसी अनुपात मे प्रभाव पडता है तो ऐसी वस्तु आरामदायक वस्तु की श्रेणी मे आती है। और (iii) जब मूल्यो मे परिवर्तन माँग मे अधिक परिवर्तन लाने वाले होते हैं तो ये वस्तुए विलासिता की वस्तुओ की श्रेणी मे रखी जाती हैं।

इस प्रकार हम आसानी से बता सकते हैं कि कोई वस्तु किसी व्यक्ति के लिये किन परिस्थितियो मे आवश्यकता की किस श्रेणी की मानी जायगी।

प्रश्न एव सकेत

1 आवश्यकता शब्द की व्याख्या कीजिये और मानवीय आवश्यकताओ की मुख्य मुख्य विशेषतायें बताइये।

(सकेत—प्रारम्भ मे आवश्यकता की परिभाषा देनी है । आगे मानवीय आवश्यकताओ की मुख्य मुख्य विशेषताओ का उल्लेख करना है।)

2 आवश्यकताओ का अर्थ बताते हुए आवश्यकताओ का वर्गीकरण कीजिये।

(सकेत—प्रश्न के प्रथम भाग मे आवश्यकताओ की परिभाषा समझानी है। है। दूसरे भाग मे तीनो प्रकार की आवश्यकताओ का उल्लेख करना है।)

3 आवश्यकताओ के वर्गीकरण का आधार बताते हुए बताइये कि क्या एक ही वस्तु यथा पैन या मोटर निम्न परिस्थितियो मे अनिवाय आवश्यकता,

आरामदायक आवश्यकता अथवा विलासपूर्ण आवश्यकता की समझी जा सकती है ?

(संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग में उन बातों का उल्लेख करना है जो आवश्यकताओं के वर्गीकरण को प्रभावित करती है तथा दूसरे भाग में पैन या मोटरकार का उदाहरण प्रस्तुत करते हुये प्रमाणित करना है कि यह किस प्रकार अलग-अलग प्रकार की आवश्यकता का रूप धारण कर सकती है ।)

4. आवश्यक आवश्यकता, आरामदायक आवश्यकता तथा विलासपूर्ण आवश्यकताओं में अन्तर उदाहरण सहित समझाइये । क्या विलासिताओं का उपभोग वांछनीय है ?

(संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग में उदाहरण देकर आवश्यक आवश्यकता, आरामदायक आवश्यकता तथा विलासिता मे अन्तर समझाना हैं । द्वितीय भाग में यह समझाना है कि विलासिताओं के उपभोग को प्रोत्साहित करना चाहिये या नहीं । इसी बात पर बल देना है कि विलासिताओं के उपभोग को हतोत्साहित किया जाय ।

---

8 उपयोगिता विश्लेषण–सीमान्त एवं कुल उपयोगिता

(Utility Analysis—Marginal And Total Utility)

उपयोगिता की परिभाषा एव अर्थ–आवश्यकता की प्रत्यक्ष पूर्ति के लिए वस्तु की उपयोगिता को समाप्त करना ही उपभोग कहलाता है। अब प्रश्न उठता है कि वस्तु का वह कौन सा गुण है जो आवश्यकता की पूर्ति करता है और समाप्त हो जाता है ? अर्थशास्त्रियो ने वस्तु के इस 'तुष्टि गुण' को उपयोगिता कहा है इस प्रकार किसी वस्तु की आवश्यकता पूर्ति की शक्ति (तुष्टिगुण) को उपयोगिता कहा जाता है। तत्काल या शीघ्र उपभोग मे यह तुष्टि गुण शीघ्र ही समाप्त हो जाता है और धीमे अथवा दीर्घकालीन उपभोग मे तुष्टि गुण की समाप्ति धीरे-धीरे होती रहती है। दूध, मक्खन, रोटी, वस्त्र, मकान, पेन, शराब आदि सभी वस्तुओ मे उपयोगिता है, क्योकि इनमे मनुष्य को किसी न किसी आवश्यकता की तुष्टि अवश्य होती है। शराब, बीडी, सिगरेट, भाँग, गाजा, चरस आदि वस्तुओ मे भी उपयोगिता होती है भले ही ये मनुष्य के स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद होती हैं। 'उपयोगिता' और 'लाभदायकता' दो भिन्न बातें हैं। प्रो० थॉमस के अनुसार "अगर कोई वस्तु मनुष्य की किसी भी शारीरिक या मानसिक आवश्यकता की पूर्ति करती है तो अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसमे उपयोगिता विद्यमान है, भले ही उपभोक्ता या समाज के अन्य व्यक्तियो पर उसका प्रभाव भयानक या अहितकर हो।" इस प्रकार शराब, जिसे पीकर शराबी मद होश होकर नाली में गिर पडता है, उसके लिये हानिप्रद है परन्तु इसके उपभोग से शराबी को मानसिक तुष्टि मिलती है। अत शराब में शराबी की दृष्टि से उपयोगिता विद्यमान है। आधुनिक काल के अर्थशास्त्री फ्रेजर ने उपयोगिता को "उपभोग की इच्छा की अभिव्यक्ति" कहा है।

उपयोगिता की विशेषताएं (Characteristics of Utility)—उपयोगिता की विशेषताओ का उल्लेख आगे किया जा रहा है—

> **उपयोगिता विश्लेषण**
>
> **उपयोगिता का अर्थ**–किसी वस्तु अथवा सत्ता मे मनुष्य की आवश्यकता पूर्ति की शक्ति को उपयोगिता कहते हैं।

(1) उपयोगिता का लाभदायक या कल्याणकारी होने या न होने से कोई सम्बन्ध नहीं—उपयोगिता तो केवल मानवीय आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की शक्ति का नाम है। यह आवश्यकता चाहे अच्छी हो या बुरी, कल्याणकारी हो या

विशेषताएं—

(1) उपयोगिता का लाभदायकता से सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं ।

(2) उपयोगिता एक सापेक्ष विचार है ।

(3) उपयोगिता व्यक्तिगत होती है ।

(4) उपयोगिता की मात्रा आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर करती है ।

(5) उपयोगिता का सम्बन्ध उपभोग वस्तुओ से होता है ।

(6) उपयोगिता मापनीय होती है ।

(7) उपयोगिता का कोई भौतिक रूप नही होना है ।

(8) उपयोगिता वास्तविक उपभोग पर निर्भर नही करती है ।

(9) उपयोगिता से ही उपभोक्ता वस्तु खरीदने को लालायित होता है ।

(10) उपयोगिता त्याग के वगैर सम्भव नही है ।

उपयोगिता की माप—दो तरह से हो सकती है ।

(1) गणनावाचक दृष्टिकोण ।

(2) क्रमवाचक दृष्टिकोण ।

उपयोगिता के भेद—तीन भेद होते हैं ।

(I) सीमान्त उपयोगिता ।

(II) कुल उपयोगिता ।

(III) औसत उपयोगिता ।

अकल्याणकारी, इसकी पूर्ति के परिणाम लाभदायक हों या हानिकारक । शराब, भंग, विलासिताओं आदि का अत्यधिक उपभोग समाज की दृष्टि से अकल्याणकारी तथा हानिकारक होता है फिर भी इनके उपभोक्ताओं को इनकी उपयोगिता होती है; क्योंकि इनके उपभोग से इन्हें मानसिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है । इस प्रकार उपयोगिता का नैतिकता से भी कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

(2) **उपयोगिता एक सापेक्ष विचार है**—उपयोगिता का विचार सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं । उपयोगिता वस्तु में जन्मजात रूप से निहित नहीं होती है वरन् वस्तु तथा मनुष्य की पूरी की जा रही आवश्यकता के सम्बन्ध का परिणाम होती है । प्यासे व्यक्ति के लिये पानी की उपयोगिता वहुत अधिक होती है परन्तु प्यास बुझने पर उसके लिये पानी की कोई भी उपयोगिता नहीं रह जाती । इसी प्रकार बी० काम० के विद्यार्थी के लिये इस अर्थशास्त्र की पुस्तक की परीक्षा की तैयारी की दृष्टि से उपयोगिता है परन्तु एक अनपढ़ व्यक्ति के लिये इसकी उपयोगिता कुछ भी नहीं । इस प्रकार वस्तु की उपलब्ध-मात्रा, किस्म, देश, काल, परिस्थितियों, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण में परिवर्तनों के साथ-साथ वस्तु की उपयोगिता भी घट-बढ़ जाती है । अतः उपयोगिता का विचार एक सापेक्ष विचार है जो वस्तु तथा उपभोक्ता के वीच के परस्पर सम्बन्ध पर आधारित है ।

(3) उपयोगिता व्यक्तिगत होती है—किसी वस्तु की उपयोगिता उसके उपभोक्ता की मन स्थिति, स्वभाव, रुचि, आदत, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों पर निर्भर करती है। अंडे, मांस, बीड़ी, सिगरेट, आदि के उपभोक्ताओं को इनकी उपयोगिता होती है अन्य को नहीं। धार्मिक आस्था वाले व्यक्ति के लिये धार्मिक पुस्तकों की उपयोगिता होती है नास्तिक के लिये नहीं। विवाहित स्त्री के लिये सुहाग सिन्दूर की उपयोगिता होती है विधवा के लिये नहीं होती।

(4) उपयोगिता की मात्रा आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर रहती है—किसी वस्तु द्वारा जितनी अधिक तीव्र आवश्यकता की सतुष्टि होती है उसकी उपयोगिता उतनी ही अधिक होती है। भूख के समय रोटी की उपयोगिता बहुत अधिक होती है परन्तु भूख मिटने पर रोटी की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती हालांकि रोटी के तत्व वही रहते हैं। इस प्रकार उपयोगिता उपभोक्ता की इच्छा एवं मन स्थिति की अभिव्यक्ति है।

(5) उपयोगिता का सम्बन्ध 'उपभोग' वस्तुओं से होता है उत्पादक वस्तुओं से नहीं—मानवीय आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष सन्तुष्टि के लिये वस्तु का उपयोग ही उपभोग होता है न कि अप्रत्यक्ष सन्तुष्टि के लिये। इस प्रकार उपयोगिता का सम्बन्ध उपभोग वस्तुओं से होता है। घर में भोजन पकाने के लिये कोयले के उपयोग से प्राप्त उपयोगिता इस श्रेणी में आती है न कि भोजनालय में ग्राहकों के लिये भोजन पकाने के लिये कोयले के उपयोग से प्राप्त उपयोगिता। वह तो उत्पादन की श्रेणी में आती है।

(6) उपयोगिता मापी जा सकती है—उपयोगिता मानवीय आवश्यकता की प्रखरता पर निर्भर होने से इसे मापा जा सकता है। किसी आवश्यकता की तुष्टि के लिये उपभोक्ता जितना त्याग कर सकता है वह त्याग ही उपयोगिता की माप होती है। इस त्याग को धन के रूप में या दो वस्तुओं की तुलनात्मक उपयोगिता के रूप में मापा जा सकता है। कुछ अर्थशास्त्री इसे अमापनीय भी कहते हैं।

(7) उपयोगिता का कोई भौतिक रूप नहीं है—उपयोगिता उपभोक्ता की मन स्थिति पर निर्भर करती है। इसे केवल अनुभव किया जा सकता है, स्पर्श या देखा नहीं जा सकता। टाई के प्रयोग से राम को अत्यधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है तो मोहन को टाई के प्रयोग से बहुत अधिक घृणा हो सकती है। इस प्रकार उपयोगिता केवल मनोवैज्ञानिक विचार होने के कारण इसका कोई भौतिक अस्तित्व नहीं होता है। यह तो अमूर्त होती है।

(8) उपयोगिता वास्तविक उपभोग पर निर्भर नहीं करती है—उपयोगिता और सतुष्टि में काफी अन्तर हो सकता है। क्योंकि उपभोक्ता द्वारा उपयोगिता की गणना उस समय की जाती है जब वह किसी वस्तु को प्राप्त करने की सोचता है परन्तु सन्तुष्टि उस वस्तु के वास्तविक उपभोग के उपरान्त ही होती है। उदाहरण की दृष्टि से किसी उपभोक्ता को तंग मोहरी के पैंट के फैशन के कारण एस पैंट की काफी उपयोगिता प्रतीत हो सकती है परन्तु फैशन बदल जाने से उस पैंट का प्रयोग

अजीब अजीब सा लगने के कारण वह उसे उठा कर रख देता है इस प्रकार उसे उस पैंट के प्रयोग से बहुत कम सन्तुष्टि हो पाती है। इस प्रकार उपयोगिता को संभावित सन्तुष्टि (expected satisfaction)तथा सन्तुष्टि को प्राप्त सन्तुष्टि(realised satisfaction) कहा जाता है। परन्तु उपभोग में ये एक दूसरे के 'पर्यायवाची शब्द' मान लिये गये हैं, क्योंकि 'उपभोक्ता व्यवहार' (Consumer's behaviour) इसी मान्यता पर आधारित है।

(9) **उपयोगिता उपभोक्ता को किसी वस्तु के खरीदने को लालायित करती है**—उपभोक्ता को किसी वस्तु के उपभोग से तुष्टि प्राप्त करने की संभावना होती है इसलिये वह किसी वस्तु को क्रय करने को लालायित होता है उदाहरण के लिये वनस्पति घी को ही लें। इसकी हमें उपयोगिता प्रतीत होती है। इसीलिये इसे क्रय करने के लिये, घण्टों क्यू लगाये लाइन में खड़े रहते है।

(10) **उपयोगिता त्याग बिना प्राप्त करना सम्भव नहीं**–प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं को छोड़कर अन्य वस्तुओं की उपयोगिता प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता को कुछ न कुछ त्याग अवश्य करना पड़ता है।

उपयोगिता की माप (Measurement of Utility)

किसी वस्तु के आवश्यकता 'तुष्टि गुण' को उपयोगिता कहा जाता है। अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या इस 'तुष्टि गुण' को मापा जा सकता है? उपयोगिता की एक विशेषता यह है कि यह अमूर्त होती है और केवल मनोवैज्ञानिक विचार पर आधारित होती है। इसका कोई अस्तित्व नहीं होता है। अतः प्रत्यक्ष रूप से उपयोगिता को मापना सम्भव नहीं। इसकी माप परोक्ष रूप से ही की जा सकती है। उपयोगिता को मापने की दो विधियां हैं—

(1) **गणनावाचक दृष्टिकोण** (Cardinal Approach)—मार्शल तथा कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों के अनुसार किसी वस्तु के उपभोग से उपयोगिता प्राप्त करने के लिये कुछ न कुछ त्याग अवश्य करना पड़ता है। इस त्याग को मुद्रा रूपी माप दंड से मापा जा सकता है। जिस वस्तु के उपभोग से जितनी अधिक तुष्टि प्राप्त होती है हम उसके लिए उतनी ही अधिक मुद्रा का त्याग करने को तत्पर हो जाते हैं। दूसरे ज्यों-ज्यों हम किसी वस्तु की इकाइयों के स्टाक में वृद्धि करते जाते हैं त्यों-त्यों उसकी अगली इकाइयों की उपयोगिता गिरने से हम उन्हें प्राप्त करने के लिये मुद्रा का कम त्याग करने को ही तत्पर होते हैं। इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं एवं उनकी विभिन्न इकाइयों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता की माप उनके लिये त्यागी जाने वाली मुद्रा की मात्रा के रूप में की जा सकती है। उदाहरणार्थ हम गेहूँ दो सौ रुपए क्विन्टल भी खरीदने को तैयार होते हैं, क्योंकि गेहूँ की उपयोगिता हमें 200 रुपए क्विंटल के बराबर प्राप्त होने की सम्भावना है।

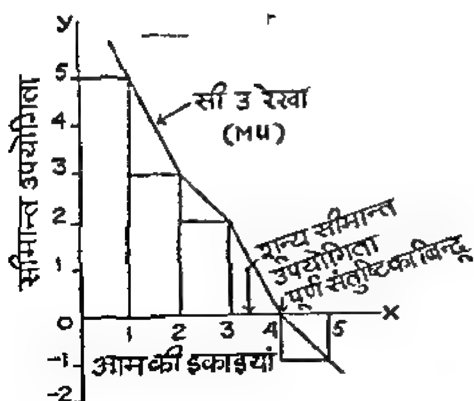
उपयोगिता की इस माप विधि को **'गणना वाचक दृष्टिकोण'** (Cardinal Approach)—कहा गया है। इस दृष्टि कोण के माध्यम से हम विभिन्न वस्तुओं

सीमान्त उपयोगिता के तीनो रूपो को एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है। माना कोई उपभोक्ता आमो का उपभोग करता है। आमो की विभिन्न इकाइयो से उसे जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह निम्न तालिका म दी गई है—

आम की इकाइया	कुल उपयोगिता TU	सीमान्त उपयोगिता MU
1	5	5 ⎤
2	8	3 ⎥ धनात्मक
3	10	2 ⎦
4	10	0] शून्य
5	9	−1] ऋणात्मक

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि जब तक आमो के उपभोग से प्राप्त कुल उपयोगिता मे वृद्धि होती रहती है तब तक सीमान्त उपयोगिता धनात्मक रहती है जैसे ही कुल उपयोगिता स्थिर हो जाती है तो सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है। चार आमो का उपभोग करने पर पूर्ण तृप्ति का अनुभव होता है। पाँचवें आम का उपभोग करने से कुल उपयोगिता मे गिरावट आने लगती है और सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है। इस इकाई से उपयोगिता की बजाय अनुपयोगिता प्राप्त होती है।

रेखाचित्र की सहायता से सीमान्त उपयोगिता को समझाया जा सकता है—



चित्र स 8 1

रेखाचित्र स 8 1 में OX अक्ष पर आम की इकाइया एव OY अक्ष पर सीमान्त उपयोगिता (MU अकित की गई है। पहले तीन आमो की सीमान्त उपयोगिता धनात्मक है परन्तु घटती हुई दर पर। चौथे आम की उपयोगिता शून्य है। पाचवें आम के उपभोग से उपयोगिता के स्थान पर अनुपयोगिता प्राप्त है अर्थात् ऋणात्मक उपयोगिता प्राप्त होती है।

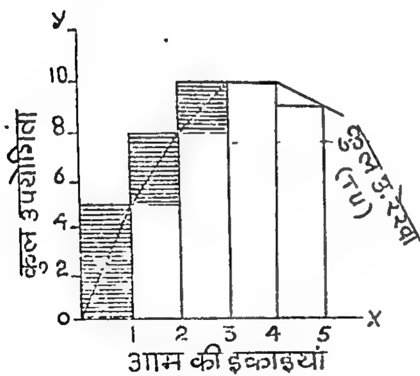
(II) कुल उपयोगिता (Total Utility)—उपभोक्ता द्वारा किसी वस्तु की

उपभोग की गई समस्त इकाइयों से प्राप्त उपयोगिताओं का योग ही कुल उपयोगिता कहलाता है। दूसरे शब्दों में समस्त सीमान्त उपयोगिताओं का योग कुल उपयोगिता होता है। प्रो. मेयर्स ने कुल उपयोगिता को सन्तुष्टि की वह मात्रा बताया है जो किसी वस्तु की निश्चित मात्रा के उपभोग से या उसके स्वामित्व से प्राप्त होती है। इन्होंने आगे कहा है कि किसी वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयों के उपभोग के परिणाम स्वरूप प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओं का योग कुल उपयोगिता है।[2]

आमों के पिछले उदाहरण से कुल उपयोगिता को अच्छी तरह समझा जा सकता है। आमों का उपभोग करने पर कुल उपयोगिता बढ़ती जाती है परन्तु यह घटती दर से बढ़ती है। एक आम के उपभोग से कुल उपयोगिता पाँच इकाइयों के बराबर मिलती है जबकि दो आमों के उपभोग से कुल उपयोगिता 8 मिलती है अर्थात् वृद्धि केवल 3 से होती है। तीन आमों के उपभोग से कुल उपयोगिता 10 प्राप्त होती है अर्थात् तीसरे आम से कुल उपयोगिता में वृद्धि 2 से होती है। चौथे आम के उपभोग पर कुल उपयोगिता 10 ही रहती है अर्थात् वृद्धि शून्य की होती है; क्योंकि चौथे आम की सीमान्त उपयोगिता शून्य है। यदि उपभोग आगे चालू रखा जाता है तो कुल उपयोगिता घटने लगती है क्योंकि सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है।

उपरोक्त से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते है कि (i) कुल उपयोगिता उस समय तक घटती दर से बढ़ती रहती है जब तक सीमान्त उपयोगिता धनात्मक होती है, (ii) जब सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है तो कुल उपयोगिता सर्वाधिक होती है और (iii) सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होने पर कुल उपयोगिता घटने लगती है।

कुल उपयोगिता को नीचे के रेखाचित्र सं 8·2 द्वारा व्यक्त किया गया है।



चित्र सं. 8·2

कुल उपयोगिता की गणना—कुल उपयोगिता की गणना दो विधियों से की जा सकती है—

(1) समाकलन या योग विधि (Integration Method)—परम्परावादियों ने किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त उपयोगिताओं के योग को कुल उपयोगिता कहा है। ऊपर उद्धृत उदाहरण में अगर उपभोक्ता तीन आमों का उपभोग

---

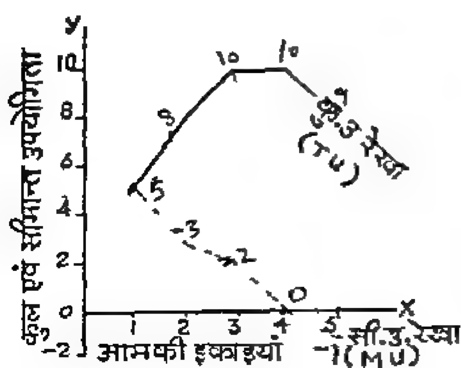
2. "Total utility is the amount of satisfaction derived from the Consumption or possession of a good. It is the sum of marginal utilities associated with the consumption of the successive units." A. H. Meyers.

करता है तो कुल उपयोगिता होगी 5 + 3 + 2 = 10 इकाई के बराबर।

(2) गुणन विधि (Multiplication Method)—इस विधि के अन्तर्गत कुल उपयोगिता की गणना का आधार सीमान्त उपयोगिता को मान कर उपभोग की गई इकाइयो की सख्या को सीमान्त उपयोगिता मे गुणा किया जाता है। गुणनफल ही कुल उपयोगिता होता है इस प्रकार अगर उपभोक्ता 3 आमों का उपभोग करता है तो तीसरी इकाई सीमान्त इकाई होने के कारण इससे प्राप्त उपयोगिता 2 सीमान्त उपयोगिता हुई और कुल उपयोगिता 2 × 3 = 6 इकाई के बराबर हुई।

सीमान्त और कुल उपयोगिता मे सम्बन्ध—किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयों के उपभोग से प्राप्त सीमान्त तथा कुल उपयोगिता मे घनिष्ट सम्बन्ध होना स्वाभाविक है क्योंकि विभिन्न सीमान्त उपयोगिताओ का योग ही कुल उपयोगिता होता है। उपरोक्त तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि (1) सीमान्त उपयोगिता के घटते रहने पर भी प्रारम्भ मे कुल उपयोगिता बढती रहती है। यह स्थिति उसी समय तक रहती है जब तक सीमान्त उपयोगिता धनात्मक रहती है। यह स्थिति आमो की तीसरी इकाई तक रहती है। (2) सीमान्त उपयोगिता चौथी इकाई पर शून्य हो जाती है तो कुल उपगियोता का बढना तो रुक जाता है परन्तु यह पूर्ण तुष्टि बिन्दु होने के कारण यहाँ कुल उपयोगिता सर्वाधिक होती है। इस प्रकार कुल उपयोगिता उसी स्थान पर सर्वाधिक होती है जब सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है। (3) आमो की पाँचवीं इकाई के उपभोग मे सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक प्राप्त होने से कुल उपयोगिता मे ह्रास हो जाता है। इस प्रकार सीमान्त उपयोगिता के ऋणात्मक होने पर कुल उपयोगिता घटने लग जाती है।

सीमान्त तथा कुल उपयोगिता के सम्बन्ध को आगे दिए गए चित्र स 8 3 समझाया गया है। चित्र को देखने से ज्ञात होता है कि 3 आमो तक सीमान्त उपयोगिता गिरती जाती है परन्तु कुल उपयोगिता बढती जाती है। चौथे आम पर सीमान्त उपयोगिता तो शून्य हो जाती है परन्तु कुल उपयोगिता अधिकतम हो जाती है। आम की पाचवीं इकाई से सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक प्राप्त होने के कारण सीमान्त उपयोगिता वक्र OX अक्ष के नीचे खिसकने लगता है और कुल उपयोगिता का वक्र भी



स 8 3

अधोगति से नीचे गिरना प्रारम्भ कर देता है।

सीमान्त के विचार का महत्व (Importance of the Concept of Margin) प्रो जे के मेहता ने मत व्यक्त किया है 'यह कहा जा सकता है कि लगभग समस्त

आर्थिक ढांचा सीमान्त उपयोगिता के विचार पर आधारित है।"[3] इस प्रकार सीमान्त के विचार का अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र अर्थात् उपभोग, उत्पादन, विनिमय वितरण तथा राजस्व में अति महत्वपूर्ण स्थान है। संक्षेप मे इसके महत्व का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

(1) उपभोग के क्षेत्र में—उपभोग से सम्बन्धित क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम, सम सीमान्त उपयोगिता नियम, उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त तथा माँग का नियम सीमान्त उपयोगिता की धारणा पर ही आधारित हैं।

(2) विनिमय के क्षेत्र में—मूल्य निर्धारण सिद्धान्त इसी तथ्य पर आधारित है कि कोई भी उपभोक्ता किसी वस्तु के लिये उसकी अन्तिम या सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता अर्थात् सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य नही दे सकता। इस प्रकार मूल्य निर्धारण का आधार कुल उपयोगिता नहीं वरन् सीमान्त उपयोगिता है। सीमान्त उपयोगिता के शून्य होने का तात्पर्य है कि प्राप्त उपयोगिता तथा किया गया त्याग इस स्थान पर समान हैं। यह माँग पक्ष का पहलू है।

पूर्ति पक्ष में भी उत्पादक विक्रय मूल्य निर्धारित करते समय सीमान्त लागत का ध्यान रखता है। उत्पादनकर्ता सीमान्त उत्पादन लागत ही न्यूनतम विक्रय मूल्य मान कर चलता है और विक्रय की मात्रा निर्धारित करता है। जहाँ सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त उत्पादन लागत बराबर होते हैं वहीं क्रय-विक्रय का सन्तुलन बिन्दु होता है।

(3) उत्पादन के क्षेत्र में—उत्पादक न्यूनतम लागत प्राप्त करने की दृष्टि से उत्पत्ति के साधनों की मात्रा इस हिसाब से निश्चित करता है कि प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता लगभग बराबर हो।

(4) वितरण के क्षेत्र में—उत्पादन में सहयोग देने वाले विभिन्न साधनों यथा भूमि, श्रम, पूंजी तथा प्रबन्ध का पुरस्कार उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर दिया जाता है।

(5) राजस्व के क्षेत्र में—समाज को अधिकतम लाभ प्रदान करने की दृष्टि से सरकार भी सीमान्त सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का सहारा लेती है। समाज के विभिन्न वर्गों पर कर लगाते समय भी सार्वजनिक व्यय द्वारा प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता तथा करों व आय के अन्य साधनों के रूप में होने वाला त्याग बराबर हो, का ध्यान रखा जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सीमान्त के विचार का अर्थशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में अत्यधिक महत्व है और समस्त आर्थिक ढांचा सीमान्त के विचार पर आधारित है।

(III) औसत उपयोगिता (Average Utility)—किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त कुल उपयोगिता में इकाइयों के योग का भाग देने से भाज्यफल

---

3. "......It can be said that almost the entire economic structure is based on the conception of marginal utility." —J K. Mehta.

औसत उपयोगिता के बराबर होता है। उदाहरणत अगर सन्तरों की 4 इकाइयों का उपभोग किया जाता है और इन के उपभोग से 45 कुल उपयोगिता प्राप्त होती है तो औसत उपयोगिता हुई $\frac{45}{4}$ इकाई के बराबर। अगर पाँचवीं इकाई, जो कि पूर्ण तृप्ति प्रदान करने वाली इकाई है, का उपभोग किया जाता है तो इसके उपभोग करने पर शून्य सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होने के कारण कुल उपयोगिता 45 ही रहती है और औसत उपयोगिता $\frac{45}{5}$ अर्थात् 9 इकाई के बराबर हो जाती है। इस पूर्ण तृप्ति के बिन्दु के और आगे उपभोग करने पर सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होने से कुल उपयोगिता तथा औसत उपयोगिता दोनो में ही ह्रास होने लगता है। इस प्रकार निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ज्यो-ज्यो आगे की इकाइयों का उपभोग किया जाता है त्यो-त्यों सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है और औसत उपयोगिता भी घटती जाती है। इस प्रकार औसत उपयोगिता कुल उपयोगिता तथा इकाइयों की कुल सख्या का अनुपात होती है।

$$\text{अर्थात् औसत उपयोगिता} = \frac{\text{कुल उपयोगिता}}{\text{इ. सख्या}}$$

Total Utility / Unit Nos.

Everage Utility

प्रश्न एवं संकेत

(1) उपयोगिता को परिभाषित कीजिये। इसकी विशेषताओं को समझाइये और सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता में अन्तर बताइए।

(संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग मे उपयोगिता की परिभाषा समझानी है। द्वितीय भाग म उपयोगिता की विशेषताओं का उल्लेख करना है तथा तृतीय भाग मे सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता का अर्थ समझाते हुए इन दोनो मे अन्तर को समझाना है।)

(2) सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता का अन्तर बताते हुए बताइए कि कुल उपयोगिता उसी समय अधिकतम होती है जब सीमान्त उपयोगिता शून्य होती है।

(संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग मे सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता का अर्थ समझाते हुए इन दोनो के अन्तर को समझाना है। द्वितीय भाग में सीमान्त उपयोगिता की धनात्मक शून्य तथा ऋणात्मक स्थिति बताते हुए तीनो अवस्थाओ मे कुल उपयोगिता समझानी है। आवश्यक उदाहरण द्वारा गणनात्मक विश्लेषण किया जा सकता है।)

(3) अर्थशास्त्र मे सीमान्त के विचार के महत्व की आलोचनात्मक विवेचनात्मक कीजिये।

(संकेत—सीमान्त के विचार का भाव बताते हुए आर्थिक क्रियाओ के विभिन्न क्षेत्रो यथा उपभोग, उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा राजस्व मे इसका सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक महत्व बताइये।)

(4) उपयोगिता की माप पर सक्षेप में टिप्पणी लिखिये।

9 सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम

(Law of Diminishing Marginal Utility)

'आवश्यकता विशेष की समय विशेष पर पूर्ति की जा सकती है' यह आवश्यकता की विशेषताओं में से एक विशेषता है। आवश्यकता की यह विशेषता ही उपभोग के इस महत्वपूर्ण 'सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम' का आधार है। इस नियम के प्रतिपादन का श्रेय फ्रांसीसी अर्थ शास्त्री एच. एच. गौसेन को है। इसीलिये इसे गौसेन का प्रथम नियम[1] (Gossen's First Law) भी कहा जाता है। यह नियम उपभोग के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति के दैनिक जीवन में लागू होता है।

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम

अर्थ—अन्य बातें यथा स्थिर रहने पर किसी व्यक्ति द्वारा किसी वस्तु के उपभोग से-प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता हर अगली इकाई से घटती दर से प्राप्त होती है।

नियम की मान्यताएं:

(1) उपभोग की जाने वाली वस्तु की सभी इकाइयां गुण, मात्रा एवं बनावट में समान होनी चाहिए।

(2) उपभोग्य वस्तु की इकाइयां उपयुक्त एवं समुचित होनी चाहिए।

(3) उपभोग का क्रम निरन्तर रहना चाहिए।

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की परिभाषा एवं व्याख्या—दैनिक जीवन में हम यह अनुभव करते हैं कि जैसे-जैसे किसी वस्तु की मात्रा हमारे पास बढ़ती जाती है वैसे-वैसे वह हमें कम महत्व की लगने लगती है। उसकी आगे की इकाइयों की प्राप्ति की तीव्रता कम होती चली जाती है। अर्थात् उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। प्रो० मार्शल के "अनुसार किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु के स्टाक की मात्रा में वृद्धि होने से जो अतिरिक्त लाभ उसको प्राप्त होता है, अन्य बातों के समान रहने पर, वह वस्तु के स्टाक की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि के

1. "The amount of one and the same enjoyment diminishes *continuously* as we proceed with that enjoyment without interruption until staiety is reached" H. H. Gossen

(4) उपभोक्ता की मानसिक स्थिति समान रहनी चाहिए।

(5) उपभोग की अवधि लम्बी होने पर उपभोक्ता की आय, स्वभाव, रुचि एव फैशन अपरिवर्तित रहने चाहिए।

(6) उपभोग्य वस्तु तथा स्थानापन वस्तुओ के मूल्यो मे परिवर्तन नही होना चाहिए।

नियम के तथाकथित अपवाद

(1) उपभोग्य वस्तु की इकाइया बहुत छोटी हो।

(2) दुर्लभ, अप्राप्य एव विलक्षण वस्तुए।

(3) मुद्रा, शक्ति-सचय एव फैशन की इच्छा।

(4) मादक पदार्थों का उपभोग।

(5) किसी वस्तु या सेवा के उपभोक्ताओ की सख्या बढना।

(6) मधुर गान एव रसपूर्ण कविता।

(7) अन्य व्यक्तियो के पास उपभोग्य वस्तु की मात्रा।

नियम की आलोचनाए

(1) उपयोगिता अमापनीय होती है।

साथ-साथ घटता जाता है।"[2] अर्थात् जब किसी व्यक्ति के पास किसी वस्तु की मात्रा बढती जाती है, तो उसे प्रत्येक आने वाली इकाई से घटती हुई दर से उपयोगिता प्राप्त होती है। लेकिन उपभोक्ता को प्राप्त कुल उपयोगिता तो बढती जाती है परन्तु गिरती हुई दर पर क्योकि सीमान्त उपयोगिता गिरती चली जाती है। अन्य सब बाते समान रहने पर ही यह नियम लागू होता है।

चैपमेन का कथन है 'किसी वस्तु की जितनी अधिक मात्रा हमारे पास होती है, उतनी ही कम हम इसकी अतिरिक्त वृद्धि चाहते हैं या उतनी ही अधिक हम उस वस्तु की अतिरिक्त वृद्धि नहीं चाहते।"[3] अर्थात् हम किसी वस्तु का जितना अधिक उपभोग करते हैं हमें उसकी उतनी ही कम इच्छा होती जाती है।

ऐडवर्ड नेविन के अनुसार, 'किसी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयो के उपभोग से प्राप्त अतिरिक्त सन्तुष्टि उपभोग की मात्रा मे वृद्धि के साथ-साथ घटती जाती है।"[4] अर्थात् हम किसी वस्तु का उपभोग करते हैं तो उसकी प्रत्येक आगे की इकाई से कम सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

थोमस ने इस नियम के सम्बन्ध में कहा है कि 'किसी वस्तु की अतिरिक्त

2 "The additional benefit, which a person derives from a given increase of a stock of a thing, diminishes, other things being equal, with every increase in the stock that he already has.' Marshall

3. The more we have of a thing the less we want additional increments of it or the more we want not to have additional increment of it'—Chapman

4 'The extra satisfaction derived from the consumption of additional units of any commodity, tends to decline as the quantity consumed increases'—Edward Nevin

(2) मुद्रा का मूल्य स्थिर नहीं रहता है।

(3) व्यक्तिगत भावना पर अधिक आधारित है।

(4) समष्टि विश्लेपण अधिक महत्वपूर्ण होता है।

(5) मिश्रित प्रभावों की उपेक्षा करता है।

नियम का महत्व :

सैद्धान्तिक :

मांग के नियम समसीमान्त उपयोगिता नियम, उपभोक्ता की बचत तथा पूर्ति के नियम का आधार।

II व्यवहारिक—

(1) उत्पादन का आधार, (2) राजस्व में महत्वपूर्ण, (3) धन के पुनर्वितरण के समाजवादी सिद्धान्त का आधार, (4) उपयोग मूल्य व विनिमय मूल्य के अन्तर की व्यवस्था।

पूर्ति की उपयोगिता, इसके प्राप्य भंडार में प्रत्येक बढ़ोतरी के साथ, घटती जाती है। इसके अतिरिक्त कुल उपयोगिता बढ़ती है लेकिन गिरती हुई दर पर, यहां तक कि अन्तत: वस्तु की मात्रा में अगली बढ़ोतरी से अनुपयोगिता भी प्राप्त हो सकती है।"[5]

इस प्रकार प्रो० थॉमस ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उपभोग करते करते सीमान्त उपयोगिता घटती ही नहीं जाती वरन् एक समय ऐसा भी आ सकता है कि यह ऋणात्मक भी हो सकती है।

आधुनिक अर्थशास्त्री प्रो० बाल्डिंग ने सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की जो परिभाषा दी है उसके अनुसार "जब कोई उपभोक्ता अन्य सभी वस्तुओं के उपभोग को स्थिर रखते हुए, किसी वस्तु के उपभोग मे वृद्धि करता है तो परिवर्तनीय (Variable) वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अन्ततोगत्वा अवश्य घटनी चाहिए।'[6] अर्थात् अन्य सभी वस्तुओं के उपयोग को स्थिर रखते हुए जब कोई उपभोक्ता किसी वस्तु के उपभोग में वृद्धि करता है तो इस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता अवश्य घटती जाती है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—मान लीजिये किसी व्यक्ति (राम) को सन्तरों की आवश्यकता है।

---

5. "··· The utility of additional supplies ofa commodity diminishes with every increase in the available stock of it. More over total utility increases but at a diminishing rate until eventually, any further increments of the commodity may even have disutility."—Thomas

6. "As a consumer increases the consumption of any one commodity. keeping constant the consumption of all other commodities the marginal utility of the variable commodity must eventually decline."—Boulding

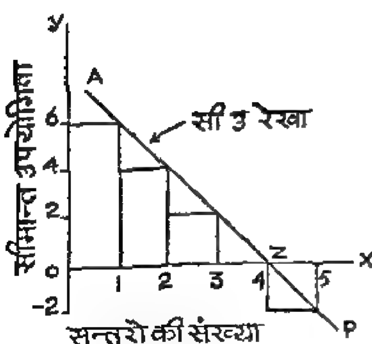
अत उसे सन्तरों की विभिन्न इकाइयों के उपभोग से जो उपयोगिता प्राप्त होगी उसे निम्न तालिका मे बताया गया है—

संतरों के उपभोग से प्राप्त उपयोगिता

संतरों की इकाइयां	सीमान्त उपयोगिता
1	6
2	4
3	2
4	0
5	—2

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि उपभोक्ता को सन्तरों की हर आगे की इकाई से प्राप्त होने वाली उपयोगिता घटती जाती है। प्रथम सन्तरे के उपभोग से 6 इकाई के बराबर सन्तोष प्राप्त होता है तो दूसरे से 4, तीसरे से 2 इस प्रकार एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि चौथे सन्तरे से शून्य तथा पाचवें से ऋणात्मक उपयोगिता प्राप्त होती है।

रेखा चित्र द्वारा निरूपण— नियम को स्पष्ट करने के लिये उपरोक्त तालिका को चित्र द्वारा भी निरूपित किया जा सकता है। चित्र स 9 1 मे OX अक्ष पर सन्तरों की सख्या तथा OY अक्ष पर सन्तरों की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता को दर्शाया गया है। सन्तरों की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता बिन्दुओं को, जो इस रेखा चित्र पर अंकित किये गये है, मिलाने पर AP रेखा सीमान्त उपयोगिता की ह्रासमान प्रवृत्ति प्रगट करती है। चौथी इकाई पर AP रेखा OX अक्ष को Z बिन्दु पर काटती है। इसका अर्थ यही है कि चौथी इकाई से शून्य सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है। आगे AP रेखा ऋणात्मक हो जाती है अर्थात् OX अक्ष से नीचे विपरीत दिशा मे जाती है, जो इस बात का द्योतक है कि चौथी इकाई के आगे उपभोग करने पर सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक हो जाती है।



चित्र स 9 1

नियम के सम्बन्ध में कुछ ध्यान देने योग्य बातें

(1) नियम इस बात की चर्चा नहीं करता है कि सीमान्त उपयोगिता मे ह्रास किस दर से होता है,

(2) प्रत्येक आगे की इकाई की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है,
(3) कुल उपयोगिता में वृद्धि होती है परन्तु साधारणतः घटती हुई दर पर,
(4) सीमान्त उपयोगिता के शून्य होने पर कुल उपयोगिता अधिकतम हो जाती है,
(5) सीमान्त उपयोगिता के शून्य होने के उपरान्त आगे की इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होने लगती है,

(6) उपभोग की प्रारंभिक इकाइयों से सीमान्त उपयोगिता बढ़ती हुई दर पर भी प्राप्त हो सकती है परन्तु यह स्थिति अल्पकालिक ही रह सकती है।

(7) कुछ वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता धीरे-धीरे कम होती है तो कुछ वस्तुओं की बड़ी तेजी के साथ। चाय, काफी आदि ऐसी वस्तुएं हैं जिनके एक दो प्याले के उपभोग से ही पूर्ण तृप्ति हो जाती है। सन्तरे, आम, रोटी, आदि वस्तुएं ऐसी हैं जिनके उपभोग से धीरे-धीरे ही तृप्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार जिन वस्तुओं के उपभोग से धीरे-धीरे तृप्ति होती है उनका वक्र सरल ढाल वाला तथा जिनसे शीघ्र ही तृप्ति प्राप्त हो जाती है उनका वक्र अत्यधिक ढालू होता है।

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के लागू होने के कारण—यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह नियम लागू क्यों होता है, अतः उन बातों को जान लेना आवश्यक है जिनके कारण यह नियम लागू होता है।

(1) उपयोगिता आवश्यकता की तीव्रता पर निर्भर करती है। अतः जैसे जैसे वस्तु की इकाइयां बढ़ती जाती हैं आवश्यकता की तीव्रता कम होती जाती है और इसीलिये प्रत्येक आगे की इकाई से प्राप्त सन्तुष्टि भी कम होती जाती है।

(2) किसी वस्तु की आवश्यकता कितनी ही तीव्र क्यों न हो उसकी सन्तुष्टि की जा सकती है। यही कारण है कि हमारे स्टाक में उस वस्तु की प्रत्येक इकाई की वृद्धि के साथ-साथ उसका हमारे लिये महत्व कम होता जाता है। इसीलिये प्रत्येक आगे की इकाई की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है और अन्ततः पूर्ण सन्तुष्टि प्राप्त हो जाती है। गौसेन ने इसीलिये इसे 'सन्तुष्टि का नियम' (Law of Satiety) भी कहा है।

(3 'वस्तुएं एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न नहीं होती हैं'। यह मत प्रो० बोल्डिंग ने व्यक्त करते हुए कहा है कि अधिकांश वस्तुओं की पूर्ण स्थानापन्न वस्तुएं उपलब्ध नहीं होती हैं। इन्हें एक निश्चित अनुपात में ही प्रयोग करना पड़ता है अन्यथा किसी एक वस्तु का उपभोग स्थिर रख कर दूसरी वस्तु का उपभोग बढ़ाने पर सीमान्त उपयोगिता घटती दर पर ही प्राप्त होती है।

नियम की मान्यतायें व सीमायें
(Assumptions and Limitations of the taw)

अर्थशास्त्र के अन्य नियमों के समान सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम भी

कुछ मान्यताओं पर आधारित है और उनके लागू होने पर ही लागू होता है। इन मान्यताओं के कारण ही प्रो० मार्शल तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि अन्य बातों के समान रहने पर ही सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की प्रवृत्ति लागू होती है। इस प्रकार इस वाक्यांश द्वारा जिन मान्यताओं व सीमाओं की ओर इंगित किया गया है वे निम्नलिखित हैं—

(1) उपभोग की जाने वाली वस्तु की सभी इकाइयां गुण, मात्रा तथा बनावट में समान होनी चाहिए—यह नियम तभी लागू होगा जब उपभोग्य वस्तु की समस्त इकाइयां हर प्रकार एक समान हों। उदाहरणार्थ सन्तरों का अगर उपभोग किया जा रहा है तो सभी सन्तरे गुण, मात्रा व बनावट में एक से होने चाहिए। पहला संतरा खट्टा है और दूसरा मीठा है, इसी प्रकार पहिला सन्तरा छोटा तथा दूसरा बड़ा है तो स्वभावतः पहिले सन्तरे की अपेक्षा दूसरे सन्तरे से अपेक्षाकृत अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होगी। इसी प्रकार रोटियों का उपभोग करने पर अगर पहली रोटी बाजरे की व दूसरी गेहूं की है या पहली गेहूं की रोटी हलकी है और दूसरी भारी या पहली रोटी तवे की बनी है और दूसरी तन्दूर की तो इन अवस्थाओं में दूसरी रोटी से पहिली रोटी की तुलना में अधिक संतुष्टि प्राप्त होगी।

(2) उपभोग्य वस्तु की इकाइयां उपयुक्त व समुचित होनी चाहिए—इसका तात्पर्य यह है कि उपभोग की वस्तु की इकाइयां न तो बहुत छोटी हों और न ही बहुत बड़ी। उदाहरणार्थ पानी के एक पूरे गिलास के स्थान पर एक एक बून्द करके पानी पिया जाय, या अंगीठी में कोयले एक एक करके जलाये जाय या बुश शर्ट बनाने के लिये एक एक मीटर के टुकड़े प्रयोग किये जांय तो इन अवस्थाओं में यह नियम लागू नहीं होगा। ऐसा तभी तक होगा जब तक ये अनुपयुक्त इकाइयां एक उपयुक्त इकाई की सीमा तक न पहुंच जाय। आगे स्वतः ही यह नियम लागू होने लगेगा।

(3) उपभोग का क्रम निरन्तर रहना चाहिए—इसका तात्पर्य यही है कि दो इकाइयों के उपभोग के क्रम में बाधा नहीं पड़नी चाहिए अन्यथा यह नियम लागू नहीं होगा। अगर दोपहर को एक रोटी खाई जाय और दूसरी रात्रि को खाई जाय तो यह आवश्यक नहीं कि दूसरी रोटी से पहले की तुलना में कम उपयोगिता मिले।

(4) उपभोक्ता की मानसिक स्थिति एक सम न रहनी चाहिए—उपयोगिता उपभोक्ता की मनः स्थिति पर निर्भर करती है। अतः यह नियम तभी लागू हो सकता है जब उपभोक्ता की मानसिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता। शराब या भांग जैसी मादक वस्तुओं का उपभोग करने पर भूख की तीव्रता बढ़ जायगी और रोटी की आगे की इकाइयों से उपयोगिता अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त होने लगेगी।

(5) **उपभोग की अवधि लम्बी है तो उपभोक्ता की आय, स्वभाव तथा रुचि और प्रचलित फैशन में परिवर्तन नहीं होने चाहिए**—इनमें परिवर्तन होने से उपभोक्ता के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन आ जाता है अतः आगे की इकाइयों से बढ़ी हुई उपयोगिता प्राप्त होने लगती है और यह नियम लागू नहीं होता।

(6) **उपभोग्य वस्तु तथा उसकी स्थानापन्न वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन नहीं होना चाहिये**—उपभोग्य वस्तु के मूल्यों में कमी आने से आगे की इकाइयों पर उपभोक्ता को कम पैसा व्यय करना पड़ेगा अतः उनसे बढ़ी दर पर उपयोगिता प्राप्त होगी जैसे सन्तरा अगर 40 पैसे का एक मिलता है। तीन सन्तरे लेने के उपरान्त दुकानदार 20 पैसे प्रति सन्तरा ही लेने को तैयार होता है तो चौथे सन्तरे की उपयोगिता तीसरे की तुलना में अधिक होगी।

इसी प्रकार अगर स्थानापन्न वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है तो उपभोग्य वस्तु का मूल्य अपेक्षाकृत सस्ता होने से उसकी उपयोगिता बढ़ जायगी। जैसे चाय की स्थानापन्न वस्तु काफी है। अगर काफी का मूल्य बढ़ जाता है तो चाय अपेक्षाकृत सस्ती रहने से चाय की उपयोगिता बढ़ जायगी।

नियम के अपवाद (Exceptions of the Law)—प्रो मार्शल के अनुसार अगर अन्य सब बातें (मान्यतायें जिनका विश्लेषण अभी किया गया है) वही रहें तो यह नियम सदैव खरा उतरता है। फिर भी इस नियम के कुछ तथाकथित अपवाद बताये जाते है, जिनमें से अधिकांश दिखावटी हैं। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है—

(1) **यदि उपभोग्य वस्तु की इकाइयां बहुत छोटी हों तो यह नियम लागू नहीं होता**—चैपमेन के अनुसार अंगीठी में एक एक कोयला जलाना एक उदाहरण हो सकता है। इसी प्रकार पानी की एक-एक बून्द पीना तथा रोटी का एक एक ग्रास खाना इसके उदाहरण हो सकते हैं। इन अवस्थाओं में यह नियम लागू नही होता। परन्तु नियम की एक मान्यता यह भी है कि उपभोग्य वस्तु की इकाइयाँ समुचित तथा उपयुक्त होनी चाहिए। अतः यह अपवाद असत्य, दिखावटी व नाम मात्र का है।

(2) **दुर्लभ, अप्राप्य, व विलक्षण वस्तुओं यथा डाक टिकट, पुराने सिक्के दुर्लभ चित्र, प्राचीन मूर्तियाँ आदि के संग्रह में यह नियम लागू नहीं होता**—इन वस्तुओं के संग्रह में जितनी वृद्धि होती जाती है उपयोगिता उतनी बढ़ती जाती है। परन्तु यह अपवाद भी नाम मात्र का व दिखावटी है। क्योंकि इन वस्तुओं की इकाइयां समान न होकर भिन्न-भिन्न होती हैं। अगर इन वस्तुओं के अलग अलग समूह (Sets) का प्रयोग किया जाय, जैसे शिवाजी महाराज के टिकटों का एक सेट, तो उसी प्रकार के प्रत्येक आगे के सेट की उपभोक्ता के लिये उपयोगिता अवश्य घट जायगी।

(3) **मुद्रा व शक्ति संचय तथा फैशन व आडम्बर आदि की इच्छा इस**

नियम के अपवाद हैं—आज के भौतिक युग मे इनकी वृद्धि से तृप्ति ही नहीं होती ऐसा लोग मानते हैं। परन्तु ऐसी बात नही है। राजा मीडाज अधिक सोना पाकर कितना दु खी हुआ था। दूसरे ये वस्तुएं एक आवश्यकता या एक वस्तु नही वरन् अनेक वस्तुओ या आवश्यकताओं का समूह मात्र हैं। नियम की मान्यता एक आवश्यकता या एक वस्तु की है। प्राचीन भारत मे वाणप्रस्थ व सन्यास लेना इन वस्तुओ की अवहेलना का प्रतीक है।

(4) मादक पदार्थों का उपभोग भी अपवाद माना जाता है—शराब, भग, गाजा, चरस आदि का अधिकाधिक प्रयोग अधिक तृप्तिदायक कहा जाता है। परन्तु ऐसी बात नही है। इन मादक पदार्थों की 2-3 इकाइयों के उपभोग के उपरान्त उपभोक्ता की इनके लिये भी लालसा कम हो जाती है। दूसरे वैसे भी मादक वस्तु का सेवन करने से उपभोक्ता की मानसिक स्थिति म परिवर्तन आ जाता है वह समान नही रहती।

(5) किसी वस्तु या सेवा के उपभोक्ताओ की संख्या में वृद्धि होने पर यह नियम लागू नहीं होता—ऐसा कुछ लोगो का मत हो सकता है। टेलीफोन के कनेक्शन की सख्या बढने से उपयोगिता घटने की बजाय बढती है। परन्तु यह भी नाम मात्र का अपवाद है क्योकि नियम के अन्तर्गत टेलीफोन के समस्त कनेक्शन नही आते हैं। किसी एक उपभोक्ता के पास अगर एक से अधिक टेलीफोन कनेक्शन हो जाय तो आगे वाले प्रत्येक कनेक्शन की उपयोगिता मे अवश्य ह्रास आयेगा।

(6) मधुर गान व रसपूर्ण कविता इस नियम के अपवाद माने जाते हैं—प्रो टाजिग के अनुसार इन्हें पुन सुनने से पहिले की अपेक्षा अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु यह सत्य नही है। क्योकि जब तक उपभोक्ता की रुचि में परिवर्तन नही हो जाता तब तक वह इनके सुनने मे अधिकाधिक आनन्द नही ले सकता। और नियम के अनुसार उपभोक्ता की रुचि मे कोई परिवर्तन नही होना चाहिए। दूसरे एक ही कविता या गाना चाहे वह कितना ही मधुर क्यो न हो बारम्बार सुनने पर नीरसता तथा उकताहट अवश्य आती है और इनसे मन भरने के कारण उपयोगिता गिर जाती है।

(7) अन्य व्यक्तियों के पास उपभोग्य वस्तु की मात्रा—प्रो० पीगू के अनुसार "किसी वस्तु की उपयोगिता दूसरो के पास उस वस्तु की सख्या पर भी निर्भर रहती है।" उदाहरणार्थ होस्टल मे सभी छात्रो के पास तीन-तीन नाइट सूट हैं और किसी एक छात्र के पास केवल दो हैं और इस कारण वह हीन भावना का आभास करता है। तीसरे नाइट सूट की उपयोगिता उसके लिये बढ जायेगी यह तो सभव हो सकता है। क्योकि प्रारम्भिक इकाइयो से सीमान्त उपयोगिता बढी हुई दर पर प्राप्त होना सभव हो सकता है परन्तु चौथे, पाचवे आदि आगे के नाइट सूट की उपयोगिता घटती हुई दर से प्राप्त होगी।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के अपवाद दिखावटी व नाम-मात्र के अपवाद हैं, वास्तविक नहीं। प्रो० टाजिग के कथन के अनुसार "इस नियम को विश्व व्यापी कहना कोई महत्वपूर्ण गलती नहीं होगी।"[7] आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत में 'एकविन्दु', 'एक सीमा के बाद' या अन्ततः' यह नियम अवश्य लागू होना चाहिए। प्रो० वोल्डिंग की ऐसी एक परिभाषा का उल्लेख पहले किया जा चुका है।

नियम की आलोचना (Criticism of the Law)–कुछ लेखकों के द्वारा नियम की आलोचना की जाती है। इनका उल्लेख आगे किया जा रहा है—

(1) **उपयोगिता अपमानीय होती है**–उपयोगिता अपमापनीय होती है क्योंकि यह उपभोक्ता की मनः स्थिति का आभास मात्र है। परन्तु इस नियम में प्रत्येक उपभोग्य इकाई को मापनीय माना गया है।

(2) **मुद्रा का मूल्य स्थिर नहीं रहता है**—मुद्रा की प्रत्येक इकाई का स्थिर मूल्य मान कर ही उपभोग्य वस्तु की सीमान्त उपयोगिता की माप प्रगट की जाती है। मुद्रा के मूल्य के बारे में यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि ज्यों ज्यों मुद्रा की मात्रा कम होती जाती है उसकी सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। मुद्रा की मांग बढ़ने पर उसका विनिमय मूल्य बढ़ता जाता है।

(3) **व्यक्तिगत भावना पर अधिक आधारित**—नियम में व्यक्तिगत विचारों को अधिक महत्व दिया जाता है जो ठीक नहीं है; क्योंकि व्यक्ति के विचार देश, काल, परिस्थिति उसकी रुचि, इच्छा तथा भावनाओं से प्रभावित होते हैं।

(4) **समष्टि विश्लेषण अधिक महत्वपूर्ण**—आधुनिक अर्थशास्त्र समष्टि प्रधान विश्लेषण को अधिक महत्व देता है। इसमें व्यक्ति की सीमान्त उपयोगिता के विश्लेषण को कोई स्थान नहीं है जबकि इस नियम में व्यक्तिगत उपयोगिता का ही अध्ययन किया जाता है।

(5) **मिश्रित प्रभावों की उपेक्षा**—इस नियम में किसी एक वस्तु की उपयोगिता को उसकी मात्रा में वृद्धि के अनुसार प्रभावित होते बताया गया है। 'मिश्रित प्रभावों' (gross effects) की उपेक्षा की गई है। जबकि किसी वस्तु के उपभोग पर सम्बन्धित, स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओं की मात्राओं में परिवर्तन के भी प्रभाव पड़ते हैं। उदाहरणार्थ सीमेन्ट और बालू के एक निश्चित मिश्रण से गारा बना कर प्रयोग में लाया जाता है। सीमेन्ट उपलब्ध न होने पर बालू

---

7. "The tendency (i. e. Diminishing Marginal Utility) shows itself so widely and with so few exceptions that there is no significant inadequacy in speaking of it as universal."
—Taussig.

की किसी भी मात्रा की उपयोगिता नगण्य होगी या सीमेन्ट के अन्य स्थानापन्न की पूर्ति या उनके मूल्य द्वारा प्रभावित होगी ।

नियम का महत्व (Importance of the Law)

पिछले अध्याय मे हम 'सीमान्त के विचार का आर्थिक क्षेत्र में महत्व' का अध्ययन कर चुके हैं। उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनो ही दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। प्रो० मार्शल द्वारा प्रस्तुत आर्थिक विश्लेषण का तो यह नियम आधार है। अत इस नियम के महत्व का वर्णन दो भागो मे किया जा सकता है—

I सैद्धान्तिक महत्व— इस नियम का प्रयोग अर्थ शास्त्र के अन्य नियमो को प्रतिपादित करने मे किया गया है, यथा —

(1) माग का नियम इस नियम पर आधारित है। एक उपभोक्ता किसी वस्तु की अधिक इकाइयो का उपभोग करता है तो उसे कम उपयोगिता प्राप्त होती है। अतः वह उस वस्तु की अधिक इकाइया कम मूल्य पर ही प्राप्त करना चाहेगा। इसके विपरीत अगर वह कम इकाइयो का उपभोग करता है तो उसे अधिक उपयोगिता मिलती है अत वह उसको अधिक मूल्य पर भी प्राप्त करने को तैयार होता है।

(2) सम सीमान्त उपयोगिता नियम इस नियम पर आधारित है। सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार एक उपभोक्ता अपनी आय से तभी अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है जब विभिन्न वस्तुओ पर किये गये व्यय की सीमान्त इकाइयो से प्राप्त उपयोगिता लगभग बराबर हो।

(3) उपभोक्ता की बचत के विचार का आधार भी यही तथ्य है कि उपभोक्ता सभी इकाइयो के लिये सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता से अधिक प्रति इकाई मूल्य नही दे सकता। उसे सीमान्त इकाई के पूर्व की इकाइयो से अपेक्षाकृत अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। इस प्रकार प्राप्य अतिरिक्त उपयोगिता उपभोक्ता की बचत होती है।

(4) किसी वस्तु की पूर्ति अधिक होने पर उसकी सीमान्त उपयोगिता गिरती चली जाती है अत उसका विनिमय मूल्य भी गिरता जाता है। इस प्रकार यह नियम मूल्य सिद्धान्त का भी आधार है।

II व्यावहारिक महत्व—इस नियम का व्यावहारिक जीवन मे बडा भारी महत्व है। जैसे—

(1) उत्पादन का आधार—प्रो० टाजिग के शब्दो को ही ले तो "यह नियम उत्पादित वस्तुओ मे बढती हुई विविधता तथा उत्पादन और उपभोग मे बढती हुई

जटिलता की व्याख्या करता है"।[8] अर्थात् किसी वस्तु की पूर्ति अधिक होने से उपभोक्ताओं के लिये उसकी उपयोगिता कम हो जाती है। जब उस वस्तु के उत्पादन से उत्पादक को अधिक लाभ मिलने की संभावना कम हो जाती है तो वह अन्य वस्तुओं का उत्पादन करने लगता है। इसी प्रकार जब उपभोक्ता को किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता शून्य या ऋणात्मक मिलने लगती है तो वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिये अन्य वस्तुओं का उपभोग प्रारम्भ कर देता है, जिनका उत्पादन उत्पादक वर्ग प्रारम्भ कर देता है।

(2) **सार्वजनिक वित्त** की दृष्टि से भी इस नियम का भारी महत्व है— आधुनिक वर्धमान कर प्रणाली (progressive taxation) का आधार यही तथ्य है कि धन अधिक होने के कारण धन की सीमान्त उपयोगिता धनिकों के लिये कम होती है इसलिये धनिकों पर अधिक कर लगाये जाते हैं। दूसरी ओर निर्धनों के पास धनाभाव होने से उनके लिए धन की सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है अतः उन पर कम कर लगाये जाते हैं या उन्हें आर्थिक सहायता भी दी जाती है।

(3) **धन के पुनर्वितरण के समाजवादी सिद्धान्त** के अनुसार धनिकों के लिये धन की सीमान्त उपयोगिता कम होती है अतः उनसे धन लेकर निर्धन वर्ग को दिया जाना चाहिये क्योंकि उनके लिये धन की उपयोगिता अधिक है।

(4) **उपभोग मूल्य और विनियोग मूल्य के अन्तर** की व्याख्या करने में यह नियम सहायक है। डब्ल्यू. जे. बौमल के अनुसार हवा, पानी, धूप आदि की उपयोगिता (value in use), हीरों, पन्नों, जवाहरात आदि की तुलना में अत्यधिक होती है परन्तु विनिमय मूल्य (value in exchange) बहुत कम। क्योंकि हवा, पानी आदि की पूर्ति अत्यधिक होने के करण उनकी सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होती है। इसके विपरीत हीरों-पन्नों की पूर्ति का अभाव उनकी सीमान्त उपयोगिता को बढ़ा देता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टि से इस नियम का अत्यधिक महत्त्व है तथा कैरनक्रास के अनुसार इसका क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। दैनिक उपभोग की वस्तुओं पर ही यह नियम क्रियाशील नहीं होता वरन् आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र के प्रत्येक पहलू में भी खरा उतरता है।

प्रश्न एवं संकेत

1. सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये। क्या इस नियम के कोई अपवाद हैं ?

---

8. It is this fact of Diminishing Utility that explains the growing variety in the articles produced and growing Complexity of production and consumption." —Taussig.

(संकेत—प्रश्न के प्रथम भाग को समझाने के लिए नियम की दो-तीन लेखकों द्वारा दी गई परिभाषाओं का उल्लेख करके आवश्यक उदाहरण तथा रेखाचित्र द्वारा इसे स्पष्ट कर देना चाहिए। नियम के लागू होने के कारण, सीमायें व मान्यताओं का भी संक्षेप में उल्लेख आवश्यक है। द्वितीय भाग में नियम के अपवादों को समझाना है।)

2 सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम क्या है? इसकी व्याख्या करते हुए इसकी सीमाये तथा महत्व का उल्लेख कीजिये।

(संकेत—प्रथम प्रश्न के समान ही नियम की व्याख्या करनी है। प्रश्न के द्वितीय भाग में नियम के सैद्धान्तिक व व्यावहारिक महत्व का भी वर्णन करना है।)

3, "किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु के स्टाक की मात्रा में वृद्धि होने से जो अतिरिक्त लाभ उसको प्राप्त होता है, .. वह वस्तु के स्टाक की मात्रा में प्रत्येक वृद्धि के साथ साथ घटता जाता है"। प्रो मार्शल के इस कथन की विवेचना कीजिये।

(संकेत—प्रश्न क्र एक के समान ही इस का उत्तर देना है)

4 'अन्य सब बातें वही रहें' कथन की सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के सन्दर्भ में व्याख्या कीजिये।

10

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम
(The Law of Equi-Marginal Utility)

प्रत्येक व्यक्ति अपने सीमित साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। उसकी आवश्यकतायें अनन्त होती हैं अतः उसके सामने यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह अपनी सीमित आय से किन-किन आवश्यकताओं की पूर्ति करे और विभिन्न वस्तुओं की कितनी-कितनी मात्रा का उपभोग करे ताकि अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करने का लक्ष्य पूरा हो सके। आर. एच. लेफ्टविच ने उपभोक्ता की इस समस्या का उल्लेख करते हुए लिखा है, "उपभोक्ता की समस्या इस बात का निर्णय करने की है कि वह अनेक भिन्न-भिन्न वस्तुओं में से कितनी-कितनी मात्रा का उपभोग करे ताकि उपलब्ध आय से अधिकतम कुल उपयोगिता प्राप्त कर सके।"[1] उपभोक्ता को अपने सीमित साधनों से अधिकतम कुल उपयोगिता प्राप्त करने का मार्ग बतलाने वाला नियम सम-सीमान्त उपयोगिता नियम है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम

अर्थ—उपभोक्ता को अपनी सीमित आय से अधिकतम सतुष्टि प्राप्त करने का तरीका बतलाने वाला नियम सम-सीमान्त उपयोगिता नियम कहलाता है। इस नियम के अनुसार एक उपभोक्ता को अपनी आय विभिन्न वस्तुओं के उपभोग पर इस प्रकार व्यय करनी चाहिए जिससे सभी वस्तुओं से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता समान अथवा लगभग समान हो।

महत्व—सम-सीमान्त उपयोगिता नियम अथवा प्रतिस्थापन का नियम अर्थशास्त्र में बहुत महत्वपूर्ण है। इसका प्रयोग सभी आर्थिक क्षेत्रों में होता है :

1. उपभोग में प्रयोग।
2. उत्पादन में प्रयोग।
3. विनिमय में प्रयोग।
4. वितरण में प्रयोग।
5. राजस्व में प्रयोग।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का प्रतिपादन सन् 1854 में सर्वप्रथम फ्रांसीसी अर्थशास्त्री एच. एच. गोसेन ने किया था। इसीलिए इसे 'गोसेन का दूसरा नियम' भी कहते हैं। इसे अन्य कई नामों से भी पुकारा जाता है जैसे उपभोग में सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अतिरिक्त प्रतिस्थापन का सिद्धांत, अधिकतम सन्तुष्टि

1. कीमत प्रणाली एवं साधन आवंटन पृ. 58 आर. एच. लेफ्टविच

सीमाएं एवं आलोचनाएं .

(1) नियम की मान्यताएँ दोषपूर्ण हैं।
(2) वस्तुओं की अविभाज्यता।
(3) स्वभाव, रुचि, फैशन तथा रीति रिवाज।
(4) वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन।
(5) बजट अवधि की अनिश्चितता।
(6) अधिक उपयोगी वस्तुओं की अपर्याप्तता।
(7) पूरक वस्तुओं के सम्बन्ध में लागू न होना।
(8) अधिकतम कुल उपयोगिता तथा अधिकतम सन्तुष्टि भिन्न भिन्न हो सकती हैं।
(9) अज्ञानता, आलस्य एवं लापरवाही।

का नियम, तटस्थता का नियम, उपभोग का नियम, मितव्ययिता का नियम, आनुपातिकता का नियम आदि आदि।

नियम की परिभाषा—प्रो मार्शल के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के पास एक ऐसी वस्तु है जो अनेक प्रयोगों में लायी जा सकती है, तो वह उसको विभिन्न प्रयोगों में इस प्रकार बांटेगा कि सभी उपयोगों में इसकी सीमान्त उपयोगिता समान रहे। क्योंकि यदि इसकी सीमान्त उपयोगिता एक उपयोग में दूसरे उपयोग की तुलना में अधिक होगी तो वह दूसरे उपयोग से इसकी कुछ मात्रा हटाकर और प्रथम उपयोग में उसका प्रयोग करके अधिक लाभ प्राप्त कर सकेगा।"[2] अर्थात् किसी वस्तु से जिसे कई प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है, तभी अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त की जा सकती है जब विभिन्न उपयोगों में इसे उनकी गिरती हुई सीमान्त उपयोगिताओं के क्रम में व्यय किया जाय।

प्रो० स्टोनियर एवं हग ने उपभोक्ताओं की इस प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि "यदि उपभोक्ता अधिक से अधिक सन्तुष्टि चाहते हैं तो उन्हें प्रत्येक वस्तु का द्रव्य में सीमान्त महत्व इसकी कीमत के बराबर करना होगा"।[3] इन दोनों अर्थशास्त्रियों के मतानुसार अधिकतम सन्तुष्टि तभी प्राप्त हो सकती है जब विविध उपभोग्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता बराबर होगी।

प्रो० जे० के० मेहता के अनुसार 'यदि एक दी हुई समयावधि में एक वस्तु अनेक आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है तो इसकी दी हुई मात्रा से अधिकतम

---

2 "If a person has a thing which can be put to several uses, he will distribute it among these uses in such a way that it has the same Marginal Utility in all For if it had a greater Marginal Utility in one use than another he would gain by taking some of it from second use and applying it to the first"—Marshall

3 अर्थशास्त्र के सिद्धान्त पृ. 45-46 हिन्दी रूपान्तर स्टोनियर एवं हग

सन्तोष प्राप्त करने के लिये इसकी मात्रा को विभिन्न आवश्यकताओं के बीच इस प्रकार बांटना चाहिए कि उस निश्चित काल में इसकी सीमान्त उपयोगिता लगभग समान हो जाय।" प्रो० मेहता की परिभाषा में एक निश्चित काल का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।

प्रो० हिक्स ने धन के व्यय के सम्बन्ध में इस नियम का उल्लेख करते हुए कहा है कि, "जब प्रत्येक अवस्था में व्यय की सीमान्त इकाइयों से उपयोगिता में समान वृद्धि प्राप्त होती है, तो उपयोगिता अधिकतम होती है।"

इस नियम के जन्मदाता गोसेन के शब्दों में "यदि सभी आवश्यकताओं को पूर्ण सन्तुष्टि के बिन्दु तक तृप्त करना सम्भव नहीं है, तो अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि विभिन्न आवश्यकताओं की सन्तुष्टि उस बिन्दु पर रोक दी जाय जहाँ उनकी तीव्रता समान हो।" इस प्रकार इन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से इंगित किया है कि अधिकतम सन्तुष्टि तभी प्राप्त की जा सकती है जब विभिन्न आवश्यकताओं की सीमान्त उपयोगिता समान हो।

नियम की व्याख्या

जैसा कि हम प्रारम्भ में ही ज्ञात कर चुके हैं कि उपभोक्ता अपने सीमित साधनों से अपनी भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा, स्वास्थ्य सफाई आदि से सम्बन्धित अनन्त आवश्यकताओं में से अधिकाधिक की पूर्ति कर अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। अतः वह अपनी आवश्यकताओं को उनकी तीव्रता के अनुसार क्रम-बद्ध कर लेता है। सबसे पहिले वह तीव्रतम आवश्यकता की पूर्ति करता है; उसके बाद उससे कम तीव्र उसके बाद उससे कम तीव्र अर्थात् वह इसी क्रम से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता चला जाता है। ऐसा वह तब तक करता रहता है जब तक विभिन्न आवश्यकताओं की वस्तुओं की अन्तिम इकाइयों की उपयोगिता बराबर नहीं हो जाती। इसी क्रम से आवश्यकताओं की पूर्ति करने पर वह अधिकतम संतुष्टि प्राप्त कर सकता है।

उपभोक्ता यह भी जानता है कि सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार आवश्यकता की वस्तुओं की इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता उत्तरोत्तर गिरती चली जाती है। अतः वह सदैव कम सीमान्त उपयोगिता वाली वस्तु के स्थान पर अधिक सीमान्त उपयोगिता वाली वस्तु का उपभोग करता रहता है और ऐसा उस समय तक करता जाता है जब तक समस्त वस्तुओं की अन्तिम इकाई की उपयोगिता लगभग समान नहीं हो जाती। उपभोग की इसी व्यवस्था से ही वह अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है।

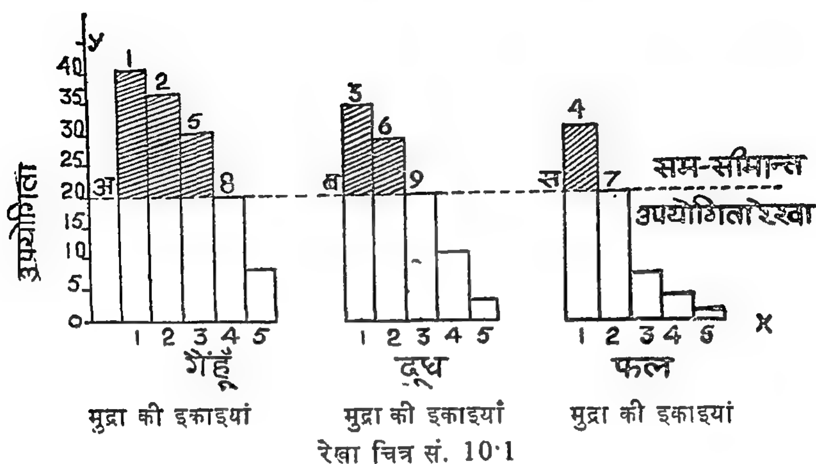
उदाहरण एवं रेखा चित्र द्वारा स्पष्टीकरण—हम एक उदाहरण द्वारा इस नियम को स्पष्ट कर सकते हैं। माना कि राम एक उपभोक्ता है जिसके पास व्यय करने को 9 रुपये हैं जिन्हें वह गेहूं, दूध तथा फल पर व्यय करना चाहता है। इन

वस्तुओं पर रुपये की उत्तरोत्तर इकाइयां व्यय करने पर मिलने वाली सीमान्त उपयोगिता नीचे की तालिका में दी गई है।

ए की इकाई	सीमान्त उपयोगिता					
	गेहूँ		दूध		फल	
1	40	1	35	3	32	4
2	36	2	30	6	20	7
3	30	5	20	9	8	
4	20	8	9		3	
5	8		3		0	

राम विवेकशील है तथा वह अपने 9 रुपये के व्यय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करना चाहता है अत. वह अपना पहला रुपया गेहू पर व्यय करेगा क्योंकि गेहू से ही अधिकतम उपयोगिता 40 इकाइयां मिलती है। दूसरा रुपया भी गेहू पर व्यय करेगा। तीसरा दूध पर, चौथा फल पर, पाचवा गेहू पर, छठा दूध पर, सातवा फल पर, आठवा गेहू पर तथा नौवा दूध पर व्यय करेगा। इस प्रकार किये गये व्यय से वह गेहू की चार इकाइया, दूध की तीन इकाइया एव फल की दो इकाइया प्राप्त करेगा और इनसे अधिकतम संतुष्टि [गेहू की चार इकाइयों से (40 + 36 + 30 + 20) 126 + दूध की तीन इकाइयों से (35 + 30 + 20) 85 + फल की दो इकाइयोसे (32 + 20) 52 = 263] 263 इकाइया प्राप्त करेगा। अब यदि वह अपना नौवा रुपया दूध से हटा कर गेहू अथवा फल पर व्यय करेगा तो उसे हानि 20 इकाइयों की होगी तथा लाभ 8 इकाइया प्राप्त होगा। अत उसे कुल उपयोगिता 251 इकाइयों के बराबर ही प्राप्त होगी जो अधिकतम से कम है।

उपरोक्त उदाहरण को निम्न रेखा चित्र सं. 10·1 से भी स्पष्ट किया जा सकता है—



रेखा चित्र सं. 10·1

उपरोक्त तीनों रेखा चित्रों में वस्तुओं की विभिन्न इकाइयों की, सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार, सीमान्त उपयोगिता दर्शायी गई है। सीमान्त उपयोगिता 20 पर बिन्दुओं के माध्यम से चिन्हित रेखा अ ब स इस तथ्य को प्रगट करती है कि गेहूँ, दूध, फलों की जितनी इकाइयों को यह छूती हुई जाती है इन वस्तुओं की इतनी ही अर्थात् क्रमशः 4, 3 व 2 इकाइयां क्रय करने पर उपभोक्ता को सर्वाधिक उपयोगिता (126 + 85 + 52 = 263) प्राप्त हो सकती है। अन्य किसी रूप में व्यय करने पर कुल उपयोगिता इस मात्रा से कम ही होगी।

नियम की मान्यतायें (Assumptions of the Law)

1. मनुष्य विवेक शील प्राणी है और वह सोच-समझ कर व्यय करता है।
2. उपभोक्ता का लक्ष्य अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना होता है।
3. सम्बन्धित अवधि में उपभोक्ता की आय, स्वभाव व रुचि तथा फैशन आदि में परिवर्तन नहीं होते हैं।
4. मुद्रा की क्रय शक्ति व सीमान्त उपयोगिता में परिवर्तन नहीं होता है।
5. आय-व्यय के बजट अथवा लेखे-जोखे की अवधि एक ही होती है।
6. प्रत्येक वस्तु से प्राप्त उपयोगिता का उपभोक्ता को ज्ञान होता है, जिसका आंकलन वह गणनात्मक संख्या व रेखा चित्रों के माध्यम से कर सकता है।
7. वस्तुओं की इकाइयां छोटी-छोटी व विभाज्य होती है, जिन्हें मुद्रा की छोटी-छोटी इकाइयों से प्राप्त किया जा सकता है।

8. सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की सभी मान्यतायें इस नियम पर भी लागू होती हैं।

नियम की आधुनिक व्याख्या (Modern Interpretation of the Law)

आधुनिक विचारकों ने समसीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या आनुपातिकता के नियम (Law of Proportionality) के रूप मे की है। इनके अनुसार उपभोक्ता एक ओर तो सन्तुष्टि को अधिकतम करने की दृष्टि से सभी वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता बराबर रखने का प्रयास करता है व दूसरी ओर क्रय की गई वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता अनेक मूल्यो के अनुपात मे रखने का प्रयास करता है। अर्थात् वह धन की सीमान्त उपयोगिता से कम उपयोगिता वाली वस्तु क्रय करना नही चाहता।

दूसरे शब्दो मे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने की दृष्टि से यही प्रयास करता है कि क्रय की गई विभिन्न वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिताओ के बीच वही अनुपात हो जो उन वस्तुओ के मूल्यो के बीच हैं। अर्थात् एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा मूल्य दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा मूल्य के अनुपात के समान होने पर ही उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। इसी आधार पर इसे आनुपातिकता का नियम कहा गया है। गणितीय ढग से इसे निम्न सूत्र द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं—

$$\frac{\text{'अ' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'अ' वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{'ब' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ब' वस्तु का मूल्य}}$$

$$= \frac{\text{'स' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'स' वस्तु का मूल्य}}$$

नियम की आधुनिक व्याख्या के अनुसार विभिन्न वस्तुओ से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिताओं को समान करने का प्रयत्न नहीं किया जाता है बल्कि विभिन्न वस्तुओ से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता और उनके मूल्यो के अनुपात को समान करने का प्रयास किया जाता है। ऐसा करने से वस्तुओ की अविभाज्यता तथा विभिन्न वस्तुओ के मूल्यों मे भारी अन्तर से उत्पन्न होने वाली कठिनाइया समाप्त हो जाती हैं।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की आनुपातिकता के नियम के रूप मे आधुनिक व्याख्या एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। माना कि एक उपभोक्ता मोहन के पास व्यय करने को 20 रुपये हैं जिन्हें वह चावल, गेहू, एव सतरो पर व्यय करना चाहता है। चावल का भाव 3 रुपये किलो, गेहू का 2 रुपये किलो एव सतरो का एक रुपया किलो है। इन तीनो वस्तुओ की विभिन्न इकाइयों के उपभोग से प्राप्त उपयोगिताओं को आगे की तालिका में दिया गया है:

मात्रा (किलोग्राम में)	सीमान्त उपयोगिता		
	चावल	गेहूं	संतरा
1	60	38	18
2	51	32	10
3	39	20	5
4	30	10	2
5	15	3	1

अधिकतम संतुष्टि उस समय प्राप्त होगी जब

$$\frac{\text{'अ' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'अ' वस्तु का मूल्य}} = \frac{\text{'ब' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ब' वस्तु का मूल्य}}$$

$$= \frac{\text{स' वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'स' वस्तु का मूल्य}}$$

इस सूत्र में चावल, गेहूं एवं संतरे की सीमान्त उपयोगिता एवं मूल्य रखने पर इन वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताएं एवं मूल्य समान होंगे

$$\frac{30}{3} = \frac{20}{2} = \frac{10}{1}$$

अथवा

$$\frac{15}{3} = \frac{10}{2} = \frac{5}{1}$$

अर्थात चावल की चार इकाइयां, गेहूं की तीन एवं संतरे की दो इकाइयां उपभोग करने पर अथवा चावल की पाँच, गेहूं की चार तथा संतरे की 3 इकाइयां उपभोग करने पर।

अतः यहां यह कहा जा सकता है कि एक उपभोक्ता के व्यय के विभिन्न स्तरों पर अधिकतम संतुष्टि प्राप्त कर सकता है। इसलिए उपरोक्त समीकरण उपभोक्ता की आमदनी पर प्रतिबंध नहीं लगाता है। अतः उपरोक्त प्रथम शर्त के पूरा होने के साथ एक दूसरी शर्त और पूरी होनी चाहिए जो निम्न है—

$$(X \times Px) + (Y \times Py) \times \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots = 1$$

इस समीकरण में x प्रथम वस्तु की मात्रा तथा y द्वितीय वस्तु की मात्रा

तथा Px प्रथम वस्तु का मूल्य एव Py द्वितीय वस्तु का मूल्य प्रदर्शित करता है तथा 1 उपभोक्ता की आमदनी व्यक्त करता है।

समीकरण मे हमारे उदाहरण की मात्राए रखने पर

$$(4 \times 3) + (3 \times 2) + (2 \times 1) = 20$$

जबकि दूसरी अवस्था मे पाच इकाइया चावल, तीन इकाइया गेहूँ व दो इकाइयां सतरे का कुल व्यय $(5 \times 3) + (3 \times 2) + (2 \times 1) = 20$ नही होता है अत उपभोक्ता अपनी 20 रुपये की आय के व्यय से अधिकतम सतुष्टि 4 इकाइया चावल, 3 इकाइया गेहू एव दो इकाइया सतरे खरीदकर ही प्राप्त कर सकता है। इस व्यय से सतुष्टि की कुल मात्रा [(चावल की उपयोगिता (60 + 51 + 39 + 30) + (गेहूँ की उपयोगिता (38 + 32 + 20) + (सतरे की उपयोगिता (18 + 10)] = 298 इकाइयां होगी।

अत: अधिकतम सतुष्टि के लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिए—

(1) विभिन्न वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता तथा उनके मूल्यों का अनुपात समान हो तथा

(2) विभिन्न वस्तुओ पर किये गये व्यय का योग कुल आय की मात्रा के बराबर हो।

नियम का क्षेत्र एवं महत्व
(Scope and Importance of the Law)

हालांकि समसीमान्त उपयोगिता नियम की अनेक सीमायें बताई गयी हैं फिर भी इस नियम का व्यावहारिक जीवन मे बड़ा भारी महत्व है। प्रो मार्शल के अनुसार "प्रतिस्थापना का सिद्धान्त आर्थिक क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र पर लागू होता।"[4] रोबिन्स ने अर्थशास्त्र को मानव के सीमित साधनो एव असीमित आवश्यकताओ के बीच सम्बन्ध का अध्ययन बताया है। अत यह नियम समस्त आर्थिक नियमो का आधार कहा जा सकता है। इस नियम के क्षेत्र एव महत्व की विवेचना आगे की जा रही है—

(1) उपभोग के क्षेत्र में प्रयोग—उपभोग के क्षेत्र मे नियम के महत्व का विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है। उपभोक्ता अपनी सीमित आय से, समसीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार विभिन्न उपभोग्य वस्तुओ की सीमान्त उपयोगिता समान रख कर ही, अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। यह नियम मुद्रा एव वस्तुओ के वर्तमान एव भावी प्रयोग के महत्वों की तुलना करने मे भी उपयोगी सिद्ध होता है।

---

4. The application of the principle of substitution extend over almost every field of economic enquiry "—Marshall

(2) **उत्पादन के क्षेत्र में प्रयोग**—प्रत्येक उत्पादक, अपने अधिकतम लाभ के उद्देश्य की पूर्ति, इस नियम के अनुसार उत्पादन के कम उपयोगी साधन के बदले में अधिक उपयोगी साधन के प्रतिस्थापन द्वारा कर सकता है। अर्थात् कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करने के लिये वह एक मंहगे एवं कम उत्पादक साधन के स्थान पर सस्ते एवं अधिक उत्पादक साधन का उपयोग करेगा। वह ऐसा जब तक करता रहेगा जब तक उत्पादन के समस्त साधनों की सीमान्त उत्पादकता बराबर नहीं हो जाती। बेन्हम द्वारा प्रस्तुत सूत्र का प्रयोग करें तो

$$\frac{\text{साधन 'अ' की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन 'अ' का मूल्य}} > \frac{\text{साधन 'ब' की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन 'ब' का मूल्य}} \text{ तो}$$

उत्पादन कर्ता ब साधन की सीमान्त इकाई को कम उत्पादक देख कर इसके स्थान पर 'अ' साधन, जिसकी सीमान्त उत्पादकता अधिक है, की अधिक मात्रा तब तक बढ़ाता जायगा, जब तक कि इनकी सीमान्त उत्पादकता समान नहीं हो जाती अर्थात्

$$\frac{\text{साधन 'अ' की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन 'अ' का मूल्य}} = \frac{\text{साधन 'ब' की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन 'ब' का मूल्य}} \text{ नहीं हो जाता।}$$

(3) **विनिमय के क्षेत्र में प्रयोग**—क्रेता क्रय की जाने वाली वस्तु की सीमान्त इकाई की उपयोगिता से अधिक मूल्य देने को तैयार नहीं होता। अर्थात् वह किसी वस्तु को तब ही क्रय करता है जब वह देखता है कि क्रय की जाने वाली वस्तु की सीमान्त इकाई की उपयोगिता तथा त्यागी जाने वाली द्रव्य, वस्तु या सेवा की सीमान्त इकाई की उपयोगिता बराबर है अन्यथा नहीं। विनिमय के अन्य क्षेत्र यथा यातायात, बैंकिंग व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में भी यह उपयोगी है। कम उपयोगी यातायात के साधन (सड़क, रेल, जलयान, वायुयान) के स्थान पर उपभोक्ता अधिक उपयोगी साधन का ही प्रयोग करता है। भारत में साहूकारी प्रथा के स्थान पर व्यापारिक बैंकों का प्रयोग इसी कारण बढ़ता जा रहा है।

(4) **वितरण के क्षेत्र में प्रयोग**—वर्तमान बड़े पैमाने के उत्पादन की अर्थ व्यवस्था में उत्पादन के प्रत्येक साधन का भाग उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर देकर वितरण की समस्या का हल आसानी से कर दिया जाता है। यह तो पीछे पढ़ चुके हैं कि उत्पादन के कम उपयोगी साधन की प्रतिस्थापना अधिक उपयोगी साधन द्वारा कर दी जाती है।

(5) **राजस्व के क्षेत्र में प्रयोग**—सार्वजनिक वित्त के दो पहलू होते हैं—आगम व निगम। आगम या सरकार की आय सीमित होती है। सार्वजनिक व्यय का लक्ष्य होता है अधिकतम सामाजिक कल्याण। सरकार अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य को तभी प्राप्त कर सकती है जब विभिन्न मदों पर व्यय की जाने वाली सीमान्त इकाई की उपयोगिता बराबर हो। सरकार को यह ज्ञान समसीमान्त उपयोगिता नियम द्वारा प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समसीमान्त उपयोगिता नियम का क्षेत्र बहुत व्यापक है और आर्थिक क्रिया के प्रत्येक पहलू की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है।

नियम की सीमायें तथा आलोचनायें
(Limitations and Criticism of the Law)

सम सीमान्त उपयोगिता नियम की प्रमुख सीमायें और आलोचनायें निम्न हैं -

(1) नियम की मान्यतायें दोषपूर्ण हैं—यह नियम जिन मान्यताओं पर आधारित है वे दोषपूर्ण हैं, यथा

(i) उपभोक्ता भले ही कितना ही सोच समझकर व्यय करता है परन्तु उपभोग करते समय वह कभी भी वास्तविक प्राप्य उपयोगिता की गणना करने नहीं बैठता है और न ही वह ठीक-ठीक गणना करने मे समर्थ हो सकता है क्योकि उपयोगिता अमूर्त होती है व उपभोक्ता की मन स्थिति पर निर्भर करती है।

(ii) मुद्रा की उपयोगिता व क्रय शक्ति इसकी माग और पूर्ति के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं।

(iii) भले ही आय-व्यय के बजट की अवधि एक ही हो परन्तु उपभोक्ता शायद ही कभी वह इस हिसाब किताब के पचड़े मे पड़ता है कि वह किन-किन वस्तुओ को किस किस मात्रा मे उपभोग करेगा। समय तथा परिस्थितियोंवश भावावेश में वह यह विवेक भी खो बैठता है कि वह किस वस्तु को क्रय करे और किसको नही। कभी-कभी वह अनावश्यक वस्तु का भी खरीद बैठता है।

(2) वस्तुओं के विभाजन सम्बन्धी असुविधा—उपभोग की सभी वस्तुओ को असीमित तथा छोटे-छोटे भागो मे नही बाटा जा सकता तथा कुछ वस्तु यथा हीरा, जवाहरात आदि तो ऐसी होती हैं कि उपविभाजन से उनकी उपयोगिता बहुत अधिक गिर जाती है। मोटर कार, रेडियो, गाय, भैंस आदि को पूर्ण इकाइयो मे ही क्रय करना पड़ता है। इस प्रकार उनकी सीमान्त उपयोगिता को मापकर अन्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता से तुलना नहीं की जा सकती।

(3) स्वभाव, रूचि, फैशन तथा रीति रिवाज—ये सभी बातें इस नियम के लागू होने मे बाधक है। बीड़ी, सिगरेट, चाय, शराब आदि की आदत के कारण व परिवर्तित फैशन तथा सामाजिक व धार्मिक रीति रिवाजो के कारण उपभोक्ता को इन सभी पर जो व्यय करना पड़ता है उससे उसे जो उपयोगिता प्राप्त होती है वह अन्य वस्तुओ, जिन्हे वह प्राप्त कर नही पा रहा है, की उपयोगिता की तुलना में बहुत कम होती है। मृत्यु-प्रतिभा शादी-ब्याह पर प्रीतिभोज आदि पर किया गया व्यय फिजूल खर्ची होने पर भी करना पड़ता है।

(4) वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन—बाजार में वस्तुओं के मूल्यो मे निरन्तर उतार-चढ़ाव आते रहते हैं अत विभिन्न उपभोग्य वस्तुओ की सीमान्त इकाइयो

की उपयोगिता सम्बन्धी गणना सब व्यर्थ जाती है और इनकी सीमान्त उपयोगिता की तुलना नहीं की जा सकती है।

(5) **बजट अवधि की अनिश्चितता**—नियम में यह मान कर चला जाता है कि आय-व्यय की अवधि एक ही होती है। जो सत्य नहीं। अनेक टिकाऊ वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनका उपभोग दीर्घकाल तक होता रहता है और उन्हें क्रय करते समय उनकी दीर्घकालीन उपयोगिता को ध्यान में रखा जाता है जैसे पंखा, घड़ी, रेडियो आदि। इसके विपरीत कुछ वस्तुएं ऐसी होती हैं जो तात्कालिक उपयोगिता ही प्रदान करती हैं। जैसे शर्बत, दूध, फल आदि। इस प्रकार इन सब वस्तुओं पर किये गये व्यय और उनकी सीमान्त उपयोगिता की तुलना करना कठिन हो जाता है। प्रो बोल्डिंग ने कहा है कि 'बजट की अवधि जितनी लम्बी होगी अविभाज्यता की समस्या उतनी ही कम होगी।' पर उपरोक्त कठिनाइयों के कारण ऐसा नही हो सकता।

(6) **अधिक उपयोगी वस्तुओं की दुर्लभता या अपर्याप्तता**—अधिक उपयोगिता प्रदान करने वाली अनेक वस्तुओं का बाजार में अभाव बना रहता है परिणाम स्वरूप उपभोक्ता को कम उपयोगिता प्रदान करने वाली वस्तुएं ही क्रय करनी पड़ती हैं। जैसे HMT की घड़ियों का न मिलना।

(7) **पूरक वस्तुओं के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता**—एक-दूसरे की पूरक वस्तुओं यथा पैन व स्याही, चाय-चीनी-दूध का उपभोग एक निश्चित अनुपात में करना पड़ता है। इनको एक दूसरे के प्रतिस्थापन के रूप में प्रयोग नही किया जा सकता। अतः इनके सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता।

(8) **अधिकतम कुल उपयोगिता तथा अधिकतम सन्तुष्टि भिन्न हो सकती हैं**—उपयोगिता तो इच्छा की तीव्रता का द्योतक होती है जबकि सन्तुष्टि वस्तु के उपभोग के बाद प्राप्त होती है। अत ये दोनों भिन्न हो सकती हैं और इस नियम के अनुसार उपभोक्ता का अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने का लक्ष्य अधूरा भी रह सकता है।

(9) **अज्ञानता, आलस्य व लापरवाही**—अधिकांश उपभोक्ता बाजार में प्रचलित प्रतिस्पर्धात्मक मूल्यों से अपरिचित होते हैं, कुछ उपभोक्ता अज्ञानता, लापरवाही तथा क्रय-विक्रय की असुविधाओं के कारण कम मूल्यों पर प्राप्य अधिक उपयोगी वस्तुओं की खोज भी नहीं करते। इस प्रकार अधिकांश उपभोक्ता वर्ग अपनी सीमित आय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त नहीं कर पाता।

प्रश्न एवं संकेत

(1) समसीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या कीजिये। इसकी सीमायें भी बताइये।

(2) समसीमान्त उपयोगिता नियम की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। क्या यह कहना सत्य है कि यह सिद्धान्त हर समय लागू नही होता ?

(3) समसीमान्त उपयोगिता नियम की विवेचना करते हुए आवश्यक उदाहरण तथा रेखा चित्रों की सहायता से यह समझाइये कि इस नियम का पालन करने पर ही उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सकती है। इस नियम की सीमाओं को भी ध्यान में रखिये।

(संकेत—प्रश्न 1, 2 व 3 के उत्तर एक समान हैं। प्रारम्भ में नियम की परिभाषा देकर इसकी व्याख्या करनी है। आवश्यक उदाहरण तथा रेखा चित्रों का प्रयोग भी आवश्यक है। अन्त में नियम की सीमाओं या आलोचनाओं का विश्लेषण करना है।)

(4) 'प्रतिस्थापन का सिद्धान्त आर्थिक क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र पर लागू होता है।"—मार्शल। इस कथन की व्याख्या कीजिये।

(संकेत—उपभोग के क्षेत्र में समसीमान्त उपयोगिता नियम का अर्थ स्पष्ट करके अर्थशास्त्र के विभिन्न विभागों में इसका महत्व लिख दें।)

(5) 'सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम' का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए और आधुनिक जीवन में इसका महत्व बताइए।

(संकेत—सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की परिभाषा देकर इसकी उदाहरण एवं रेखा चित्र की सहायता से व्याख्या कर दें। इसके बाद इसकी आलोचनाएं दें और अन्त में इस सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्व बतला दें।)

11

उपभोक्ता का अतिरेक या उपभोक्ता की बचत

(Consumer's Surplus)

'उपभोक्ता की बचत', 'उपभोक्ता के अतिरेक', या 'उपभोक्ता का आधिक्य' के विचार को सर्वप्रथम फ्रांसीसी अर्थशास्त्र श्री ड्यूपिट (Dupuit) ने सन् 1845 ई. में प्रस्तुत किया। परन्तु प्रो० मार्शल पहले अर्थशास्त्री थे जिन्होंने सन् 1879 में उपभोक्ता की बचत' की धारणा का, अपनी पुस्तक Pure Theory of Domestic Values मे वैज्ञानिक रीति से विश्लेषण प्रस्तुत किया। आगे चलकर सन् 1890 में अपनी पुस्तक 'अर्थशास्थ के सिद्धान्त' में इस विचार की व्याख्या विस्तार से की तथा इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया। इसी कारण प्रो० मार्शल को 'उपभोक्ता की बचत की धारणा का जन्म दाता माना जाता है। प्रो० जे आर. हिक्स ने इस विचार को स्पष्ट करने के लिये तटस्था वक्रों की सहायता ली है।

> **उपभोक्ता की बचत**
>
> **अर्थ**—किसी वस्तु से प्राप्त उपयोगिता तथा उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए किये गये त्याग का अन्तर उपभोक्ता की बचत कहलाता है।
>
> **माप**—उपभोक्ता की बचत = [कु. उपयोगिता]—[(वस्तु की एक इकाई का मूल्य) × (वस्तु की क्रय की गई इकाइयां)]
>
> **मापने की कठिनाइयां :**
>
> (1) उपयोगिता की माप नहीं की जा सकती है।
> (2) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान नहीं रहती है।
> (3) सम्पूर्ण मांग तालिका का ज्ञान नहीं होता है।
> (4) स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धि।
> (5) प्रत्येक उपभोग्य वस्तु का स्वतन्त्र न होना।

उपभोक्ता की बचत का अर्थ एवं परिभाषा

दैनिक जीवन में हम यही अनुभव करते है कि किसी वस्तु या सेवा के लिये हम उससे प्राप्त उपयोगिता से कम मूल्य देते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि हम वस्तु या सेवा की प्रत्येक इकाई के लिये उसकी सीमान्त इकाई की उपयोगिता के बराबर ही मूल्य देते हैं जब कि सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार सीमान्त इकाई से पूर्व की सभी इकाइयों से अधिक उप-

(6) बाजार के समस्त उपभोक्ताओ की बचत की माप कठिन होती है।
(7) अनिवार्य आवश्यकताओ की वस्तुओ की बचत मापना असभव है।
(8) प्रतिष्ठा की वस्तुओ की उपभोक्ता की बचत अनिश्चित होती है।

आलोचनाएं :

(1) यह सिद्धान्त काल्पनिक एव अव्यवहारिक है।
(2) अवास्तविक मान्यताओ पर आधारित है।
(3) वस्तु की विभिन्न इकाइयो की उपयोगिता अन्त मे समान होती है।
(4) इसका मापन कठिन है।
(5) यह बचत अस्थायी होती है।
(6) प्राप्त उपयोगिता व त्याग बराबर होते है।

महत्व :

I सैद्धान्तिक महत्व

उपयोगिता मूल्य एव विनिमय मूल्यो के अन्तर की व्याख्या करता है।

II व्यावहारिक महत्व

(1) आर्थिक प्रगति की तुलना मे सहायक।

योगिता प्राप्त होती है। इस प्रकार हमे कुछ अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त होती है। इसी को उपभोक्ता की बचत कहा जाता है। उदाहरण के लिये किसी उपभोक्ता के लिये सन्तरे की प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय इकाइयो की उपयोगिता कमश 2 रु, 1 रु तथा 0 50रु के बराबर है। पर वह प्रत्येक सन्तरे का मूल्य 0 50 रु. प्रति सन्तरे के हिसाब से ही देता है। सन्तरो की तीन इकाइयो से उसे 3.50 रु. के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है परन्तु मूल्य केवल 1 50 रु दिया जाता है। अत. 3.50—1 50 = 2 रु की जो अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त की गई है वह उपभोक्ता की बचत है।

प्रो० मार्शल ने उपभोक्ता की बचत की इस प्रकार परिभाषा दी है "किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो मूल्य उस वस्तु के लिये देने को तैयार होता है तथा जो मूल्य वह वास्तव मे देता है इनका अन्तर ही अतिरिक्त सतुष्टि का आर्थिक माप है। इसे उपभोक्ता की बचत कहा जा सकता है।"[1] उदाहरणार्थ समाचार पत्र के पढने से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता उसके लिये एक रु तक दे सकता है पर उसे वह केवल 30 पैसे में मिल जाता है। इस प्रकार 100—30 = 70 पैसे अतिरिक्त सन्तुष्टि के आर्थिक माप के रूप मे उपभोक्ता की बचत है।

1. "The excess of the price which he would be willing to pay, rather than go without the thing, over that which he actually does pay, is the economic measure of this surplus satisfaction It may be called Consumer's Surplus" —Marshall

(ii) दो देशों की आर्थिक समृद्धि की तुलना में सहायक।
(iii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों की गणना में सहायक।
(iv) एकाधिकारी मूल्य निर्धारण में सहायक
(v) सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में महत्वपूर्ण।

प्रो० पेन्सन के शब्दों में। "हम जो कुछ देने को तैयार हैं तथा जो कुछ हमें देना पड़ता है। इन दोनों के अन्तर को उपभोक्ता की बचत कहते हैं।"[2] इसी मिलती जुलती परिभाषा प्रो० मेहता ने दी है। उनके शब्दों में "किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि और उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए किए गए त्याग के अन्तर को ही उपभोक्ता की बचत कहते हैं।"[3]

प्रो. टॉजिग के शब्दों में "उपभोक्ता की बचत कुल उपयोगिता तथा कुल विनिमय मूल्य के मापने वाली राशियों का अन्तर होती है।"[4]

उपरोक्त सभी परिभाषाओं का विश्लेषण करने पर उपभोक्ता की बचत का यही अर्थ लगाया जा सकता है कि उपभोक्ता किसी वस्तु या सेवा के उपभोग से वंचित रहने के बजाय वह उस वस्तु या सेवा के लिये जो कुछ मूल्य दे सकता है और वास्तव में उसे जो देना पड़ता है उन दोनों का अन्तर ही उपभोक्ता की बचत होती है।

उपभोक्ता की बचत की धारणा का उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

माना कि एक उपभोक्ता बाजार से आम खरीदता है। आमों का बाजार मूल्य 50 पैसा प्रति आम है। सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के अनुसार इसे आमों के उपभोग से प्राप्त होने वाली उपयोगिता आगे तालिका में दी जा रही हैं।

---

2. "The difference between what we would pay and what we have to pay is Known as Consumer's Surlpus."—Penson

3, "Consumer's Surplus obtained by a person from a Commodity is the difference between the satisfaction which he derives from it and which he forgoes to procure that commodity." J. K. Mehta.

4. "Consumer's Surplus is the difference between the sum which measures the total utility and that which measures total exchange value."—Taussig.

आमों से प्राप्त उपयोगिता, बाजार मूल्य एवं उपभोक्ता की बचत

आमों की इकाइयाँ	प्राप्त उपयोगिता (पैसों में)	बाजार मूल्य (पैसों में)	उपभोक्ता की बचत (पैसों में)
1	150	50	150—50 = 100
2	130	50	130—50 = 80
3	100	50	100—50 = 50
4	60	50	60—50 = 10
5	50	50	50—50 = 00
योग	490	250	490—250 = 240

उपरोक्त उदाहरणके अनुसार उपभोक्ता को आम की पहली इकाई खरीदने पर 150 पैसे के बराबर उपयोगिता प्राप्त होती है पर इसके लिये वह केवल 50 पैसा मूल्य देता है। उसे इससे 150—50 = 100 पैसे के बराबर अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त होती है। इसी प्रकार द्वितीय तृतीय, व चतुर्थ आम से क्रमश 80, 50, 10 पैसे के बराबर अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त होती है। पाचवी इकाई के लिए वह 50 पैसा मूल्य चुकाता है और उससे इतनी ही अर्थात् 50 उपयोगिता प्राप्त होती है। वास्तव में यह सीमान्त इकाई है, जिससे प्राप्त उपयोगिता दिये हुए मूल्य के बराबर है। सभी पाचों आमों के उपभोग से प्राप्त उपयोगिता 150 + 130 + 100 + 60 + 50 = 490 पैसा। इनके लिये दिया गया मूल्य 5 × 50 = 250 पैसे। उपभोक्ता की बचत बराबर इनका अन्तर अर्थात् 490—250 = 240 पैसे।

इस विश्लेषण के आधार पर उपभोक्ता के अतिरेक का सूत्र हुआ—

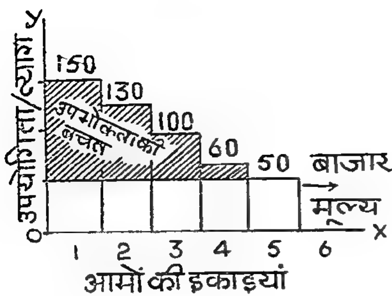
कुल उपयोगिता—दिया गया मूल्य = उपभोक्ता की बचत

(i) कुल उपयोगिता बराबर है सभी इकाइयों की सीमान्त उपयोगिताओं के योग के।

(ii) दिया गया मूल्य = समस्त इकाइयां × सीमान्त उपयोगिता।

अतः उपभोक्ता की बचत = समस्त सीमान्त उपयोगिताओं का योग—उपभोग की इकाइयां × सीमा० उप०।

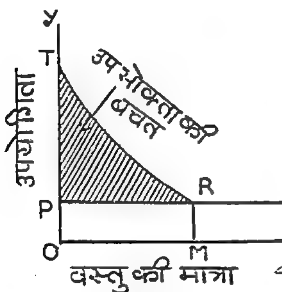
उपभोक्ता की बचत को समझाने के लिये उपरोक्त उदाहरण का अग्राङ्कित रेखा चित्र स 11·1 द्वारा प्रदर्शित किया गया है—



चित्र च 11·1

इस रेखा चित्र मे OX अक्ष पर आमों की इकाइयां तथा OY अक्ष पर आमों मे प्राप्त उपयोगिता या उनके प्राप्त करने के लिये त्यागे जाने वाला मूल्य दिखाया गया है। OP = 50 पैसे आमों का बाजार भाव प्रदर्शित करती है, जो अन्तिम इकाई (पांचवीं) की सीमान्त उपयोगिता के बराबर है। उपभोक्ता सभी पाँचों इकाइयों से जो उपयोगिता प्राप्त करता है, उसमे से सभी के लिए दिया गया मूल्य (रेखाचित्र में अरेखांकित भाग) घटाने के उपरान्त जो शेष रहता है उसे रेखांकित कर दिया गया है। यही उपभोक्ता की बचत है। यह प्रथम, द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ आम से क्रमशः 100, 80, 50 व 10 इकाई पैसा के बराबर है। इन सभी का योग = 240 इकाई।

कुछ वस्तुएं जैसे दूध, घी, मक्खन आदि को जिन्हे छोटी से छोटी इकाइयों में विभाजित किया जा सकता है, समकोणीय चतुर्भुजों द्वारा प्रस्तुत करने की अपेक्षा वक्रों द्वारा प्रस्तुत करना सुविधाजनक तथा ठीक रहता है। इन्हें रेखाचित्र सं 11.2 के अनुसार प्रदर्शित किया जा सकता है।



चित्र सं 11·2

उपभोक्ता की बचत की धारणा का आधार
(Basis of the Conception of Consumer's Surplus)

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम उपभोक्ता की बचत के विचार का मुख्य आधार है। जैसा कि हम जानते है कि प्रारम्भ में आवश्यकता की तीव्रता अधिक प्रखर होने से प्रारम्भिक इकाइयों से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। प्रत्येक आगे की इकाई से आवश्यकता की तृप्ति होती जाती है और आवश्यकता की प्रखरता भी कम होती जाती है अतः प्राप्त उपयोगिता भी कम हो जाती है। जैसे ही ऐसी स्थिति आ जाती है कि वस्तु से प्राप्य सीमान्त उपयोगिता दिये जाने वाले द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता के बराबर हो जाती है तो इस इकाई पर उपभोक्ता उपभोग बन्द कर देता है। यह इकाई सीमान्त इकाई है और इसके लिए दिया जाने वाला द्रव्य पहले की सभी इकाइयों के मूल्य का भी आधार है। अर्थात इनमें से प्रत्येक के लिए सीमांत उपयोगिता के बराबर मूल्य दिया जाता है। परन्तु अनुभव में यह आया है

कि इनमें से प्रत्येक से सीमान्त इकाई की उपयोगिता से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है । इस प्रकार सीमांत इकाई से पूर्व की इकाइयों से जो अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त होती है उनका योग उपभोक्ता की बचत है।

उपरोक्त उदाहरण में आमों की पांचवीं इकाई सीमान्त इकाई है । इससे प्राप्त उपयोगिता 50 है । अत आमों की प्रथम द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ इकाइयों से प्राप्त अतिरिक्त उपयोगिता (100, 80, 50 व 10) सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम के कारण है । इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि उपभोक्ता की बचत की धारणा का आधार सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम, बाजार मूल्य का समान रहना और मूल्य तथा सीमान्त उपयोगिता का समान होना है ।

उपभोक्ता की बचत की मान्यताएं
(Assumptions of the Consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत की धारणा का आधार सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम है । अत इस नियम की सभी मान्यतायें यहाँ भी लागू होती हैं । जैसे —

(1) उपयोगिता मापनीय है तथा मुद्रा रूपी पैमाने से इसे मापा जा सकता है ।

(2) उपभोग्य वस्तु को क्रय करने की समस्त विनिमय प्रक्रिया में मुद्रा की सीमान्त इकाई की क्रयशक्ति वही रहती है ।

(3) प्रत्येक उपभोग्य वस्तु एक स्वतंत्र वस्तु होती है उसकी मात्रा पर ही उसकी उपयोगिता निर्भर करती है ।

(4) उपभोग्य वस्तु के कोई स्थानापन्न नहीं होते अगर कोई हैं तो उन्हें उसी वस्तु की श्रेणी में मान लिया जाता है ।

(5) मार्शल ने सम्पूर्ण बाजार की उपभोक्ताओं की बचत मापने के लिये यह माना है कि विभिन्न उपभोक्ताओं की आय, रुचि, स्वभाव, फैशन आदि में परिवर्तन एक दूसरे के प्रभाव को व्यर्थ या समाप्त कर देते हैं । अत इन में अन्तर या विभिन्नताओं का उपभोक्ता की बचत पर प्रभाव नहीं पड़ता ।

उपभोक्ता की बचत की माप
(Measurement of consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत का आधार उपयोगिता है । मार्शल ने किसी वस्तु की उपयोगिता को मुद्रा रूपी पैमाने द्वारा मापने की विधि बताई है । किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त होने वाली उपयोगिता को उस मुद्रा राशि के बराबर माना जा सकता है जो उपभोक्ता, उसके उपभोग से वंचित रहने की बजाय उसके लिए देने को तत्पर होता है । इस प्रकार प्राप्त कुल उपयोगिता में से उस वस्तु के लिए दिये गये द्रव्य की उपयोगिता घटा कर जो शेष रहता है वह उपभोक्ता की बचत होती है । इसके लिए निम्न गणितात्मक सूत्र दिया जा सकता है—

उपभोक्ता की बचत = [कुल उपयोगिता]—[(वस्तु की एक इकाई का मूल्य) × (वस्तु की खरीदी गई समस्त इकाइयों की संख्या)]

मार्शल ने उपभोक्ता की बचत केवल एक व्यक्ति के लिए ही नहीं बताई है बल्कि सम्पूर्ण बाजार के लिए भी बताई है। सम्पूर्ण बाजार की बचत का निम्न सूत्र दिया जा सकता है—

बाजार मे सभी उपभोक्ताओं की बचत = [बाजार के मांग मूल्यों का योग]–[वास्तविक विक्रय मूल्य]

उपभोक्ता की बचत को मापने की कठिनाइयां या आलोचनायें

(Difficulties in the Measurement of Consumer's Surplus or Its Criticism)

उपभोक्ता की बचत को मापने के उपरोक्त सूत्रों को देख कर यह धारणा बन सकती है कि उपभोक्ता की बचत को मापना बड़ा सरल है पर वास्तव में ऐसा नहीं है। अनेक अर्थशास्त्रियों यथा टॉजिग, निकलसन, गोवी, आदि, द्वारा उपभोक्ता के अतिरेक की धारणा की जो आलोचनाएं प्रस्तुत की गई हैं उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इस विचार की मान्यतायें अवास्तिक हैं और यह विचार सैद्धान्तिक दृष्टि से खरा प्रमाणित नहीं होता है। इसे मुद्रा रूपी पैमाने से मापा भी नहीं जा सकता है। इसका कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है। इसे मापने में जो कठिनाइयां आती हैं उनका वर्णन आगे किया गया है—

(1) उपयोगिता की माप नहीं की जा सकती है—उपयोगिता मनोवैज्ञानिक विचार पर आधारित होने के नाते अमूर्त होती है। इसे मुद्रा रूपी पैमाने से मापा नही जा सकता। इस सम्बन्ध में प्रो. मार्शल का कथन है कि पूर्ण माप न सही परन्तु पूर्ण माप के लगभग मुद्रा द्वारा माप अवश्य कर ली जाती है। दूसरे मुद्रा रूपी पैमाने के अतिरिक्त आर्थिक क्रियाओं की माप का अन्य कोई साधन भी तो नहीं है।

(2) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान नहीं रहती है—उपभोक्ता के अतिरेक को मापने के लिये यह मान लिया जाता है कि मुद्रा की सीमान्त इकाई की उपयोगिता सम्पूर्ण विनिमय प्रक्रिया में समान रहती है। परन्तु व्यवहार में यह स्थिर नहीं रहती है। क्योंकि वस्तुओं के क्रय पर जैसे जैसे हम मुद्रा की इकाइयां व्यय करते जाते हैं त्यों त्यों हमारे पास मुद्रा के भंडार में कमी आने से शेष मुद्रा राशि की सीमान्त उपयोगिता बढ़ती जाती है। और उपभोक्ता के अतिरेक को मापना कठिन होता है।

इस सम्बन्ध में प्रो. मार्शल का कहना है कि उपभोक्ता किसी एक वस्तु पर अपनी मौद्रिक आय का बहुत छोटा सा भाग व्यय करता है, जिसका प्रभाव कुल मौद्रिक आय की तुलना में नगण्य मानकर मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर माना जा सकता है।

(3) उपभोक्ता मांग मूल्यों की सम्पूर्ण तालिका से अनभिज्ञ होता है—

उपभोक्ता की बचत की माप का आधार वह त्याग है जो वह वस्तु की

विभिन्न इकाइयो के लिये कर सकता है। परन्तु इसे मापना कठिन है, क्योंकि वह इस बात से पूर्णतया अनभिज्ञ रहता है कि उपभोग्य वस्तु की विभिन्न इकाइयो के लिये वह कितना-कितना मूल्य दे सकेगा। व्यवहार मे उसे मूल्यो की सम्पूर्ण माग तालिका का ज्ञान नही होता है। पहिले वह मोल-तोल करता है फिर माग का काल्पनिक अनुमान लगाता है। प्रो मार्शल का इस सम्बन्ध मे मत है कि प्रत्येक उपभोक्ता को, मूल्यो मे होने वाले न्यूनाधिक उतार-चढाव का माग पर पडने वाले प्रभाव का, ज्ञान अवश्य होता है।

(4) **स्थानापन्न वस्तुओ की उपलब्धि**—यह मान्यता अव्यावहारिक है कि वस्तु के स्थानापन्न नही होते तथा समस्त स्थानापन्न एव पूरक वस्तुओ को एक ही माग तालिका के अन्तर्गत मान लेना भी भ्रामक है। वस्तुओ के बाजार मे अनेक स्थानापन्न उपलब्ध होते हैं जो उपभोग्य वस्तु के मूल्यो मे हेर-फेर होने पर आसानी से प्रयोग मे लाये जा सकते हैं और आवश्यकता की तुष्टि की जा सकती है। इस प्रकार स्थानापन्न वस्तुओ के कारण उपभोग्य वस्तु के उपभोग पर पडने वाले मूल्य परिवर्तनो की ठीक ठीक माप नही की जा सकती और उपभोक्ता की बचत को भी ठीक-ठीक नही मापा जा सकता है।

(5) **प्रत्येक उपभोग्य वस्तु को स्वतन्त्र मानना ठीक नही**—वस्तुए एक दूसरे की पूरक होती हैं। एक वस्तु का उपभोग करने के लिये दूसरी का उपभोग आवश्यक होता है। दूसरे उपभोक्ता द्वारा किसी वस्तु पर व्यय किये जाने वाले द्रव्य की मात्रा उसकी उस वस्तु के उपभोग की इच्छा के साथ-साथ इस बात पर भी निर्भर करती है कि वह अपनी आय मे से अन्य वस्तुओं पर कितनी राशि व्यय कर चुका है। उदाहरणार्थ भोजन सामग्री अत्यधिक महगी होने के कारण आय का अधिकाश भाग अनिवार्य आवश्यकता—भोजन पर व्यय हो जाता है। अत वस्त्रों के उपभोग की सम्पूर्ण आवश्यकता की तुष्टि करना सभव न होने से वस्त्रों के उपभोग से प्राप्त उपभोक्ता की बचत बहुत कम हो जाती है। इस प्रकार इसकी ठीक-ठीक माप सभव नही है।

(6) **बाजार में समस्त उपभोक्ताओ की बचत को मापने में कठिनाई**—बाजार मे समस्त उपभोक्ताओ की आय रुचि, स्वभाव व फैशन आदि मे विविधता होना स्वाभाविक है। एक विद्यार्थी अर्थशास्त्र की पुस्तक के लिये पर्याप्त मूल्य देने को तैयार होता है जबकि अगीठी जलाने के लिये रद्दी के रूप मे प्रयोग करने वाली महिला इसके लिये बहुत कम मूल्य देने को तत्पर होगी। इसी प्रकार एक धनिक विद्यार्थी उसी पुस्तक के लिये अधिक मूल्य भी देने को राजी होता है जबकि एक निर्धन छात्र कम मूल्य देने को तैयार होता है। परन्तु वास्तव में दोनो एक ही बाजार मूल्य देते हैं। इस प्रकार धनिक को निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा उपभोक्ता की बचत अधिक प्राप्त होती है। अत बाजार मे समस्त उपभोक्ताओ की बचत मापना कठिन होता है।

इस सम्बन्ध में प्रो. मार्शल की मान्यता है कि जब बाजार में उपभोक्ताओं की संख्या अधिक होती है तो इस प्रकार की भिन्नताओं के प्रभाव एक दूसरे के प्रभाव द्वारा समाप्त हो जाते हैं।

(7) **अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तु तथा सेवाओं की सीमान्त उपयोगिता मापना असम्भव**—उपभोक्ता अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपना सर्वस्व भी त्यागने को तत्पर रहता है। मरुस्थल में प्यास से मरता व्यक्ति पानी के एक गिलास के लिये अपना सर्वस्व तक न्यौछावर कर सकता है। कारण 'जान है तो जहान है।' इसी प्रकार समाज में प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये उपभोक्ता कुछ भी बलिदान दे सकता है।

(8) **मान मर्यादा तथा दिखावा प्रगट करने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में उपभोक्ता की बचत अनिश्चित होती है**—ऐसी वस्तुएं जैसे हीरे, जवाहरात, मूल्यवान साड़ियां, कार व स्कूटर आदि के होने से उपभोक्ता की शान झलकती है। इनका जितना अधिक ऊंचा मूल्य होता है उतने ही धनवान इनके उपभोग में समर्थ होते हैं। इस अवस्था में उपभोक्ता की बचत बढ़ जाती है। कारण उपभोक्ता अधिक गौरव के साथ-साथ अधिक सन्तुष्टि का आभास करने लगता है। इन वस्तुओं के मूल्यों मे कमी आने से जनसाधारण भी इनका उपभोग करने में समर्थ हो जाता है। धनिक वर्ग के लिये इनका आकर्षण कम हो जाता है और उपभोक्ता की बचत भी कम हो जाती है। इस प्रकार ऐसी वस्तुओं की उपभोक्ता की बचत अनिश्चित होती है।

उपभोक्ता की बचत के विचार की आलोचना
(Criticism of the Concept of Consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत की कल्पना कल्याणकारी अर्थशास्त्र का तो आधार है। परन्तु निकल्सन, पैटन, कैनन, राबिन्सन आदि ने इस विचार की कड़ी आलोचनायें की हैं। उन्होंने उपभोक्ता की बचत की कल्पना को काल्पनिक, अवास्तविक, असत्य एवं भ्रामक तथा अव्यावहारिक बताया है। ये आलोचनायें उपभोक्ता की बचत की अवास्तविक मान्यताओं तथा मापने की कठिनाइयों के कारण की गई हैं। महत्वपूर्ण आलोचनाओं का वर्णन आगे दिया जा रहा है—

(1) **उपभोक्ता की बचत का सिद्धान्त काल्पनिक एवं अव्यावहारिक है**—प्रो निकल्सन ने इस सिद्धान्त को एकदम काल्पनिक, असत्य तथा भ्रमोत्पादक बताया है। उनका कहना है कि "इस कथन में क्या सार है कि लन्दन की 100 पौंड की आय मध्य अफ्रीका के 1000 पौंड के बराबर है।" प्रो. मार्शल ने इस आलोचना के उत्तर में कहा है कि जब हम दो देशों के निवासियों के रहन सहन के स्तर की तुलना करते हैं तो इस विचार की धारणा का सहयोग लिये बिना नहीं कर सकते। कारण इंगलैंड में 100 पौंड के उपभोग से जो दैनिक सुविधायें प्राप्त की जा सकती है उतनी मध्य अफ्रीका तथा अन्य अविकसित राष्ट्रों में

1000 पौंड व्यय करने पर भी उपलब्ध नही की जा सकती हैं। इसी प्रकार दो अवधियो के मध्य भी आर्थिक समृद्धि की तुलना मे यह विचार सहायक होता है।

(2) उपभोक्ता की बचत की धारणा अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित है—यह विचार कुछ ऐसी मान्यताओ पर आधारित है जो अवास्तविक हैं। जैसे—(i) उपयोगिता अमापनीय है, (ii) मुद्रा की सीमान्त इकाई की क्रय शक्ति सदैव स्थिर नही रहती है, (iii) कोई भी वस्तु या सेवा स्वतन्त्र नही होती है, (v) वस्तुओ के स्थानापन्न होते है और (iv) उन्हें एक ही श्रेणी मे मानना ठीक नही है।

(3) वस्तु की विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता अन्त में लगभग समान हो जाती है—पैटन ने विचार प्रस्तुत किया है कि उपभोक्ता ज्यो-ज्यो उपभोग्य वस्तु की अधिकाधिक इकाइया प्राप्त करता जाता है तो उसी गति से प्रारम्भिक इकाइयों की उपयोगिता गिरती चली जाती है और अन्त मे सभी इकाइयो की उपयोगिता लगभग समान हो जाती है। दूसरे एक अतिरिक्त इकाई क्रय करते ही उपभोक्ता की उस वस्तु की माग की सारणी मे परिवर्तन आ जाता है। अत उपभोक्ता की बचत की मान्यता भ्रामक है।

प्रो पीगू ने पैटन के इस कथन को सही नही माना है। उन्होंने कहा है कि किसी वस्तु के उपभोग म वृद्धि होने से प्रारम्भिक इकाइयो की उपयोगिता मे किसी विशेष अधिक अन्तर की सम्भावना नही रहती है। दूसरे माग मूल्यो की सूची (Schedule of Demand Prices) अतिरिक्त इकाइयो से प्राप्त अतिरिक्त उपयोगिता की द्योतक होती है। यह औसत उपयोगिता नही बताती है।

(4) उपभोक्ता के अतिरेक की माप कठिन है—उपभोक्ता की बचत के मापने मे अनेक कठिनाइया होती हैं जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है।

(5) उपभोक्ता की बचत अस्थायी होती है—मूल्यो में उतार-चढाव आने से उपभोक्ता की बचत मे भी परिवर्तन हो जाते हैं। मूल्य बढने पर यह कम हो जाती है। उपभोक्ता की आय, रुचि, स्वभाव तथा समाज मे प्रचलित फैशन मे परिवर्तनो के कारण भी उपभोक्ता की बचत परिवर्तित हो जाती है। परन्तु उपभोक्ता की बचत मे परिवर्तन होने से उपभोक्ता की बचत की धारणा तो ज्यों की त्यो बनी रहती है। इस धारणा का खडन कहाँ होता है परिवर्तन शील युग मे परिवर्तनो की कल्पना न करना ठीक नहीं है।

(6) प्राप्त उपयोगिता तथा त्याग बराबर होते हैं—गीदो ने उपभोक्ता की बचत के विचार की आलोचना मे कहा है कि उपभोक्ता वस्तु मे प्राप्त उपयोगिता के लिये बराबर ही त्याग करता है। अगर उपभोक्ता की सम्पूर्ण आय, जो स्थिर रहती है तथा सम्पूर्ण उपभोग को ध्यान मे रखें तो यह प्रतीत होता है कि प्रत्येक वस्तु के उसके वास्तविक व्यय तथा उस पर जो व्यय वह करना है दोनों बराबर होते हैं। उनमे कोई अन्तर नही होता है। अन्तत. वास्तविक व्यय तथा सम्भावित व्यय बराबर हो जाते हैं। गीदो के अनुसार सम्भावित व्यय तथा वास्तविक व्यय का

अन्तर समस्त वस्तुओं तथा सेवाओं के सम्बन्ध में ही शून्य नहीं होता वरन् अलग-अलग प्रत्येक वस्तु तथा सेवा के सम्बन्ध में भी शून्य हो जाता है। बाजार मे किसी वस्तु के न मिलने पर वह अन्य स्थानापन्न वस्तुओं का प्रयोग करता है। इस प्रकार लगाया जाने वाला मूल्य तथा त्यागा गया मूल्य एक समान होते हैं।

निष्कर्ष—उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर यह मानना ही पड़ेगा कि उपभोक्ता की बचत का विचार कुछ अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित होने के कारण काल्पनिक तथा अव्यावहारिक प्रतीत होता है। परन्तु यह केवल कुछ ही सीमा तक सत्य हो सकता है। कारण व्यावहारिक जीवन में भले ही हम पूर्व गणना करके उपभोग न करते हों फिर भी हर बार यही अनुभव में आता है कि हम किसी वस्तु या सेवा का उपभोग करने से पूर्व उसकी उपयोगिता अवश्य आंक लेते हैं। हम किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उसके लिये वास्तव में अधिक मूल्य देने को तैयार होते हैं। इस प्रकार **संभावित अधिकतम व्यय तथा वास्तविक व्यय** मे काफी अन्तर होता है और यह अन्तर ही उपभोक्ता के अतिरेक के विचार का आधार होता है।

प्रो० रोबर्टसन ने इस विचार की वास्तविकता के सम्बन्ध में कहा है कि, "माना हम उपभोक्ता के अतिरेक की धारणा से बहुत अधिक आशा नहीं करते तो भी बौद्धिक दृष्टि से यह सामान्य तथा व्यावहारिक कार्यों में मार्गदर्शन की दृष्टि से उपयोगी है।"[5] इस प्रकार उपभोक्ता की बचत की भ्रामक मान्यता में तथा उसके मापने की कठिनाइयां या उसकी परिवर्तनशीलता का तात्पर्य यह नहीं कि उपभोक्ता की बचत की धारणा दोषपूर्ण तथा काल्पनिक है। उपभोक्ता की बचत का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टि से काफी महत्व है। इस धारणा का जो महत्व है उसका वर्णन आगे किया जा रहा है।

उपभोक्ता की बचत का महत्व

(Importance of the Doctrine of Consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत वह आधिक्य होता है जो उपभोक्ता को उसकी वास्तविक उपयोगिता के लिये कम मूल्य त्यागने के कारण प्राप्त होती है उपभोक्ता को इस धारणा के कारण प्राप्त वस्तु के उपभोग तथा विनिमय मूल्य में अन्तर स्पष्ट हो जाता है, वह विभिन्न देशों, समाजों तथा समयों की आर्थिक समृद्धि की तुलना करने में समर्थ होता है तथा वित्तीय नीतियों के निर्धारण, एकाधिकार मूल्यों के निर्धारण तथा अन्य आर्थिक क्षेत्रों में यह धारणा उपयोगी सिद्ध होती है।

उपभोक्ता की बचत की धारणा के महत्व का अध्ययन दो भागों में किया जा सकता है—(1) सैद्धान्तिक महत्व तथा (2) व्यावहारिक महत्व।

---

5. "Provided, you do not expect too much of it, the concept of consumer's Surplus is both intellectually respectable and useful as a guide to practical action."—Robertson

(1) उपभोक्ता की बचत की धारणा का सैद्धान्तिक महत्त्व सैद्धान्तिक दृष्टि से इस मान्यता का बड़ा भारी महत्त्व है, क्योंकि हम (अ) किसी वस्तु के उपयोग मूल्य तथा विनिमय मूल्यों के अन्तर को स्पष्ट करने में समर्थ होते हैं। दियासिलाई की डिबिया का विनिमय मूल्य मात्र 12—13 पैसा होता है परन्तु वास्तविक उपयोगिता बहुत अधिक होती है। इसी प्रकार पोस्टकार्ड, समाचार पत्र आदि के उपयोग मूल्य की तुलना में बाजार मूल्य नगण्य होता है। अतः यह स्पष्ट है कि किसी वस्तु के लिये दिया गया मूल्य तथा उपयोग मूल्य बराबर नहीं होते वरन् प्राप्त सन्तुष्टि त्यागे गये मूल्य से बहुत अधिक होती है। (ब) सैम्युल्सन के अनुसार यह धारणा हमें इस बात का ज्ञान कराती है कि हम अपने चारों ओर व्याप्त सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक वातावरण से कितनी अधिक सहायता मिल रही है। सभ्य तथा विकसित राष्ट्रों में पिछड़े तथा अविकसित राष्ट्रों की तुलना में कम व्यय करके बहुत अधिक सन्तुष्टि प्राप्त हो जाती है। स्वयं सैम्युल्सन के शब्दों में, "विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को कम मूल्यों पर क्रय करने में समर्थ होना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अत्यधिक स्पष्ट है कि हम ऐसे आर्थिक जगत की सुविधाओं का लाभ उठा रहे हैं, जिनके निर्माण में हमने कभी सहयोग न दिया था।"

(2) उपभोक्ता की बचत की धारणा का व्यावहारिक महत्त्व—व्यावहारिक जीवन में इस मत का बड़ा भारी महत्त्व है इस मत की वास्तविकता के आधार पर आर्थिक प्रगति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विभिन्न देशों की समृद्धिशीलता तथा आर्थिक प्रगति की तुलना, क्षेत्रीय विषमताओं तथा पिछड़ेपन का ज्ञान, एकाधिकारी मूल्यों का निर्धारण, कर नीति निर्धारण आदि अनेक क्षेत्रों के सम्बन्ध में हम पूरी पूरी जानकारी हासिल करके उचित नीतियां निर्धारित कर सकते हैं। व्यावहारिक महत्त्व निम्नलिखित शीर्षकों में देख सकते हैं—

(i) आर्थिक प्रगति की तुलना में सहायक—उपभोक्ता की बचत की धारणा के आधार पर किसी देश की विभिन्न समयों की आर्थिक स्थिति की तुलना कर सकते हैं। उदाहरणार्थ जिस क्षेत्र में या जिस समय विकास कार्यों के कारण वस्तुओं की मात्रा अधिक होने से उनके मूल्य कम होते हैं तो उपभोक्ता की बचत अधिक होती है यह प्रगति का सूचक है। अतः अन्य पिछड़े क्षेत्रों के विकास की योजनाएं भी बनाई जा सकती है।

(ii) दो देशों की आर्थिक समृद्धि की तुलना में सहायक—विकसित राष्ट्रों में कम व्यय करके उतनी अधिक उपयोगिता प्राप्त की जा सकती है जितनी अविकसित या विकासशील राष्ट्रों में अधिक व्यय करने पर भी उपलब्ध नहीं हो पाती। इन अविकसित या विकासशील राष्ट्र विकसित राष्ट्रों के बढ़े हुए उपभोक्ता के अतिरेक को देखकर अपने विकास की योजनायें बनाने के लिए प्रेरित होते हैं।

(iii) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की गणना में सहायक—अगर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किसी देश के उपभोक्ताओं की बचत में वृद्धि होती है तो

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस देश के लिए लाभप्रद है। आयातित वस्तुओं के कारण उपभोग के लिए उपलब्ध वस्तुओं की मात्रा बढ़ने से उनकी उपलब्धि कम मूल्यों पर होने लगती है और उपभोक्ता की बचत बढ़ जाती है। परन्तु निर्यातों के कारण अनेक वस्तुओं की मात्रा कम होने से उनका अभाव हो जाता है और उनके बाजार भाव बढ़ जाते हैं जिससे उपभोक्ता की बचत कम हो जाती है। अतः आयात-निर्यात नीति निर्धारित करते समय उपभोक्ता की बचत को ध्यान में रखना पड़ता है।

(iv) **एकाधिकारी मूल्य निर्धारण में सहायक**—अधिकतम लाभ कमाने के लिए एकाधिकारी उपभोक्ता की बचत का पूरा पूरा ध्यान रखता है। वह ऐसी वस्तुओं के ऊँचे मूल्य रखता है जिनके उपभोग से उपभोक्ता को अधिक बचत होती है। कम बचत देने वाली वस्तुओं के वह नीचे मूल्य निर्धारित करता है। मूल्यों में वृद्धि करते समय वह इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखता है कि मूल्यों में वृद्धि के कारण उपभोक्ता की बचत कहीं पूरी पूरी समाप्त तो नहीं हो रही है। उपभोक्ता को कुछ न कुछ बचत अवश्य होनी चाहिए।

(v) **सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में सहायक**—सरकार कर लगाते समय इस बात का ध्यान रखती है कि कर लगाने से जो अतिरिक्त 'आगम' प्राप्त होगा वह कहीं, कर लगाने के कारण मूल्यों में वृद्धि आने से, उपभोक्ता की बचत में, जो कमी आई है, उसकी तुलना में कम तो नहीं। इस प्रकार का कर बुरा माना जाता है और त्याग दिया जाता है।

सरकार उत्पादन बढ़ाने तथा उत्पादन लागत कम करने की दृष्टि से उत्पादकों को आर्थिक अनुदान भी देती है। इस प्रकार के अनुदानों के द्वारा वस्तु का बाजार मूल्य गिरने से उपभोक्ता की बचत बढ़ जाती है। अगर यह बचत दिये गये अनुदान की तुलना में अधिक होती है तो ऐसे उद्योगों को अनुदान लाभकारी होते हैं अन्यथा नहीं। अतः मार्शल ने सुझाव दिया है कि 'समाज के कल्याण को बढ़ावा देने की दृष्टि से सरकार को चाहिए कि वह ऐसे उद्योगों पर, जिनमें उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है, कर लगावे और इस प्रकार होने वाली आय का उपयोग ऐसे उद्योगों को आर्थिक अनुदान देने में करे जिनमें उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है। ऐसे उद्योगों को, जिनमें समान उत्पत्ति नियम लागू होता है, स्वतन्त्र छोड़ दे।"

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपभोक्ता कि बचत की धारणा व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

प्रश्न एवं संकेत

1. उपभोक्ता की बचत से आप क्या समझते हैं? इसे कैसे मापा जाता है? समझाइए।

(संकेत—प्रथम भाग में उपभोक्ता की बचत की परिभाषा देते हुए इसे उदाहरण एव रेखाचित्र से स्पष्ट करें। दूसरे भाग में उपभोक्ता की बचत को मापने की विधि बताइए तथा मापने की कठिनाइयाँ भी सक्षेप मे दें।)

2 उपभोक्ता की बचत की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए। इसकी माप करने सम्बन्धी कठिनाइया बतलाइये।

(सकेत—सर्वप्रथम उपभोक्ता की बचत की परिभाषा देकर इसे उदाहरण एव रेखाचित्र स स्पष्ट कर। तत्पश्चात् उपभोक्ता की बचत की आलोचनाए दीजिए। आलोचनाए दो भागो मे दें। प्रथम भाग मे इसके मापने की कठिनाइया एव द्वितीय भाग मे अन्य आलोचनाए दें।)

3 उपभोक्ता की बचत से आप क्या समझते हैं? इसके व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक महत्व को स्पष्ट कीजिए।

(संकेत—प्रथम भाग मे उपभोक्ता की बचत की धारणा को स्पष्ट करें। द्वितीय भाग मे इसके व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक महत्व को स्पष्ट कर दें।)

4 उपभोक्ता की बचत की धारणा का मुख्य आधार क्या है? इसके मापने की विधि तथा मापने की कठिनाइया बतलाइए।

(सकेत—प्रारम्भ मे उपभोक्ता की बचत का अर्थ बताइए। आगे यह बताना है कि उपभोक्ता की बचत की धारणा का मुख्य आधार सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम है। प्रश्न के तीसरे भाग के उत्तर मे उपभोक्ता की बचत के मापने की विधि उदाहरण की सहायता से समझानी है और मापने में होने वाली कठिनाइया भी बतानी हैं।)

---

12 मांग एवं मांग का नियम
(Demand and Law of Demand)

अर्थशास्त्र में मांग एवं पूर्ति के विचार अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। यदि किसी व्यक्ति को मांग एवं पूर्ति के विश्लेषण का ठीक ज्ञान है तो वह सभी आर्थिक सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझ सकता है। इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि 'यदि किसी तोते को अर्थशास्त्र के प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में मांग तथा पूर्ति रटा दिया जाय तो वह एक अच्छा अर्थशास्त्री होगा'। इस अध्याय में मांग व मांग के नियम की विवेचना की गयी है।

मांग एवं मांग का नियम

मांग का अर्थ-किसी वस्तु की मांग उसकी वह मात्रा होती है जो किसी अवधि विशेष में एक निश्चित मूल्य पर क्रय की जाती है।

मांग के प्रकार—मांग तीन प्रकार की होती है:

(1) मूल्य मांग
(2) आय मांग
(3) तिरछी मांग

मांग तालिका–किसी वस्तु विशेष की किसी समयावधि में विभिन्न मूल्यों पर मांगी जाने वाली मात्राओं को एक तालिका में प्रदर्शित करने पर उस तालिका को मांग तालिका कहते हैं।

मांग की परिभाषा एवं अर्थ
(Definition and Meaning of Demand)

बेन्हम के शब्दों में—"किसी दिये हुए मूल्य पर किसी वस्तु की मांग उसकी वह मात्रा है जो उस मूल्य पर किसी समय विशेष पर क्रय की जावेगी।"[1] इस परिभाषा के अनुसार मांग के लिए निम्न तत्वों का होना आवश्यक है—

(1) किसी वस्तु विशेष के लिए प्रभावपूर्ण इच्छा का होना।

(2) वस्तु विशेष की एक निश्चित कीमत अर्थात् वस्तु की मांग किसी निश्चित कीमत पर ही होती है। वस्तु विशेष की मांग विभिन्न कीमतों पर विभिन्न मात्रा में होगी।

(3) निश्चित समय अवधि—अर्थात्

1. "The demand for anything, at a given price, is the amount of it which will be bought per unit of time at that price." —Benham

माँग तालिका के प्रकार–दो प्रकार की होती हैं।

(1) व्यक्तिगत माँग तालिका।

(2) बाजार माँग तालिका।

माँग वक्र–माग तालिका को रेखा चित्र मे प्रदर्शित करने पर बनने वाली वक्र माग वक्र कहलाती है।

माँग का नियम–माग का नियम वस्तु के मूल्य तथा वस्तु की मांगी गई मात्रा के मध्य विपरीत सम्बन्ध को व्यक्त करता है अर्थात् यह स्पष्ट करता है कि वस्तु की माँग मूल्य घटने पर बढ़ती है तथा मूल्य बढने पर घटती है।

माँग के नियम के लागू होने के कारण–

(1) सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का प्रभाव।

(2) प्रतिस्थापन प्रभाव।

(3) आय प्रभाव।

(4) नये क्रेताओ का प्रवेश व पुराने क्रेताओ का बहिर्गमन।

नियम के अपवाद

(1) निम्न कोटि की वस्तुए।

(2) प्रतिष्ठा सूचक वस्तुए।

(3) भविष्य मे मूल्य परिवर्तन की आशा।

(4) अधिक मूल्य वाली वस्तुए उत्तम।

माग को प्रभावित करने वाले तत्व

(1) उपभोक्ता की आय।

(2) उपभोक्ता की रुचि व स्वभाव।

(3) जलवायु।

(4) धन का वितरण।

वस्तु विशेष की मांग का सम्बन्ध एक निश्चित समय अवधि (प्रति दिन, प्रति सप्ताह, प्रति माह, प्रति वर्ष) के साथ होता है।

माग शब्द को निम्न उदाहरणों के अध्ययन से अच्छी तरह समझा जा सकता है—

(1) 'अ' वस्तु की माग 1,000 इकाइयां है।

(2) 'अ' वस्तु की माग 5 रुपय प्रति इकाई कीमत पर 1,000 इकाइयां है।

(3) 'अ' वस्तु की माग 5 रुपये प्रति इकाई कीमत पर जयपुर मे प्रति सप्ताह 1,000 इकाइया है।

उपरोक्त तीनो उदाहरणों में केवल तीसरा उदाहरण ही माग का उदाहरण है। पहला कथन अधूरा है क्योंकि इसमे कीमत नहीं दी हुयी है तथा यह भी नहीं दिया हुआ है कि विभिन्न कीमतो पर विभिन्न मात्राए क्रय की जावेंगी। दूसरा कथन भी अधूरा है क्योंकि यह हमें यह तो बताता है कि 'अ' वस्तु की 5 रुपय प्रति इकाई कीमत पर माग 1,000 इकाइयां होगी परन्तु हमें यह नहीं बताता कि 1,000 इकाइयो की बिक्री मे कितना समय लगेगा। अत किसी भी वस्तु की परिभाषा मे उस वस्तु की मात्रा कीमत तथा समय अवधि के बारे मे जानकारी देना चाहिए।

माँग के प्रकार (Kinds of Demand)

किसी भी वस्तु की माग प्राय तीन बातो पर निर्भर करती है—(1) वस्तु विशेष की कीमत, (2) उपभोक्ता की आय, तथा (3) सम्बन्धित वस्तुओं की कीमत। अत इन्ही बातो के आधार पर माग के तीन प्रकार बतलाये जाते हैं जो क्रमश (1)

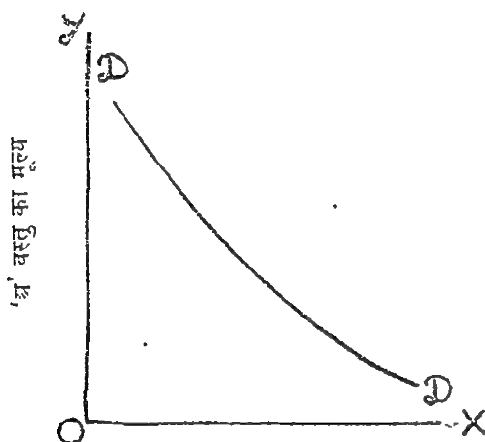
(5) जनसंख्या ।
(6) व्यापार की स्थिति ।
(7) मुद्रा की मात्रा ।
(8) संबंधित वस्तुओं का मूल्य ।
(9) ज्ञान में वृद्धि ।
(10) वस्तु की पूर्ति ।
(11) सरकारी नीति ।

मूल्य मांग, (2) आय मांग एवं (3) तिरछी मांग के नाम से पुकारी जाती हैं ।

(1) मूल्य मांग (Price Demand)—एक निश्चित समय अवधि में एक उपभोक्ता द्वारा विभिन्न परिकल्पित (Hypothetical) मूल्यों पर किसी वस्तु विशेष अथवा सेवा विशेष की क्रय की जाने वाली मात्राओं को मूल्य मांग कहते हैं ।

मूल्य मांग का अध्ययन करते समय मांग को प्रभावित करने वाले अन्य तत्वों (आय, रुचि, फैशन आदि) को स्थिर मान लिया जाता है ।

मूल्य मांग को निम्न रेखा चित्र से देखा जा सकता है—



'अ' वस्तु की मांग
चित्र सं० 12·1

उपरोक्त रेखा चित्र से स्पष्ट होता है कि मांग मूल्य घटने पर बढ़ती है तथा मूल्य बढ़ने पर घटती है ।

(2) आय मांग (Income Demand)—आय मांग का तात्पर्य वस्तुओं तथा सेवाओं की उन मात्राओं से होता है, जो उनके तथा संबंधित वस्तुओं के मूल्यों के यथावत् (समान) रहने पर उपभोक्ता द्वारा विभिन्न आय स्तरों पर क्रय की जाती हैं । आय मांग ज्ञात करते समय वस्तु के मूल्यों के साथ-साथ उपभोक्ता की रुचि, फैशन, आदतों आदि को भी स्थिर मान लिया जाता है ।

आय मांग विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की हो सकती है । यह वस्तु के गुण पर निर्भर करती है । गुणों की दृष्टि से वस्तुएं दो प्रकार की हो सकती हैं—(i) उत्तम या श्रेष्ठ वस्तुएं एवं (ii) हीन अथवा निकृष्ट वस्तुएं ।

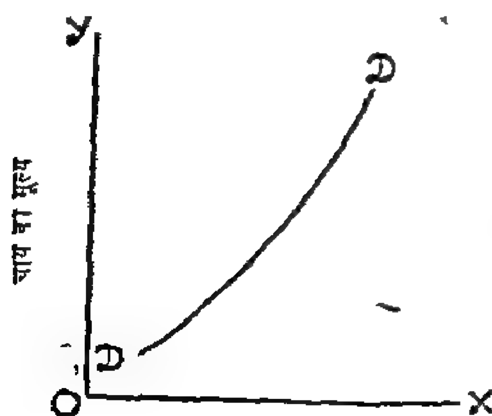
उत्तम वस्तुओं की मांग आय बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती है तथा आय घटने के साथ-साथ घटती है अर्थात् मांग वक्र दाहिनी ओर ऊपर को उठता हुआ होता है । उत्तम वस्तुओं में सामान्यतया आराम एवं विलासिता की वस्तुएं आती हैं ।

निकृष्ट वस्तुओं की मांग आय बढ़ने पर घट जाती है तथा आय घटने पर

बढ़ जाती है, क्योंकि आय बढ़ने पर उपभोक्ता निकृष्ट वस्तुओं के स्थान पर श्रेष्ठ वस्तुओं का उपभोग करने लगता है।

(3) तिरछी या आड़ी मांग (Cross Demand)—किसी वस्तु 'अ' के मूल्य तथा उपभोक्ता के आय-स्तर के अपरिवर्तित रहने पर उस वस्तु 'अ' से संबंधित वस्तु 'ब' के मूल्यों में परिवर्तन होने पर उस वस्तु 'अ' की क्रय की जाने वाली मात्राओं को तिरछी मांग कहा जाता है। तिरछी मांग एक वस्तु की मांगी गई मात्राओं तथा उस वस्तु से संबंधित वस्तु के मूल्यों में परिवर्तन के संबंध को बताती है। उदाहरण के तौर पर चाय की तिरछी मांग चाय की मांगी जाने वाली उन विभिन्न मात्राओं को प्रदर्शित करती है जो कॉफी के मूल्यों में परिवर्तन होने पर क्रय की जाती है। तिरछी मांग विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के लिए अलग-अलग प्रकार की हो सकती है जिसे दो शीर्षकों में बांट सकते हैं—

(अ) स्थानापन्न वस्तुएं (Substitutes)—स्थानापन्न वस्तुएं वे होती हैं जो एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त की जा सकती हैं। उदाहरण के लिए चाय की जगह कॉफी तथा कोका कोला के स्थान पर गोल्ड स्पॉट प्रयुक्त हो सकती है तो चाय व कॉफी स्थानापन्न वस्तुएं हैं तथा कोका कोला एवं गोल्ड स्पॉट एक दूसरे की स्थानापन्न हैं। स्थानापन्न वस्तुओं में जिस वस्तु के मूल्य बढ़ते हैं उसके स्थान पर उस वस्तु का प्रयोग होने लगता है जिसके मूल्य स्थिर हैं। जैसे चाय के मूल्य बढ़ते हैं और कॉफी के मूल्य स्थिर रहते हैं तो कॉफी की मांग बढ़ती जाती है। इसे नीचे के रेखा चित्र से देखा जा सकता है—

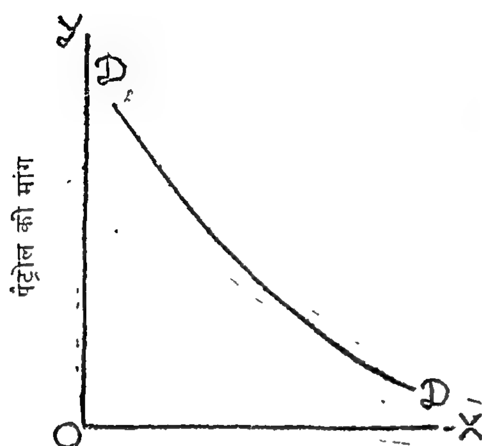


चित्र सं० 12.2

जैसा कि रेखा चित्र से ज्ञात होता है कि जैसे ही चाय का मूल्य बढ़ता है स्थानापन्न वस्तु कॉफी की मांग बढ़ जाती है।

(ब) पूरक वस्तुएं—जब किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए दो या अधिक वस्तुओं का एक साथ प्रयोग आवश्यक होता है तो ये वस्तुएं पूरक कहलाती हैं। उदाहरण के तौर पर कार व पैट्रोल, पेन, व स्याही, डबल रोटी व मक्खन आदि पूरक वस्तुएं हैं। पूरक वस्तुओं में किसी एक वस्तु का मूल्य बढ़ने पर दूसरी वस्तु की मांग स्वतः ही कम हो जाती है। इसे आगे के रेखा चित्र से देखा जा सकता है।

पैट्रोल का मूल्य जैसे-जैसे बढ़ता है वैसे-वैसे कारों की मांग घट जाती है।



चित्र सं. 12·3

मांग तालिका या मांग सारणी (Demand schedule)

किसी वस्तु विशेष की किसी समयावधि में विभिन्न मूल्यों पर मांगी जाने वाली मात्राओं को एक तालिका में रखने पर बनने वाली तालिका मांग तालिका कहलाती है। बेन्हम के शब्दों में, "किसी बाजार में एक निश्चित समय में विभिन्न मूल्यों पर किसी वस्तु की विभन्न मात्राए मांगी जाती हैं। इन्हें एक तालिका में लिखा जावे तो वह मांग तालिका के रूप में जानी जाती है।" माँग तालिका मूल्य एव मांगी गई मात्रा में कार्यात्मक सम्बन्ध को व्यक्त करती है। मांग तालिका दो प्रकार की होती है—(1) व्यक्तिगत माँग तालिका एवं (2) बाजार की माँग तालिका।

(1) व्यक्तिगत मांग तालिका—यह मांग तालिका इस बात की जानकारी देती है कि एक निश्चित समय पर एक व्यक्ति विभिन्न मूल्यों पर वस्तु विशेप की कितनी मात्रा मांगता है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि तालिका में दिये हुये मूल्य वास्तव में प्रचलित हैं और उन मूल्यों पर विभिन्न मात्राओं में वस्तु का क्रय किया जाता है। इस तालिका का निर्माण तो उस व्यक्ति विशेष की भूतकालीन प्रतिक्रियाओं की जानकारी के आधार पर किया जाता है। परन्तु वर्तमान में यह संभव है कि उसकी आय, रुचि, फैशन आदि में परिवर्तन हो गया हो और इसलिए वर्तमान मांग तालिका भूतकाल की अपेक्षा भिन्न हो सकती है।

व्यक्तिगत मांग तालिका 'अ' नामक व्यक्ति की प्रति सप्ताह गेहूं की मांग के उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है—

प्रति किलो मूल्य (रु)	मांगी गई मात्रा प्रति सप्ताह (कि. ग्रा.)
2·50	5
2·00	7
1·50	10
1·00	15

बाजार माँग तालिका—किसी वस्तु विशेष के बाजार के समस्त क्रेताओं की माँग तालिकाओं का योग बाजार माँग तालिका कहलाती है। बाजार माँग तालिका किसी वस्तु विशेष की किसी समयावधि में विभिन्न मूल्यों पर माँगी जाने वाली मात्राओं को प्रदर्शित करती है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। माना कि किसी बाजार में केवल तीन क्रेता 'अ', 'ब' तथा 'स' हैं। इनकी गेहूँ की प्रति सप्ताह की माँग की तालिकाएं निम्न हैं—

मूल्य प्रति किलोग्राम (रुपयों में)	माँगी गई मात्राएं (किलोग्राम)			बाजार माँग ('अ' 'ब' तथा 'स' की माँग का कुल योग। (किलोग्राम)
	'अ' की माँग	'ब' की माँग	'स' की माँग	
2·5	5	7	10	22
2 0	7	10	14	31
1 5	10	14	19	43
1 0	15	20	25	60

उपरोक्त तालिका के अन्तिम स्तंभ में सम्पूर्ण बाजार की कुल माँग को दिखाया गया है।

माँग तालिका के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण बातें—माँग तालिका के संबंध में निम्न बातें विशेष उल्लेखनीय हैं—

(1) माँग तालिका का निर्माण 'अन्य बातों के समान रहने' की मान्यता के आधार पर किया जाता है अर्थात् उपभोक्ता की आय, रुचि, फैशन आदि को स्थिर मान लिया जाता है।

(2) माँग तालिकाएं अनुमानित एवं काल्पनिक होती हैं। वास्तविक माँग तालिकाओं का निर्माण कठिन होता है। व्यक्तिगत माँग तालिकाएं एवं बाजार माँग तालिकाएं एक दूसरे पर निर्भर हैं तथा एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। व्यक्तिगत माँग तालिकाओं के गणितात्मक योग से बाजार की माँग तालिका का निर्माण नहीं करना चाहिए बल्कि कुल व्यवहार का एक सांख्यकीय अनुमान इस दिशा में अधिक सहायक एवं सरल होता है।

(3) व्यक्तिगत माँग तालिका की अपेक्षा बाजार माँग तालिका अधिक निरन्तर एवं सरल होती है। एक व्यक्ति विशेष के व्यवहार में बहुत अधिक अनियमितताएं हो सकती हैं जबकि बाजार की माँग तालिका में ये अनियमितताएं बहुत अधिक क्रेताओं के होने के कारण समतल हो जाती हैं।

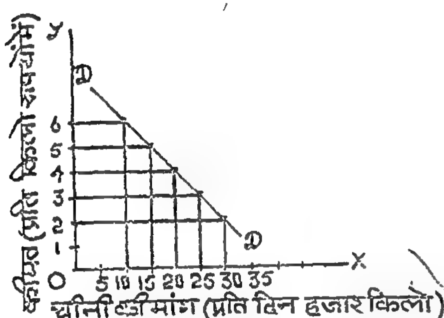
(4) माँग तालिकाएं समय तत्व से प्रभावित होती हैं। यदि उपभोक्ताओं

को अपनी मांग को समायोजित करने को अधिक समय प्राप्त होता है तो उनकी मांग अधिक लोचदार होती है जबकि अति अल्पकाल में मांग प्रायः कम लोचदार होती है।

मांग वक्र या मांग रेखा (Demand Curve)

जब किसी मांग तालिका को रेखा चित्र द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तो उससे बनने वाली वक्र या रेखा को मांग वक्र अथवा मांग रेखा कहते हैं।

निम्न रेखाचित्र में OX अक्ष पर वस्तु की मात्राएं एवं OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य प्रदर्शित किया गया है। मूल्य एवं मांगी गई मात्राओं के सम्बन्ध से DD मांग वक्र बनी है जो बायें से दायें ऊपर से नीचे को गिरती हुयी है। यह रेखा इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि वस्तु का मूल्य घटने पर उसकी माग बढ़ती है तथा मूल्य बढ़ने पर मांग घटती है अर्थात् मांग एवं मूल्य में उल्टा सम्बन्ध होता है।



चित्र सं० 12 4

मांग का नियम (Law of Demand)

मांग का नियम वस्तु के मूल्य तथा वस्तु की मांगी गई मात्रा के मध्य सम्बन्ध को व्यक्त करता है। यह नियम बताता है कि अन्य बातों के स्थिर रहने पर एक वस्तु के मूल्य के घटने पर उसकी मांगी गई मात्रा में वृद्धि होगी और मूल्य में वृद्धि होने पर उसकी मांगी गई मात्रा में कमी आवेगी। प्रो. सेमुअलसन के शब्दों में, "यदि बाजार में किसी वस्तु की अधिक मात्रा प्रस्तुत की जाय तो अन्य बातों के स्थिर रहने पर यह कम मूल्य पर ही बेची जा सकती है।"[2] मांग के नियम को मार्शल ने परिभाषित करते हुये लिखा है कि, "किसी वस्तु की अधिक मात्रा में बिक्री के लिए उसके मूल्यों में कमी होनी चाहिए ताकि उसके अधिक ग्राहक मिल सकें। दूसरे शब्दों में मूल्य के गिरने से मांग बढ़ती है और मूल्य बढ़ने के साथ मांग घट जाती है।"

मांग के नियम की मान्यतायें (Assumptions of the Law Demand)—मांग का नियम तभी लागू होता है जब 'अन्य बातें स्थिर रहें' इस नियम की मान्यताएं निम्नलिखित हैं।

(1) उपभोक्ताओं की आय स्थिर रहनी चाहिए।

---

2. "If a greater quantity of a good is put on the market, then—other things being equal—it can be sold only at a lower price."—Samuelson

(2) उपभोक्ताओं के स्वभाव, रुचि तथा आदतों में परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

(3) अन्य वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन नहीं होने चाहिए।

(4) वस्तु के मूल्य में निकट भविष्य में वृद्धि की सम्भावना नहीं होनी चाहिए।

(5) वस्तु विशेष प्रतिष्ठा रक्षक वस्तुओं की श्रेणी की नहीं होनी चाहिए।

(6) वस्तु की किसी नई स्थानापन्न वस्तु की खोज नहीं होनी चाहिए।

माग के नियम के लागू होने अथवा माग वक्र के दायीं ओर नीचे की ओर झुकने के कारण—माँग का नियम किसी वस्तु के मूल्य तथा उसकी माँगी गई मात्रा में विपरीत सम्बन्ध को व्यक्त करता है। इसी सबंध के कारण अधिकांश माँग वक्र दायीं ओर नीचे की ओर झुकती हुयी होती हैं। परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि माग का नियम क्यों लागू होता है अथवा सामान्य माग वक्र दायीं ओर क्यों झुकता है ? इन प्रश्नों की व्याख्या निम्न तत्वों से स्पष्ट हो जाती है—

(1) सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का प्रभाव—माँग का नियम सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम हमें यह बताता है कि जब किसी व्यक्ति के पास किसी वस्तु की मात्रा बढती है तो उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। एक उपभोक्ता किसी भी वस्तु के लिए मूल्य उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से अधिक देने को तत्पर नहीं होता है अत वह किसी वस्तु की अधिक मात्रा मूल्य के घटने पर ही क्रय करता है। सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम के लागू होने के कारण एक उपभोक्ता वस्तु की कम इकाइयाँ ऊँचे मूल्य पर भी क्रय कर सकता है जबकि वह, वस्तु की अधिक इकाइयों का क्रय, मूल्य घटने पर ही करता है।

(2) प्रतिस्थापन प्रभाव—माँग के नियम के लागू होने का एक कारण प्रतिस्थापन प्रभाव भी होता है। जब किसी आवश्यकता की पूर्ति दो या दो से अधिक वस्तुओं से समान रूप से की जा सकती है तो वे वस्तुएं एक दूसरी की प्रतिस्थापन वस्तुएं कहलाती हैं। उदाहरणार्थ चाय और कॉफी, कोका कोला, गोल्ड स्पाट एवं लिम्का कोयला, मिट्टी का तेल एवं गैस आदि। जब किसी वस्तु का मूल्य घटता है और अन्य वस्तुओं के मूल्य स्थिर रहते है तो वह वस्तु अन्य वस्तुओं की तुलना में सस्ती होती है। अत उपभोक्ता अन्य वस्तुओं के स्थान पर इसका कुछ सीमा तक प्रतिस्थापन करता है और इसके परिणाम स्वरूप इस वस्तु की माँग बढ़ जाती है। इसे प्रतिस्थापन प्रभाव कहते हैं। इसी तरह जब किसी वस्तु का मूल्य बढ जाता है तथा अन्य वस्तुओं का मूल्य स्थिर रहता है तो इस वस्तु के स्थान पर अन्य वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है। अत मूल्य बढ़ने पर वस्तु की माँग कम हो जाती है। प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण किसी वस्तु का मूल्य घटने पर उसकी माँग बढती है तथा मूल्य बढने पर माँग घटती है। इसी कारण माँग रेखा दायीं ओर नीचे की ओर झुकता हुयी होती है।

(3) आय प्रभाव—किसी वस्तु के मूल्य में कमी होने से उपभोक्ता की वास्त

विक आय में वृद्धि हो जाती है। उपभोक्ता वास्तविक आय में वृद्धि होने पर उस वस्तु तथा अन्य वस्तुओं को पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में क्रय करने के योग्य हो जाता है। इसी तरह किसी वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है तो उपभोक्ता की वास्तविक आय घट जाती है जिससे वह उस वस्तु तथा अन्य वस्तुओं का क्रय कम करता है। अतः आय प्रभाव से भी यह स्पष्ट होता है कि मांग रेखा दायीं ओर नीचे की ओर झुकती हुयी होती है।

(4) नये क्रेताओं का बाजार में प्रवेश अथवा पुराने ग्राहकों का बहिर्गमन—सामान्यतया अधिकांश क्रेताओं की आय अल्पकाल में स्थिर होती है। प्रत्येक क्रेता अपने दिये हुये आय स्तर में कुछ निश्चित वस्तुएं या वस्तुओं का समूह ही प्राप्त कर सकता है। जब किसी वस्तु का मूल्य कम होता है तो उस वस्तु को कुछ क्रेता खरीदने योग्य हो जाते हैं अतः उनके द्वारा वस्तु क्रय की जाने के कारण उसकी मांग बढ़ जाती है। जबकि वही वस्तु जब महंगी हो जाती है तो कुछ क्रेता पहले उसे क्रय कर पाते थे वे क्रय नहीं कर पाते हैं अतः मूल्य बढ़ने पर उनके द्वारा उसकी मांग न किये जाने के कारण वस्तु कम मांगी जाती है। मूल्य घटने पर नये क्रेताओं के प्रवेश तथा मूल्य बढ़ने पर पुराने क्रेताओं के बहिर्गमन के कारण भी मांग रेखा दायीं ओर नीचे को झुकती हुयी होती है।

मांग के नियम के अपवाद—मांग का नियम हमें यह बताता है कि मूल्य घटने पर मांग बढ़ती है तथा मूल्य बढ़ने पर मांग घटती है और इस तथ्य को रेखा चित्र पर व्यक्त करने पर बनने वाली मांग रेखा बायें से दायें को ऊपर से नीचे की ओर झुकती हुयी होती है। यह मांग के नियम का सामान्य रूप है परन्तु अपवाद स्वरूप कुछ मांग रेखाएं बांये से दांये को नीचे की ओर झुकने की बजाय ऊपर को उठती हुयी होती हैं। मांग के नियम के कुछ अपवाद निम्नलिखित हैं—

(1) गिफेन का विरोधाभास अथवा निम्नकोटि की वस्तुओं की मांग—मांग के नियम का एक ही सच्चा अपवाद है जो गिफेन का विरोधाभास के नाम से जाना जाता है। गिफेन महोदय ने बताया है कि निकृष्ट वस्तुओं की मांग मूल्य घटने पर बढ़ने की बजाय घट जाती है। निकृष्ट वस्तुओं के मूल्य घटने पर उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि होती है जिसे वह अन्य श्रेष्ठ वस्तुओं पर व्यय करता है जबकि निकृष्ट वस्तुओं का मूल्य बढ़ने पर ये वस्तुएं अन्य वस्तुओं से सस्ती होने के कारण ग्राहक इन्हीं को अधिक मात्रा में क्रय करने को बाध्य होता है। ऐसा जब ही होता है जब उपभोक्ता अपनी आय का एक बड़ा भाग इन वस्तुओं पर व्यय कर रहा हो।

(2) प्रतिष्ठा सूचक वस्तुओं की मांग—प्रतिष्ठा सूचक वस्तुओं की मांग मांग के नियम का अपवाद होती है। प्रतिष्ठा सूचक वस्तुओं की मांग के संबंध में यह देखने में आया है कि इन वस्तुओं की मांग इनका मूल्य बढ़ने पर बढ़ती है, क्योंकि इनसे व्यक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ती है। उदाहरण के लिए हीरे अथवा जवाहरात का मूल्य जितना ज्यादा होगा उतनी ही उसकी मांग ज्यादा होगी।

परन्तु इसे माग के नियम का अपवाद नहीं कह सकते हैं क्योंकि माग के नियम की यह मान्यता है कि वस्तु प्रतिष्ठा सूचक नही होनी चाहिए।

(3) भविष्य में वस्तु के मूल्यों में परिवर्तन की आशंका—जब किसी वस्तु का मूल्य बढ जाता है तथा यह आशंका हो कि निकट भविष्य में इसमें और अधिक वृद्धि होगी तो मूल्य बढने पर भी वस्तु की माग पहले से अधिक की जावेगी।

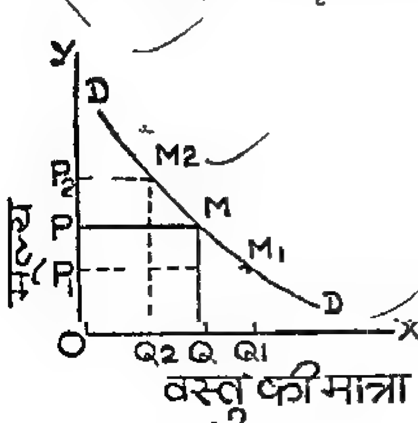
यह भी माग के नियम का अपवाद नही कहा जा सकता है क्योंकि नियम की एक यह मान्यता है कि वस्तु के मूल्य मे निकट भविष्य में वृद्धि की सम्भावना नही होनी चाहिए।

(4) अधिक मूल्य वाली वस्तु उत्तम—कभी कभी उपभोक्ता अज्ञानता के कारण वस्तु के मूल्य में अधिक वृद्धि होने पर उसे अधिक उपयोगी अथवा उत्तम समझ कर अधिक मात्रा में क्रय करने लगता है तथा दूसरी ओर वस्तु का कम मूल्य देख कर उसे निकृष्ट समझने लगता है। अत वह ऊंचे मूल्यों पर वस्तु अधिक तथा नीचे मूल्यों पर कम क्रय करता है।

यह भी माग के नियम का अपवाद नही कहा जा सकता है क्योंकि माग के नियम की एक मान्यता है कि उपभोक्ता की रुचि में परिवर्तन नही होना चाहिए जबकि इस उदाहरण मे ऊंचे मूल्यों पर उपभोक्ता की रुचि सुधर जाती है।

माग में विस्तार तथा संकुचन और माग में वृद्धि तथा कमी मे अन्तर
(Difference between Extension and Contraction of Demand and Increase and Decrease in Demand)

(क) माग में विस्तार तथा माग में संकुचन (Extension and Contraction of Demand)—अन्य बातों के स्थिर रहते हुए जब वस्तु के केवल मूल्य परिवर्तन के कारण वस्तु की मांगी गई मात्रा में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें माग में विस्तार तथा संकुचन के नाम से जाना जाता है। वस्तु के मूल्य में कमी होने पर उसकी मांगी गई मात्रा में वृद्धि को माग के विस्तार तथा वस्तु के मूल्य मे वृद्धि के कारण उस वस्तु की मांगी गई मात्रा मे कमी को माग के संकुचन के नाम से पुकारा जाता है। माग के विस्तार तथा माग के संकुचन में मूल्य परिवर्तन के कारण वस्तु की मांगी गई मात्रा में परिवर्तन होता है माग मे नही। अत माग के विस्तार तथा संकुचन में माग रेखा नहीं बदलती है। उपभोक्ता उसी माग रेखा पर मूल्य परिवर्तन के कारण नीचे या ऊपर चलता रहता है।



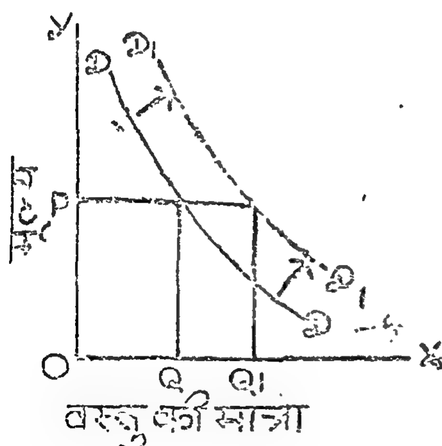
चित्र सं० 12.5

मांग में विस्तार तथा संकुचन को रेखा चित्र 12·5 से स्पष्ट किया जा सकता है :

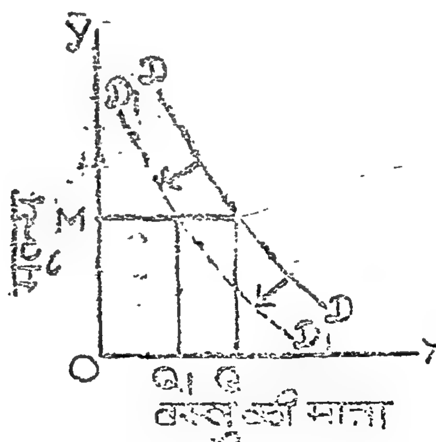
रेखा चित्र में O X अक्ष पर वस्तु की मात्रा तथा O Y अक्ष पर वस्तु का मूल्य दर्शाया गया है तथा D D मांग रेखा है। जब मूल्य O P है तब वस्तु की मांग O Q है। जब मूल्य घट कर O P_1 हो जाता है तो मांग में विस्तार O Q से O Q_1 हो जाता है। इसी तरह जब मूल्य बढ़ कर O P_2 हो जाता है तो वस्तु की मांगी गई मात्रा संकुचित होकर O Q_2 रह जाती है।

(ब) मांग में वृद्धि तथा मांग में कमी (Increase and Decrease in Demand)—जब किसी वस्तु की मांग में परिवर्तन मूल्य परिवर्तनों के अतिरिक्त अन्य कारणों से होते हैं तब इन्हें मांग में वृद्धि तथा मांग में कमी के नाम से पुकारा जाता है। मांग में परिवर्तनों का अध्ययन करते समय वस्तु के मूल्यों को स्थिर मान लिया जाता है। जब किसी वस्तु के मूल्य स्थिर रहते हुये उसकी अधिक मांग हो तो इसे मांग में वृद्धि कहते हैं, जबकि वस्तु के मूल्य स्थिर रहते हुये उसे कम मांगने को मांग में कमी कहते हैं। मांग में वृद्धि तथा कमी के परिणाम स्वरूप मांग वक्र ही बदल जाता है।

मांग में वृद्धि तथा कमी को रेखाचित्रों की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।



चित्र सं. 12·6



चित्र सं. 12·7

चित्र सं 12·6 से वस्तु की मांग में वृद्धि स्पष्ट होती है। मूल्यों के स्थिर रहते हुए मांग वक्र D D से बदलकर D_1 D_1 हो गया है। मूल्य O P पर पहले OQ मात्रा मांगी जाती थी अब मांग बढ़कर OQ_1 हो गई है।

चित्र सं. 12·7 से वस्तु की मांग में कमी स्पष्ट होती है। मांग वक्र D D

हट कर नीचे की ओर $D_1 D_1$ बन गया है तथा O P मूल्य पर मांग OQ से घट कर OQ_1 हो गई है।

मांग को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors affecting Demand)

मांग मूल्य के अतिरिक्त अनेक तत्वों से प्रभावित होती है। जिनमें से कुछ प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं

(1) उपभोक्ता की आय—किसी भी उपभोक्ता की मांग उसकी आय पर निर्भर करती है। यदि उपभोक्ता की आय अधिक होती है तो अन्य बातों के स्थिर रहने पर उपभोक्ता की वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग करने की शक्ति अधिक होती है जबकि आय कम होने पर उपभोक्ता द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग कम की जाती है। उपभोक्ता की समस्त आय मांग को प्रभावित नहीं करती है बल्कि आय का केवल वही भाग मांग को प्रभावित करता है जो व्यय करने के लिए है।

(2) उपभोक्ता की रुचि तथा स्वभाव—वस्तु की मांग उपभोक्ता की रुचि तथा पसन्द से प्रभावित होती है। जो वस्तु उपभोक्ता की रुचि से निकल जाती है उसकी मांग घट जाती है तथा जो वस्तु उपभोक्ताओं की रुचि के अनुकूल होती है उसकी मांग बढ़ जाती है।

(3) जलवायु—मनुष्य की अनेक आवश्यकताएं जलवायु से प्रभावित होती हैं और इसी के अनुरूप मांग भी जलवायु से प्रभावित होती है। गर्मी में ठंडा पेय और सर्दी में गर्म पेय की मांग में वृद्धि होती है।

(4) धन का वितरण—समाज में धन का वितरण किस तरह का है यह भी मांग को प्रभावित करता है। देश में धन का वितरण असमान होने पर विलासिताओं की मांग अधिक बढ़ती है जबकि वितरण समान होने पर आरामदायक एवं अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं की मांग बढ़ती है।

(5) जनसंख्या—यदि किसी देश में जनसंख्या बढ़ती है तो उस देश में अधिकांश वस्तुओं व सेवाओं की मांग बढ़ती हुई होती है। जनसंख्या घटने पर मांग भी कम हो जाती है।

(6) व्यापार की स्थिति—देश में व्यापार एवं उद्योग की स्थिति यदि उन्नति की ओर होती है तो उससे रोजगार एवं आय में वृद्धि होती है जिससे वस्तुओं की मांग बढ़ती है। जबकि व्यावसायिक मन्दी के समय मांग में भी कमी हो जाती है।

(7) मुद्रा की मात्रा—देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ने पर लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ने से मांग में वृद्धि होती है जबकि मुद्रा की मात्रा घटने पर सामान्यतया मांग में कमी हो जाती है।

(8) सबंधित वस्तुओं के मूल्य—किसी वस्तु की मांग उस वस्तु के स्थानापन्न एवं पूरक वस्तुओं के मूल्यों से भी प्रभावित होती है।

(9) ज्ञान में वृद्धि—ज्ञान वृद्धि से मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ती हैं तथा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए माँग में भी वृद्धि होती है।

(10) वस्तु की पूर्ति—जब किसी वस्तु की पूर्ति सीमित होती है तो सामान्यतया उस पूर्ति से अधिक माँग नहीं हो सकती है।

(11) सरकारी नीति—सरकार अनुदानों एवं करों में कमी द्वारा किसी वस्तु की माँग को प्रोत्साहित कर सकती है जबकि ऊंचे करों एवं नियंत्रण द्वारा माँग को हतोत्साहित कर सकती है।

प्रश्न एवं संकेत

1. माँग के विचार को उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट कीजिये। किसी वस्तु की माँग किन तत्वों से प्रभावित होती है ?

(संकेत—सर्वप्रथम माँग की परिभाषा देकर इसे एक या दो उदाहरणों से स्पष्ट कर दें। इसके बाद माँग को प्रभावित करनें वाले विभिन्न तत्वों को स्पष्ट कर दें।)

2. माँग के नियम की व्याख्या कीजिए। सामान्यतया माँग वक्र दायीं ओर नीचे की तरफ क्यों झुकती है ? क्या इसके कुछ अपवाद भी हैं ?

(संकेत—माँग के नियम की परिभाषा देकर इसे स्पष्ट कर दें। माँग के नियम के लागू होने के कारण देवें। ये कारण ही माँग वक्र के दायीं ओर नीचे की तरफ झुकने के कारण हैं। अन्त में माँग के नियम के अपवाद बतावें।)

3. माँग में वृद्धि तथा माँग में विस्तार और माँग में कमी तथा माँग में संकुचन का अन्तर बतलाइये। उन परिस्थितियों को समझाइये जिनके अन्तर्गत मूल्यों में वृद्धि के साथ-साथ ही माँग में भी वृद्धि होती है।

(संकेत—सर्व प्रथम माँग में वृद्धि एवं माँग में विस्तार का अन्तर लिखें तथा इसके बाद माँग में कमी तथा माँग के संकुचन को स्पष्ट करें। प्रश्न के दूसरे भाग में माँग के नियम के अपवाद बतलाइए।)

———

13 मांग की लोच (Elasticity of Demand)

मांग की लोच

अर्थ—किसी वस्तु की मांग की लोच मूल्य परिवर्तन के कारण वस्तु की मांगी गई मात्रा में परिवर्तन की दर होती है।

प्रकार—तीन प्रकार की होती है।

(1) मांग की मूल्य लोच या कीमत लोच।
(2) मांग की आय लोच।
(3) मांग की तिरछी लोच।

मांग की मूल्य लोच की श्रेणियां

(1) पूर्ण लोचदार मांग।
(2) अत्यधिक लोचदार मांग।
(3) इकाई लोचदार मांग।
(4) बेलोचदार मांग।
(5) पूर्ण बेलोचदार मांग।

मांग की लोच मापने की विधियां

अनेक विधियां हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित होती हैं

(1) [illegible] की प्रतिशत विधि।
(2) मार्शल की कुल व्यय विधि।
(3) मांग की बिन्दु रीति।
(4) मांग की चाप लोच विधि।

मांग की लोच को प्रभावित करने वाले तत्व

(1) वस्तु की प्रकृति।

मांग का नियम किसी वस्तु के मूल्य तथा उसकी मांगी गई मात्रा में विपरीत संबंध बताता है। मांग के नियम के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य घटने पर उस वस्तु की मांग बढ़ती है तथा मूल्य बढ़ने पर मांग घट जाती है। मांग का नियम केवल गुणात्मक कथन है जो मांग के परिवर्तन की दिशा को दर्शाता है परन्तु यह हमें इस बात की जानकारी नहीं देता है कि किसी वस्तु की मांग में कितनी वृद्धि होगी? इस प्रश्न के उत्तर की प्राप्ति के लिए मार्शल [illegible] ने मांग की लोच का विचार प्रस्तुत किया है।

मांग की लोच की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Elasticity of Demand)

सामान्यतया जब हम मांग की लोच शब्द का प्रयोग करते हैं तो इससे हमारा तात्पर्य मांग की मूल्य लोच अथवा मांग की कीमत लोच से होता है। किसी वस्तु के मूल्य (कीमत) में परिवर्तन के फलस्वरूप उस वस्तु की मांग की मात्रा में होने वाले परिवर्तन की माप ही मांग की लोच या मांग की मूल्य लोच कहलाती है। कुछ

(2) वस्तु के स्थानापन्न ।
(3) वस्तु के प्रयोगों की संख्या ।
(4) वस्तु के उपभोग का स्थान ।
(5) समय ।
(6) उपभोक्ता की आय ।
(7) उपभोक्ता की आदत ।
(8) संयुक्त मांग ।
(9) वस्तु पर व्यय की मात्रा ।
(10) धन का वितरण ।
(11) मूल्य स्तर ।
(12) उपभोग पर नियन्त्रण ।

मांग की लोच का महत्व :

(1) मूल्य निर्धारण सिद्धान्त में महत्वपूर्ण ।
(2) साधनों के पुरस्कार निर्धारण में सहायक ।
(3) राजस्व में महत्वपूर्ण ।
(4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में महत्वपूर्ण ।
(5) परिवहन भाड़े में महत्वपूर्ण ।
(6) प्रचुरता के मध्य निर्धनता की व्याख्या ।

प्रमुख अर्थशास्त्रियों की परिभाषाओं का वर्णन यहां किया गया है ।

मार्शल के शब्दों में : "किसी बाजार में मांग की लोच (अथवा प्रतिक्रिया) अधिक अथवा कम तब कही जाती है जब मूल्य में एक निश्चित कमी होने से मांग अधिक या कम बढ़ती है और मूल्य में एक निश्चित वृद्धि से उसकी मांग में अधिक या कम कमी होती है ।"[1]

प्रो.केरनक्रास के अनुसार : "किसी वस्तु की मांग की लोच वह दर है जिस पर क्रय की मात्रा में मूल्य परिवर्तन के कारण परिवर्तन होता है ।"[2]

बोल्डिंग के शब्दों में : "किसी वस्तु के मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन होने के परिणाम स्वरूप उस वस्तु की माँग में जो प्रतिशत परिवर्तन होता है, वह मांग की लोच कहलाता है ।"

श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार : "मांग की लोच किसी मूल्य अथवा उत्पादन पर, मूल्य में अल्प परिवर्तन के फलस्वरूप खरीदी गई मात्रा के आनुपातिक परिवर्तन को मूल्य के आनुपातिक परिवर्तन से भाग देने पर प्राप्त होती है ।"[3]

---

1. 'The elasticity (or responsiveness) of demand in a market is great or small according as the amount demanded increases much or little for a given fall in price, or diminishes much or little for a given rise in price."—Marshall
2. "The elasticity of demand for a commodity is the rate at which the quantity bought changes as the prcice exchanges." —Cairncross
3. "The elasticitity of demand at any price or at any output is the proportional change of amount demanded in response to a small change in price divided by the proportional change in price."—Mrs. John Robinson

श्रीमती जोन रोबिन्सन की परिभाषा को एक सूत्र मे व्यक्त किया जा सकता है

$$\text{मांग की लोच} = \frac{\text{मांग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{मूल्य मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

उपरोक्त परिभाषाओ के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि मांग की लोच किसी वस्तु की मात्रा म मूल्य परिवर्तन के फलस्वरूप होने वाले परिवर्तन की मात्रा होती है ।

माग की लोच के प्रकार (Kinds of Elasticity of Demand)

माग की लोच तीन प्रकार की होती है—(1) माग की मूल्य लोच, (2) मांग की आय लोच एव (3) मांग की तिरछी लोच ।

माग की मूल्य लोच (Price Elasticity of Demand)— सामान्यता माग की लोच का तात्पय माग की मूल्य लोच से ही होता है जिसका वर्णन पिछले पृष्ठो पर किया जा चुका है । किसी वस्तु के मूल्य परिवतन के परिणाम स्वरूप उसकी मागी गई मात्रा म परिवतन की दर को 'माग की लोच' अथवा माग की मूल्य लोच' कहते हैं ।

$$\text{सूत्र के रूप मे मांग की लोच} = \frac{\text{वस्तु की मांग म आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{वस्तु के मूल्य मे आनुपातिक परिवतन}}$$

(2) माग की आय लोच (Income Elasticity of Demand)— किसी वस्तु की 'मांग की आय लोच यह प्रकट करती है कि किसी उपभोक्ता की आय मे परिवर्तन होने पर उस वस्तु की माग पर क्या प्रभाव पडता है । यदि किसी वस्तु की आय माग लोच कम है तो इसका अर्थ यह होता है कि उपभोक्ता की आय म वृद्धि अथवा कमी का वस्तु की माग पर बहुत कम प्रभाव पडता है किसी वस्तु की आय माग लोच को ज्ञात करते समय अन्य बातो को स्थिर मान लिया जाता है अर्थात् उपभोक्ता की रुचि आदत, फैशन वस्तु के मूल्य, सबधित वस्तुओ के मूल्य आदि को स्थिर मान लिया जाता है । सक्षेप म 'माग की आय लोच' से यह स्पष्ट होता है कि अन्य बातें समान रहने पर उपभोक्ता की आय म परिवतन के फलस्वरूप उपभोक्ता की माग में क्या परिवर्तन होगा ।

$$\text{सूत्र के रूप मे माग की आय लोच} = \frac{\text{वस्तु की माग मे आनुपातिक परिवतन}}{\text{आय म आनुपातिक परिवतन}}$$

(3) माग की तिरछी या आडी लोच (Cross Elasticity of Demand)— अनेक वस्तुए एक दूसरे की स्थानापन्न वस्तुए होती हैं जैसे काफी चाय की स्थानापन्न वस्तु होती है । स्थानापन्न वस्तुओ की माग एक दूसरे की प्रतिस्पर्धी होती है अर्थात् एक वस्तु का मूल्य बढता है तो अन्य स्थानापन्न वस्तुओं की माग बढ जाती है । उदाहरणार्थ चाय का मूल्य बढने पर काफी की माग बढ़ जाती है । माग की तिरछी लोच ऐसी ही स्थानापन्न वस्तुओं से सम्बंधित है । माग की तिरछी

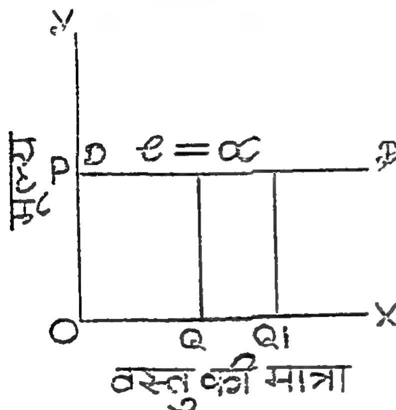
लोच से यह स्पष्ट होता है कि किसी एक वस्तु के मूल्य परिवर्तन से किसी दूसरी वस्तु या वस्तुओं की मांग में कितना परिवर्तन होता है।

$$\text{सूत्र के रूप में मांग की तिरछी लोच} = \frac{\text{'ब' वस्तु की मांग में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{'अ' वस्तु के मूल्य में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

मांग की मूल्य लोच अथवा मांग की लोच की श्रेणियां अथवा भेद
(Degrees of Price Elasticity)

मांग की लोच अथवा माग की कीमत लोच की पाच श्रेणियां होती हैं—

(1) पूर्णतया लोचदार माग, (2) अत्यधिक लोचदार मांग, (3) लोचदार अथवा नीमन लोचदार मांग, (4) वेलोचदार माग, तथा (5) पूर्ण वेलोचदार मांग। इन सभी श्रेणियों का यहां संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

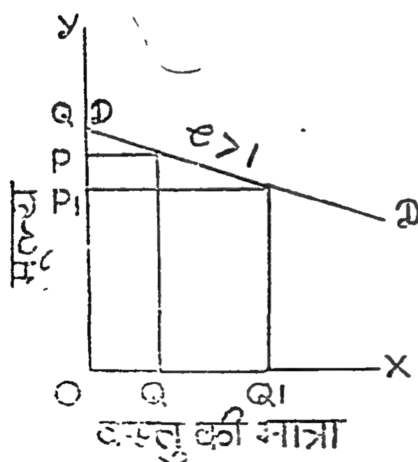


रेखा चित्र सं. 13·1

(1) पूर्णतया लोचदार मांग (Perfectly Elastic Demand)—जब किसी वस्तु के मूल्य में तनिक-सी वृद्धि से मांग घट कर शून्य हो जाती है और मूल्य में तनिक-सी कमी से मांग में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है तो ऐसी वस्तु की मांग पूर्णतया लोचदार मांग कहलाती है। इसे निम्न रेखा चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है— e = ∞

विक्रेता वस्तु की मात्रा OP मूल्य पर असीमित मात्रा में बेच सकता है जब कि मूल्य में तनिक-सी वृद्धि पर मांग घट कर शून्य हो जावेगी।

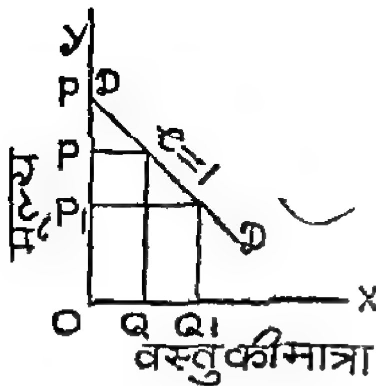
पूर्ण लोचदार माग व्यवहार में देखने को नहीं मिलती है।



रेखा चित्र सं. 13·2

(2) अधिक लोचदार मांग (Highly Elastic Demand)—जब किसी वस्तु की माग में परिवर्तन मूल्य परिवर्तन से अधिक होता है तो इसे अधिक लोचदार मांग कहते हैं। उदाहरण के तौर

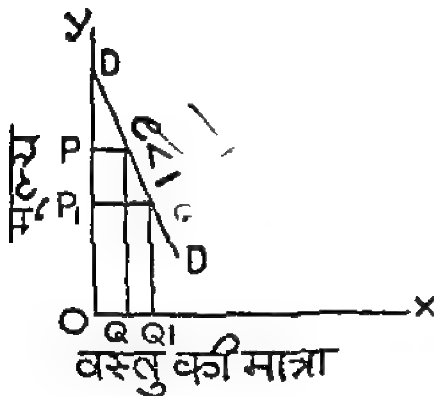
पर मूल्य मे 10 प्रतिशत कमी हो और माग म 15–20 या अधिक प्रतिशत परिवर्तन हो तो इसे हम अधिक लोचदार माग कहेगे ।



रेखा चित्र स 13 3

उपरोक्त रेखा चित्र में वस्तु के मूल्य मे थोडा सा परिवर्तन OP से OP_1 हुआ जब कि माग मे बहुत अधिक परिवर्तन OQ से OQ_1 हुआ ।

(3) लोचदार मांग या इकाई लोचदार मांग (Unitary Elastic Demand)— जब किसी वस्तु की माग म मूल्य परिवर्तन के अनुपात म ही परिवर्तन होता है तो उस वस्तु की लोच को इकाई लोचदार मांग' कहते हैं। जैसे किसी वस्तु के मूल्य मे 10 प्रतिशत कमी हुई और वस्तु की माग म भी 10 प्रतिशत की वृद्धि हो जाय तो वस्तु की माग की लोच इकाई लोच होगी ।



रेखा चित्र स 13 4

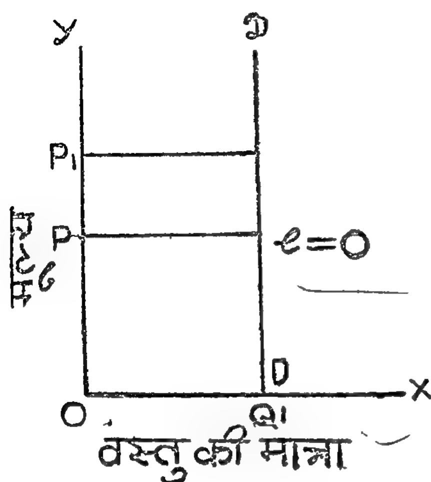
उपरोक्त रेखा चित्र मे वस्तु का मूल्य OP से घट कर OP_1 होता है तो माग बढ कर OQ से OQ_1 हो जाती है अर्थात् मूल्य म परिवर्तन के बराबर ही माग मे परिवर्तन हुआ है। e = 1

(4) बेलोचदार मांग (Inelastic Demand)—जब किसी वस्तु के मूल्यो मे परिवर्तन होने पर उसकी माग मे अपेक्षाकृत कम परिवर्तन होता है तो ऐसी वस्तु की माग को बेलोचदार माग कहते हैं। उदाहरणार्थ वस्तु के मूल्य मे 10 प्रतिशत कमी होती है जब कि माग में 5 प्रतिशत ही वृद्धि होती है तो यहां माग बेलोचदार होगी ।

उपरोक्त रेखाचित्र मे वस्तु के मूल्य मे OP से घटकर OP_1 हुए जबकि मांग बढकर OQ से OQ_1 हुई। यह वृद्धि मूल्य मे कमी की अपेक्षा बहुत कम है अत वस्तु की माग बेलोचदार है ।

(5) पूर्णतया बेलोचदार मांग (Perfectly Inelastic Demand)—जब किसी वस्तु के मूल्यो मे अत्यधिक परिवर्तन का भी उसकी माग पर कोई

प्रभाव नहीं पड़ता तो ऐसी वस्तु की मांग पूर्णतया बेलोचदार मांग कहलाती है। यह भी काल्पनिक होती है।



रेखा चित्र सं. 13·5

निम्न रेखाचित्र में OP मूल्य पर मांग OQ_1 है तथा OP_1 बढ़े हुए मूल्य पर भी मांग OQ_1 ही है अत वस्तु की मांग पूर्णतया बेलोचदार है। e = O

मांग की लोच को मापने की विधियां

(Methods of Measuring the Elasticity of Demand)

मांग की लोच को मापने की विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न विधियां बताई गई है जिनमें से कुछ सरल विधियों का वर्णन यहां किया गया है—

(1) फ्लक्स की प्रतिशत रीति (Flux's Percentage Method)।

(2) मार्शल की कुल व्यय विधि (Marshall's Tolal Outlay Method)।

(3) मांग की बिन्दु रीति (Point Elasticity of Demand)।

(4) मांग की चाप लोच (Are Elasticity of Demand)।

(1) प्रतिशत विधि—इस विधि में मांग की लोच ज्ञात करने के लिए वस्तु की मांग के प्रतिशत परिवर्तन में मूल्य के प्रतिशत परिवर्तन का भाग दिया जाता है। यदि ऐसा करने से उत्तर 1 आता है तो मांग की लोच इकाई के बराबर होगी। यदि एक से अधिक आता है तो मांग की लोच इकाई से अधिक तथा 1 से कम आने पर इकाई से कम होती है। इस विधि को सूत्र के रूप मे निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

$$\text{मांग की लोच} = \frac{\text{मांग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{मूल्य मे प्रतिशत परिवर्तन}}$$

या

$$\text{मांग की लोच} = \frac{\dfrac{\text{मांग में परिवर्तन}}{\text{मांग की पूर्व मात्रा}}}{\dfrac{\text{मूल्य में परिवर्तन}}{\text{पूर्व का मूल्य}}}$$

इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

प्रति इकाई वस्तु का मूल्य (रुपए)		कुल माग (इकाइयाँ)	माग की लोच
	5	1000	
प्रथम स्थिति	4	1100	$\frac{10}{20} = 0.5$
द्वितीय स्थिति	4	1200	$\frac{20}{20} = 1.0$
तृतीय स्थिति	4	1300	$\frac{30}{20} = 1.5$

उपरोक्त तालिका स ज्ञात होता है कि प्रथम स्थिति म वस्तु की माग की लोच इकाई से कम है, द्वितीय अवस्था म इकाई के बराबर और तृतीय अवस्था म इकाई से अधिक है।

(2) मार्शल की कुल व्यय विधि—प्रो अल्फ्रेड मार्शल ने माग की लोच को मापने की कुल व्यय विधि बतलाई है, इस विधि म मूल्य परिवर्तन से पहले तथा मूल्य परिवर्तन के बाद वस्तु पर कुल व्यय की तुलना की जाती है। इस विधि के अनुसार भी वस्तु की माग की लोच इकाई ($e = 1$) इकाई से अधिक ($e > 1$) तथा इकाई से कम ($e \angle 1$) होती है।

(अ) मांग की लोच इकाई ($e = 1$)—जब किसी वस्तु के मूल्य म कमी होने अथवा वृद्धि होने पर भी वस्तु पर कुल व्यय की मात्रा स्थिर रहती है तो वस्तु की माग की लोच इकाई के बराबर होती है।

(ब) मांग की लोच इकाई से अधिक ($e > 1$)—जब किसी वस्तु के मूल्य म कमी होने पर वस्तु पर किये जाने वाले कुल व्यय की राशि बढ जाती है तथा मूल्य बढने पर घट जाती है तो मांग की लोच इकाई से अधिक होती है।

(स) मांग की लोच इकाई से कम ($e \angle 1$)—जब किसी वस्तु के मूल्य म कमी होने पर वस्तु पर किये जाने वाले कुल व्यय मे कमी होती है तथा मूल्य बढने पर वृद्धि होती है तो वस्तु की माग की लोच इकाई से कम होती है।

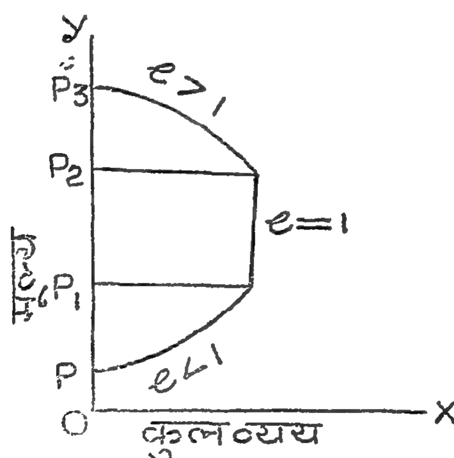
माग की लोच मापने की कुल व्यय विधि को एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं—

अगले पृष्ठ की तालिका स ज्ञात होता है कि प्रथम स्थिति म वस्तु की माग की लोच इकाई के बराबर है, क्योंकि, वस्तु पर किया गया कुल व्यय मूल्य परिवर्तन पर भी स्थिर रहता है। दूसरी स्थिति म वस्तु की माग लोच इकाई से अधिक है क्योंकि मूल्य मे कमी होने पर कुल व्यय बढ जाता है तथा मूल्य मे वृद्धि होने पर कुल व्यय घट जाता है। तृतीय स्थिति म माग की लोच इकाई से कम है, क्योंकि मूल्य मे कमी होने पर कुल व्यय घट जाता है तथा मूल्य बढने पर कुल व्यय बढ जाता है।

विभिन्न मूल्यों पर वस्तु की मांग तथा कुल व्यय

मूल्य प्रति इकाई (रु.)	प्रथम स्थिति		द्वितीय स्थिति		तृतीय स्थिति	
	वस्तु की मात्रा	कुल व्यय (रु.)	वस्तु की मात्रा	कुल व्यय (रु)	वस्तु की मात्रा	कुल व्यय (रु.)
5	60	300	60	300	60	300
4	75	300	100	400	70	280
3	100	300	150	450	80	240

मार्शल की कुल व्यय विधि को रेखा चित्र से भी स्पष्ट किया जा सकता है। इस रेखा चित्र सं. 13·6 में OX अक्ष पर कुल व्यय तथा OY अक्ष पर मूल्य दिखाया गया है। इस रेखा चित्र में P_2 से P_3 मूल्य तक वस्तु की मांग की



रेखा चित्र सं. 13·6

लोच इकाई से अधिक है क्योंकि मूल्य कम होने पर कुल व्यय बढ़ जाता है जबकि वस्तु की मांग की लोच P_2 से P_1 मूल्य पर इकाई के बराबर है, क्योंकि कुल व्यय स्थिर रहता है। जबकि P_1 से P तक मूल्य पर वस्तु की मांग की लोच इकाई से कम है, क्योंकि मूल्य कम होने से कुल व्यय भी घट जाता है।

(3) **मांग की बिन्दु लोच विधि**—जब वस्तु के मूल्य में बहुत सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं तो ऐसी स्थिति में परिवर्तन की दर बहुत कम होने से मांग रेखा के किसी बिन्दु पर मांग की लोच ज्ञात करना अधिक उपयुक्त रहता है क्योंकि मांग रेखा के विभिन्न बिन्दुओं पर मांग की लोच भिन्न-भिन्न होती है। मांग वक्र के विभिन्न बिन्दुओं

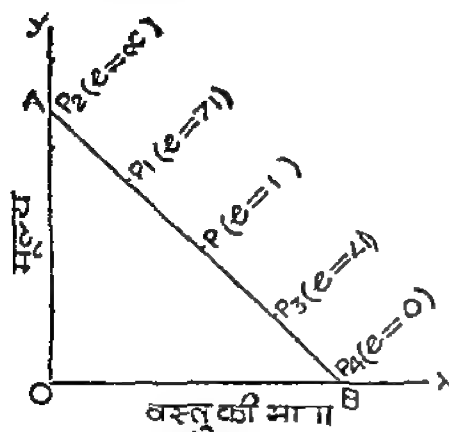
पर लोच ज्ञात करने के लिए बिन्दु लोच विधि बतलाई गई है । बिन्दु लोच ज्ञात करने का सूत्र निम्नलिखित है—

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग वक्र पर किसी बिन्दु से माँग वक्र का नीचे का भाग}}{\text{माँग वक्र पर किसी बिन्दु से माँग वक्र का ऊपर का भाग}}$$

सूत्र को नीचे के रेखा चित्र सं 13 7 के सन्दर्भ मे P बिन्दु पर लोच ज्ञात करने के लिए

$$e = \frac{PB}{PA}$$

यदि PB = PA तो माँग की लोच P बिन्दु पर इकाई के बराबर होगी ।
यदि PB > PA तो माँग की लोच P बिन्दु पर इकाई से अधिक होगी ।
यदि PB < PA तो माँग की लोच P बिन्दु पर इकाई से कम होगी ।



रेखा चित्र सं 13 7

(4) माँग की चाप लोच—जब वस्तु के मूल्य तथा माँगी गई मात्रा मे सूक्ष्म परिवर्तनो के स्थान पर बड़े परिवर्तन होते हैं तो ऐसी स्थिति में माँग की चाप लोच ज्ञात करना अधिक श्रेष्ठ रहता है। माँग की चाप लोच मापते समय मूल्य तथा माँग की मात्रा दोनों के मध्य बिन्दु लेकर माँग की लोच इन मध्य बिन्दुओं पर मापी जाती है । चाप लोच मापने के लिए निम्न सूत्र का प्रयोग किया जा सकता है—

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\dfrac{\text{माँग की मात्रा मे परिवर्तन}}{\text{प्रारम्भिक माँग की मात्रा + परिवर्तन के पश्चात् नई माँग मात्रा}}}{\dfrac{\text{मूल्य में परिवर्तन की मात्रा}}{\text{प्रारम्भिक मूल्य + परिवर्तन के पश्चात् मूल्य}}}$$

$$\text{अथवा} = \frac{Q \quad Q_1}{Q+Q_1} \div \frac{P-P_1}{P+P_1}$$

जबकि Q तथा Q_1 क्रमश परिवर्तन से पूर्व माँग मात्रा तथा परिवर्तन के पश्चात् माँग मात्रा को दिखाते है ।

P तथा P_1 क्रमशः परिवर्तन से पूर्व मूल्य तथा परिवर्तन के बाद मूल्य को दिखाते हैं।

इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। माना की वस्तु का मूल्य 5 रुपया रहता है तब मांग 10 इकाइयां हैं और मूल्य घट कर 4 रुपया होने पर मांग बढ़ कर 14 इकाइयां हो जाती है तो ऐसी स्थिति में

$$\text{मांग की लोच} = \frac{10-14}{10+14} \div \frac{5-4}{5+4}$$

$$= \frac{-4}{24} \div \frac{1}{9}$$

$$= \frac{-4}{24} \times \frac{9}{1}$$

$$= \frac{-3}{2}^{*}$$

$$= 1 \cdot 5$$

मांग की लोच 1·5 या इकाई से अधिक है अर्थात् वस्तु की मांग अत्यधिक लोचदार है।

मांग की लोच को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors affecting Elasticity of Demand)

मांग की लोच अनेक आर्थिक तथा गैर आर्थिक तत्वों से प्रभावित होती है जिनमें से कुछ प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं :

(1) वस्तु विशेष की प्रकृति— वस्तु विशेष की प्रकृति उसकी मांग की लोच को सर्वाधिक प्रभावित करती है। सामान्यतया विलासिता की वस्तुओं की मांग लोचदार, आरामदायक आवश्यकताओं की वस्तुओं की माँग इकाई लोचदार तथा अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुओं की मांग बेलोचदार होती है। विलासिताओं की वस्तुएं जैसे बहुत बढ़िया कपड़े, कार, कूलर आदि की मांग लोचदार होती है, क्योंकि मूल्य घटने पर इनकी मांग में बहुत वृद्धि हो जाती है। शहर में पंखा, स्कूटर जैसी वस्तुएं आरामदायक आवश्यकता की होती हैं और इनकी मांग सामान्य लोचादर होती है। अन्न, नमक आदि अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुएं हैं इनकी मांग बेलोचदार होती है। मूल्य बढ़ने-घटने पर भी इनकी मांग कम अधिक नहीं होती है।

---

* यहां ऋण के चिन्ह को भुला दिया जाता है क्योंकि मांग की लोच हमेशा ऋणात्मक ही होती है क्योंकि वस्तु की मात्रा तथा मूल्य में विपरीत सम्बन्ध होता है।

(2) **वस्तु विशेष के स्थानापन्न**—एक वस्तु के स्थानापन्नो की उपलब्धि भी उस वस्तु की माग की लोच को प्रभावित करती है। जिस वस्तु के जितने अधिक स्थानापन्न होते हैं उसकी माग उतनी ही अधिक लोचदार होती है जबकि स्थानापन्न न होने पर माग बेलोचदार होती है। स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धि होने पर वस्तु विशेष का मूल्य बढने पर उसके स्थानापन्नो का उपयोग बढ जाता है।

(3) **वस्तु के प्रयोगो की संख्या**—जिस वस्तु के जितने अधिक स्थानापन्न उपयोग होते हैं उसकी माग उतनी ही अधिक लोचदार होती है, क्योंकि ऐसी वस्तु का मूल्य घटने पर उस वस्तु को अधिक प्रयोगो मे लाया जाता है जबकि मूल्य बढने पर उसे केवल अधिक आवश्यक कार्यों मे ही प्रयोग किया जाता है।

(4) **वस्तु के प्रयोग का स्थगन**—यदि किसी वस्तु के प्रयोग को भविष्य के लिए स्थगित किया जा सकता है तो उसकी माग की लोच अधिक होगी। उदाहरण के लिए जूतो की माग भारत मे अधिक लोचदार है क्योंकि व्यक्ति पुराने जूतो से काम निकाल कर नये जूता के क्रय को स्थगित कर सकता है।

(5) **समय**—समय तत्व का भी मांग की लोच पर प्रभाव पडता है। सामान्यतया अल्पकाल मे किसी वस्तु की मांग बेलोचदार होती है जबकि दीर्घकाल में अधिक लोचदार। अल्पकाल मे मांग के कम लोचदार होने का कारण यह है कि उपभोक्ता मूल्य परिवर्तनो के अनुरूप अपनी माग को समायोजित नही कर पाता है।

(6) **उपभोक्ता की आय**—बिलकुल निर्धन एवं अधिक धनी उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ की वस्तुओ की मांग बेलोचदार होती है क्योंकि बिल्कुल निर्धन उपभोक्ता केवल अनिवार्य आवश्यकताओ की वस्तुओ की मांग करते हैं जबकि अधिक धनी व्यक्तियों पर मूल्य परिवर्तन का प्रभाव नही पडता है। इसके विपरीत मध्यम आय स्तर वाले उपभोक्ताओ की माग की लोच अधिक होती है।

(7) **उपभोक्ता की आदत**—जिन वस्तुओ के उपभोग की उपभोक्ता को आदत बन जाती है उनकी माग बेलोचदार होती है। अर्थात् ऐसी वस्तुओ की माग की लोच कम होती है।

(8) **संयुक्त माग**—कुछ वस्तुओ का उपभोग एक साथ किया जाता है जैसे पेन और स्याही, पैट्रोल एवं मोटरकार। ऐसी दशा मे एक वस्तु की माग की लोच सम्बन्धित वस्तु की माग की लोच पर निर्भर करती है। कार की माग बढने पर पैट्रोल की मांग स्वतः ही बढ जाती है।

(9) **वस्तु पर व्यय की मात्रा**—यदि किसी वस्तु पर व्यय की मात्रा उपभोक्ता की कुल आय का बहुत कम भाग होती है तो उस वस्तु की मांग की लोच बहुत कम होती है अर्थात् माग बेलोचदार होती है। जबकि किसी वस्तु पर आय का अधिक भाग व्यय होने पर उसकी माग अधिक लोचदार होती है। उदाहरण के लिए दियासलाई की मांग बेलोचदार होती है जबकि अच्छे कपडो की माग लोचदार होती है।

(10) **समाज में धन का वितरण**—समाज में धन का वितरण अधिक समान होने पर वस्तु की माँग अधिक लोचदार होती है क्योंकि मूल्य परिवर्तन से सभी उपभोक्ताओं की मांग में परिवर्तन होता है। जबकि धन का बहुत असमान वितरण होने पर मांग बेलोचदार होती है क्योंकि धनी वर्ग पर मूल्य परिवर्तन का प्रभाव नहीं पड़ता है जबकि निर्धन व्यक्ति केवल अति आवश्यक वस्तुएं ही क्रय करते हैं।

(11) **मूल्य स्तर**—वस्तु का मूल्य जितना ऊंचा होता है मांग उतनी ही अधिक लोचदार होती है। मध्यम मूल्य स्तर पर मांग सामान्यतया लोचदार होती है तथा नीचे मूल्यों पर मांग बेलोचदार होती है।

(12) **उपभोग पर नियंत्रण**—जिन वस्तुओं के उपभोग पर प्रतिबन्ध होता है तथा जिन्हें इच्छित मात्रा में नहीं खरीदा जा सकता है उनकी मांग बेलोचदार होती है।

(13) **अन्य तत्व**—उपरोक्त बातों के अतिरिक्त वस्तु का टिकाऊपन, वस्तु की किस्म, भावी कीमतें आदि तत्व भी मांग की लोच को प्रभावित करते हैं।

मांग की लोच के विचार का महत्व

(Importance of the Concept of Elasticity of Demand)

अर्थशास्त्र में मांग की लोच का विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी की सहायता से विनिमय तथा वितरण के सिद्धान्तों की व्याख्या संभव हो पाई है। मांग की लोच के विचार का महत्व निम्नलिखित शीर्षकों में पढ़ सकते हैं—

(1) **मूल्य सिद्धान्त में मांग की लोच का महत्व**—मांग की लोच मूल्य निर्धारण सिद्धान्त में एक महत्वपूर्ण उपकरण है। इसकी मूल्य निर्धारण सिद्धान्त में निम्न उपयोगिता है।

(अ) फर्म के साम्य की दशाओं के निर्धारण में सहायक—किसी वस्तु का मूल्य मांग तथा पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है तथा एक फर्म उस समय साम्य की अवस्था में होती है जब फर्म की सीमान्त आगम एवं सीमान्त लागत दोनों बराबर हों। मांग की लोच तथा सीमान्त लागत में घनिष्ठ संबंध है। अतः फर्म के साम्य के निर्धारण में मांग की लोच का विचार सहायक होता है।

(ब) एक एकाधिकारी उत्पादक एवं विक्रेता के लिए मांग की लोच महत्वपूर्ण होती है। एक एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए बेलोचदार मांग की वस्तुओं का मूल्य ऊंचा निर्धारित करता है तथा लोचदार माँग की स्थिति में मूल्य कम रखता है।

(स) एक एकाधिकारी मूल्य विभेदीकरण की नीति अपनाते समय भी मांग की लोच का सहारा लेता है। एकाधिकारी ऐसे बाजार में मूल्य ऊंचे रखता है जहाँ मांग बेलोचदार है तथा लोचदार मांग वाले बाजार में मूल्य नीचे रखता है।

(द) एक ऐसा उत्पादक जो अनेक वस्तुओं का एक साथ उत्पादन करता है और उसके लिए अलग अलग वस्तुओं के लिए लागत का विभाजन संभव न हो

तो वह वस्तुओं का मूल्य लागत के अनुसार नहीं बल्कि उनकी माग की लोच के अनुसार निर्धारित करता है। जिस वस्तु की मांग अधिक लोचदार होती है उसका मूल्य अपेक्षाकृत नीचा तथा बेलोचदार मांग वाली वस्तुओं का मूल्य ऊंचा रखा है।

(2) वितरण सिद्धान्त में मांग की लोच का महत्व—आज उत्पादन उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के सामूहिक प्रयत्नों द्वारा होता है। इस सामूहिक उत्पत्ति में प्रत्येक साधन का पृथक-पृथक पुरस्कार निर्धारित करना आवश्यक होता है। उत्पादन के विभिन्न साधनों के पुरस्कार निर्धारण में माग की लोच का विचार बहुत सहायक सिद्ध होता है। एक उत्पादक उत्पादन के उन साधनों को पुरस्कार अधिक देता है जिनके लिए उसकी माग बेलोचदार है तथा उन साधनों को कम पुरस्कार देता है जिनकी उसकी माग लोचदार है।

(3) सार्वजनिक वित्त में मांग की लोच का महत्व—सार्वजनिक वित्त में करारोपण के लिए वस्तुओं के चयन करने, कर भार का निर्धारण करने, समाज को एकाधिकारियों के शोषण से बचाने के लिए आवश्यक नीति निर्धारण, आदि में माग की लोच का विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वित्त मंत्री कर की निश्चितता के लिए बेलोचदार माग की वस्तुओं का चयन करता है परन्तु अनिवार्य आवश्यकताओं की वस्तुएं सार्वजनिक कल्याण के लिए कर मुक्त रखी जाती हैं। सरकार ऐसे एकाधिकारी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करती है जो बेलोचदार माग की वस्तुओं का उत्पादन करते हैं तथा उपभोक्ताओं का शोषण करते हैं।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में माग की लोच का महत्व—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी माग की लोच का विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में व्यापार शर्तें उस देश के पक्ष में आती हैं जिसके निर्यातों की माग बेलोचदार होती है एवं आयातों की माग लोचदार होती है। इसके विपरीत उस देश की व्यापार शर्तें प्रतिकूल होती हैं जिसके निर्यातों की माग लोचदार तथा आयातों की माग बेलोचदार होती है।

(5) यातायात में विभिन्न वस्तुओं में भाड़े की दरों के निर्धारण में माग की लोच का महत्व—किसी एक ही यातायात के साधन द्वारा जब अनेक प्रकार की वस्तुओं को ढोया जाता है तो बेलोचदार मांग वाली वस्तुओं में भाड़े की दर अधिक तथा लोचदार माग वाली वस्तुओं की भाड़े की दरें कम रखी जाती हैं।

(6) प्रचुरता के मध्य गरीबी के विरोधाभास की व्याख्या में सहायक—अनेक बार यह देखा जाता है कि अनेक देशों में कृषि उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि होने पर भी कृषक निर्धन रहते हैं। इस सम्पन्नता या प्रचुरता के मध्य गरीबी के विरोधाभास की व्याख्या मांग की लोच के विचार द्वारा होती है। बेलोचदार माग की वस्तुओं के उत्पादन में अधिक वृद्धि समृद्धि के स्थान पर गरीबी को बढ़ाती है।

प्रश्न एवं संकेत

1. मांग की लोच' का क्या अर्थ है? यह कैसे मापी जाती है ? इसको प्रभावित करने वाले कौन कौन से तत्व हैं ? समझाइए।

(संकेत—प्रथम भाग में मांग की परिभाषा लिख कर इसका अर्थ बतावें। द्वितीय भाग में मांग की लोच को मापने की कोई दो विधियां लिखें। तथा अन्तिम भाग में मांग की लोच को प्रभावित करने वाले तत्वों की व्याख्या करें।)

2. मांग की लोच के विचार तथा व्यावहारिक जीवन में इसके महत्व को समझा कर लिखिये।

(संकेत—प्रथम भाग में मांग की लोच की परिभाषा एवं अर्थ लिखते हुये मांग की लोच के प्रकार भी लिखें। द्वितीय भाग में मांग की लोच का विभिन्न क्षेत्रों यथा मूल्य निर्धारण सिद्धान्त, उत्पादन साधनों के पुरस्कार निर्धारण, राजस्व, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आदि में महत्व लिखें।)

3. लोचदार मांग तथा बेलोचदार माग में अन्तर स्पष्ट कीजिये। कुछ वस्तुओं की माग अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक लोचदार क्यों होती है ?

(संकेत—सर्व प्रथम मांग की लोच का अर्थ लिख कर मांग की मूल्य लोच की विभिन्न श्रेणियों का उल्लेख करके लोचदार मांग तथा बेलोचदार मांग को स्पष्ट करें। अन्त में मांग की लोच को प्रभावित करने वाले तत्वों के आधार पर स्पष्ट करें कि कुछ वस्तुओं की मांग उन तत्वों के कारण लोचदार तथा अन्य की बेलोचदार होती है।)

4. मांग की लोच का अर्थ बताइये। मांग की लोच की विभिन्न श्रेणियां कौन-कोन सी हैं ? क्या मांग की लोच का माप संभव है ?

(संकेत—पहले भाग में मांग की लोच की परिभाषा व अर्थ लिखें दें। द्वितीय भाग में मांग की मूल्य लोच की पांचों श्रेणियां बतलावें तथा अन्तिम भाग में लिखें कि मांग की लोच मापी जा सकती है तथा इसके मापने की कोई एक या दो विधियों का वर्णन करें।)

14

पूर्ति एवं पूर्ति का नियम

Supply and Law of Supply

पूर्ति का अर्थ (Meaning of Supply)—किसी दिये हुए मूल्य पर एक निश्चित समयावधि में एक उत्पादक अथवा विक्रेता किसी वस्तु की जितनी मात्रा बेचने को तत्पर होता है उसे उस वस्तु की पूर्ति कहते हैं। उदाहरणार्थ राम 150 रु प्रति क्विटल की दर से आज 500 क्विटल गेहू बेचने को तत्पर है तो राम की एक दिन की गेहू की 150 रुपये क्विटल के भाव पर 500 क्विटल पूर्ति हुई।

पूर्ति एव पूर्ति का नियम

अर्थ—किसी दिये हुये मूल्य पर एक निश्चित समयावधि मे एक उत्पादक अथवा विक्रेता किसी वस्तु की जितनी मात्रा बेचने को तत्पर होता है उसे उस वस्तु की पूर्ति कहते हैं।

पूर्ति तालिका—किसी निश्चित समयावधि मे विभिन्न मूल्यो पर भिन्न भिन्न मात्राए बेची जाती हैं इन मात्राओ एव मूल्यो को एक तालिका में प्रदर्शित करने पर बनने वाली तालिका पूर्ति तालिका कहलाती है।

पूर्ति का नियम—बेची जाने वाली मात्राओ एव मूल्यो में प्रत्यक्ष सम्बन्ध बताने वाला नियम पूर्ति का नियम कहलाता है। अर्थात् एक विक्रेता अधिक मूल्य पर वस्तु की अधिक मात्रा बेचता है तथा कम मूल्य पर कम।

पूर्ति तालिका (Supply Schedule)—एक बाजार मे एक निश्चित समयावधि में एक वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राए बेची जाती हैं और इन विभिन्न मूल्यो पर बेची जाने वाली वस्तु की मात्राओ को एक तालिका मे प्रदर्शित करने पर बनने वाली तालिका पूर्ति की तालिका कहलाती है। पूर्ति तालिका भी माग तालिका की भांति दो प्रकार की होती है–

(1) व्यक्तिगत पूर्ति तालिका, तथा

(2) बाजार की पूर्ति तालिका।

(1) व्यक्तिगत पूर्ति तालिका—इस तालिका से यह ज्ञात होता है कि एक विशिष्ट विक्रेता एक निश्चित समयावधि मे विभिन्न मूल्यो पर किसी वस्तु की कितनी कितनी मात्राए बेचने को तत्पर है। व्यक्तिगत पूर्ति तालिका में प्रदर्शित मूल्य तथा मात्राए वास्तव मे बाजार मे प्रचलित नहीं रहती हैं। यह तालिका विक्रेता की भूत काल मे प्रतिक्रियाओ के आधार पर बनाई जाती है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता है

'अ' व्यक्ति की गेहूँ की एक सप्ताह की पूर्ति तालिका

मूल्य प्रति क्विटल रु.	बेची जाने वाली मात्रा (क्विटल)
125	100
150	200
175	400
200	600

पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व :

(1) वस्तु का मूल्य ।
(2) अन्य वस्तुओं का मूल्य ।
(3) वस्तु के उत्पादन साधनों का मूल्य ।
(4) उत्पादन तकनीक ।
(5) सरकारी नीति ।
(6) परिवहन एवं संचार साधनों का विकास ।
(7) प्राकृतिक तत्व ।
(8) उत्पादकों की रुचि ।
(9) उत्पादकों के गठबन्धन ।
(10) देश में प्रचलित परिस्थितियां ।

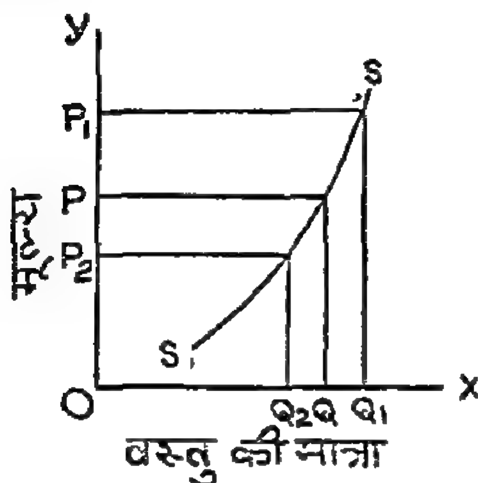
(2) बाजार की पूर्ति तालिका—एक वस्तु की बाजार पूर्ति तालिका यह प्रदर्शित करती है कि एक बाजार के किसी वस्तु के सभी विक्रेताओं द्वारा विभिन्न मूल्यों पर कितनी-कितनी मात्राएं निश्चित समयावधि में बेची जाती हैं। यह तालिका बाजार के सभी विक्रेताओं की पूर्ति तालिकाओं के योग से बनाई जा सकती है। बाजार की पूर्ति तालिका को यहां दिया जा रहा है : (यहाँ यह मान लिया गया है कि बाजार में तीन ही विक्रेता हैं।)

जयपुर अनाज मंडी क्षेत्र की गेहूँ की पूर्ति प्रति सप्ताह

मूल्य प्रति क्विटल रु.	बेची जाने वाली मात्रा			बाजार की पूर्ति क्वि.
	'अ' द्वारा	'ब' द्वारा	'स' द्वारा	
125	100	50	80	230
150	200	125	225	550
175	400	300	450	1,150
200	600	400	700	1,700

उपरोक्त तालिका मे प्रथम स्तम्भ तथा अंतिम स्तम्भ को मिला कर बाजार पूर्ति-तालिका बनती है।

पूर्ति वक्र (Supply Curve)—एक पूर्ति तालिका को रेखा चित्र पर प्रदर्शित करने पर बनने वाली वक्र पूर्ति वक्र कहलाती है। पूर्ति-वक्र पूर्ति तालिका की तरह व्यक्तिगत पूर्ति वक्र तथा बाजार पूर्ति वक्र हो सकते हैं। यहा पूर्ति वक्र को रेखा चित्र 14 1 द्वारा प्रदर्शित किया गया है :



चित्र स 14·1

उपरोक्त रेखा चित्र स 14 1 में SS पूर्ति वक्र खींचा गया है जो नीचे बायें से ऊपर दायी ओर उठता हुआ है। यह इस तथ्य को बताता है कि अधिक मूल्य पर वस्तु की अधिक पूर्ति की जाती है तथा कम मूल्य पर वस्तु की कम ही पूर्ति की जाती है।

पूर्ति का नियम (Law of Supply)—पूर्ति का नियम वस्तु के मूल्य तथा उसकी बेची जाने वाली मात्रा में प्रत्यक्ष सम्बन्ध को व्यक्त करता है। पूर्ति का नियम यह बताता है कि अन्य बातें स्थिर रहने पर किसी वस्तु की पूर्ति मूल्य बढने पर बढ़ती है तथा मूल्य घटने पर घटती है। पूर्ति का नियम भी माग के नियम की तरह गुणात्मक कथन है, परिमाणात्मक कथन नही है। अर्थात् यह केवल मूल्य परिवर्तन से वस्तु की पूर्ति मे परिवर्तन की दिशा को व्यक्त करता है, पूर्ति में होने वाले परिवर्तन के परिणाम को नही। यह नियम केवल यह बताता है कि मूल्य घटने पर वस्तु की पूर्ति घटती है तथा मूल्य बढने पर बढ़ती है। यह नियम यह नहीं बताता है कि वस्तु के मूल्य मे 10 प्रतिशत परिवर्तन होने पर पूर्ति मे कितने प्रतिशत परिवर्तन होगा।

पूर्ति के नियम की मान्यताएं—पूर्ति का नियम 'अन्य बातें स्थिर रहने पर

पर ही लागू होता है। 'अन्य बातें स्थिर रहें' वाक्यांश इस नियम की मान्यताओं को व्यक्त करता है। इस नियम की प्रमुख मान्यताएं निम्नलिखित हैं।

(1) उत्पत्ति के साधनों के मूल्य अपरिवर्तित रहने चाहिए।

(2) क्रेताओं एवं विक्रेताओं की आय स्थिर रहनी चाहिए।

(3) क्रेताओं एवं विक्रेताओं की रुचियां एवं पसन्द स्थिर रहनी चाहिए।

(4) उत्पादकों एवं विक्रेताओं के तकनीकी ज्ञान में वृद्धि नहीं होनी चाहिए।

(5) वस्तु के मूल्य में बहुत सूक्ष्म परिवर्तन भी पूर्ति में परिवर्तन लाते हैं।

पूर्ति के नियम के लागू होने के कारण—पूर्ति का नियम निम्न बातों के कारण लागू होता है—

(1) मूल्य बढ़ने पर उत्पादकों एवं विक्रेताओं के लाभ बढ़ते हैं। लाभ बढ़ने पर वे अधिक पूर्ति के लिए प्रोत्साहित होते हैं। परन्तु एक उत्पादक अल्पकाल में अपने पास रखे स्टाक से अधिक पूर्ति नहीं कर पाता है। अल्पकाल में केवल विद्यमान साधनों के पूर्ण प्रयोग द्वारा ही सीमित मात्रा में पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है जबकि दीर्घकाल में नये साधनों के प्रयोग से भी पूर्ति बढ़ायी जा सकती है।

(2) मूल्य घटने पर उत्पादकों एवं विक्रेताओं को हानि होती है या लाभ कम हो जाते हैं। इसलिए वे वस्तु की पूर्ति घटा देते हैं। अति अल्पकाल में नाशवान वस्तुओं की पूर्ति यथावत रहती है जबकि टिकाऊ वस्तुओं को बाजार से हटा कर स्टॉक कर लिया जाता है। अल्पकाल में विद्यमान साधनों का कम प्रयोग करके पूर्ति कम की जा सकती है, जबकि दीर्घकाल में कुछ उत्पादक सम्बन्धित उत्पादन कार्य बिल्कुल बन्द कर सकते हैं।

पूर्ति के नियम के अपवाद—कुछ विशेष दशाओं में पूर्ति का नियम लागू नहीं होता है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है—

(1) भविष्य में मूल्य में वृद्धि अथवा कमी की संभावना होने पर यह नियम लागू नहीं होता है। उदाहरण के तौर पर भविष्य में मूल्य और गिरने की संभावना हो तो मूल्य घटने पर पूर्ति घटने के स्थान पर बढ़ जाती है।

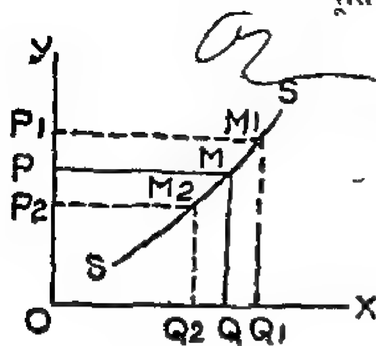
(2) कलात्मक वस्तुओं की पूर्ति मूल्य बढ़ने पर नहीं बढ़ती है। एक विख्यात चित्रकार की कृतियों की पूर्ति मूल्य बढ़ने से परिवर्तित नहीं होती है।

(3) नीलामी की वस्तुओं की पूर्ति पूर्व निश्चित होती है अतः उनके मूल्य परिवर्तन से उनकी पूर्ति प्रभावित नहीं होती है।

(4) अविकसित एवं विकासशील देशों में श्रम की पूर्ति भी अनेक दशाओं में पूर्ति के नियम की अपवाद बन जाती है। वहां श्रमिकों को एक सीमा से अधिक मजदूरी मिलने पर वे अधिक काम करने की अपेक्षा अधिक आराम करना चाहते हैं अतः मजदूरी बढ़ने पर श्रम की पूर्ति घट जाती है।

(5) कृषि पदार्थों की पूर्ति (अकाल, बाढ आदि के समय) मूल्य परिवर्तनों से प्रभावित नही होती है। उदाहरण के तौर पर अकाल से फसल नष्ट होने पर कृषि पदार्थों की पूर्ति कृषि मूल्य बढने पर भी नही बढाई जा सकती है।

पूर्ति में परिवर्तन

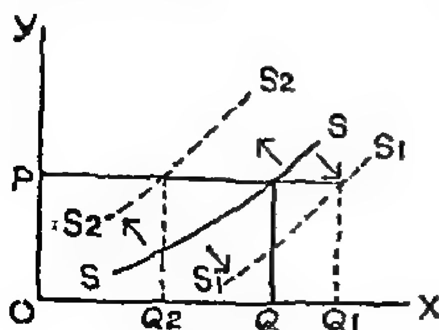


रेखा चित्र स 14 2

पूर्ति में विस्तार तथा सकुचन (*Expansion and Contraction of Supply*)—जब किसी वस्तु की पूर्ति मे परिवर्तन केवल मूल्य परिवर्तनो के कारण होते हैं तो उन्हे पूर्ति मे विस्तार या सकुचन के नाम से जाना जाता है। मूल्य बढने पर वस्तु की अधिक पूर्ति की जाने पर यह पूर्ति का विस्तार कहलाता है जबकि मूल्य घटने पर वस्तु की कम पूर्ति की जाती है तो इसे पूर्ति का सकुचन कहते हैं।

उपरोक्त रेखा चित्र स 14 2 मे वस्तु का मूल्य OP होने पर वस्तु की OQ मात्रा की पूर्ति की जाती है। यदि मूल्य के बढ कर OP_1 होने पर यदि वस्तु की पूर्ति OQ_1 की जाती है तो यह पूर्ति का विस्तार है जबकि मूल्य OP से घट कर OP_2 होने पर पूर्ति की मात्रा भी OQ से कम OQ_2 हो जाती है तो यह परिवर्तन पूर्ति का सकुचन कहलाता है।

पूर्ति में वृद्धि तथा कमी (*Increase and Decrease in Supply*)—किसी वस्तु की पूर्ति में परिवर्तन मूल्य के अतिरिक्त अन्य तत्वों के कारण होता है तो उसे पूर्ति मे वृद्धि अथवा कमी के नाम से जाना जाता है। मूल्य के अतिरिक्त पूर्ति मे परिवर्तन लाने वाले अन्य अनेक तत्व होते हैं जैसे उत्पत्ति के साधनों के मूल्यो मे परिवर्तन, उत्पादन तकनीक मे परिवर्तन, अन्य वस्तुओ के मूल्यो मे परिवर्तन, प्राकृतिक कारण आदि। पूर्ति में वृद्धि उस स्थिति को कहते हैं जब वस्तु के मूल्य स्थिर रहते हुये वस्तु की अधिक पूर्ति की जावे। पूर्ति की वृद्धि मे पूर्ति वक्र परिवर्तित होकर दाये तरफ सरक जाता है। पूर्ति मे कमी उस स्थिति को



रेखा चित्र स 14 3

कहते हैं जब वस्तु के मूल्य स्थिर रहने पर वस्तु की पूर्ति कम की जावे। पूर्ति में कमी की स्थिति में पूर्ति वक्र बायीं ओर सरक जाता है।

उपरोक्त रेखा चित्र सं. 14 3 में प्रारम्भिक पूर्ति वक्र S S है जिस पर O P मूल्य पर वस्तु की O Q मात्रा की पूर्ति की जाती है। अब इसी O P मूल्य पर यदि QQ_1 पूर्ति की जाती है तो यह पूर्ति में वृद्धि कहलाएगी। इसी O P मूल्य पर यदि वस्तु की पूर्ति OQ_2 की जाती है तो यह पूर्ति में कमी कहलाएगी।

पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व—किसी वस्तु की पूर्ति प्रमुखतया निम्न तत्वों से प्रभावित होती है—

(1) **वस्तु का मूल्य**—वस्तु की पूर्ति को प्रभावित करने वाला प्रथम तत्व मूल्य है। मूल्य में वृद्धि होने पर सामान्यतया पूर्ति बढ़ती है तथा मूल्य में कमी होने पर पूर्ति घटती है।

(2) **अन्य वस्तुओं का मूल्य**—एक वस्तु से मिलती जुलती अन्य वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन का भी उस वस्तु की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। जब अन्य वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं तथा वस्तु का मूल्य अपरिवर्तित रहता है तो उत्पादक अन्य वस्तुओं के उत्पादन एवं बिक्री में अधिक रुचि लेते हैं अतः उस वस्तु की पूर्ति घट जाती है, जबकि उस वस्तु के मूल्य बढ़ने तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य स्थिर रहने पर अन्य वस्तुओं की पूर्ति घट जाती है तथा इसकी पूर्ति बढ़ जाती है।

(3) **वस्तु के उत्पादन साधनों का मूल्य**—एक वस्तु के उत्पादन के लिए जिन साधनों (कच्चे माल, श्रम, पूंजी आदि) का प्रयोग किया जाता है उनके मूल्यों में परिवर्तन का भी वस्तु की पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। वस्तु के मूल्य अपरिवर्तित रहते हुये यदि उत्पादन साधनों का मूल्य घट जाता है तो वस्तु की पूर्ति बढ़ जाती है तथा उत्पादन साधनों का मूल्य बढ़ जाने पर वस्तु की पूर्ति घट जाती है।

(4) **उत्पादन तकनीक**—उत्पादन तकनीक में सुधार होने पर वस्तु की लागत में कमी होती है परिणाम स्वरूप वस्तु की पूर्ति बढ़ जाती है।

(5) **सरकारी नीति**—सामान्यतया सरकार जिन वस्तुओं पर कर कम लगाती है अथवा उत्पादन वृद्धि के लिए अनुदान देती है उनका उत्पादन व पूर्ति बढ़ जाते है तथा सरकार जिन वस्तुओं पर ऊंचे करों द्वारा उत्पादन को हतोत्साहित करती है उनकी पूर्ति घट जाती है।

(6) **परिवहन एवं संचार साधन**—जिन क्षेत्रों में अच्छे, सुगम एवं पर्याप्त परिवहन एवं संचार साधनों का विकास होता है वहां अधिकांश वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि होती है। जबकि इन साधनों के अभाव अथवा कमी की स्थिति में पूर्ति भी कम हो जाती है।

(7) **प्राकृतिक तत्व**—प्राकृतिक साधनों के बाहुल्य तथा अनुकूल परिस्थि-

तियों के समय वस्तुओं की पूर्ति बढ़ती है तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के समय पूर्ति घट जाती है।

(8) उत्पादकों एवं विक्रेताओं की रुचि—जिन वस्तुओं के उत्पादन या विक्रय मे लाभ की अधिकता अथवा अन्य कारणों से उत्पादकों एवं विक्रेताओं की रुची अधिक होती है उन वस्तुओं के उत्पादन एवं पूर्ति मे वृद्धि होती है।

(9) उत्पादकों एवं विक्रेताओं के गठबन्धन—जब किसी वस्तु के उत्पादक अथवा विक्रेता एकाधिकार की स्थिति प्राप्त करने के लिए सगठन बना लेते हैं तो ऐसे समय म वस्तु की पूर्ति घट जाती है।

(10) देश में प्रचलित परिस्थितियाँ—यदि देश म समृद्धि की स्थिति है तो वस्तुओं की पूर्ति बढ़ती हुयी होती है जबकि युद्ध, बाढ़, अकाल, हड़तालें आदि के समय पूर्ति घट जाती है।

पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply)

अर्थ—पूर्ति की लोच का तात्पर्य किसी वस्तु के मूल्य परिवर्तन के कारण उस वस्तु की पूर्ति की मात्रा में हुए परिवर्तनों की माप से होता है। पूर्ति की लोच वह दर है जिससे मूल्य परिवर्तनों के कारण पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन होता है। इसे सूत्र के रूप में निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं।

$$es \text{ (वस्तु की पूर्ति की लोच)} = \frac{\text{पूर्ति मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{मूल्य म आनुपातिक परिवर्तन}}$$

उदाहरणार्थ किसी वस्तु के मूल्य में 10% वृद्धि से वस्तु की पूर्ति मे 15 / वृद्धि हो जाती है तो पूर्ति की मूल्य लोच निम्न होगी

$$es = \frac{20}{10}$$

$es = 2$ अर्थात् पूर्ति की लोच इकाई से अधिक है।

पूर्ति की लोच की श्रेणियां—पूर्ति की लोच की पाच श्रेणिया होती हैं। इनका सक्षिप्त वर्णन यहा किया गया है।

(1) पूर्ण लोचदार पूर्ति—जब मूल्य मे मामूली सी वृद्धि होने पर पूर्ति मे असीमित वृद्धि हो जाय तथा मूल्य में तनिक सी कमी होने पर पूर्ति घटकर शून्य हो जाय तो पूर्ति पूर्ण लोचदार कहलाती है। यह काल्पनिक होती है।

(2) अधिक लोचदार पूर्ति—जब वस्तु के मूल्य मे थोडी सी वृद्धि होने पर पूर्ति मे अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होती है तो यह अधिक लोचदार पूर्ति कहलाती है। उदाहरणार्थ मूल्य मे 5% वृद्धि होने पर पूर्ति मे 10 15 / की वृद्धि हो जाय तो यह अधिक लोचदार पूर्ति होगी।

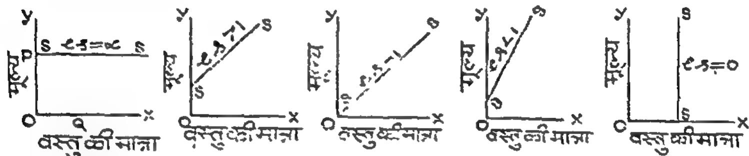
(3) लोचदार या इकाई लोचदार पूर्ति—यदि किसी वस्तु के मूल्य मे जितनी वृद्धि अथवा कमी होती है उतनी ही उसकी पूर्ति मे वृद्धि या कमी हो जावे तो इसे

इकाई लोचदार पूर्ति कहते हैं। जैसे 5% मूल्य वृद्धि होने पर वस्तु की पूर्ति भी 5% बढ़ जाय।

(4) **बेलोचदार पूर्ति**—यदि किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन की तुलना में उसकी पूर्ति में कम दर से परिवर्तन होते हैं तो वस्तु की पूर्ति बेलोचदार होती है। उदाहरणार्थ मूल्य में 10% वृद्धि होने पर पूर्ति में केवल 5% की वृद्धि होना।

(5) **पूर्ण बेलोचदार पूर्ति**—जब वस्तु के मूल्य में बहुत अधिक परिवर्तन होने पर भी वस्तु की पूर्ति में बिल्कुल परिवर्तन नहीं होता है तो इसे पूर्ण बेलोचदार पूर्ति कहते हैं। यह भी काल्पनिक होती है।

पूर्ति की लोच की श्रेणियों को नीचे के रेखा चित्रों मे दिखाया गयाहै।



रेखा चित्र सं. 14·4

प्रश्न एवं संकेत

1. पूर्ति के नियम से आप क्या समझते है ? किसी वस्तु की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्वों की व्याख्या कीजिये।

(संकेत—सर्व प्रथम पूर्ति के नियम की परिभाषा एव अर्थ दें। इसकी मान्यताये एव लागू होने के कारण स्पष्ट करें तथा अन्त में पूर्ति की लोच को प्रभावित करने वाले तत्वों की व्याख्या करें।

2. पूर्ति की लोच का अर्थ बताइये। पूर्ति की लोच की कितनी श्रेणियां होती है ?

(संकेत—सर्वप्रथम पूर्ति की लोच का अर्थ स्पष्ट करें। इसका सूत्र भी दे दें। अन्त में पूर्ति की लोच की पांचों श्रेणियों का संक्षिप्त वर्णन करें।)

———

भाग 3

उत्पादन

RODUCTION)

15. उत्पादन तथा उत्पादन के साधन
16. भूमि
17. श्रम
18. श्रम की कार्यकुशलता
19. जनसंख्या के सिद्धान्त
20. पूंजी एवं पूंजी-निर्माण
21. साहस एवं संगठन
22. विशिष्टीकरण एवं श्रम-विभाजन
23. उत्पत्ति का पैमाना : बड़े पैमाने का उत्पादन तथा छोटे पैमाने का उत्पादन
24. अविभाज्यता की धारणा-आन्तरिक तथा बाह्य बचतें
25. उत्पादन के नियम
26. पैमाने का प्रतिफल

15 उत्पादन तथा उत्पादन के साधन

(Production and its Factors)

अर्थ—मानव द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जो उद्यम करना पड़ता है वह उद्यम ही उत्पादन कहलाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि मनुष्य की कुछ आवश्यकतायें होती हैं, जिनकी पूर्ति वह धन के द्वारा कर सकता है तथा यह धन वह आर्थिक प्रयत्नों द्वारा ही कमा सकता है। अतः धन कमाने सम्बन्धी समस्त कार्य उत्पादन कहलाते हैं। उदाहरणार्थ एक लकड़हारे के लिये वृक्ष में ईंधन सम्बन्धी तुष्टि उपयोगिता निहित है परन्तु एक खाती उस वृक्ष की लकड़ी से मेज, कुर्सी, किवाड़, आलमारी आदि अनेक प्रकार का सामान बना कर धन कमा लेता है। इस प्रकार समस्त प्राकृतिक देन का विद्यमान स्वरूप में—वह जहाँ है जैसे भी है, संभवतः कोई भी उपयोग नहीं, किन्तु मनुष्य अपने प्रयत्नों द्वारा उन्हें उपयोगी बना देता है। उपयोगिता पैदा करने सम्बन्धी मनुष्य का यह प्रयत्न उत्पादन क्रिया कहलाता है। मनुष्य प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं के प्रयोग से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है, परन्तु वह स्वयं इनका निर्माण नहीं कर सकता। वह तो अपनी आवश्यकतानुसार इनमें उपयोगिता का सृजन कर सकता है। उपयोगिता सृजन का यह कार्य उत्पादन है।

उत्पादन के अर्थ के सम्बन्ध में कुछ अर्थशास्त्रियों के विचारों को जान लेना आवश्यक है।

उत्पादन तथा उत्पादन के साधन

उत्पादन का अर्थ—उपयोगिता सृजन या उपयोगिता वृद्धि उत्पादन है।

उपयोगिताओं के प्रकार—

1. रूप परिवर्तन द्वारा
2. स्थान ,, ,,
3. समय ,, ,,
4. अधिकार ,, ,,
5. सेवा प्रदान करके
6. ज्ञानवर्धन द्वारा

उत्पादन का महत्व—

(1) व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति।
(2) जीवन स्तर पर प्रभाव।
(3) आर्थिक समृद्धि पर प्रभाव।
(4) सार्वजनिक वित्त पर प्रभाव।
(5) उत्पादन शैली पर प्रभाव।

उत्पादन के साधन—

1. भूमि 2. श्रम 3. पूंजी 4. प्रबन्ध 5. साहस।

उत्पादन के साधनों की विशेषताएं

(1) सीमितता।
(2) वैकल्पिक प्रयोग।

(3) परिवर्तनीय अनुपात ।

उत्पादन की कार्य कुशलता को प्रभावित करने वाले तत्व—

(1) आन्तरिक तत्व,

(2) बाह्य तत्व,

(i) प्राकृतिक तत्व

(ii) कच्चे माल की उपलब्धि

(iii) वैज्ञानिक तकनीक

(iv) बैंकिंग व साख

(v) परिवहन व संचार

(vi) अनुसंधान

(vii) शान्ति सुरक्षा

(viii) सरकार की नीति

पेन्सन के अनुसार "उत्पादन का अर्थ किसी पदार्थ का निर्माण करना नहीं है, वरन् इसका अर्थ किसी वस्तु में मानवीय आवश्यकताओं को सन्तुष्टि करने की योग्यता, क्षमता अथवा गुण में वृद्धि करना है।" इसी प्रकार प्रो एली., डा. बसु तथा प्रो. फ्रेजर ने किसी वस्तु में उपयोगिता का सृजन करना या बढ़ाना ही उत्पादन कहा है। प्रो. टॉमस, फेयर चाइल्ड, केयरनक्रास, मेयर्स आदि अन्य आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन का अर्थ केवल उपयोगिता सृजन अथवा उपयोगिता वृद्धि ही नहीं बताया है वरन् उन्होंने **मूल्यों या आर्थिक उपयोगिताओं के सृजन** (Creation of Value or Economic Utilities) को उत्पादन बताया है। इनके अनुसार उपयोगिता के सृजन और वृद्धि के साथ-साथ विनिमय मूल्य का सृजन भी उत्पादन के लिये आवश्यक है। अगर किसी वस्तु का विनिमय मूल्य नहीं है तो उसमें **उपयोगिता सृजन अथवा उपयोगिता** वृद्धि का कार्य उत्पादन नहीं कहा जा सकता। प्रो० मेहता ने 'उपयोगिता सृजन' के स्थान पर 'उपयोगिता में वृद्धि' करने को उत्पादन की संज्ञा देना अधिक ठीक माना है। प्रो० **मार्शल** ने भी 'उपयोगिताओं के सृजन' को उत्पादन कहा है।

इस प्रकार उत्पादन का अर्थ 'आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किसी वस्तु में उपयोगिता सृजन या वृद्धि है।' यहां उपयोगिता का तात्पर्य आर्थिक उपयोगिता से है क्योंकि प्रत्येक वस्तु में किसी प्रकार की उपयोगिता पहले से ही विद्यमान होती है। मनुष्य तो अपनी आवश्यकतानुसार उस वस्तु में उपयोगिता का सृजन कर लेता है। मिट्टी गारे के रूप में मकान बनाने के काम आ सकती है और कुम्हार उसी मिट्टी से बर्तन बना लेता है। उत्पादन का अर्थ काफी व्यापक है। सेवाओं में भी उपयोगिता सृजन को उत्पादन कहा गया है। एक डाक्टर, प्रोफेसर, वकील ड्राइवर आदि अनेक व्यक्ति अपनी सेवाओं के द्वारा उपयोगिता में वृद्धि करके उत्पादन कार्य करते हैं। प्रो. जे. आर. हिक्स के शब्दों में उत्पादन का अर्थ "उस क्रिया से है जिसका संचालन विनिमय के द्वारा दूसरों की आवश्यकता की सन्तुष्टि के लिये किया जाता है।"

उपयोगिता सृजन करने की विभिन्न रीतियां (Different Methods of Creation of Utilities)—उत्पादन क्रिया निम्न प्रकार से उपयोगिताओं का सृजन करके सम्पन्न की जाती है—

1. **रूप परिवर्तन द्वारा (Form Utility)**—खाती, दर्जी, कुम्हार, कृषक आदि

रूप परिवर्तन द्वारा उपयोगिताओं का सृजन करते हैं। खाती लकड़ी को मेज, कुर्सी आदि का रूप दे देता है तो दर्जी कपड़े से पैंट, बुशर्ट आदि बना देता है। इस प्रकार ये लोग वस्तु को पहले की अपेक्षा अधिक उपयोगी बना कर उनकी आर्थिक उपयोगिता बढ़ा देते हैं।

(2) स्थान परिवर्तन द्वारा (Place Utility)—परिवहन के विभिन्न साधनों में लगे व्यक्ति कम महत्वपूर्ण स्थानों से अधिक महत्वपूर्ण स्थानों को वस्तुओं के आदान प्रदान द्वारा वस्तुओं की उपयोगिता बढ़ा देते हैं। ये व्यक्ति खानों से कोयला, जङ्गलों से लकड़ी, नदी से रेत, उत्पादन केन्द्रों से उत्पत्ति आदि वस्तुओं को उनकी माँग वाले केन्द्रों में पहुँचाकर उनका विनिमय मूल्य बढ़ाकर उत्पादन का कार्य करते हैं।

(3) समय परिवर्तन द्वारा (Time Utility)—व्यापारी लोग अपने पास वस्तुओं का स्टाक रख कर समय-समय पर उपभोक्ताओं की माग की पूर्ति करके उत्पादन का कार्य करते हैं। उदाहरणार्थ फसल के मौके पर खाद्यान्न कपास, तिलहन, जूट आदि कृषि जन्य पदार्थ, ये व्यापारी कृषक से खरीद कर दूसरी फसल आने तक उपभोक्ताओं की इन वस्तुओं की माग पूरी करते रहते हैं। फसल के अतिरिक्त अन्य समय पर इनकी वस्तुओं की उपयोगिता अधिक होती है।

(4) अधिकार परिवर्तन द्वारा (Possession Utility)—कृषक के पास कृषि जन्य पदार्थ, कारखाने के स्वामी के पास निर्मित माल, पुस्तक प्रकाशक के पास पुस्तकों का स्टाक इनके लिये बहुत कम महत्व का होता है। इनका माल उपभोक्ताओं के हाथों में पहुंच कर अधिक उपयोगी हो जाता है। इस प्रकार उत्पादक व उपभोक्ता के मध्य सक्रिय मध्यस्थ दलाल, एजेन्ट विज्ञापनकर्ता मुद्रा का निर्माण करने वाले बैंक सेवा तथा बीमा सेवा प्रदान करने वाले, यातायात व सचार में सलग्न आदि व्यक्ति अधिकार परिवर्तन के कार्य में सहायक बनकर उत्पादन का कार्य करते हैं।

(5) सेवा प्रदान करके (Serv ce Utility)– अध्यापक, डाक्टर, वकील, नर्तक, अभिनेता इन्जीनियर, मन्त्री, नौकर, साइकिल सुधारने वाला आदि अनेक व्यक्ति समाज को अपनी सेवायें प्रदान करके उपयोगिताओं का सृजन करते हैं। ये सभी उत्पादन का कार्य करते हैं भले ही इनकी सेवा का कोई भौतिक रूप नहीं होता।

(6) ज्ञान वर्धन द्वारा (Krowledge Utility)—व्यापारी, विज्ञापनकर्ता दुकानदार, समाचार पत्र प्रकाशक आदि व्यक्ति उपभोक्ताओं को ऐसी अनेक वस्तुओं का ज्ञान कराते हैं जिनके बारे में वे अनभिज्ञ होते हैं। ये उपभोक्ताओं को वस्तुओं की जानकारी कराते हैं। उपभोक्ता इन्हे खरीदने लगते हैं जिन्हें इन वस्तुओं का विनिमय मूल्य लागत मूल्य की तुलना में बढ़ी हुई दरों पर देना पड़ता है। इस प्रकार ज्ञान वर्धन द्वारा मूल्य सृजन करके उत्पादन कार्य किया जाता है।

उत्पादन का महत्व (Importance of Production)–आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सन्तुष्टि उत्पादन द्वारा होती है प्रत्यक्ष सन्तुष्टि व्यक्तिगत स्तर पर तथा अप्रत्यक्ष सन्तुष्टि सामाजिक स्तर पर होती है। अत उत्पादन

का व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है। उत्पादन द्वारा—

(1) **व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है**—आवश्यकताओं की पूर्ति धन द्वारा संभव है और हर प्रकार का धनोपार्जन उत्पादन कहलाता है। दूसरे मनुष्य अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं में से कुछ को प्रत्यक्ष रूप से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग करता है तथा शेष वस्तुओं का विनिमय मूल्य प्राप्त करके अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। उदाहरणार्थ कृषक गेहूं का उत्पादन करता है। कुछ गेहूं घरेलू उपयोग के लिये रख लेता है। शेष को बाजार में बेचकर, मिर्च-मसाला, वस्त्र, पढ़ाई लिखाई का सामना, खाद, बीज आदि अनेक वस्तुएं क्रय करता है।

(2) **जीवन स्तर प्रभावित होता है**—देश विशेष में उत्पादन क्रिया बढ़ने पर अधिक आर्थिक उपयोगिताओं का सृजन होता है। देश वासियों की प्रतिव्यक्ति आय बढ़ जाती है। बढ़ी हुई आय से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अतः जीवन स्तर उन्नत हो जाता है। अमेरिका, इंग्लैण्ड, जापान आदि देशों में उत्पादन अधिक होने के कारण ही इन राष्ट्रों के निवासियों का रहन-सहन का स्तर भारत वासियों की तुलना में, जहां उत्पादन की मात्रा कम है, उन्नत है।

(3) **आर्थिक समृद्धि प्रभावित होती है**—अधिक उत्पादन से देशी तथा विदेशी व्यापार में वृद्धि होती है। बढ़ा हुआ व्यापार आर्थिक समृद्धि लाने में सहायक होता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक समृद्धि उत्पादन पर निर्भर करती है।

(4) **सार्वजनिक वित्त प्रभावित होता है**—उत्पादन में वृद्धि से आर्थिक समृद्धि शीलता बढ़ती है, रहन-सहन का स्तर उन्नत होता है तथा उपभोग की मात्रा बढ़ती है। इस प्रकार लोगों से प्रत्यक्ष तथा अप्रप्यक्ष रूप से अधिक कर वसूल होते हैं जो लोगों के हित में व्यय कर दिये जाते हैं।

(5) **उत्पादन शैली प्रभावित होती है**—अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखें तो उत्पादन का आज के युग में बहुत अधिक महत्व है। उन्नत एवं विकसित राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की भावना से प्रेरित होकर विकासशील एवं पिछड़े हुए राष्ट्रों को जो सहयोग प्रदान करते हैं उसके फल स्वरूप पिछड़े हुए राष्ट्र भी विकसित राष्ट्रों की उत्पादक तकनीक का प्रयोग करने लगते हैं।

उत्पादन के साधन
(Factors of Production)

प्रो० बेन्हम के अनुसार "कोई भी वस्तु जो उत्पादन में सहायता पहुंचाती है, उत्पादन का साधन है"। अर्थात् उपयोगिताओं अथवा मूल्यों के सृजन में जो तत्व सहायक होते हैं वे उत्पादन के साधनों के रूप में जाने जाते हैं। प्रो० मार्शल के अनुसार 'मानव भौतिक वस्तुओं का निर्माण नहीं कर सकता'। वह तो अपने श्रम से उपयोगिताओं का सृजन कर सकता है। भौतिक वस्तुएं प्रकृति की निःशुल्क देन होती हैं। इन्हें भूमि कहते हैं। इस प्रकार मुख्य रूप से, भूमि तथा श्रम, उत्पादन के दो

साधन होते हैं। परन्तु बड़े पैमाने की अर्थ-व्यवस्था की सफलता जुटाई गई पूंजी, कुशल प्रबन्ध तथा जोखिम क्षमता पर भी निर्भर करती है। अतः भूमि, श्रम, पूंजी प्रबन्ध तथा साहस उत्पादन के पाँच साधन होते हैं।

(1) भूमि (Land)—अर्थशास्त्र में भूमि शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ होता है। पृथ्वी की ऊपरी सतह ही भूमि नहीं कहलाती वरन् भू-गर्भ में तथा भू के ऊपर जो-जो भी प्रकृति प्रदत्त निःशुल्क देन विद्यमान हैं वे भूमि की श्रेणी में आती हैं। प्रो० मार्शल के अनुसार "भूमि का अभिप्राय उन सब पदार्थों एवं शक्तियों से है जो प्रकृति ने मानव को निःशुल्क उपहार के रूप में प्रदान की हैं।" इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा, जङ्गल, नदी, पहाड़, समुद्र, भूमि की ऊपरी सतह तथा खनिज सम्पदा आदि सभी भूमि के अन्तर्गत आते हैं।

(2) श्रम (Labour)—मनुष्य द्वारा धनोत्पादन की दृष्टि से किये गये सभी मानसिक एवं शारीरिक प्रयत्न श्रम की श्रेणी में आते हैं। मार्शल के अनुसार "ये प्रयत्न प्रत्यक्ष आनन्द की दृष्टि से न किये जाकर पूर्णतः या आंशिक रूप से धनोत्पादन की दृष्टि से किये जाते हैं।"[1] भूमि तो उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन है, उसके प्रयोग से उपयोगिताओं का सृजन श्रम द्वारा होता है। इस प्रकार श्रम उत्पादन का एक सक्रिय एवं अपरिहार्य साधन है।

(4) पूंजी (Capital)—उत्पत्ति का कुछ भाग अप्रत्यक्ष रूप से आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बचाकर रख लिया जाता है, जिसकी सहायता से भविष्य में उत्पादन के लिये यन्त्र, मशीनें, कच्चा माल, श्रम के पारिश्रमिक के भुगतान आदि की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार उपार्जित धन का वह वह भाग जो और अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिये प्रयोग किया जाता है पूंजी कहलाता है। प्रो० मार्शल के शब्दों में 'प्रकृति की निःशुल्क देन के अतिरिक्त पूंजी मनुष्य द्वारा उत्पादित सम्पत्ति का वह भाग है जो और अधिक उत्पादन के लिये प्रयोग किया जाता है।" वर्तमान बड़े पैमाने की अर्थ-व्यवस्था में पूंजी भी उत्पादन का एक अति महत्वपूर्ण साधन है।

(4) प्रबन्ध या संगठन (Organisation)—बड़े पैमाने की अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन के साधन बहुत बड़ी मात्रा में प्रयोग किये जाते हैं। इनसे सुचारु रूप से काम लेने के लिए एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो उत्पत्ति के पैमाने के अनुसार भूमि, श्रम, तथा पूंजी की व्यवस्था करके कम से कम लागत पर अच्छे से अच्छा उत्पादन प्राप्त कर सकता है। यह व्यक्ति ही संगठनकर्ता के रूप में जाना जाता है। इस प्रकार आधुनिक बड़े पैमाने की प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थ-व्यवस्था में संगठनकर्ता

---

1 "Any exertion of body and mind undertaken partly or wholly with a view to some good other than the pleasure derived directly from the work "—Marshall

उत्पादन की सफलता के लिये उत्पादन का एक अनिवार्य साधन बनता जा रहा है।

(5) **साहसी (Enterprise)**—उत्पादन के बड़े पैमाने की अर्थव्यवस्था में उत्पादन के व्यक्तिगत साधन अपर्याप्त रहते हैं। अत. इन्हें विभिन्न व्यक्तियों से जुटाकर उत्पादन चलाया जाता है। उत्पादन में भूमि, श्रम, पूंजी तथा प्रबन्ध के रूप में जिन-जिन व्यक्तियों ने सहायता पहुंचाई है उन्हें उनकी सहायतानुसार प्रतिफल चुकाते रहने की जोखिम जो व्यक्ति उठाता है तथा हानि लाभ का उत्तरदायित्व लेता है वह साहसी कहलाता है। बड़े पैमाने की अर्थ व्यवस्था में अनिश्चितता तथा जोखिम बनी रहती हैं। साहसी इन्हें वहन करके उत्पादन के अन्य साधनों को उनके पारिश्रमिक की दृष्टि से निश्चित करने का जो गुरुतर भार उठाता है उसके कारण वह भी उत्पादन का एक अत्यावश्यक साधन है।

उत्पादन के साधनों के वर्गीकरण के बारे में कुछ अन्य विचार—कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार उत्पादन के केवल दो साधन हैं—भूमि और श्रम। पूंजी, संगठन तथा साहस का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। संगठन एवं साहस तो श्रम के ही विशिष्ट रूप हैं और पूंजी न व्यय की हुई सृजित आर्थिक उपयोगिताओं का परिणाम है। प्रो. बेन्हम ने उत्पादन के अनगिनत साधन माने हैं। उनके मत में भूमि, श्रम, पूंजी, संगठन तथा साहस उत्पादन कुशलता की दृष्टि से अलग-अलग प्रकार के होते हैं अतः इन्हें उत्पादन के साधनों की अलग-अलग श्रेणी में गिना जाना चाहिए। आस्ट्रियन अर्थशास्त्री वीजर (Weiser) ने उत्पादन के साधनों को एक अलग ढंग से दो वर्गों में बांटा है। ऐसे साधन जो केवल एक ही कार्य में प्रयुक्त किये जा सकते हैं विशिष्ट साधन (Specific Factors) हैं। इन्हें एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में हस्तांतरित नहीं किया जा सकता है। जिन साधनों को एक समय में कई वैकल्पिक कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है उन्हें उन्होंने **अविष्ट साधन** (Nonspecific Factors) माना है। किसी समयावधि में ये गतिशील होते हैं। इन्हें एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में हस्तांतरित किया जा सकता है। विशिष्टता तथा अविशिष्टता का गुण किसी भी साधन के साथ जोड़ा जा सकता है। कोई साधन आज विशिष्ट हो सकता है तो कल अविष्ट। उदाहरणार्थ यदि भूमि में ज्वार-बाजरा बो दिया जाता है तो उस समय भूमि ज्वार-बाजरे की फसलों के लिये विशिष्ट साधन है। इन फसलों के काटने के उपरान्त इसी भूमि में गेहूं, चना, जौ, आदि फसलें बोई जा सकती हैं या इसी भूमि को ईंट बनाने, भवन निर्माण आदि कार्यों में भी प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार यह वर्गीकरण अल्पकालिक है। दीर्घकाल में तो प्रत्येक साधन को कई कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है।

बड़े पैमाने की अर्थ व्यवस्था में तो वास्तव में उत्पादन का एक ही साधन होता है—पूंजी। आज हमें समस्त प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं यथा भूमि का टुकड़ा खान, नदी, पहाड़ आदि के लिये पूंजी व्यय करनी पड़ती है। श्रम में पूंजी निवेश

द्वारा कार्यकुशलता में वृद्धि करके श्रम की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। विशिष्ट श्रम सगठन तथा साहसी का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार उत्पादन का एक ही साधन कहा जा सकता है और वह है पूजी। परन्तु वर्तमान वितरण व्यवस्था की जटिलता के कारण उत्पादन के साधनो को भूमि, श्रम, पूजी, सगठन तथा साहस—पांच वर्गों म बाटना अधिक ठीक है।

उत्पादन के साधनों का सापेक्षिक महत्व
(Relative Importance of Factors of Production)

हम ऊपर उत्पादन के विभिन्न साधनो के बारे मे पढ चुके हैं। अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उत्पादन का कौनसा साधन सर्वाधिक महत्व का है। इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नही है क्योंकि उत्पादन का प्रत्येक साधन अपने-अपने स्थान पर अति महत्वपूर्ण है। भौतिक वस्तुओ के अभाव मे उपयोगिताओ का सृजन नहीं किया जा सकता है अत भूमि उत्पादन का सर्वाधिक महत्व का साधन हुआ। परन्तु भूमि तो उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन है। श्रम के अभाव मे उपयोगिताओ का सृजन करना असम्भव है। इस प्रकार श्रम भूमि से भी अधिक महत्व का साधन हुआ।

वर्तमान अर्थव्यवस्था मे समस्त उत्पादन का लक्ष्य अधिकाधिक लाभ कमाना है। अत अच्छे से अच्छे यन, कल, पुर्जे, मशीनें एव कुशलतम श्रमिक तथा अन्य सेवाओ की आवश्यकता पडती है। पूजी के अभाव मे इनकी व्यवस्था करना असम्भव है। अत ,आर्थिक समृद्धिशीलता मे वृद्धि करने की दृष्टि से आधुनिक युग मे पूजी का महत्व भूमि तथा श्रम से भी अधिक है। एक बार भूमि तथा श्रम के बिना भी उत्पादन चलाना सभव है परन्तु पर्याप्त पूजी के अभाव मे उत्पादन मे सफल होना असम्भव है।

उत्पादन का पैमाना बढने पर भूमि, श्रम व पूजी का प्रयोग बडी मात्रा मे किया जाता है। इनसे इनकी योग्यतानुसार अधिकाधिक काम लेकर उत्पादन को अच्छे से अच्छा तथा सस्ते से सस्ता प्राप्त करने का कार्य सगठनकर्ता ही सुचारू रूप से सम्पन्न कर सकता है। सगठन कर्ता के अभाव मे उत्पादन क्रिया छिन्न भिन्न हो जाती है, उत्पादन निम्न श्रेणी का तथा लागत अधिक पडने लगती है तथा उत्पादन के साधनो म अकार्यकुशलता व्याप्त हो जाती है। इस प्रकार सगठन भी उत्पादन का एक अति महत्वपूर्ण साधन है।

वर्तमान युग अनिश्चितताओ तथा जोखिम से भरा हुआ है। उत्पादन के साधनो यथा भूमि, श्रम, पूजी तथा सगठन को भी इन अनिश्चितताओ तथा जोखिम से सुरक्षा की आवश्यकता है। इस प्रकार की सुरक्षा के अभाव मे उत्पादन मे वे सहयोग देने को सहमत नही होते। अत साहसी इन्हे सुरक्षा प्रदान करके इन्हे आगे आकर उत्पादन में सहयोग देने के लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार साहसी भी उत्पादन का एक अति महत्वपूर्ण साधन है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर यही कहना पड़ेगा कि वर्तमान बड़े पैमाने की प्रतिस्पर्धात्मक अर्थ व्यवस्था में उत्पादन के सभी पाँचों साधन महत्वपूर्ण हैं। अपने-अपने स्थान पर सभी अपरिहार्य हैं और प्रत्येक के बिना उत्पादन को सफलता पूर्वक चलाना असम्भव है।

उत्पादन के साधनों की विशेषतायें (General Characteristics of Factors of Production)—

(1) मात्रा में सीमित—हवा तथा प्रकाश को छोड़कर शेष उत्पादन के सभी साधन मात्रा में सीमित होते हैं। व्यक्तिगत दृष्टि से इन सब के लिये विनिमय मूल्य देना पड़ता है। इसलिये इन्हें आर्थिक साधन कहा जाता है।

(2) वैकल्पिक प्रयोग—उत्पादन के साधनों को उत्पादन के विभिन्न कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ भूमि का प्रयोग कृषि, ईंट व भवन निर्माण, खेल का मैदान, हवाई पट्टी आदि के निर्माण के लिये किया जा सकता है। इसीलिये इन्हें सर्वोत्मुखी (Versatile) कहा गया है. परन्तु आज के विशिष्टीकरण के युग में उत्पादन के साधनों का यह गुण सीमित होता जाता है। नगरों के आस-पास की भूमि का प्रयोग, कृषि करने की बजाय भवन निर्माण, क्रीड़ा स्थल सिनेमा घर, कारखाना निर्माण आदि के लिये करना अधिक लाभकारी होता है।

(3) परिवर्तनीय अनुपात में प्रयोग—अधिकांश वस्तुओं का उत्पादन, उत्पादन के विभिन्न साधनों को विभिन्न मात्राओं में मिश्रित कर, किया जा सकता है। स्थिर अनुपात में साधनों के मिश्रण की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ श्रम के स्थान पर पूंजी की मात्रा बढ़ाकर उत्पादन उसी सफलता से चलाया जा सकता है। हाथ से लिखने के स्थान पर टाइप राइटर के प्रयोग द्वारा अधिक छपाई की जा सकती है। अतः श्रमिकों की संख्या कम करके टाइप राइटर के रूप में पूंजी का अनुपात बढ़ा कर उत्पादन चलाया जा सकता है।

उत्पादक कुशलता अथवा उत्पादन की मात्रा को प्रभावित करने वाले तत्व (Factors affecting the Efficiency of production or Volume of production)—किसी देश की आर्थिक समृद्धिशीलता उस देश की उत्पादन कुशलता एवं उत्पादन की मात्रा का परिणाम होती है। अर्थात् जिस देश में एक निश्चित समय में उपलब्ध उत्पादन के साधनों से कम से कम लागत पर अधिक से अधिक तथा अच्छे से अच्छी वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन प्राप्त किया जाता है वह देश उतना ही समृद्धशाली होता है। उत्पादन की मात्रा व किस्म (कुशलता) को प्रभावित करने वाले तत्वों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—

(1) आन्तरिक तत्व (Internal Factors) तथा (2) बाह्य तत्व (External Factors)।

(1) आन्तरिक तत्व—इनके अन्तर्गत (i) उत्पादन के साधनों की व्यक्तिगत कार्य-कुशलता तथा (ii) उत्पत्ति में उनका समन्वित एवं अनुकूलतम उपयोग, आते हैं। उद्यम विशेष में प्रयुक्त उत्पादन के साधन अगर कार्य कुशल हैं तो उत्पादन

अधिक मात्रा मे होगा तथा किस्म भी सुधरेगी। परन्तु यह तभी सभव होगा जब उनका प्रयोग अनुकूलतम या आदर्श अनुपात (Optimum proportion) में किया जाता है।

(2) बाह्य तत्व–उत्पत्ति के साधनों की कार्य कुशलता बाह्य तत्वो द्वारा काफी मात्रा मे प्रभावित होती है। अत बाह्य तत्व उत्पत्ति की मात्रा एव किस्म दोनो को ही प्रभावित करते हैं। इनके अन्तर्गत प्राकृतिक एव भौतिक तथा मानव तत्व आते हैं। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है—

(i) प्राकृतिक तत्व—किसी देश की भूमि की धरातली बनावट, उर्वराशक्ति जलवायु, प्राकृतिक प्रकोप आदि बातो का उस देश के उत्पादन की मात्रा एव किस्म पर भारी प्रभाव पडता है। उदाहरणार्थ भारत मे मानसून की विषमता के कारण कृषि ही नही वरन् समस्त भारतीय अर्थव्यवस्था मानसून का जुआ बनी रहती है। एक ओर प्रकृति की उदारता उत्पत्ति बढाकर आर्थिक समृद्धिशीलता प्रदान करती है तो दूसरी ओर प्राकृतिक प्रकोप एव विषमताए उत्पत्ति के ह्रास द्वारा भूख मरी व बेकारी आदि को जन्म देती हैं।

(ii) सस्ते एव पर्याप्त कच्चे माल की उपलब्धि—उद्योगो की कार्य कुशलता तथा उनकी उत्पादन क्षमता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि उन्हे उपयुक्त कच्चा माल सस्ता तथा पर्याप्त मात्रा मे यथा समय उपलब्ध होता रहे।

(iii) उत्पादन की वैज्ञानिक एव नवीनतम तकनीक का प्रयोग—उत्पादन की वैज्ञानिक एव नवीनतम तकनीक के प्रयोग द्वारा उत्पादन प्रक्रिया मे सुधार होता है, श्रम की कार्य-क्षमता बढ़ती है तथा पूजी तत्व मे बचत होती है। इस प्रकार उत्पादन की मात्रा व किस्म दोनो मे वृद्धि होती है।

(iv) विकसित बैंकिंग एव साख व्यवस्था—पर्याप्त तथा सस्ती मात्रा में पूजी उपलब्ध होने से उत्पादक वैज्ञानिक एव नवीनतम तकनीक का उपयोग करने की दृष्टि से अभिनवीकरण अपना सकता है, कुशलतम श्रमिक एव सगठन-कर्ताओ की सेवाओ का प्रयोग कर सकता है, स्वय के परिवहन साधन आदि की व्यवस्था कर सकता है। अत देश मे बैंक, बीमा कम्पनियो आदि के रूप मे पूजी एव साख प्रदान करने वाली सस्थाए विकसित होनी चाहिये।

(v) विकसित परिवहन एवं सचार सुविधाए—उद्योगो को कच्चा माल, कोयला, श्रमिक, पूजी आदि तत्वों को उपलब्ध कराने तथा उनके निर्मित माल को उपभोक्ताओ तक सस्ती से सस्ती लागत पर शीघ्रातिशीघ्र पहुचाने का श्रेय देश की विकसित परिवहन एव सचार व्यवस्था को है।

(vi) अनुसधान एव अन्वेषण सुविधाए—लागत को कम करने की दृष्टि से यदि देश में सरकार, उद्योगपति तथा निजी व्यक्ति उत्पादन सम्बन्धी नयी रीतियो की खोज में लगे रहते हैं तो देश के उद्योग को इन रीतियो का प्रयोग करके कम लागत पर अधिक और सुधरा हुआ उत्पादन प्राप्त करने मे सफलता मिलती है

(vii) शान्ति तथा सुरक्षा—देश मे आतरिक शान्ति तथा बाह्य हमलों से

सुरक्षा का देश के उत्पादन पर भारी प्रभाव पड़ता है। भारत में घेराव, हड़तालें, नक्सलवाड़ी आन्दोलन तथा पाकिस्तान के युद्धों के कारण उत्पादन को भारी ठेस पहुंची है।

(viii) सरकार की नीति—अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिये सरकारें आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप की नीति का अनुसरण करती हैं। साम्यवादी देशों में तो समस्त उत्पादन तन्त्र सरकार के हाथों में होता है। विभिन्न उद्योगों को प्रोत्साहन, उनको वित्तीय सुविधाएं तथा अन्य प्रोत्साहन सरकार देती है जिनके फल स्वरूप उत्पत्ति की मात्रा व किस्म दोनों में ही सुधार होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पादन की कुशलता एवं मात्रा पर बाह्य तत्वों का उतना ही प्रभाव पड़ता है जितना आन्तरिक तत्वों का। अतः दोनों ही तत्व समान रूप से उत्पादन को प्रभावित करते हैं।

प्रश्न एवं संकेत

1. उत्पादन का अर्थ तथा महत्व समझाइये। उत्पादन को प्रभावित करने वाले तत्व भी बताइये।

(संकेत—प्रथम भाग में उत्पादन का अर्थ व महत्व लिखें तथा द्वितीय भाग में उत्पादन को प्रभावित करने वाले तत्वों को लिखें।)

2. "उपयोगिताओं का सृजन ही उत्पादन है।" विवेचना कीजिए

(संकेत—प्रश्न के उत्तर का अर्थ समझाते हुए यह बताना है कि उत्पादन उपयोगिताओं का सृजन करना है छहों प्रकार की उपयोगिता सृजन को भी समझाना है।)

3. उत्पादन क्या है? उत्पादन के साधन कौन-कौन से है? उनका सापेक्षिक महत्व बताइए।

(संकेत—उत्पत्ति का अर्थ लिखकर उत्पत्ति के पांचों साधनों का वर्णन करें। अन्त में उदाहरणों की सहायता से यह समझाने का प्रयास करें कि उत्पादन के सभी साधन यथा-स्थान महत्वपूर्ण हैं।)

4. "केवल भूमि तथा श्रम ही उत्पादन के अनिवार्य साधन हैं।" विवेचना कीजिए।

(संकेत – भूमि तथा श्रम के उत्पादन में महत्वपूर्ण स्थान का उल्लेख करते हुए प्रारम्भ में यह सिद्ध करें कि केवल भूमि तथा श्रम से ही उत्पादन चलाया जा सकता है। परन्तु निष्कर्ष में यह स्पष्ट करें कि वर्तमान अर्थ-व्यवस्था में पूंजी, संगठन तथा साहस के सहयोग बिना उत्पादन सम्भव नहीं।)

5. उत्पादन का अर्थ बताइये तथा उन तत्वों को भी बताइये जो उत्पादन की मात्रा व कार्य-कुशलता को प्रभावित करते हैं।

16

भूमि
(Land)

अर्थ—साधारण बोलचाल की भाषा में भूमि का अर्थ केवल पृथ्वी की ऊपरी सतह से, जिस पर खेती की जाती है, लगाया जाता है। परन्तु अर्थशास्त्र में भूमि का अर्थ व्यापक रूप में उन प्रकृति प्रदत्त उपहारो से लिया जाता है जो प्रकृति की मनुष्य को नि शुल्क देन हैं। इस प्रकार भूमि की ऊपरी सतह पर कृषि योग्य भूमि, नदी, पहाड, जगल, पशु-पक्षी तथा पृथ्वी के गर्भ में छिपी विविध खनिज सम्पदा एव समुद्र हवा, सूर्य, चन्द्रमा, जलवायु आदि को अर्थशास्त्र में भूमि माना गया है।

> **भूमि**
>
> अर्थ—पदार्थ एव सेवाएँ जो मानव को नि.शुल्क प्राकृतिक दन के रूप मे प्राप्त होती हैं।
>
> महत्व—भूमि देश की आर्थिक सफलता की कुंजी होती है।
>
> विशेषताए या लक्षण :
>
> 1. प्रकृति की नि शुल्क देन।
> 2 मात्रा मे सीमित।
> 3 अविनाशी साधन।
> 4 भिन्नता।
> 5. विविध प्रयोग।
> 6 निष्क्रियता।
> 7 अपरिहार्यता।
> 8 गतिशीलता।
> 9. स्थिति द्वारा महत्व प्रभावित।
> 10 उत्पत्ति ह्रास नियम के अधीन।

प्रो मार्शल के अनुसार 'भूमि का अभिप्राय उन सब पदार्थो एव शक्तियो से है जो प्रकृति ने मानव की सहायता के लिए भूमि और पानी, हवा और प्रकाश तथा गर्मी के रूप में नि शुल्क प्रदान की है'।[1] प्रो केअरनक्रास (Prof Cairncross) आदि कुछ अर्थशास्त्री सूर्य, चन्द्रमा, वर्षा इत्यादि ऐसी वस्तुओ को भूमि नही मानते जिन पर न तो किसी व्यक्ति और न किसी राष्ट्र का ही स्वामित्व होता है।

भूमि के अर्थ तथा परिभाषा का नया दृष्टिकोण—आस्ट्रियन अर्थशास्त्री वीजर ने उत्पादन के साधनो का वर्गीकरण करते समय उनकी गतिशीलता को आधार मान कर इन्हे दो वर्गों—'विशिष्ट साधन' तथा 'अविशिष्ट साधन' में बाटा है। प्रो मेहता

1 "By Land is meant the whole of the material and the forces which nature gives freely for man's aid, in land and water, in air and light and heat"—Marshall

भूमि की कार्य-कुशलता—उत्पादन क्षमता ही भूमि की कार्य-कुशलता है।

कार्य-कुशलता को प्रभावित करने वाली बातें :

1. प्राकृतिक तत्व।
2. स्थिति।
3. उपयुक्त प्रयोग।
4. भूमि सुधार कार्यक्रम।
5. भू स्वामित्व प्रणाली।
6. संगठन कुशलता।
7. अन्य बातें।

भूमि पूंजी नहीं है :

विस्तृत तथा सघन खेती :

विस्तृत खेती में क्षेत्रफल बढ़ाकर तथा सघन खेती में श्रम तथा पूंजी बढ़ाकर उत्पादन बढ़ाने का प्रयास किया जाता है।

ने इस वर्गीकरण को आधार मानकर भूमि की जो परिभाषा दी है उसके अनुसार, "आधुनिक परिभाषा यह है कि भूमि एक विशिष्ट (Specific) साधन है या किसी साधन में विशिष्ट तत्व को बतलाती है या किसी वस्तु के विशिष्ट पहलू को बताती है।"[2] इस परिभाषा के अनुसार भूमि एक गुण है जो किसी भी साधन में आ सकता है। किसी साधन की जिस सीमा तक अन्य किसी प्रयोग में मांग होती है उस सीमा तक वह अविशिष्ट (Non-Specific) होता है और वर्तमान प्रयोग की मांग की सीमा तक विशिष्ट। इस नये दृष्टिकोण के अनुसार दी गई भूमि की परिभाषा तथा प्रतिष्ठित (Classical) विचारकों द्वारा बताई गई भूमि की परिभाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। नवीन परिभाषा के अनुसार भूमि में विशिष्टता का गुण है अतः वस्तु को एक ही प्रयोग में प्रयुक्त करने में कोई त्याग नहीं करना पड़ता। अर्थात् वस्तु निःशुल्क उपहार है। पुरानी परिभाषा के अनुसार 'भूमि एक निःशुल्क देन है।' पुराने विचारकों द्वारा प्रस्तुत भूमि की एक विशेषता 'सीमितता' (fixity) को ही नवीन विचारकों ने विशिष्टता' की संज्ञा दी है। अन्तर केवल इतना है कि पुराने विचारकों ने केवल भूमि में ही 'सीमितता' का गुण माना है जबकि नवीन विचारकों के अनुसार कोई भी साधन विशिष्टता का गुण अर्जित कर सकता है।

भूमि का उत्पादन में सहयोग या महत्त्व—आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं में ही उपयोगिताओं का सृजन करके धनोपार्जन करता है। अतः किसी देश की सम्पूर्ण आर्थिक क्रियाओं की सफलता की कुंजी उस देश की निःशुल्क प्राकृतिक देन अर्थात् भूमि है। भूमि से ही कृषि योग्य भूमि, सिंचाई के लिये जल, कल कारखाने चलाने के लिए खनिज सम्पदा, वन सम्पदा तथा शक्ति के साधन यथा कोयला, खनिज तेल, जल विद्युत, अणुशक्ति आदि उपलब्ध होते हैं। विनिमय के

---

2 "The modern definiti n is that land is a specific factor or that is the speceific element in a factor or again that it is the specificity aspect of a thing."—J. K. Mehta

विविध सहायक साधन यथा परिवहन एवं संचार व्यवस्था (सड़क, रेल, वायुयान, जलयान, जल परिवहन, तार-टेलीफोन आदि) मुद्रा आदि भूमि की विविध देन के कारण उपलब्ध हो पाते हैं। इस प्रकार कृषि, मछली पालन, वन एवं खनिज उद्योग, पशु-पालन, आधुनिक कल-कारखाने, यातायात एवं संचार, देश-विदेशों में प्रचलित मुद्रा तथा जीवनोपयोगी सभी वस्तुओं की उपलब्धि भूमि से होती है। यही कारण है कि रूस तथा अमेरिका जैसे नवीन राष्ट्र अपनी भूमि द्वारा प्रकृति प्रदत्त साधनों का पूरा-पूरा प्रयोग करके संसार के सबसे अधिक समृद्धशील एवं शक्तिशाली राष्ट्रों में अग्रणी हैं।

भूमि की विशेषताएं या लक्षण—उत्पादन के साधन के रूप में भूमि की जो विशेषताएं हैं उनका वर्णन आगे दिया जा रहा है—

(1) भूमि प्रकृति की निःशुल्क देन है—सामाजिक दृष्टि से मनुष्य को भूमि का कोई मूल्य नहीं देना पड़ता। यह प्रकृति प्रदत्त निःशुल्क देन है। अतः समाज के लिये भूमि की कोई उत्पादन लागत नहीं होती उसे धनोपार्जन योग्य बनाने में समाज को धन अवश्य व्यय करना पड़ता है।

(2) भूमि मात्रा में सीमित होती है—भूमि की मात्रा उतनी ही रहती है जितनी किसी देश को प्रकृति ने प्रदान की है, उसे बढ़ाया नहीं जा सकता। नदियों के अभाव में राजस्थान का पश्चिमी भाग मरुस्थल बना हुआ है। हाँ! गहन कृषि आदि के द्वारा भूमि की प्रभावोत्पादक-पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है।

(3) भूमि उत्पादन का अविनाशी (Indestructible) साधन है—भूमि प्रकृति प्रदत्त तत्व है। तत्व अनाशवान हैं। अतः भूमि को नष्ट नहीं किया जा सकता। हाँ! उपयोग द्वारा भूमि की उर्वरा शक्ति तथा मात्रा तात्कालिक रूप में निरन्तर कम होती रहती है परन्तु यह पुनः अपने उसी रूप को प्राप्त कर लेती है।

(4) भूमि में भिन्नता या विषमता (Heterogeneity) पाई जाती है—सभी प्राकृतिक साधन एक समान नहीं होते। इनमें स्थिति, बनावट, उर्वरता आदि की भिन्नताएं विद्यमान होती हैं। कुछ भूमि में लागत के बराबर ही उत्पादन प्राप्त होता है। यह सीमान्त या लगान रहित भूमि कहलाती है। भूमि की उत्पादकता में अन्तर ही लगान को जन्म देता है।

(5) भूमि के विविध प्रयोग संभव है—भूमि को उत्पादन के विभिन्न प्रयोगों में प्रयोग करना संभव है। भूमि की ऊपरी सतह पर कृषि कर सकते हैं, कल कारखाना, मकान, हवाई पट्टी अथवा खेल का मैदान बना सकते हैं या ईंटों का भट्टा भी लगा सकते हैं।

(6) भूमि उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन है—भूमि एक ऐसा साधन है जो स्वयं उत्पादन नहीं कर सकता। श्रम तथा पूंजी लगाकर ही इसमें उत्पादन किया जाता है।

(7) भूमि उत्पादन का एक अपरिहार्य (Unavoidable) साधन है—भले ही भूमि स्वयं उत्पादन नहीं कर सकती परन्तु भूमि के बिना उत्पादन असम्भव

है। भूमि के अभाव में उत्पादन के अन्य साधन—श्रम तथा पूंजी आदि निष्क्रिय बने रहते हैं।

(8) भूमि में स्थान गतिशीलता का अभाव होता है—भूमि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जा सकता। प्रायद्वीपी भारत की खानों को उत्तरी भारत में नहीं लाया जा सकता, दक्षिणी पश्चिमी मानसूनों को रोककर वर्षा कराने के लिये राजस्थान में अरावली की स्थिति को दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व की बजाय दक्षिण पूर्व से उत्तर पश्चिम नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार जैसलमेर-बाड़मेर में चेरापूंजी की वर्षा को नहीं बरसाया जा सकता।

(9) भूमि का महत्व उसकी स्थिति पर निर्भर करता है—भूमि की उर्वरता के अतिरिक्त भूमि का मूल्य उसकी स्थिति पर निर्भर करता है। नगरों के आसपास की भूमि ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में अधिक मूल्यवान होती है।

(10) भूमि उत्पत्ति ह्रास नियमके अधीन है—अगर भूमिके उसी टुकड़े पर श्रम तथा पूंजी की इकाइयों को बढ़ी हुई मात्रा में प्रयोग किया जाय तो उत्पादन गिरती हुई दर पर प्राप्त होगा। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत में उद्योगों में भी परिस्थितियों के अनुसार उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

भूमि की कार्यकुशलता (Efficiency of Land)—भूमि की कार्य-कुशलता का तात्पर्य उसकी उत्पादन क्षमता (Productivity) से है। अर्थात् भूमि के दो समान टुकड़ों पर समान साधनों का प्रयोग करके समान परिस्थितियों में उत्पादन चलाने पर अगर एक से दूसरे की तुलना में अधिक उत्पादन प्राप्त होता है तो पहला टुकड़ा दूसरे की तुलना में अधिक कार्यक्षम है। भूमि की कार्य-कुशलता पर निम्नलिखित बातों का प्रभाव पड़ता है—

(1) प्राकृतिक तत्व—भूमि के प्राकृतिक एवं मौलिक गुण उसकी कार्य-कुशलता को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। इनके अन्तर्गत भूमि की उर्वरता, बनावट, जलवायु आदि बातें आती हैं। ये तत्व किसी भूमि में जितने अधिक होंगे उसकी उत्पादन क्षमता उतनी ही अधिक होगी। गंगा-सिन्धु के बड़े मैदान की भूमि प्रायद्वीपी पठार की भूमि की तुलना में कृषि की दृष्टि से अधिक उत्पादक है।

(2) भूमि की स्थिति— उत्पादन व व्यापारिक केन्द्रों, मंडियों, रेलवे स्टेशन, सड़क आदि यातायात के साधनों के समीप वाली भूमि अपेक्षाकृत अधिक उत्पादक होती है क्योंकि इनके मध्य उत्पादन साधनों तथा उत्पत्ति का आदान-प्रदान सस्ता, सरल एवं सुविधाजनक होता है।

(3) भूमि का उपयुक्त उपयोग—जो भूमि जिस कार्य के लिये उपयुक्त होती है उसे उसी कार्य में प्रयोग करने से अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। आवासीय क्षेत्रों पर कृषि कार्य चलाया तो जा सकता है परन्तु प्राप्त प्रतिफल उतना नहीं होगा जितना भवन निर्माण द्वारा प्राप्त हो सकता है।

(4) भूमि सुधार कार्यक्रम—चकबन्दी, मेड़बन्दी, मिट्टी के कटाव पर रोक, उन्नत एवं अधिक कृषि आदानों का प्रयोग, फसलों का हेर-फेर आदि

सुधारों के प्रयोग से भूमि की कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है। पंजाब व हरियाणा में हरित क्रान्ति इन्हीं का परिणाम है।

(5) भू-स्वामीत्व प्रणाली—भू-स्वामी तथा काश्तकार एक ही व्यक्ति होता है तो भूमि की कार्यक्षमता बढ़ जाती है अन्यथा काश्तकार भूमि में कृषि आदान तथा निवेशों के प्रयोग तथा सुधारों के प्रति उदासीन रहता है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व जमींदारी आदि मध्यस्थों की बड़ी संख्या के कारण भूमि की कार्य-क्षमता का जो ह्रास हुआ था वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

(6) संगठन कर्ता की कुशलता—भूमि की उचित देख भाल तथा उत्पादन के अन्य साधनों का समन्वित प्रयोग करके अधिक उत्पत्ति प्राप्त की जा सकती है। एक कुशल संगठन कर्ता इन सभी बातों का पूरा पूरा ध्यान रख कर भूमि की कार्यक्षमता में वृद्धि कर देता है।

(7) अन्य बातें—देश में विद्यमान सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण, शान्ति एवं सुरक्षा सरकार की नीति आदि बातों का भी भूमि की उत्पादन क्षमता पर प्रभाव पड़ता है। देश स्वतन्त्र होने के उपरान्त भारत में भूमि की कार्य-क्षमता में जो वृद्धि हुई है वह सब इन्हीं बातों का परिणाम है।

क्या भूमि पूंजी है ? (Is Land Capital ?)—व्यक्तिगत दृष्टि से देखा जाय तो भूमि पूंजी से भिन्न नहीं। व्यक्ति पूंजी की सहायता से ही भूमि प्राप्त करता है और भूमि उसकी अचल-सम्पत्ति मानी जाती है। भूमि का प्रयोग पूंजी तथा पूंजी द्वारा प्राप्त श्रम की सहायता से ही संभव होता है। पूंजी निवेश द्वारा ही भूमि को कृषि योग्य बनाया जाता है। पूंजी के प्रयोग से गहरी खेती द्वारा भूमि की प्रभावोत्पादक-पूर्ति बढ़ाई जा सकती है। पूंजी की भांति भूमि भी निरन्तर विनाशशील होती है क्योंकि लगातार प्रयोग करने से भूमि की उर्वरा-शक्ति क्षीण होती जाती है। भूमि को भी एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में हस्तान्तरित किया जा सकता है अतः भूमि भी पूंजी के समान गतिशील होती है। इन तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि भूमि भी पूंजी का ही एक रूप है।

परन्तु भूमि की कुछ विशेषतायें ऐसी हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि भूमि पूंजी नहीं होती। उदाहरणतः (i) भूमि प्रकृति प्रदत्त निःशुल्क देन है लेकिन पूंजी मनुष्य के त्याग तथा परिश्रम का परिणाम है, (ii) भूमि की उत्पादन लागत नहीं होती परन्तु पूंजी की उत्पादन लागत होती है, (iii) भूमि की पूर्ति स्थिर होती है परन्तु पूंजी की पूर्ति घटती-बढ़ती रहती है, (iv) भूमि नाशवान नहीं होती परन्तु पूंजी का ह्रास होता रहता है तथा (v) भूमि में स्थानीय गतिशीलता नहीं होती परन्तु पूंजी उत्पादन का एक अत्यधिक गतिशील साधन है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर भूमि को पूंजी से भिन्न माना जा सकता है और भूमि की कुछ विशेषताओं के कारण इसे पूंजी नहीं माना जा

सकता। परन्तु भूमि की पूर्ति की गति को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि भूमि की पूर्ति बडी धीमी गति से बढ़ती है दूसरी ओर पूंजी की मात्रा में बड़ो तेजी से वृद्धि होती है। और आर्थिक विश्लेषणों को ध्यान मे रख कर यही ठीक होगा कि भूमि को पूंजी से भिन्न माना जाय।

विस्तृत तथा सघन खेती (Extensive and Intensive Cultivation)— भूमि का क्षेत्रफल बढ़ा कर अथवा भूमि के उसी क्षेत्र पर और अधिक मात्रा में श्रम तथा पूंजी का प्रयोग करके कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। इन दोनों विधियों को विस्तृत तथा गहरी कृषि कहा जाता है।

विस्तृत खेती— विस्तृत खेती में कृषि उत्पत्ति बढाने के लिये उत्पादक को श्रम तथा पूंजी की मात्रा बढाने के बजाय भूमि के क्षेत्रफल को बढ़ाना पड़ता है। यह केवल नये देशों में, जहाँ भूमि का क्षेत्रफल अधिक होता है, संभव होता है। यहां कृषि जोत का आकार बड़ा होता है तथा भूमि का प्रयोग सावधानी पूर्वक नहीं हो पाता।

गहरी या सघन खेती— कृषि उत्पत्ति को बढ़ाने के लिये उत्पादक भूमि के उसी टुकड़े पर जब श्रम तथा पूंजी की इकाइयों का प्रयोग बढ़ा देता है तो कृषि की यह प्रणाली गहन या सघन कृषि कहलाती है। जनसंख्या की वृद्धि के कारण कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल कम पड़ता है अतः श्रम तथा पूंजी की अधिक और उन्नत इकाइयों के प्रयोग से उत्पादन क्रिया को सुधार करके उत्पादन की मात्रा बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। जहां इस विधि का प्रयोग किया जाता है उन देशों में कृषि क्षेत्रों की तुलना में जनसंख्या अधिक होती है; खेतों का आकार छोटा होता है; कृषि अनुसंधान को विशेष महत्व दिया जाता है तथा श्रम, पूंजी, कृषि की उन्नत तकनीक एवं कृषि आदानों व भूमि सुधार आदि का अधिक प्रयोग किया जाता है।

किसी देश में कृषि की किस विधि का प्रयोग किया जाय यह उस देश की जनसंख्या, कृषि के लिये उपलब्ध क्षेत्र, पूंजी की उपलब्धि, कृषि तकनीक में सुधार आदि बातों पर निर्भर करता है। भारत जैसे देश में जहाँ कृषि जोत का आकार बहुत छोटा है तथा जनसंख्या का दबाव अधिकाधिक बढ़ने के कारण कृषि क्षेत्र भी अपर्याप्त पड़ता है, अब भी सघन कृषि कार्यक्रम केवल कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित हैं।

प्रश्न एवं संकेत

1. भूमि की परिभाषा दीजिये तथा भूमि की विशेषताएं समझाइए।
   (संकेत—भूमि की परिभाषा को समझाकर भूमि की विशेषतायें समझाना है।)
2. भूमि की एक उपयुक्त परिभाषा दीजिये तथा उन तत्वों की विवेचना

कीजिए जो भूमि की उत्पादकता अथवा कार्यकुशलता को प्रभावित करते हैं।

(संकेत—भूमि की परिभाषा समझाकर भूमि की कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाले तत्वों को समझाना है।)

3 क्या भूमि को भी पूंजी माना जा सकता है ? अपने मत की पुष्टि के लिए आवश्यक तर्क दीजिए।

(संकेत—प्रश्नोत्तर में उन सभी बातों की विवेचना करनी है, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भूमि को पूंजी क्यों माना जा सकता है और क्यों नहीं।)

4 भूमि का अर्थ समझाइए। क्या भूमि को भी उत्पादन का एक साधन माना जा सकता है ? बताइए कि भूमि पूंजी से किस प्रकार भिन्न है ?

(संकेत—भूमि का अर्थ समझाकर इस बात पर बल देना है कि भूमि उत्पादन का एक अनिवार्य साधन है। अन्त में यह बताना है कि भूमि को पूंजी क्यों नहीं माना जा सकता है।)

17

श्रम
(Labour)

अर्थ—उत्पादन का दूसरा अपरिहार्य साधन श्रम है। मामूली से मामूली काम भी श्रम के विना नहीं हो सकता है। किसी भी काम के करने मे जो भी प्रयास किया जाता है, साधारण बोलचाल मे उसी को श्रम कहते है। खेल खेलना, घरेलू काम-काज करना, पिकनिक पर जाना पशुओं द्वारा मेहनत आदि सभी कार्यो में प्रयुक्त प्रयास को लोग श्रम कहते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र मे हर प्रकार के प्रयासों को श्रम नहीं कहा जाता। अर्थशास्त्र में तो उन्हीं मानवीय प्रयासों को श्रम कहा जाता है जो धन कमाने के लिये किए जाते है। अर्थशास्त्र विषय से अनभिज्ञ व्यक्ति श्रम का तात्पर्य मजदूरों के श्रम से लगाते हैं और श्रम को बड़ी हीन दृष्टि से देखते है। उनकी यह धारणा भी गलत है क्योंकि अर्थशास्त्र में मानव के वे सभी शारीरिक तथा मानसिक प्रयास श्रम कहलाते हैं जो धन कमाने के उद्देश्य से किये जाते हैं। इस प्रकार मिट्टी खोदने वाला साधारण श्रमिक, कुशल इंजीनियर, अणु बम परीक्षण करने वाले, अध्यापक, वकील, डाक्टर, प्रधान मन्त्री तथा उनका मन्त्रि-मण्डल और राष्ट्र की सर्वोच्च पदवी धारण करने वाला राष्ट्रपति आदि, धन कमाने के उद्देश्य से प्रयास करने वाले सभी व्यक्ति, श्रमिक की श्रेणी मे आते है।

प्रो० मार्शल ने जेवन्स की श्रम संबंधी परिभाषा का ही समर्थन किया है। जेवन्स

श्रम

अर्थ—मानव के सभी शारीरिक एवं मानसिक प्रयास जो धन कमाने के उद्देश्य से किये जाते हैं श्रम कहलाते है।

श्रम के प्रकार :

1. मानसिक एवं शारीरिक।
2. कुशल एवं अकुशल।
3. उत्पाद एवं अनुत्पादक।

श्रम का महत्व—श्रम उत्पादन का साधन तथा अन्त है।

श्रम की विशेषताएं :

1. उत्पादन में अपरिहार्यता।
2. उत्पादन में सक्रियता।
3. श्रमिक से पृथक न हो सकना।
4. सर्वाधिक नाशवान।
5. सौदा करने की शक्ति कम।
6. श्रम का ही बेचा जाना।
7. पूर्ति का धीरे-धीरे होना।
8. उत्पादन का साधन व साध्य।

9 पूंजी विनियोग सम्भव ।
10 गतिशीलता ।
11 बुद्धि की प्रयोग क्षमता ।
12 निरंतर सेवा प्रदान का अभाव ।

श्रम की विशेषताओं का आर्थिक प्रभाव-श्रम की माग, पूर्ति पारिश्रमिक तथा श्रम की कार्य-क्षमता पर प्रभाव

श्रम पूर्ति—श्रम की मात्रा व कुशलता द्वारा प्रभावित ।

श्रम की गतिशीलता

प्रकार—(1) भौगोलिक ।
(2) व्यावसायिक ।
(3) वर्गीय—
(i) समवर्गीय ।
(ii) भिन्नवर्गीय ।

प्रभावित करने वाली बातें

1 भौगोलिक गतिशीलता
(i) आर्थिक ।
(ii) राजनीतिक ।
(iii) सामाजिक ।
(iv) धार्मिक ।

2. व्यावसायिक गतिशीलता
(i) योग्यता म वृद्धि ।
(ii) आर्थिक ।
(iii) कार्य की सुरक्षा ।
(iv) भविष्य मे उन्नति ।
(v) कार्य की अच्छी दशायें ।
(vi) काम सीखने की सुविधा ।

के शब्दों में "श्रम वह मानसिक या शारीरिक प्रयास है, जो आंशिक या पूर्ण रूप से कार्य से प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्त करने के अतिरिक्त कुछ आर्थिक प्रतिफल प्राप्त करने की दृष्टि से किया जाता है।'[1] मार्शल ने मानव के सभी मानसिक व शारीरिक प्रयासों को श्रम कहा है परन्तु ये प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्त करने की बजाय आर्थिक लाभ को ध्यान मे रख कर किये जाने चाहिए। उदाहरणार्थ कालेज के खिलाडियो को अभ्यास कराने की दृष्टि से शारीरिक शिक्षक भी साथ खेलता है। इस अवस्था मे खिलाडियो का श्रम अर्थशास्त्र की दृष्टि से श्रम की श्रेणी म नही आता परन्तु शारीरिक शिक्षक का श्रम आता है क्योंकि वह तो इसी काम का वेतन पाता है।

प्रो० टॉमस ने भी लगभग ये ही विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि, 'श्रम का तात्पर्य मानव के उस शारीरिक या मानसिक प्रयास से है जो प्रतिफल की आशा में किया जाता है।"[2]

प्रो० निकोलसन ने श्रम के सम्बन्ध मे अपने मत को विस्तार से समझाते हुए कहा है कि, "श्रम के अन्तर्गत सभी प्रकार की ऊची से ऊची व्यावसायिक योग्यता के साथ-साथ अनिपुण श्रमिक एव शिल्पी का श्रम भी सम्मिलित है। श्रम के अन्तर्गत न केवल उन्ही का श्रम सम्मिलित है जो साधारण व्यापार में लगे है। परन् उनका भी जो

1 *Labour may be defined as any exertion of mind or body* undergone partly or wholly with a view to some good other than the pleasure derived directly from the work"—Jevons

2 'Labour connotes all human efforts of body or mind, which is undertaken in the expectation of reward"—*Thomas*

(vii) व्यावसायिक आकर्षण ।
(viii) सामाजिक ।

3 वर्गीय गतिशीलता :
(i) योग्यता में वृद्धि ।
(ii) ईमानदारी ।
(iii) नियोक्ता की मर्जी ।
(iv) रोजगार अवसर ।

4. श्रम की गतिशीलता में बाधक तत्व :
(1) घर का मोह ।
(2) क्षेत्रीय विषमताएं ।
(3) सामाजिक तत्व ।
(4) आर्थिक बातें ।
(5) अज्ञानता ।
(6) तकनीकी ज्ञान का अभाव ।
(7) यातायात का अभाव ।
(8) राजनीतिक कारण ।
(9) धार्मिक बातें ।
(10) आवास प्रवास पर रोक ।
(11) महत्वाकांक्षा का अभाव ।
(12) नगरों की खराबियां ।

5. भारत में श्रम की गतिशीलता को बढ़ाने के उपाय :
(1) शिक्षा का प्रसार ।
(2) रोजगार कार्यालय ।
(3) प्रशिक्षण व्यवस्था ।
(4) यातायात व्यवस्था ।
(5) शान्ति व सुरक्षा की व्यवस्था ।
(6) सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था ।
(7) औद्योगिक विकास ।

शिक्षा, ललित कलाओं, साहित्य, विज्ञान, न्याय संचालन तथा विविध प्रकार की राजकीय सेवाओं में लगे हुए हैं ।"

उपरोक्त विश्लेषण के अनुसार मानव के शारीरिक तथा मानसिक, सभी प्रकार के प्रयास जो आर्थिक उद्देश्य से किये जाते हैं, श्रम के अन्तर्गत आते हैं । इस प्रकार उत्पादन का कोई भी कार्य श्रम के बिना संभव नही । श्रम के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है । (1) ये मानवीय प्रयास होने चाहिये, (2) मानव के शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के प्रयास श्रम के अन्तर्गत आते है तथा (3) आर्थिक प्रतिफल प्राप्त करना इन प्रयासों का उद्देश्य होना चाहिए ।

श्रम के प्रकार—श्रम को (1) मानसिक एव शारीरिक, (2) कुशल तथा अकुशल और (3) उत्पादक एवं अनुत्पादक, तीन श्रेणियों मे बांटा जा सकता है ।

(1) मानसिक एवं शारीरिक श्रम—वैसे तो कोई भी कार्य मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के श्रम के बिना नहीं किया जा सकता, किसी मे मानसिक श्रम अधिक और शारीरिक श्रम कम तथा किसी में मानसिक श्रम की तुलना में शारीरिक श्रम की मात्रा अधिक रहती है । जिन कार्यों मे मस्तिष्क अर्थात् बुद्धि का अधिक प्रयोग किया जाता है वे मानसिक श्रम तथा जिन में मानसिक श्रम की अपेक्षा शारीरिक प्रयास की मात्रा अधिक होती है वे शारीरिक श्रम कहलाते हैं । इन्जीनियर, डाक्टर, वकील, अध्यापक 'मानसिक श्रम' की श्रेणी में आते है और गारा-ईंट देने वाला मजदूर, कुली, चपरासी, माली आदि 'शारीरिक-श्रम' की श्रेणी मे आते हैं ।

(2) कुशल एवं अकुशल श्रम—कुशल श्रम के अन्तर्गत वह श्रम आता है जिनके करने के लिये किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है, और जो श्रम

बिना किसी प्रशिक्षण एवं चतुराई के किया जा सकता है वह अकुशल श्रम कहलाता है। भवन निमारण कार्य मे कारीगर एवं बेलदार दोनों शारीरिक श्रम करते हैं। कारीगर 'कारीगरी' का प्रशिक्षण प्राप्त करता है जबकि बेलदार को किसी भी प्रकार के प्रशिक्षण की आवश्यकता नही पडती। डाक्टर, वकील, इन्जीनियर, ड्राइवर, शिक्षक आदि का श्रम कुशल श्रम है। चपरासी, कुली, घरेलू नौकरों आदि का श्रम अकुशल श्रम की श्रेणी मे आता है।

कुशल श्रमिको की पूर्ति धीरे-धीरे होती है, इनकी पूर्ति भी कम रहती है, इन्हें पारिश्रमिक भी अधिक मिलता है तथा मशीन एवं यत्रो के बढते हुए प्रयोग के कारण कुशल एवं अकुशल श्रमिको का अन्तर कम होता जाता है।

(3) उत्पादक एवं अनुत्पादक श्रम—अठारहवी शताब्दी मे फ्रास के प्रकृतिवादी-अर्थशास्त्रियो ने (Physiocrats) ने सम्पूर्ण आय का स्रोत कृषि को ही माना था। अत उनके अनुसार केवल कृषक का श्रम ही उत्पादक श्रम की श्रेणी मे आता था। ऐडमस्मिथ ने उस तमाम श्रम को उत्पादक माना जो भौतिक वस्तुओ के उत्पादन मे सहायक होता है। उनके मतानुसार कुम्हार का श्रम उत्पादक है गवैय का नहीं। प्रो० मार्शल ने उस तमाम श्रम को उत्पादक माना है जो अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सफल हो जाता है। अर्थात् जिस प्रयास से उपयोगिताओ का सृजन होता है और जो अपने उद्देश्य की पूर्ति म सफल हो जाता है उत्पादक श्रम कहलाता है अन्यथा नही। उदाहरणार्थ कृषक ने फसल पैदा की और वह अग्नि से नष्ट हो गई तो उसका श्रम अनुत्पादक है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने सभी प्रकार के आर्थिक प्रयासो को उत्पादक श्रम माना है। उनके अनुसार समस्त प्रकार के प्रयास, जिनसे भौतिक वस्तुओ के उत्पादन तथा विभिन्न प्रकार की सेवाओ क द्वारा आय प्राप्त होती है, उत्पादक श्रम की श्रेणी मे आते हैं। इस प्रकार कोई भी प्रयास जो उपयोगिताओ का सृजन करता है 'उत्पादक श्रम' कहलायगा और जो उपयोगिता का सृजन नही करता वह अनुत्पादक श्रम होगा। ब्रिग्स तथा जोर्डन ने आवश्यताओ की पूर्ति करने वाले श्रम को उत्पादक कहा है। प्रो० टामस के मत मे 'मूल्य सृजन' करने वाले श्रम न कि उपयोगिता सृजन करने वाले श्रम, उत्पादक कहे जाने चाहिए। अर्थात् श्रम के लिये प्रतिफल मिलता है तो वह श्रम उत्पादक कहलायगा अन्यथा वह अनुत्पादक श्रम कहा जायगा। किसी स्नातक ने बी० एड० की परीक्षा उत्तीर्ण की और वह अध्यापक की नौकरी पा गया तो उसका श्रम उत्पादक होगा और अगर उसे अध्यापक गीरी के स्थान पर जीविका के लिये पान-बीडी की दुकान ही खोलनी पडी तो उसका बी० एड० का प्रशिक्षण प्राप्त करने का श्रम व्यर्थ गया अत यह अनुत्पादक हुआ।

श्रम का महत्व (Importance of Labour)—श्रम उत्पादन का एक अपरिहार्य, साधन है। मामूली से मामूली काम भी श्रम के बिना नही हो सकता कोई भी काम भले ही यह वृक्ष से टपके फल को उठाकर मुह मे रखने का अति आसान काम हो अथवा भवन निर्माण, वायुयान या पेचीदे यन्त्र व मशीनो के निर्माण

का हो, श्रम के बिना नहीं हो सकता। श्रम के बिना प्राकृतिक देन का प्रयोग नहीं हो सकता अतः आर्थिक उपयोगिताओं का सृजन भी नहीं हो सकता। इस प्रकार किसी भी प्रकार का उत्पादन कार्य संभव नहीं हो सकता। बिना उत्पादन के भौतिक सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उत्पादन के अभाव में भौतिक जगत निस्सार है क्योंकि जीवन का लक्ष्य तो भौतिक सुख प्राप्त करना है। इस प्रकार उत्पादन की दृष्टि से ही नहीं अन्य सभी क्रियाओं की दृष्टि से भी श्रम का अत्यधिक महत्व है।

श्रम की विशेषताएं (Characteristics or Peculiarities of Labour)–श्रम उत्पादन का एक सक्रिय साधन है। सजीव होने के कारण यह उत्पादन के अन्य साधनों से अपनी विशेषताओं के कारण कुछ भिन्न है। श्रम की विशेषताओं का वर्णन आगे किया जा रहा है—

(1) **श्रम उत्पादन का एक अपरिहार्य (Indispensable) साधन है**—श्रम उपयोगितायें सृजन करने में सक्रिय सहयोग प्रदान करता है। इसके बिना भूमि अर्थात् प्राकृतिक साधनों का प्रयोग संभव नहीं। इस प्रकार श्रम उत्पादन का एक अनिवार्य तथा अपरिहार्य साधन है। कम्प्यूटर में भी तथ्यों को श्रमिक को ही भरना पड़ता है।

(2) **श्रम उत्पादन का एक सक्रिय (active) साधन है**—मानव एक चेतन प्राणी है। उसमें सोचने समझने की बुद्धि है। वह अपने भले-बुरे को ध्यान में रख कर प्रत्येक चेष्टा करता है। उसके श्रम के बिना भूमि तथा पूंजी निष्क्रिय बने रहते हैं। संगठन तथा साहस श्रम के ही विशिष्ट रूप हैं। इस प्रकार समस्त उत्पादन क्रिया का संचालनकर्ता श्रम है।

(3) **श्रम को श्रमिक से पृथक नहीं किया जा सकता**—मनुष्य के मानसिक एवं शारीरिक प्रयास को ही श्रम कहते हैं। मनुष्य के इन गुणों को उससे अलग नहीं किया जा सकता। श्रम प्रदान करने के स्थान पर श्रमिक की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है। अत श्रम के ऊपर उन सभी बातों का प्रभाव पड़ता है जो उसके स्वयं के शरीर तथा विचारों को प्रभावित करती हैं। इसीलिये श्रमिक अपने श्रम को बेचते समय मालिक तथा कार्य का स्वभाव, कार्य के स्थान का वातावरण, धार्मिक तथा वैचारिक स्वतन्त्रता आदि बातों का ध्यान रखता है।

(4) **श्रम सर्वाधिक नाशवान वस्तु है**—श्रम में समय तत्व निहित है और समय अत्यन्त गतिवान है। इसीलिये श्रम अत्यन्त नाशवान वस्तु है। ऐसा नहीं हो सकता कि एक दिन का व्यर्थ गवाये गये श्रम की क्षति–पूर्ति की जा सके। श्रम को इकट्ठा कर एकत्रित नहीं किया जा सकता। इसका कोई संरक्षित-कोषीय मूल्य नहीं होता। अगर कोई छात्र अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार प्रातः काल चार बजे उठकर पढ़ने में आलस्य कर जाता है और वह छः बजे उठता है तो उसका यह दो घंटे का समय तो नष्ट हो ही गया भले ही वह इस अवधि की कमी को और अधिक अध्ययन द्वारा पूरी कर ले।

(5) श्रमिक की सौदा करने की शक्ति नियोक्ता की तुलना में कम होती है—श्रम अत्यन्त नाशवान वस्तु है तथा श्रम को श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता। श्रम की इन दो कमजोरियों के कारण उसकी सौदा करने की क्षमता कमजोर पड़ जाती है। अतः नियोक्ता उसकी इन कमजोरियों का लाभ उठाकर उसका शोषण करता रहता है। आधुनिक समय में श्रम संघों के कारण उसकी सौदा करने की शक्ति में कुछ वृद्धि हुई है।

(6) श्रमिक अपना श्रम बेचता है न कि अपने आपको—भले ही श्रम को श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि श्रमिक श्रम के साथ अपने आपको भी बेच देता है। वह नियोक्ता का गुलाम नहीं बन जाता। एक बेलदार प्रातः 8 बजे से सायं 5 बजे तक काम पर आता है। इस अवधि में उससे निश्चित कार्य ही कराया जा सकता है। पांच बजते ही वह फावड़ा-परात छोड़कर हाथ पैर धोने लगता है और अपनी मजदूरी लेकर घर चल देता है।

(7) श्रम की पूर्ति धीरे धीरे घटती बढ़ती है—श्रम की पूर्ति जनसंख्या की मात्रा तथा श्रमिक की कार्य-कुशलता पर निर्भर करती है। जनसंख्या की मात्रा जन्म व मृत्यु दर पर निर्भर होती है तथा कार्य-कुशलता श्रमिकों के प्रशिक्षण आदि पर। जन्म व मृत्यु दर को घटाना बढ़ाना तथा श्रमिकों की प्रशिक्षण व्यवस्था को शीघ्र ही कम अधिक करना आसान नहीं होता। अतः श्रम की पूर्ति में परिवर्तन अति मन्द गति से होते हैं।

(8) श्रम उत्पादन का साधन और साध्य दोनों है—आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही मनुष्य प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं में उपयोगिता सृजन का प्रयास करता है। अतः समस्त उत्पादन का साधन श्रम है दूसरी ओर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उत्पत्ति का उपभोक्ता श्रम (मनुष्य) ही है।

(9) श्रम में पूंजी का विनियोग सम्भव है—मानव अपनी अधिकाधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करके अपने जीवन को अधिकाधिक समृद्ध एवं सुखी बनाना चाहता है। अतः वह अपनी कार्यकुशलता को बढ़ाकर अधिक धनोपार्जन करना चाहता है। कार्यकुशलता की वृद्धि के लिये वह विशेष प्रकार का प्रशिक्षण एवं शिक्षण प्राप्त करता है, जो धन व्यय करके ही सम्भव है। छात्र समुदाय, भले ही वह मेडीकल कालेज में पढ़ता हो या किसी वाणिज्य संस्थान अथवा मानविकी पीठ में अथवा इंजीनियरिंग कालेज में या पूना की फिल्म इंस्टीट्यूट में प्रशिक्षण पा रहा श्रमिक है। उसके प्रशिक्षण, अच्छे पोषण, स्वास्थ्य आदि पर काफी धन व्यय करना पड़ता है। इस विनियोग के प्रतिफल के रूप में उसे तुलनात्मक पारिश्रमिक अधिक मिलता है। श्रम में विनियोग की गयी पूंजी को उससे निकाला नहीं जा सकता।

(10) श्रम गतिशील होता है—श्रम में स्थानीय तथा व्यावसायिक गतिशीलता विद्यमान है। मनुष्य एक स्थान कारखाने तथा व्यवसाय को छोड़कर

जन्म से मृत्यु तक की अवधि में उत्पन्न होने वाली सभी आकास्मिकताओं से सुरक्षा के लिये अच्छी सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था अपनायी गई है।

श्रम की पूर्ति (Supply of Labour)—श्रमपूर्ति श्रमशक्ति का ही एक भाग होती है। पारिश्रमिक प्राप्त करने की दृष्टि से जो श्रम किया जाता है वह श्रमपूर्ति कहलाता है। यह श्रम कार्य घटों (Working hours) अथवा कार्य दिवसो (Working days) मे व्यक्त किया जा सकता है। किसी देश की श्रम पूर्ति उस देश की जनसंख्या म कार्यशील जनसंख्या की मात्रा तथा श्रमिकों की कार्यकुशलता पर निर्भर करती है।

प्रो० सेम्युअलसन के मतानुसार श्रम की पूर्ति (1) जनसंख्या, (2) जनसंख्या का वास्तविक श्रमशक्ति मे अनुपात, (3) श्रमिकों द्वारा प्रति दिन या प्रति सप्ताह किये गए औसत काम के घण्टे तथा (4) श्रमिकों द्वारा प्रस्तुत कुशलता—औसत प्रयत्नो की मात्रा और गुण चार बातों पर निर्भर करती है।

श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour)

अर्थ—श्रमिक का एक स्थान से दूसरे स्थान पर, एक काम से दूसरे काम में, एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग और एक श्रेणी (grade) से दूसरी श्रेणी म जाने को श्रम की गतिशीलता कहते हैं। प्रो० टॉमस के मत म "श्रमिक की गतिशीलता का तात्पर्य एक व्यवसाय या धन्धे से दूसरे मे जाने की योग्यता तथा तत्परता से लिया जाता है।"[3]

श्रम की गतिशीलता के स्वरूप या प्रकार—श्रम की गतिशीलता तीन प्रकार की होती है—भौगोलिक गतिशीलता, व्यावसायिक गतिशीलता, तथा श्रेणी, **वर्गीय या वेतन श्रम गतिशीलता।**

(1) **भौगोलिक (Geographical) गतिशीलता**—साधारण भाषा में श्रम की गतिशीलता का तात्पर्य भौगोलिक गतिशीलता से लगाया जाता है। इसका तात्पर्य श्रमिक द्वारा स्थान परिवर्तन मे है। अत यह स्थानीय या प्रादेशिक गतिशीलता भी कहलाती है। जब श्रमिक स्थाई रूप से एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चला जाता है तो यह **स्थायी स्थानीय गतिशीलता** कहलाती है और जब वह थोड़ी अवधि के लिये ही अस्थायी रूप से स्थान परिवर्तन करता है तो इसे **अस्थायी स्थानीय गतिशीलता** कहते हैं।

(2) **व्यावसायिक (Occupational) गतिशीलता**—जब श्रमिक एक धन्धे या व्यवसाय से दूसरे धन्धे या व्यवसाय मे चला जाता है तो इसे व्यावसायिक गतिशीलता कहते हैं। अध्यापन कार्य को छोड़कर प्रशासनिक सेवा म जाना, कृषि को छोड़ कर वस्त्र उद्योग मे जाना व्यावसायिक गतिशीलता सम्बन्धी उदाहरण हैं।

---

3. "By the mobility of labour is meant its ability and willingness to move from one trade or occupation to another" —Thomas

में काले-गोरे की समस्या भी काले लोगों को अपनी मातृभूमि छोड़ने को विवश कर देती है।

(iv) धार्मिक कारण—साम्प्रदायिक दंगों के कारण भी अल्पसंख्यक वर्ग के शान्ति प्रिय लोग एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थानों को पलायन कर जाते हैं।

(2) व्यवसायिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाली बातें—श्रमिक एक धन्धे या व्यवसाय से दूसरे धन्धे या व्यवसाय में जाने के लिये निम्नलिखित बातों के कारण प्रोत्साहित होता है—

(i) योग्यता में वृद्धि—बैंक का चपरासी हायर सैकन्ड्री परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त क्लर्क बनने का प्रयास करता है। इसी प्रकार अच्छी श्रेणी मे स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त क्लर्की छोड कर श्रमिक प्राध्यापक बनना पसन्द करता है।

(ii) आर्थिक कारण—एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे श्रमिक जाने के लिये साधारणतः ऊंचे वेतन मानों के कारण ही प्रोत्साहित होता है। राजस्थान में निजी शिक्षण संस्थाओं में कर्मचारियों को चिकित्सा, मकान किराया, सिटी अलाउन्स आदि न मिलने के कारण वे वि वि. या राजकीय शिक्षा विभाग में जाने को उत्सुक रहते हैं।

(iii) कार्य की सुरक्षा एवं स्थायित्व—निजी संस्थाओं मे नियोक्ता की इच्छा ही प्रभावी होने के कारण कार्य की असुरक्षा बनी रहती है अतः श्रमिक राजकीय संस्थाओं मे जाने को प्रोत्साहित होता है।

(iv) भविष्य में उन्नति की आशा—निजी शिक्षण संस्थाओं मे तो प्राध्यापक के उसी पद पर बने रहने की संभावना ही रहती है परन्तु राजकीय शिक्षा विभाग मे प्राध्यापक बनने के उपरान्त वह पी जी हैड अथवा प्रिंसीपल के पद तक पहुंच सकता है।

(v) कार्य की अच्छी दशायें—श्रमिक टाटा जैसे संस्थानों मे जाना अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि इन संस्थानों मे कार्य करने की दशायें अच्छी हैं।

(vi) काम सीखने की सुविधा—लोग अध्यापक इसीलिये बनना पसन्द करते हैं कि वे धीरे-धीरे बी ए, एम ए उत्तीर्ण कर सकते है तथा साथ ही साथ काम भी सीख सकते है और आगे चल कर सीनियर टीचर बन सकते हैं।

(vii) व्यवसाय का आकर्षण—भारत मे आज भ्रष्टाचार का बोलबाला है तथा कमर तोड महगाई है। अत लोग अध्यापन कार्य को, जो अति सम्मान जनक कार्य है, छोड कर प्रशासनिक सेवाओं मे, जहां ऊपर की आमदनी का आकर्षण होता है, जाने को उत्सुक रहते हैं।

(viii) सामाजिक कारण—लोग आज भी पुलिस तथा सेना में उच्च पदाधिकारी, इंजीनियर, डाक्टर, प्रशासनिक सेवा मे रत व्यक्ति को सामाजिक दृष्टि से ऊंचा मानते हैं। अतः लोग इन व्यवसायों मे जाने का प्रयास करते रहते हैं।

(ix) कठिन एवं अधिक परिश्रम—दुर्बल तथा कमजोर श्रमिक अधिक परिश्रम से बचने के लिये अन्य व्यवसायों मे चले जाते हैं।

(3) **श्रेणी, वर्गीय अथवा वेतन क्रम गतिशीलता को प्रभावित करने वाली बातें**—वर्गीय गतिशीलता में पदोन्नति तथा पदावनति दोनों ही बातें आती हैं अतः इस प्रकार की गतिशीलता पर श्रमिक के गुण व दोष दोनों का ही प्रभाव पड़ता है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है—

(i) **योग्यता में वृद्धि**—शिक्षण व प्रशिक्षण द्वारा जब श्रमिक की योग्यता बढ़ जाती है तो वह वर्तमान वेतन क्रम को छोड़ कर दूसरे वेतन क्रम में काम पा जाता है। जैसे पी. एच. डी. की उपाधि पाने के उपरान्त प्राध्यापक रीडर प्रोफेसर बन सकता है।

(ii) **श्रमिक की ईमानदारी व कर्त्तव्य परायणता**—एक ओर श्रमिक की ईमानदारी व कर्त्तव्य परायणता उसकी पदोन्नति में सहायक होती है तो दूसरी ओर उसकी लापरवाही, कर्त्तव्य विमुखता, बेईमानी आदि उसकी पदावनति के कारण भी बन सकते हैं।

(iii) **नियोक्ता की मर्जी**—नियोक्ता श्रमिक से खुश होकर उसे ऊंचा वेतन क्रम दे सकता है और नाराज होने पर उसकी पदावनति कर देता है।

(iv) **अन्य वर्गों में रोजगार के अवसर**—जब उच्च वेतन क्रम में अनेक स्थान रिक्त होने से रोजगार सम्भावनायें बढ़ जाती हैं तो श्रमिक इन वेतन क्रमों में जाने का प्रयास करते हैं।

श्रम की गतिशीलता में बाधक तत्व (Factors responsible for Low Mobility of Labour)—श्रम श्रमिक से अलग नहीं किया जा सकता अतः श्रम की गतिशीलता उत्पादन के अन्य साधनों की तुलना में काफी कम होती है और श्रम की गतिशीलता पर अनेक बाधाओं का प्रभाव पड़ता है। श्रम की गतिशीलता को कम करने वाली बातों का वर्णन आगे किया जा रहा है—

(1) **घर तथा परिवार का मोह**—भारतीय श्रमिक अपने घर गृहस्थी तथा जन्म स्थान के मोह में फंसे होने के कारण, बेकारी तथा भुखमरी से ग्रसित होने पर भी दूसरे स्थानों पर नहीं जाना चाहते।

(2) **क्षेत्रीय विषमतायें**—देश के विभिन्न क्षेत्रों में खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा, रीति-रिवाज आदि से सम्बन्धित जो विषमतायें पाई जाती हैं उनके कारण श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पसन्द नहीं करते। भारत में इस प्रकार की विषमतायें बहुत अधिक पाई जाती हैं इसलिये यहां श्रम की गतिशीलता बहुत कम है।

(3) **सामाजिक तत्व**—भारत में जात-पांत, ऊंच-नीच, संयुक्त परिवार प्रथा आदि बातें श्रम की गतिशीलता में बहुत अधिक बाधक बनी हुई हैं। हरिजन बेचारा हरिजन ही बना हुआ है। चाहते हुए भी उसे मैला उठाने के बजाय अन्य काम नहीं मिल सकता। संयुक्त परिवार में संरक्षण पाते रहने के कारण कम वेतन पाने पर भी श्रमिक उसी स्थान तथा व्यवसाय से चिपका रहता है।

(4) **आर्थिक बातें**—श्रमिक की निर्धनता उसकी गतिशीलता में बाधक

होती है। उसे स्थान परिवर्तन के लिये किराया-भाड़ा तथा व्यवसाय व ग्रेड परिवर्तन क लिय शिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। धनाभाव मे वह इन खर्चों को वहन करने मे असमथ रहता है अत उसकी गतिशीलता मारी जाती है। भारतीय श्रमिक की निर्धनता उसकी गतिशीलता म बहुत अधिक बाधक है।

(5) शिक्षा का अभाव एवं अज्ञानता—निरक्षरता तथा अज्ञानता के कारण भारतीय श्रमिक को विभि न व्यवसायो व स्थानो मे रोजगार सम्भावनाओ तथा उनमे प्रचलित वेतनमानो तथा उनकी कार्य सम्ब धी परिस्थितियो का ज्ञान नही होता है। इस प्रकार उनकी गतिशीलता निम्न बनी रहती है।

(6) तकनीकी ज्ञान का अभाव—उचित प्रशिक्षण के अभाव मे श्रमिक तकनीकी कौशल से अनभिज्ञ रहता है। अत वह एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय मे जा नही सकता। भारतीय श्रमिक अपनी इस कमी के कारण दूसरे व्यवसायो म जा नही पाते।

(7) सस्ती, शीघ्रगामी तथा पर्याप्त परिवहन व सचार सुविधाओं का अभाव—स्थान परिवतन मे यातायात व्यय काफी बैठने के कारण श्रमिक दूसरे स्थानों पर जाने मे असमर्थ रहते हैं। भारत मे रेलों की भीड-भाड, किरायो की अधिकता आदि के कारण श्रम की गतिशीलता क्षीण है।

(8) राजनीतिक कारण तथा शान्ति एवं सुरक्षा का अभाव—देश मे राजनीतिक उथल पुथल अथवा अन्य कारणो से अगर श्रमिक का जान और माल सुरक्षित नही तो वह दूसरे क्षत्रो मे जाने से डरता है। भारत मे प० बंगाल मे नक्सलवादी गतिविधियो, महाराष्ट्र तथा कर्नाटक विवाद गुजरात तथा बिहार के दगो बम्बई तथा तमिलनाडू मे उत्तर दक्षिण का प्रश्न आदि जन विरोधी आन्दोलनो के कारण श्रमिक इन क्षत्रो मे जाने से डरते है। अत श्रम की गतिशीलता मे बाधा पड़ती है।

(9) धार्मिक स्वतन्त्रता का अभाव तथा धार्मिक असहिष्णुता—भारत या बगला देश का श्रमिक पाकिस्तान मे पाकिस्तानियो की धर्मान्धता व धार्मिक असहिष्णुता के कारण किसी भी कीमत पर जाना नही चाहता।

(10) आवास प्रवास पर रोक—श्रीलंका बर्मा तजानिया व अन्य अफ्रीकी राष्ट्रो से भारतीय मूल के लोगा को जिस निर्दयता से खदेड़ा गया है वह भारतीयो को इन देशो मे जाकर बसने से रोकती है। इसी प्रकार इग्लैंड ने भी विदेशी प्रवासियो पर उनके देश म आकर बसने सम्बन्धी जो प्रतिब ध लगा रखे हैं उनके कारण अ य देशो के लोगो का वहा ज कर बसना कठिन है।

(11) महत्वाकांक्षा तथा साहस का अभाव—इस भौतिक युग मे भी अधिकाश भारतीय 'सादा जीवन उच्च विचार' की विचारधारा से प्रभावित है। अत भारतीय श्रमिक जैसा है वैसा ही बना रहना चाहता है। भाग्यवादिता तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति के कारण भारतीय श्रमिक निस्सार भौतिक सुख के लिये जोखिम नहीं उठाना चाहता है।

(12) नगरों का दूषित वातावरण—भारत के नगरों में व्याप्त खाद्य पदार्थ, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि समस्याओं के कारण श्रमिक नगरों में जाने से डरते हैं। दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में तो वातावरण इतना गन्दा है कि वहाँ जान-माल की भी सुरक्षा नहीं।

भारत में श्रमगतिशीलता को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से निम्न उपाय प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं—

(1) शिक्षा का प्रसार—शिक्षा के प्रसार से पारिवारिक मोह तथा सामाजिक रीति रिवाज सम्बन्धी बाधाओं को कम किया जा सकता है।

(2) रोजगार कार्यालयों की स्थापना—रोजगार कार्यालयों द्वारा श्रमिकों को विभिन्न व्यवसायों तथा स्थानों की रोजगार सम्भावनाओं का ज्ञान कराया जा सकता है।

(3) प्रशिक्षण की व्यवस्था—देश में विभिन्न प्रकार की तकनीकी शिक्षा के उचित प्रशिक्षण की व्यवस्था करके श्रम गतिशीलता में बाधक प्रशिक्षण सम्बन्धी असुविधा को समाप्त किया जाना चाहिए।

(4) परिवहन एवं संचार व्यवस्था को सस्ती, शीघ्र गामी एवं पर्याप्त बनाकर श्रमिक की जेब पर पड़ने वाले आर्थिक भार को कम किया जा सकता है।

(5) शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना—सरकार कड़ा रुख अपना कर लोगों के जान व माल को दंगाइयों तथा गुण्डों से सुरक्षा प्रदान कर सकती है।

(6) श्रम कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था—भारत में भी अन्य देशों के समान सरकार द्वारा श्रमिक को जन्म से लेकर मृत्यु तक उत्पन्न होने वाली आकस्मिकताओं तथा सामाजिक रीति-रिवाजों के कारण उत्पन्न सामाजिक उत्तरदायित्वों का बच्चों के लालन पालन तथा उनके शादी ब्याह के लिये सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की जानी चाहिये ताकि श्रमिक परिवार के मोह में फंसा न रहे।

(7) औद्योगिक विकास—देश के प्रत्येक क्षेत्र में औद्योगिक विकास के प्रयास किये जाने चाहिए ताकि भारतीय श्रमिक अपने आस-पास के स्थानों पर जाने से न डरें। इस प्रकार क्षेत्रीय विषमता सम्बन्धी बाधायें भी कम हो जांयगी। देश में ग्रामीण क्षेत्रों में सूती वस्त्र, चीनी, वनस्पति तेल आदि के कल-कारखानों की स्थापना आसानी से की जा सकती है।

इस प्रकार हम अनुभव करते है कि भारत में श्रम की गतिशीलता को बढ़ाने के लिए मामूली से प्रयास किये जांय तो काफी सफलता मिल सकती है।

प्रश्न एवं संकेत

1. श्रम शब्द की व्याख्या कीजिये। श्रम का उत्पादन में महत्व बताइये और बताइये कि श्रम कितने प्रकार का होता है?
2. श्रम की परिभाषा समझाइये तथा श्रम की विशेषताओं का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये।

(संकेत—श्रम की अर्थ-शास्त्र मे जो परिभाषा दी जाती है उसे समझाना है। दूसरे भाग मे श्रम की मुख्य-मुख्य विशेषताओ का वर्णन करना है।)

3. श्रम की विशेषताएं बताइये कि इन विशेषताओ का अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(संकेत—प्रथम भाग मे श्रम की विशेषताओ का वर्णन करना है तथा द्वितीय भाग मे श्रम की विशेषताओ के आर्थिक प्रभाव समझाने हैं।)

4. श्रम की गतिशीलता से आप क्या समझते हो ? श्रम की गतिशीलता को प्रभावित करने वाली बातो का उल्लेख करते हुए बताइये कि भारत मे श्रम की गतिशीलता क्यो कम है ?

(संकेत—सर्वप्रथम श्रम की गतिशीलता का अर्थ समझाना है। बाद मे उन सभी बातों का वर्णन करना है जो श्रम की गतिशीलता को प्रभावित करती हैं तथा अन्त मे उन सुझावो का उल्लेख करना है जिनकी सहायता से भारत म श्रम की गतिशीलता को बढ़ाया जा सकता है।)

5. श्रम की गतिशीलता का तात्पर्य बताइये। श्रम की गतिशीलता कितने प्रकार की होती है ? भौगोलिक गतिशीलता पर किन बातो का प्रभाव पड़ता है ?

(संकेत—श्रम की गतिशीलता का अर्थ समझाने के उपरान्त श्रम की गतिशीलता के भेद बताने हैं। अन्त म उन बातो का वर्णन करना है जो भौगोलिक गतिशीलता को प्रभावित करती हैं।)

18

श्रम की कार्यकुशलता

(Efficiency of Labour)

श्रम की पूर्ति दो बातों द्वारा प्रभावित होती है—श्रमिकों की संख्या तथा श्रमिकों की कार्य-कुशलता। पाश्चात्य देशों में श्रमिक कार्य-कुशलता को बढ़ा कर श्रम पूर्ति बढ़ाना अधिक श्रेयष्कर समझा जाता है। अतः वहां श्रम की कार्यक्षमता बढ़ा कर श्रम की प्रभावपूर्ण पूर्ति बढ़ाने का प्रयास किया जाता है।

श्रम की कार्यकुशलता

अर्थ अगर कोई श्रमिक एक निश्चित समय तथा परिस्थितियों में दूसरे श्रमिक की तुलना में अधिक या अच्छा अथवा अधिक और अच्छा काम करता है तो वह दूसरे की तुलना में अधिक कार्यकुशल है।

प्रभावित करने वाली बातें

(I) व्यक्तिगत गुण।
(II) कार्य करने की दशायें।
(III) देश का वातावरण।
(IV) संगठक की कुशलता।
(V) अन्य बातें।

(I) व्यक्तिगत गुण :
(i) जातीय व पैतृक गुण।
(ii) स्वास्थ्य व जीवन स्तर।
(iii) नैतिक गुण।
(iv) सामान्य बुद्धि एवं ज्ञान।
(v) उचित प्रशिक्षण।
(iiv) आपसी संगठन तथा सहयोग।

(II) कार्य की परिस्थितियां :
(i) स्थानीय वातावरण।
(ii) काम के घण्टे व उनका वितरण

अर्थ—श्रम की कार्यक्षमता का तात्पर्य श्रमिक की उत्पादन शक्ति से है। श्रम की कार्य क्षमता एक सापेक्षिक धारणा है। इसे जानने के लिये दो श्रमिकों की कार्य करने की शक्ति की तुलना करना आवश्यक है। अगर कोई श्रमिक एक निश्चित समय तथा निश्चित परिस्थितियों में दूसरे श्रमिक की तुलना में अधिक या अच्छा अथवा अधिक और अच्छा कार्य करता है तो वह दूसरे श्रमिक की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल माना जायगा। इस प्रकार श्रमिक की कार्य-क्षमता उसके उस गुण पर निर्भर करती है जिसके द्वारा वह किसी कार्य को एक निश्चित अवधि में भली भांति कर सकता है।

श्रम की कार्य क्षमता को मुद्रा रूपी मापदंड से मापा जा सकता है। इसे मापने के लिये श्रमिक की उत्पादकता—मात्रा एवं किस्म की तुलना श्रम की लागत के साथ करनी पड़ती है। अगर लागत वही रहती है तो उत्पादन बढ़ने पर कार्य क्षमता अधिक तथा उत्पादन गिरने पर कार्यक्षमता कम मानी जाती है। और यदि उत्पादन वही रहता है तो लागत बढ़ने पर कार्यक्षमता

(iii) पारिश्रमिक ।
(iv) उन्नत उपकरण ।
(v) भविष्य मे उन्नति ।
(vi) कार्य की स्वतन्त्रता ।
(vii) कार्य म परिवर्तन ।
(viii) सामाजिक सुरक्षा ।

III देश का वातावरण
(i) भौगोलिक ।
(ii) सामाजिक ।
(iii) राजनीतिक ।

IV सगठन की कुशलता
(i) योग्यतानुसार काम ।
(ii) उपकरणो व कच्चे माल की व्यवस्था ।
(iii) आपसी सम्बन्धों को बनाना

V अन्य बातें :
(i) प्रभावी श्रम सगठन ।
(ii) सरकारी नीति ।
(iii) प्रवासी प्रवृत्ति ।
(iv) आपसी सम्बन्ध मधुर ।

भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता को बढ़ाने के उपाय

श्रमिक की कार्यकुशलता पर जिन-जिन बातो का प्रभाव पडता है उनकी उचित व्यवस्था भारतीय श्रमिक की कार्यकुशलता को बढाने मे सहायक हो सकती है ।

श्रम तथा लागत कम होने पर कार्यक्षमता अधिक मानी जाती है ।

श्रम की कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाले तत्व (Factors affecting The Efficiency of Labour)—श्रम की विशेषताओ को अगर ध्यान मे रखें तो हमे ज्ञात होता है कि श्रम की कार्य क्षमता पर अनेक तत्वों का प्रभाव पडता है जिनका अध्ययन हम निम्न लिखित शीर्षको मे कर सकते हैं—

I श्रमिक के व्यक्तिगत गुण, II कार्य करने की दशायें, III देश का वातावरण, IV सगठन की कुशलता तथा V अन्य बातें ।

I श्रमिक के व्यक्तिगत गुण— श्रमिक की कार्यक्षमता पर उसके व्यक्तिगत गुणो का भारी प्रभाव पडता है । इन मे से प्रमुख गुणो का अध्ययन आगे किया जा रहा है

(i) जातीय व पैतृक गुण—मनुष्य म बहुत सी खूबिया (गुण) वशानुगत होती हैं तथा पैतृक धरोहर के रूप मे प्राप्त होती हैं । जुलाहे, कृषक, वैश्य की सन्तानें अपने मा बाप के व्यवसाय मे साधारणत दक्षता प्राप्त कर लेते हैं । सिक्ख साधारणतः अच्छे सैनिक तथा कुशल मिस्त्री होते हैं ।

परन्तु आज कल वर्ण व्यवस्था समाप्त होती जा रही है तथा सयुक्त परिवार प्रथा भी टूट रही है। अत श्रमिको मे गुण स्थानीय तथा क्षेत्रीय व्यवसाय तथा उद्यमो के आधार पर आते हैं । उदाहरणार्थ स्विटजरलैंड के घडी साज, पंजाब व हरियाणा के कृपक, फिरोजाबाद के चूडिया ढालने वाले, आस-पास की व्यावसायिक गतिविधियो के कारण ये काम सीख लेते हैं ।

(ii) स्वास्थ्य तथा जीवन स्तर—स्वस्थ शरीर मे ही स्वस्थ मस्तिष्क होता है । अतः अच्छे स्वास्थ्य का श्रमिक की रुचि, लगन, परिश्रमशीलता, सहनशीलता तथा लम्बी आयु पर प्रभाव पडता है । अच्छा स्वास्थ्य पौष्टिक भोजन, खुले हवादार भवन तथा पर्याप्त वस्त्र एव उचित शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि अन्य आवश्यकताओं

की पूर्ति पर निर्भर करता है। इस प्रकार श्रमिकों के जीवन-स्तर का उनकी कार्य-क्षमता पर भारी प्रभाव पड़ता है। पाश्चात्य देशों के निवासियों का जीवन-स्तर भारतीयों की तुलना में उन्नत होने के कारण ही वे आम भारतीयों से अधिक कुशल होते हैं। अतः भारत में श्रमिकों को अधिक पारिश्रमिक दिलाने की आवश्यकता है।

(iii) नैतिक गुण—आज भारत में 'निष्काम कर्म' के स्थान पर 'निष्कर्म काम' की भावना ने स्थान ले लिया है। कारण भारतवासियों का नैतिक अधःपतन पराकाष्ठा की सीमा पर पहुँच चुका है। और इसीलिये कर्त्तव्य-परायणता, ईमानदारी, लगन आदि का अभाव होता जाता है। धार्मिक शिक्षा का प्रचार, धन के उपभोग पर रोक लगाकर तथा धन के वितरण की असमानताओं को दूर करके और भ्रष्टाचार उन्मूलन के नियमों का कड़ाई से पालन करके ही भारतीयों में नैतिक गुण लाये जा सकते हैं।

(iv) सामान्य बुद्धि एवं सामान्य ज्ञान—सामान्य बुद्धि का तात्पर्य 'तुरन्त निर्णायक' शक्ति से है। इस गुण का श्रमिक की कार्यक्षमता पर भारी प्रभाव पड़ता है क्योंकि सामान्य सूझबूझ के कारण उसके विचारों में स्पष्टता, शीघ्र एवं उचित निर्णय शक्ति तथा उसकी स्मरण शक्ति अच्छी होती है। उचित शिक्षा घर का वातावरण तथा उन्नत जीवन स्तर द्वारा यह गुण प्राप्त किया जा सकता है।

(v) उचित प्रशिक्षण—वर्तमान युग पेचीदगियों से भरा हुआ है; उत्पादन की रीति-नीति दिनों दिन बदलती रहती है तथा नित नये आविष्कार होते रहते हैं। इन परिस्थितियों में सामान्य शिक्षण तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण अति आवश्यक हैं। टैकनीकल एवं वाणिज्य शिक्षा प्राप्त श्रमिक उत्पादन सम्बन्धी समस्याओं से भिज्ञ होने के कारण उन्हें आसानी से हल कर सकते हैं।

देश स्वतन्त्र होने से पूर्व भारत में इनका नितान्त अभाव था। स्वतन्त्र भारत में इस ओर ध्यान दिया जा रहा है परन्तु अभावों को दूर करने के लिये अधिक प्रयास की आवश्यकता है।

(v.) श्रमिकों में संगठन तथा आपसी सहयोग की भावना—नियोक्ताओं द्वारा शोषण से बचने के लिये—कल-कारखानों अथवा कार्य करने के क्षेत्रों में श्रमिकों में संगठन का होना आवश्यक है इसके साथ-साथ बाह्य जीवन में भी उनमें आपसी सहयोग की भावना आवश्यक है। हारी-बीमारी, बेकारी, हड़तालें आदि के समय आपसीसहयोग द्वारा श्रमिकों का स्वास्थ्य, मनोबल, नैतिकता गिर नहीं पातीं। अन्ततोगत्वा इन बातों का उसकी कार्यक्षमता पर भारी प्रभाव पड़ता है।

II कार्य करने की परिस्थितियां—कार्य करने की परिस्थितियों का तात्पर्य उन सब दशाओं से है जिनके अन्तर्गत श्रमिक को कार्य करना पड़ता है। इनका उसकी कार्यक्षमता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है—

(i) कार्य करने के स्थान का वातावरण—श्रमिक की कार्यक्षमता पर उस स्थान के वातावरण का भारी प्रभाव पड़ता है। जहां वह काम करता है। स्वच्छ

हवादार कार्य-स्थल गर्मी सर्दी तथा वर्षा से बचाव, दुर्घटनाओं से सुरक्षा, सम्ने जल-पान घर, विश्राम घर, स्वच्छ पेशाब घर तथा शौचालय, स्त्री श्रमिकों के वास्ते अलग से विश्राम घर तथा शिशु गृह आदि की उचित व्यवस्था के कारण श्रमिक का स्वास्थ्य बना रहता है, कार्य में उसका मन लगा रहता है तथा समय की बचत भी हो सकती है।

भारतीय उद्योगपति तथा अन्य नियोक्ता इस प्रकार की व्यवस्थाओं को फिजूल खर्ची समझते हैं। इस सम्बन्ध में सरकार द्वारा जो श्रम कानून पारित किये गये हैं उनका कड़ाई से पालन होना आवश्यक है।

(ii) कार्य करने के घंटे तथा उनका वितरण—यह आम धारणा है कि श्रमिकों से लगातार अधिक समय तक काम कराया जाय। ऐसा करने से श्रमिक की कार्यक्षमता का ह्रास होता है। मनुष्य एक सजीव प्राणी है। वह लगातार अधिक समय तक काम नहीं कर सकता। उसकी कार्य करने की अवधि कम होनी चाहिए तथा कार्य अवधि में बीच बीच में चाय-नाश्ता, भोजन आदि के लिये छुट्टी की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरे कार्य करने के घण्टे एक ही पारी (Shift) में होने चाहिए ताकि घर से कारखानों तक आने जाने में व्यर्थ में ही समय नष्ट न हो।

भारत में बड़े-बड़े कल कारखानों में तो कारखाना अधिनियमों के अन्तर्गत कार्य करने के निश्चित घण्टों की व्यवस्था की जा चुकी है। परन्तु अन्य देशों की तुलना में कार्य करने के घण्टे अधिक हैं। दूसरे दुकानों तथा खेतों में काम करने वाले श्रमिकों एवं घरेलू नौकरों के सम्बन्ध में इस प्रकार के नियमों का अभाव है। सरकारी कार्यालयों में काम करने वाले चतुर्थ श्रेणी के अधिकांश कर्मचारियों को भी अफसरशाही का शिकार होकर उनके घरों पर अधिक समय तक काम करना पड़ता है। इनकी कार्यक्षमता बढ़ाने के लिये इन्हें सुरक्षा दिलायी जाय।

(iii) पारिश्रमिक सम्बन्धी बातें—पारिश्रमिक का श्रम की कार्यक्षमता पर भारी प्रभाव पड़ता है। अगर श्रमिक को पर्याप्त पारिश्रमिक, नियमित रूप से नगद मुद्रा के रूप में मिलता है तो वह पूरी पूरी लगन के साथ अधिक परिश्रम पूर्वक काम करेगा। दूसरे उसका रहन-सहन का स्तर भी उन्नत होगा। इस प्रकार श्रमिक की कार्यक्षमता में वृद्धि होना स्वाभाविक है।

भारत में पारिश्रमिक सम्बन्धी बातें अब भी पिछड़ी हुई अवस्था में हैं।

(iv) अच्छे, सुधरे हुए तथा आधुनिक उपकरण—श्रमिक को जिन मशीन तथा यन्त्रों से काम करना पड़ता है अगर वे उन्नत, सुधरे हुए तथा नवीनतम हैं तो वह उसी समय में अधिक एवं उन्नत किस्म का काम कर लेगा अन्यथा पुरानी, घिसी पिटी एवं पुराने 'मौडल' की मशीन तथा यन्त्रों से उत्पादन शक्ति में ह्रास होगा।

भारत में अधिकांश कल कारखानों में मशीन तथा यन्त्र द्वितीय युद्ध-पूर्व काल की घिसी पिटी हुई हैं। इनके नवीनीकरण द्वारा श्रम कार्यक्षमता को बढ़ाया जा सकता है।

(v) **भविष्य में उन्नति की आशा**—अगर श्रमिक को यह आशा एवं विश्वास है कि वह भविष्य में और अधिक उन्नति कर सकेगा तो वह लगन से काम करेगा और अगर वह समझता है कि जी तोड़ मेहनत करने पर भी उसकी पदोन्नति होने वाली नहीं है तो वह क्यों परिश्रम करेगा ? भारत में निजी संस्थाओं में इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं हैं।

(vi) **कार्य पाने एवं कार्य करने की स्वतन्त्रता**—अगर श्रमिक अपनी रुचि एवं इच्छानुसार कार्य पा जाता है तो उनकी रुचि व लगन बढ़ जाती है तथा उत्पादन बढ़ जाता है। इसी प्रकार कार्य करने की अगर उसे पूरी पूरी स्वतन्त्रता होती है तथा मार्ग-दर्शन के अतिरिक्त कोई हस्तक्षेप नहीं होता तो भी उसकी उत्पादकता बढ़ जाती है।

भारत में बेकारी के कारण इन दोनों ही बातों का अभाव बना हुआ है।

(vii) **कार्य में परिवर्तन**—लगातार एक ही काम करते रहने के कारण श्रमिक को काम नीरस लगने लगता है और उसकी दिलचस्पी में कमी आ जाती है। अतः उत्पादन गिर जाता है। कार्य में अगर थोड़ा बहुत परिवर्तन होता रहे तथा बीच-बीच में श्रमिकों के लिये पिकनिक आदि की व्यवस्था की जाय तो नीरसता काफी कम हो सकती है।

(viii) **श्रम कल्याण एवं सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्य**—अगर नियोक्ताओं द्वारा श्रमिक के लिये, हारी-बीमारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था, बेकारी आदि परिस्थितियों से सुरक्षा की पर्याप्त व्यवस्था की जाती है तो श्रमक निश्चिन्त होकर पूर्ण निष्ठा के साथ अपना काम करता है अन्यथा इन आकस्मिकताओं के लिये स्वयं उसको अपने पारिश्रमिक में से ही बचत करने को बाध्य होना पड़ता है और उसका रहन-सहन का स्तर भी गिर जाता है जिसका प्रभाव उसकी कार्य-क्षमता पर पड़े बिना नहीं रहता।

भारत में सम्मिलित कुटम्ब प्रणाली के कारण गर्भाधान से ही जन्मजन्मान्तर तक ये सुरक्षायें थीं। परन्तु जैसे-जैसे व्यक्तिवाद पनपता जा रहा है और सम्मिलित कुटम्ब प्रणाली टूटती जा रही है, समाज तथा सरकार को इनकी व्यवस्था करना आवश्यक है। पाश्चात्य देशों में जन्म से मृत्यु तक घटित होने वाली सभी आकस्मिकताओं के लिए आवश्यक व्यवस्था है।

III—**देश का वातावरण**—देश के भौगोलिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक वातावरण का श्रम कार्य-क्षमता पर जो प्रभाव पड़ता है उसका वर्णन आगे किया जा रहा है।

(i) **भौगोलिक वातावरण**—किसी देश के भौगोलिक वातावरण के अन्तर्गत विश्व के मानचित्र में उसकी भौगोलिक स्थिति, उसकी प्राकृतिक बनावट, जलवायु, नदियां, पहाड़, खनिज, जङ्गल, समुद्र आदि बातें आती हैं। इन बातों का मनुष्य की कार्य-क्षमता पर भारी प्रभाव पड़ता है (स्थिति का देश की जलवायु तथा विदेशी व्यापार पर, प्राकृतिक बनावट का कृषि करने की सुविधा पर, जलवायु का उसकी

परिश्रमशीलता पर तथा अन्य बातो का औद्योगिक तथा व्यावसायिक प्रगति पर प्रभाव पड़ता है। प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से इनका प्रभाव श्रम की कार्य-क्षमता पर पडता है। भारत, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका मे श्रमिको की कार्य-क्षमता कम होने मे इन तत्वो का काफी हाथ है।

(ii) सामाजिक व धार्मिक बातें—प्रत्येक देश मे प्रचलित रीति-रिवाज तथा धार्मिक बातो का वहाँ के श्रमिको की कार्य-क्षमता पर भारी प्रभाव पड़ता है। पर्दा प्रथा तथा वर्ण-व्यवस्था-कार्य पाने व कार्य करने की स्वतन्त्रता मे बाधक होती है, बाल विवाह के कारण दुर्बल सन्तानें होती हैं, दहेज प्रथा, प्रीतिभोज, मृत्युभोज आदि रहन सहन के स्तर को गिरा देती हैं, धार्मिक अन्ध-विश्वास एव असहिष्णुता का श्रम की गतिशीलता पर प्रभाव पडता है तथा श्रमिक भाग्यवादी बन जाता है।

(iii) राजनीतिक वातावरण—देश मे शान्ति एव सुरक्षा का अभाव, हडतालें व नक्सलवादी आन्दोलन आदि बातो का श्रम की कार्य क्षमता पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पडता है। राजनीतिक पराधीनता, वैचारिक स्वतन्त्रता पर रोक आदि बातो के कारण श्रमिक की कार्य क्षमता का ह्रास हो जाता है। पूजीवादी देशो मे श्रमिकों का शोषण होता है जो साम्यवादी देशो म कार्य की स्वतन्त्रता, वैचारिक स्वतन्त्रता आदि बातो का अभाव रहता है।

देश स्वतन्त्र होने के उपरान्त भारतीय राजनीति में स्थायित्व आया है तथा वैचारिक स्वतन्त्रता मिली है अत श्रमिक की कार्य-क्षमता निरन्तर बढ रही है।

IV—सगठन की कुशलता—उत्पादन के साधनो को यथानुपात मे एकत्रित कर उनसे उत्पादन चलाने का कार्य सगठनकर्ता का होता है। अत श्रम की कार्य-क्षमता पर उसकी सगठन कुशलता का भारी प्रभाव पडता है क्योंकि—

(i) सगठनकर्ता ही श्रमिक को उसकी योग्यतानुसार कार्य देता है जिससे श्रमिक को उसकी रुचि के अनुसार काम मिल जाता है,

(ii) उपयुक्त मशीने, यन्त्र औजार, कच्चा माल आदि की व्यवस्था का भार भी सगठक पर होता है। इन बातो की उपयुक्त व्यवस्था से श्रम उत्पादिता बढ जाती है, तथा

(iii) मालिक व मजदूरो के मध्य सम्बन्धो को मधुर बनाये रखने का उत्तरदायित्व सगठनकर्ता पर ही होता है। श्रमिको के साथ सद्व्यवहार प्रबन्ध तथा लाभ मे उन्हें भागीदार बनाना, उनके कल्याण तथा हित की व्यवस्था करना आदि के कारण श्रमिक का मालिक के प्रति स्नेह, कार्य के प्रति लगन तथा प्रबन्धक के प्रति विश्वास तथा सम्मान की भावना जाग्रत होती है। जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव उसकी कार्य-क्षमता पर पडता है।

V—अन्य बातें—उपरोक्त बातो के अतिरिक्त कुछ अन्य बातो का भी श्रमिक की कार्य क्षमता पर प्रभाव पडता है जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है।

(i) श्रम सगठन का प्रभावी होना—'सगठन ही शक्ति है', सगठित श्रमिक

नियोक्ता से पर्याप्त तथा ऊंची मजदूरी एवं श्रम कल्याण सम्बन्धी अन्य सुविधाएं प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। संगठित श्रमिकों में अनुशासन की भावना भी होती है। इस प्रकार उनकी कार्य-कुशलता बढ़ जाती है।

(ii) सरकारी नीति—समाजवादी तथा साम्यवादी सरकारों की सफलता का आधार श्रमिक है। ये श्रम कल्याण के हर सम्भव प्रयास करती हैं जिसका प्रभाव श्रम की कार्य-क्षमता पर पड़ता है विदेशी सरकार श्रमिकों के शोषण को रोकने की बजाय उल्टे बढ़ावा देती है फलस्वरूप श्रमिक की कार्य-क्षमता का निरन्तर ह्रास होता रहता है।

(iii) श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति तथा काम से अनुपस्थित रहने की समस्या—अगर श्रमिक एक ही उद्यम में स्थायी रूप से कार्य नहीं करते और आये दिन काम बदलते रहते हैं तो वे किसी भी कार्य की तकनीक का पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते अतः उनकी कार्य-क्षमता का गिरना स्वाभाविक है। भारतीय श्रमिक अपनी इस प्रवासी प्रवृत्ति के कारण कल कारखानों को छोड़ कर अपने गांव भाग जाता है। लम्बी अवधि तक अनुपस्थित रहने से उसे काम से हटा दिया जाता है और वापस आने पर पुनः उसी कार्य में काम पा जाना संभव नहीं होता। इस प्रकार उसकी इस **प्रवासी प्रवृत्ति तथा कार्य से अनुपस्थित रहने** की आदत के कारण, उसकी कार्य-क्षमता का ह्रास हो जाता है।

(iv) श्रमिक एवं मालिक के बीच मधुर सम्बन्धों का होना—मालिक व मजदूरों के मधुर सम्बन्धों के कारण वे एक दूसरे के प्रति विश्वास, सद्भावना तथा प्रेम का व्यवहार रखते हैं और एक दूसरे के हितों का ध्यान रखते है। इस प्रकार श्रमिक तथा मालिकों के सम्बन्ध मधुर होने के कारण श्रम की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है। भारत में कम ही नियोक्ता ऐसे है जो श्रमिक को अपना गुलाम न समझते हों अतः आये दिन वर्ग संघर्ष, हड़तालें व तालाबन्दी की दुर्घटनाये होती रहतीं हैं जिनका सीधा प्रभाव श्रम उत्पादिता पर पड़ता है।

भारतीय श्रमिक की कार्य-क्षमता को बढ़ाने के उपाय—जिन परिस्थितियों तथा वातावरण में भारतीय श्रमिक को काम करना पड़ता है उनको अगर ध्यान में रखें तो हम यही पायेंगे कि भारतीय श्रमिक संसार के किसी भी देश के श्रमिक से कम कार्य-कुशल नहीं है। भारतीय श्रमिक से मनमाना काम लिया जाता है, व उसे निरन्तर लम्बे समय तक काम करना पड़ता है। पारिश्रमिक कम और काम करने के घंटे अधिक, ठीक ढंग के यन्त्र व मशीनों का अभाव, कार्य करने के स्थानों पर प्रकाश, हवा, पानी पीने की व्यवस्था, विश्रामघर, शौचालय तथा पेशाबघर आदि का अभाव, झुग्गी-झोंपड़ियों में रहना, शिक्षा, मनोरंजन, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि का अभाव, शिक्षण तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था न होना, स्वास्थ्य, श्रम कल्याण कार्यों का अभाव आदि बातों के कारण आम भारतीय श्रमिक का जीवन-स्तर, स्वास्थ्य, कार्य के प्रति रुचि, व लगाव आदि का ह्रास होने से उनकी कार्य-क्षमता गिर जाती है। अतः उसे अधिक

कुशल बनाने के लिए सभी सम्बन्धित समस्याओं का समाधान किया जाना आवश्यक है। अन्यथा देश में वर्ग-संघर्ष, विद्वेष, तोड़-फोड़ तथा अन्य विनाशकारी प्रवृत्तियां जोर पकड़ती जायगी और देश सभी प्रकार से अधोपतन की ओर चलता जायगा।

प्रश्न एवं संकेत

1 श्रम की कार्यकुशलता का अर्थ समझाइये तथा उन बातों को बताइये जो श्रम की कार्यकुशलता को प्रभावित करती हैं।

2 श्रम की कार्यकुशलता की व्याख्या कीजिये। श्रम की कार्यकुशलता निर्धारित करने वाले तत्वों का वर्णन कीजिये।

(संकेत—दोनों प्रश्नों के उत्तर लगभग समान हैं। प्रथम भाग में श्रम की कार्यकुशलता का अर्थ तथा द्वितीय भाग में श्रम की कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाली बातों का वर्णन करना है।)

3 श्रम की कार्यकुशलता का अर्थ बताइये और बताइये कि भारतीय श्रमिक की कार्यकुशलता कम क्यों है ? इसे बढ़ाने के उपाय समझाइये।

(संकेत—सर्वप्रथम श्रम की कार्य-कुशलता का अर्थ समझाना है आगे उन बातों को समझना है जिनके कारण भारतीय श्रमिक की कार्य-कुशलता कम बनी हुई है और अन्त में सुझाव देना है कि भारतीय श्रमिक की कार्य कुशलता को कैसे बढ़ाया जा सकता है ?)

4 श्रम की विशेषतायें श्रम की कार्यकुशलता को किस प्रकार प्रभावित करती हैं ? समझाइये।

(संकेत—श्रम की विशेषताओं के सन्दर्भ में इनके श्रम की कार्यकुशलता पर प्रभाव बताइये।)

19

जनसंख्या के सिद्धान्त
(Theories of Population)

श्रम उत्पादन का एक महत्वपूर्ण सक्रिय साधन है। इसकी पूर्ति जनसंख्या पर निर्भर करती है। सामान्यतया जनसंख्या में परिवर्तन दीर्घकाल में ही हो सकते हैं। अतः श्रम की दीर्घकालीन पूर्ति का अध्ययन करने के लिए जनसंख्या सिद्धान्तों का अध्ययन आवश्यक होता है। जनसंख्या के संबंध में अति प्राचीनकाल से ही अर्थशास्त्री रुचि रखते आये हैं और इसी कारण जनसंख्या के विभिन्न सिद्धान्तों का विकास हुआ है। जनसंख्या सिद्धान्तों में माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त सर्वाधिक प्रसिद्ध रहा है। इसके बाद अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय किसी एक अर्थशास्त्री को न होकर केनन, डाल्टन, रोबिन्स, कार-सौन्डर्स आदि को है। इन दो सिद्धान्तों के अतिरिक्त जनसंख्या के जैविकीय सिद्धान्त तथा शुद्ध पुनरुत्पादन दर का जनसंख्या सिद्धान्त दो नये सिद्धान्त हैं। इस अध्याय में प्रथम दो सिद्धान्तों का विस्तार से तथा अन्तिम दो सिद्धान्तों का संक्षेप में अध्ययन किया गया है।

माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त

प्रमुख बातें --

(1) जनसंख्या ज्यामितिक वृद्धि से बढ़ती है जैसे 1, 2, 4, 8, 16 इत्यादि।

(2) खाद्य सामग्री अंकगणित वृद्धि से बढ़ती है जैसे 1, 2, 3, 4, 5 इत्यादि।

(3) खाद्य सामग्री एवं जनसंख्या में असंतुलन पैदा होता है।

(4) असंतुलन दूर करने के दो उपाय हैं— नैसर्गिक प्रतिबन्ध तथा निवारक प्रतिबन्ध।

(5) माल्थस की जनसंख्या रोकने के लिए निवारक प्रतिबन्धों को अपनाने की सलाह।

आलोचनाएं—

(1) अवास्तविक मान्यताएं।

(2) इसका गणितात्मक रूप अशुद्ध।

1. माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त
(Malthusian Theory of Population)

परिचय—यद्यपि जनसंख्या के सम्बन्ध में अनेक अर्थ-शास्त्रियों एवं राजनीतिज्ञों ने माल्थस के पूर्व भी विचार व्यक्त किये थे परन्तु माल्थस पहले व्यक्ति थे जिन्होंने

(3) भावी विकास के अनुमान में माल्थस ने त्रुटि की।
(4) जनसंख्या की तुलना खाद्य-सामग्री की अपेक्षा कुल राष्ट्रीय उत्पादन से करनी चाहिए।
(5) जनसंख्या के साथ श्रम की पूर्ति भी बढ़ती है।
(6) जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि हानिकारक नहीं है।
(7) प्राकृतिक विपत्तियाँ अति जनसंख्या का सूचक नहीं हैं।
(8) यह व्यवहार में सत्य सिद्ध नहीं हुआ है।
(9) जनसंख्या रोकने के माल्थस के उपाय पर्याप्त नहीं।
(10) स्थैतिक विचार।

सिद्धान्त में सत्यता-

माल्थस के सिद्धान्त का भय विकसित देशों में समाप्त हो गया है परन्तु विकासशील देशों में अभी भी क्रियाशील है।

जनसंख्या पर निश्चित एवं सुव्यवस्थित विचार प्रस्तुत किए इसीलिए जनसंख्या की समस्या पर आर्थिक दृष्टिकोण से विचार करने वालों में टी आर माल्थस का स्थान अग्रणी है। माल्थस इंग्लैण्ड का एक निराशावादी पादरी था जिसने सन् 1798 में अपनी एक पुस्तक An Essay on the Principles of Population as it *Affects the Future Improvement* of Society' के प्रथम संस्करण में प्रस्तुत किये। इस संस्करण पर माल्थस ने अपना नाम नहीं दिया था। माल्थस की पुस्तक का दूसरा संस्करण सन् 1803 में प्रकाशित हुआ जिस पर माल्थस का नाम भी प्रकाशित था तथा इसी संस्करण को माल्थस के विचारों का आधार माना जाता है।

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की व्याख्या करने से पूर्व यहाँ उस पृष्ठभूमि का संक्षिप्त वर्णन कर देना उपयुक्त होगा जिसमें माल्थस ने अपने सिद्धान्त की रचना की थी। जिस समय माल्थस ने अपने सिद्धान्त की रचना की उस समय सम्पूर्ण यूरोप नेपोलियन की लड़ाइयों की आग में जल रहा था। इन लड़ाइयों के कारण खाद्यान्न तथा उपभोग की अन्य वस्तुओं की कमी हो गई थी आर्थिक असन्तोष एवं बेकारी बढ़ रही थी। औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हुआ ही था, जीवन निर्वाह साधनों में किसी प्रकार की प्रगति दिखाई नहीं पड़ती थी तथा जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी। इंग्लैंड एक टापू होने कारण तात्कालिक परिस्थितियों में आयात की सम्भावना भी कम थी। इस सब अभावों के होते हुए भी उस समय के विचारक मानव के भविष्य को उज्वल मानते थे। उस समय के एक प्रमुख विचारक गोडविन ने जिन्होंने अपनी पुस्तक "An Essay into Political Justice में मानव के भविष्य को बहुत उज्ज्वल समझा था। माल्थस एक निराशावादी व्यक्ति थे अतः उन्होंने अपनी पुस्तक गोडविन के विचारों से असहमति व्यक्त करने के लिए प्रत्युत्तर में लिखी थी।

सिद्धान्त की मान्यतायें—माल्थस ने अपने सिद्धान्त की रचना निम्नलिखित मान्यताओं के आधार पर की है। (1) मनुष्य की प्रजनन शक्ति (Fecundity) स्थिर रहती है। (2) जीवन-स्तर तथा जनसंख्या में सीधा सम्बन्ध होता है। जीवन-

स्तर बढ़ने पर जनसंख्या बढ़ती है तथा जीवन-स्तर के गिरने पर जनसंख्या में कमी होती है।

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का कथन—माल्थस ने जनसंख्या के अपने सिद्धान्त को उपरोक्त मान्यताओं के आधार पर इस प्रकार व्यक्त किया है। "उत्पादन कलाओं की एक दी हुई स्थिति के अन्तर्गत, जनसंख्या में जीवन-निर्वाह के साधनों से अधिक तेजी के साथ बढ़ने की प्रवृत्ति पाई जाती है।"

माल्थस के जनसंख्या सिद्धांत की व्याख्या—माल्थस के जनसंख्या सिद्धांत की व्याख्या की जाय तो इस सिद्धांत की निम्नलिखित प्रमुख बातें ज्ञात होती हैं।

(1) **जनसंख्या में वृद्धि**—अनेक देशों के अध्ययन के उपरान्त माल्थस इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जनसंख्या में अत्यधिक द्रुत गति से बढ़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है। माल्थस ने इस तीव्र विकास की प्रवृति को व्यक्त करने के लिए गणित का सहारा लिया और बतया कि जनसंख्या 'ज्यामितिक वृद्धि' या **'गुणोत्तर श्रेणी'** (Geometrical Progession) के अनुसार बढ़ती है। ज्यामितिक वृद्धि का अर्थ है 1, 2, 4, 8, 16, 32.... । अर्थात् बाधाएं न होने पर एक देश की जनसंख्या प्रत्येक 25 वर्ष में लगभग दुगनी हो जाती है।

(2) **खाद्यसामग्री में वृद्धि**–किसी भी देश में जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ खाद्यसामग्री में भी वृद्धि होती है परन्तु कृषि क्षेत्र में उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता के कारण खाद्य सामग्री में धीमी गति से वृद्धि होती है। इस को गणितीय रूप में व्यक्त करने के लिए माल्थस ने बताया कि जनसंख्या **'अंकगणित वृद्धि'** अथवा **'समान्तर श्रेणी'** (Arithmetical Progression) के अनुसार बढ़ती है। अंक गणित वृद्धि का अर्थ है 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8.... ।

(3) **जनसंख्या एवं खाद्य-सामग्री में असन्तुलन**—माल्थस ने बताया कि जनसंख्या खाद्य-सामग्री की अपेक्षा अधिक तेज गति से बढ़ती है। अत: प्रत्येक देश में कुछ समय बाद एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब जनसंख्या एवं खाद्य-पूर्ति में असंतुलन उत्पन्न हो जाता है अर्थात् देश में उपलब्ध खाद्य-सामग्री देश की जनसंख्या के लिए कम पड़ने लगती है। देश में उत्पन्न समस्त खाद्यसामग्री जनसंख्या की वृद्धि के लिए प्रकृति द्वारा निश्चित सीमा होती है। अतः इस असंतुलन को दूर करने की आवश्यकता होती है।

(4) **जनसंख्या एवं खाद्य-सामग्री के असन्तुलन को दूर करने के दो उपाय**—माल्थस ने बताया है कि एक देश में उत्पन्न खाद्य-सामग्री एवं जननसंख्या के मध्य जो असन्तुलन उत्पन्न होता है। उसे दूर करने के लिए दो तरह के उपाय या प्रतिबन्ध काम में लिए जा सकते हैं। **प्रथम** 'नैसर्गिक प्रतिबन्ध' (Positive Checks) एवं **द्वितीय** 'निवारक प्रतिबन्ध' (Preventive Checks)

नैसर्गिक प्रतिबन्ध खाद्य-सामग्री एवं जनसंख्या में असंतुलन उत्पन्न होने पर प्रकृति द्वारा अकाल, बाढ़, भूकम्प, महामारी, युद्ध इत्यादि रूपों में लागू किये जाते हैं जिनसे देश में बड़ी विपत्तियां आती हैं और लाखों व्यक्ति असामायिक ही काल के ग्रास बन जाते हैं। इससे जनसंख्या में कमी होती है, तथा जनसंख्या और

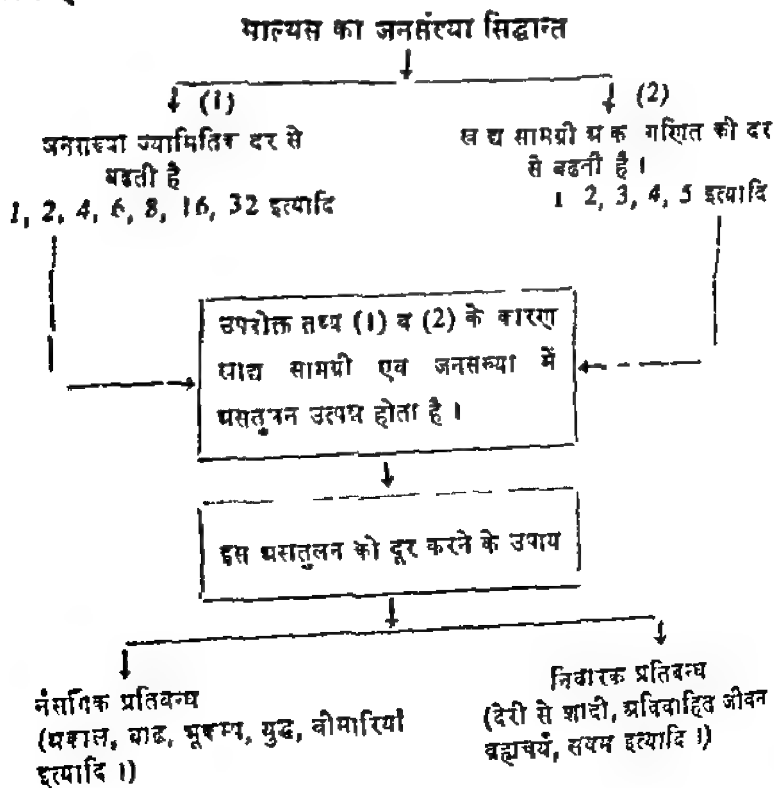
खाद्य-सामग्री में पुनः सन्तुलन स्थापित हो जाता है फिर जनसंख्या बढ़ती है, असंतुलन उत्पन्न होता है और पुनः नैसर्गिक प्रतिबन्ध लागू होकर जनसंख्या में कमी के द्वारा सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

निवारक प्रतिबन्धों में वे प्रतिबन्ध शामिल होते हैं जो मनुष्य द्वारा स्वयं जनसंख्या को कम करने के लिये काम में लिये जाते हैं। इन प्रतिबन्धों में देर से शादी करना, संयम से रहना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, अविवाहित जीवन बिताना आदि आते हैं।

(माल्थस ने परिवार नियोजन के आधुनिक साधनों के बारे में कुछ नहीं कहा है।) *माल्थस का निवारक प्रतिबन्धों से तात्पर्य नैतिक संयम से था।* परिवार नियोजन के आधुनिक साधनों के प्रयोग के बारे में माल्थस के अनुयायियों ने अधिक जोर दिया है।

(5) निवारक प्रतिबन्धों के प्रयोग की माल्थस की सलाह—माल्थस ने जन संख्या रोकने में दोनों प्रकार के प्रतिबन्धों को बताने के बाद मनुष्य को बड़ी विपत्तियों एवं असामयिक मृत्यु के कष्ट से बचाने के लिए निवारक प्रतिबन्धों को प्रयोग करने की सलाह दी है।

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त को संक्षेप में निम्न चार्ट द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—



मात्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचनाएं (Criticism of the Malthusian Theory of Population) माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएं निम्न लिखित हैं :

(1) अवास्तविक मान्यताएं—माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की दोनों मान्यताएं अवास्तविक हैं। (i) मनुष्य की सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति को माल्थस ने स्थिर माना है जबकि जीव-शास्त्रियों ने स्पष्ट किया है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ संतान उत्पन्न करने की शक्ति कम होती जाती है। (ii) माल्थस का यह मानना भी बिल्कुल गलत सिद्ध हुआ है कि जीवन-स्तर बढ़ने के साथ-साथ जनसंख्या बढ़ती है। समृद्ध राष्ट्रों का व्यावहारिक अनुभव तो यह सिद्ध करता है कि आर्थिक समृद्धि एवं जीवन-स्तर में वृद्धि के साथ-साथ जनसंख्या में कमी होने की प्रवृत्ति होती है।

(2 सिद्धान्त का गणितात्मक रूप असत्य—माल्थस ने जनसंख्या वृद्धि को 'ज्योमितिक वृद्धि' तथा खाद्य-सामग्री को 'अंक गणित वृद्धि' का जो रूप दिया है वह किसी भी देश में सही सिद्ध नहीं हुआ है।

यहां यह कहा जा सकता है कि यह आलोचना सही नहीं है क्योंकि माल्थस ने जनसंख्या वृद्धि एवं खाद्य सामग्री में वृद्धि की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने के लिए इन सूत्रों का प्रयोग किया था। उन्होंने बाद के संस्करणों में इनको हटा भी दिया था।

(3) माल्थस भावी विकास का सही अनुमान नहीं लगा सके—माल्थस ने कृषि में उत्पत्ति ह्रास नियम को क्रियाशील माना है। परन्तु कृषि क्षेत्र में नवीन उत्पादन विधियों के प्रयोग से उत्पत्ति ह्रास नियम की प्रवृत्ति को काफी समय तक स्थगित किया जा सकता है। इसी तरह परिवहन, एवं संचार के साधनों का विकास हो जाने से अ ज खाद्यान्नों को एक स्थान या देश से दूसरे स्थान या देश को सुगमता से ले जाया जा सकता है। इस प्रकार किसी देश विशेष में खाद्यान्न की कमी को दूर किया जा सकता है।

(4) जनसंख्या की तुलना खाद्यान्न की अपेक्षा कुल राष्ट्रीय उत्पादन से करनी चाहिए—माल्थस ने जनसंख्या की तुलना केवल खाद्य-सामग्री से की है जबकि यह तुलना देश विशेष के कुल राष्ट्रीय उत्पादन से करनी चाहिए क्योंकि एक देश जिसके पास खाद्य सामग्री की कमी है वह अपनी अन्य वस्तुओं के बदले विदेशों से खाद्य पदार्थ मंगा कर पूरी कर सकता है। सेलिगमेन का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि जनसंख्या की समस्या केवल एक संख्या की समस्या नहीं है बल्कि कुशल उत्पादन एवं समान वितरण की समस्या भी है।

(5) जनसंख्या वृद्धि के साथ श्रम की पूर्ति भी बढ़ती है—प्रो० केनन ने बताया है कि मनुष्य इस पृथ्वी पर खाने के लिए केवल एक मुंह ही लेकर नहीं आता है बल्कि वह दो शक्तिशाली हाथ भी लेकर आता है जिनसे उत्पादन किया जा सकता है।

(6) जनसंख्या की वृद्धि सदैव हानिकारक नहीं होती है—माल्थस ने जनसख्या की वृद्धि को सदैव हानिकारक माना है जो ठीक नही है। एक देश की जनसख्या प्राकृतिक साधनों की तुलना मे कम होने पर वहाँ जनसख्या का बढना लाभदायक होगा क्योकि जनसख्या बढने पर ही प्राकृतिक साधनो का उचित उपयोग सभव होता है।

(7) प्राकृतिक विपत्तियो का लागू होना अति-जनसंख्या का सूचक नहीं होता है—किसी देश में बाढ, भूकम्प, महामारी अथवा युद्ध से लोगो का मरण उस देश मे अति-जनसख्या का सूचक नहीं होता है, क्योंकि न्यून-जनसख्या वाले देशो मे भी प्राकृतिक विपत्तिया आती रहती हैं।

(8) माल्थस का सिद्धान्त असत्य सिद्ध हुआ है—माल्थस का जनसख्या सिद्धान्त व्यवहार मे असत्य सिद्ध हुआ है। आज वैज्ञानिक प्रगति के कारण उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता को स्थगित किया जा सकता है, औद्योगिक क्षेत्र मे नवीन आविष्कारों से तेजी से प्रगति हुई है तथा परिवहन एव सचार साधनो के विकास से स्थानीय कमी को तुरन्त मिटाया जा सका है।

(9) माल्थस की जनसंख्या वृद्धि रोकने की संयम की सिफारिश सन्तोष-जनक नही है—माल्थस ने जनसख्या रोकने के जो नैतिक सयम के उपायों की सिफारिश की वह पर्याप्त नही है। जनसख्या वृद्धि की गभीर समस्या को केवल उपदेश देकर नहीं रोका जा सकता है। इसे रोकने के लिए कठोर एव अधिक व्यवहारिक उपायो का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(10) प्रावैगिक दृष्टिकोण का अभाव—माल्थस का सिद्धान्त भूमि की मात्रा तथा उत्पादन विधियो को स्थिर मानकर बनाया गया था जबकि आधुनिक अर्थशास्त्रियो का कहना है कि साधनो मे भी वृद्धि सभव है।

(11) मैथुन की इच्छा एवं सन्तानोत्पत्ति की इच्छा में अन्तर नहीं किया—माल्थस ने मनुष्य की मैथुन की इच्छा व सन्तान उत्पादन की इच्छा मे अन्तर नही किया जिससे उन्होने जनसख्या वृद्धि को भयावह रूप दे दिया। परन्तु बाद के अध्ययनो से ज्ञात हुआ है कि ये दोनो अलग अलग है। सभोग की इच्छा प्राकृतिक है जबकि सन्तान की इच्छा, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्वों से प्रभावित होती है।

(12) माल्थस का जनसख्या सिद्धान्त सरकार की विवेकपूर्ण राष्ट्रीय नीति निर्धारित करने को आवश्यक तथ्य प्रस्तुत नहीं करता है।

माल्थस के सिद्धान्त में सत्यता

माल्थस के सिद्धान्त की कटु आलोचनाएं हुयी हैं परन्तु आज भी माल्थस के जनसख्या सिद्धान्त में कुछ सत्यता के अंश विद्यमान है। आज विकसित राष्ट्रो में जनसख्या की तीव्र वृद्धि का भय समाप्त हो चुका है। परन्तु अल्पविकसित देशो के लिए आज भी यह भय व्याप्त है। माल्थस के जनसख्या सिद्धान्त मे कुछ सत्यता के अंश निम्न लिखित हैं :

(1) विकसित राष्ट्रों में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता है क्योंकि विकसित देशों में जनसंख्या वृद्धि की दर कम हो गई है तथा वहां कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया है।

(2) माल्थस का यह विचार आज भी सत्य है कि प्रतिबन्धों के अभाव में जनसंख्या तेजी से बढ़ती है।

(3) विकसित राष्ट्रों में जनसंख्या नियन्त्रण के लिए कृत्रिम साधनों का प्रयोग किया जा रहा है तथा लोगों में परिवार को सीमित रखने की भावना का विकास हुआ है। ये तथ्य माल्थस के सिद्धान्त की सत्यता व्यक्त करते हैं।

(4) माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त भारत, चीन तथा अनेक विकासशील देशों में आज भी क्रियाशील है। इन देशों में जनसंख्या वृद्धि अधिक तेजी से हो रही है जबकि खाद्य-सामग्री के उत्पादन में धीमी गति से वृद्धि हुयी है।

माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त तथा भारत

माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त भारत में कार्यशील है। इसके समर्थन में निम्न तथ्य दिये जा सकते हैं : (1) भारत में वर्तमान में जनसंख्या बड़ी तेजी से (2·6 प्रतिशत वार्षिक दर) बढ़ रही है जबकि खाद्य सामग्री की पूर्ति में वृद्धि धीमी गति से हुई है। (2) देश के पास न तो सम्पूर्ण जनसंख्या को खिलाने के लिए खाद्य पदार्थ हैं और न ही आयात के लिए पर्याप्त विदेशी विनिमय (3) निर्धनता, अज्ञानता एवं रूढ़िवादिता के कारण लोग निवारक प्रतिबन्धों का प्रयोग नहीं कर रहे हैं। (4) कृषि क्षेत्र में पुरानी विधियों के प्रयोग एवं आधुनिक कृषि आदानों की कमी के कारण अधिकांशतः उत्पत्ति ह्रास नियम ही क्रियाशील है। (5) नैसर्गिक प्रतिबन्धों की क्रियाशीलता से भारत में लाखों व्यक्तियों की मृत्यु प्राकृतिक विपत्तियों से हो जाती है। (6) भारत में जनसंख्या वृद्धि खतरे का सूचक है जो माल्थस के सिद्धान्त की क्रियाशीलता की सूचक है।

2. अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त
(Optimum Theory of Population)

माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की कटु आलोचनाएं होने से जनसंख्या के सम्बन्ध में नये दृष्टिकोण से विचार होने लगा और कैनन, कारसौण्डर्स, डाल्टन, रोबिन्स आदि अर्थशास्त्रियों ने जनसंख्या का अनुकूलतम सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त में जनसंख्या की समस्या पर विचार केवल खाद्य सामग्री की पूर्ति के सम्बन्ध में ही नहीं किया गया है बल्कि कुल राष्ट्रीय उत्पादन व प्रति व्यक्ति उत्पादन पर भी विचार किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक देश के लिए आर्थिक दृष्टि से सर्वोत्तम अथवा अनुकूलतम जनसंख्या वह होती है जिस पर प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अधिकतम होती है।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त को वास्तव में जनसंख्या सिद्धान्त कहना उचित नहीं है क्योंकि इससे यह ज्ञात नहीं होता है कि जनसंख्या में क्यों और

किस प्रकार वृद्धि होती है ? जनसंख्या वृद्धि को रोकने के सम्बन्ध मे भी यह सिद्धान्त विचार नही करता है। यह सिद्धान्त तो जनसंख्या के क्षेत्र मे 'अनुकूलतम के विचार' का प्रयोग मात्र है। इसके द्वारा तो केवल उस बिन्दु का पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है जिस पर प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अधिकतम हो।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की मान्यताएं—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन निम्न मान्यताओ के आधार पर किया गया है।

(1) जनसंख्या वृद्धि के साथ साथ कुल जनसंख्या मे कार्यवाहक जनसंख्या का अनुपात स्थिर रहता है।

(2) एक समय विशेष पर जनसंख्या मे वृद्धि के साथ प्राकृतिक साधनो, तकनीक ज्ञान, पूंजी उत्पादन कौशल इत्यादि मे कोई परिवर्तन नही होगा अर्थात एक सीमा के बाद उत्पादन के क्षेत्र मे उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है।

'अनुकूलतम जनसंख्या' की परिभाषा (Definition of 'Optimum population')—विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने अनुकूलतम जनसंख्या की परिभाषा दी है जिनमे मूलतत्व एक से ही हैं।

कार सॉन्डर्स के शब्दो मे अनुकूलतम जनसंख्या वह जनसंख्या है जो अधिकतम आर्थिक कल्याण उत्पन्न करती है। अधिकतम आर्थिक कल्याण और प्रति व्यक्ति वास्तविक आय आवश्यक रूप मे एक समान नहीं होते हैं परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से दोनो को एक ही समझा जा सकता है।[1] डाल्टन के अनुसार, अनुकूलतम जनसंख्या वह है जो प्रति व्यक्ति अधिकतम आय प्रदान करती है'[2] रोबिन्स ने अनुकूलतम जनसंख्या वह मानी है जो कुल उत्पादन अधिकतम प्रदान करे। उन्ही के शब्दो मे 'अनुकूलतम जनसंख्या वह है जिसमे अधिकतम उत्पादन सम्भव हो।'[3] बोल्डिग ने अनुकूल-

> **अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त**
>
> अर्थ—अनुकूलतम जनसंख्या वह जनसंख्या है जो प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अथवा उत्पादन अथवा जीवन स्तर अधिकतम प्रदान करती है।
>
> अनुकूलतम बिन्दु से पूर्व जनसंख्या न्यून-जनसंख्या कहलाती है तथा अनुकूलतम से बाद मे अति जनसंख्या कहलाती है।

---

1 Optimum population is that population which produces maximum economic welfare. Meximum economic welfare is not necessarily the same as maximum real income per head but for practical purposes they may be taken as equivalent "—Carr-Saunders

2 'Optimum population is that which gives the maximum income per head '—Dalton

3 ' Optimum population is the population which just makes the maximum returns possible ' —Rebbins

प्रमुख बातें :

(i) अनुकूलतम जनसंख्या बिन्दु स्थिर नहीं गतिशील होता है।

(2) यह सिद्धान्त परिमाणात्मक ही नहीं गुणात्मक भी है।

(3) जनसंख्या के आकार के सम्बन्ध में वस्तुगत विचार प्रस्तुत करता है।

आलोचनाएं :

(1) यह जनसंख्या का सिद्धान्त नहीं है।

(2) राष्ट्रीय आय के वितरण पक्ष की उपेक्षा करता है।

(3) जनसंख्या का केवल आर्थिक विश्लेषण है।

(4) यह सामाजिक उद्देश्यों के प्रति संकीर्ण है।

(5) यह स्थैतिक विचार है।

(6) व्यवहारिक नीति निर्धारण में सहायक नहीं है।

(7) अनुकूलतम बिन्दु ज्ञात करना कठिन है।

माल्थस के सिद्धान्त से श्रेष्ठ है :

(1) सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन से जनसंख्या की तुलना।

(2) आशावादी सिद्धान्त।

(3) परिमाणात्मक एवं गुणात्मक दोनों।

(4) अधिक प्रावैगिक।

(5) जनसंख्या में वृद्धि व कमी को ठीक से समझने में सहायक।

तम जनसंख्या उसे माना है। जिस पर जीवन स्तर अधिकतम होता है। उन्हीं के शब्दों में "जिस जनसंख्या पर जीवन स्तर अधिकतम होता है, अनुकूलतम जनसंख्या कहलाती है।"[4] हिक्स ने प्रति व्यक्ति उत्पादन अधिकतम देने वाली जनसंख्या को अनुकूलतम जनसंख्या माना है।

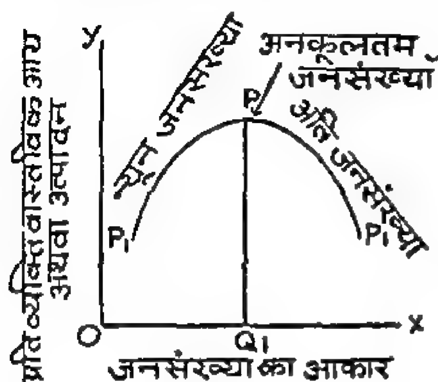
इन परिभाषाओं के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अनुकूलतम जनसंख्या किसी देश में जनसंख्या की वह मात्रा है जिस पर प्रति व्यक्ति वास्तविक आय या उत्पादन या आर्थिक कल्याण अधिकतम होता है।

व्याख्या—इस सिद्धान्त के अनुसार जनसंख्या में वृद्धि होने से देश में कार्यवाहक जनसंख्या बढ़ती है (यद्यपि कुल जनसंख्या में कार्यवाहक जनसंख्या का अनुपात स्थिर रहता है) कार्यवाहक जनसंख्या बढ़ने से श्रम की पूर्ति बढ़ती है। श्रम की पूर्ति बढ़ने से उत्पादन के अन्य साधनों के साथ नया संतुलन स्थापित होता है। यह नया सन्तुलन देश में उत्पादन के अन्य साधनों के बाहुल्य के समय उन साधनों के अधिक अच्छे प्रयोग को सम्भव बना कर राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय में वृद्धि लाता है और यह वृद्धि का क्रम उस समय तक चलता रहता जब तक सभी साधनों के साथ जनसंख्या का अनुकूलतम संतुलन नहीं हो जाता है। जब जनसंख्या अनुकूलतम बिन्दु पर पहुँचती है तब राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय अधिकतम होती है। इसके बाद भी यदि जनसंख्या में वृद्धि का क्रम चलता है तो कुल राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय बढ़ने के स्थान पर घटने लगती है क्योंकि जहां पहले

4. "The Population at which the standard of life is maximum is called the optimum population."—Boulding

उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो रहा था वहा अब साधनो मे अनुकूलतम अनुपात अथवा सतुलन टूटने के कारण उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है। अनुकूलतम जनसख्या बिन्दु के पूर्व उत्पत्ति वृद्धि नियम, अनुकूलतम बिन्दु पर उत्पत्ति स्थिरता नियम तथा अनुकूलतम बिन्दु के बाद उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

अनुकूलतम जनसख्या सिद्धान्त को रेखा चित्र स 19 1 पर व्यक्त किया गया है। रेखा चित्र मे O X अक्ष पर जनसख्या तथा O Y अक्ष पर प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अथवा उत्पादन लिया गया है। O Q_1 जनसख्या अनुकूलतम जनसख्या है क्योकि इसी पर प्रति व्यक्ति वास्तविक आय अथवा उत्पादन अधिकतम है। इससे पूर्व भी यह कम है तथा इसके बाद भी इसमे कमी होती है। अनुकूलतम जनसख्या के बिन्दु से पूर्व की जनसख्या न्यून जनसख्या तथा इस बिन्दु के बाद की जनसख्या अति जनसख्या कहलाती है।



चित्र स 19 1

जनसख्या के इस असतुलन को डाल्टन द्वारा दिये गय एक सूत्र द्वारा मापा जा सकता है। यह सूत्र निम्न प्रकार है

$$M = \frac{A-O}{O}$$

इसम M असन्तुलन को बताता है। A वास्तविक जनसख्या तथा O अनुकूलतम जनसख्या को व्यक्त करते हैं। यदि M शून्य है तो जनसख्या अनुकूलतम होती है। यदि M धनात्मक है तो अति जनसख्या है तथा M ऋणात्मक होने पर न्यून जनसख्या होती है।

अनुकूलतम जनसख्या के सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण बात

(1) *अनुकूलतम जनसख्या बिन्दु स्थिर नहीं होता है*—अनुकूलतम जनसख्या बिन्दु सदैव स्थिर नही रहता है बल्कि यह उत्पादन तकनीक म परिवर्तन, नये प्राकृतिक साधनो की खोज, वैज्ञानिक प्रगति आदि के साथ साथ बदलता रहता है।

(2) *अनुकूलतम जनसख्या एक परिमाणात्मक ही नहीं गुणात्मक विचार भी है*—अनुकूलतम जनसख्या ज्ञात करने के लिए केवल जनसख्या के आकार का ही नहीं लिया जाता है बल्कि इसके अन्तर्गत गुणात्मक बातें यथा मनुष्य का चरित्र, स्वास्थ्य इत्यादि की ओर भी ध्यान दिया जाता है। परन्तु इन गुणात्मक बातो को शामिल करने पर अनुकूलतम जनसख्या को मालूम करना अधिक कठिन हो जाता है।

(3) *वस्तुगत आधार प्रस्तुत करता है*—यह सिद्धान्त वस्तुगत आधार

(Objective base) प्रदान करता है अर्थात् अनुकूलतम जनसंख्या से अधिक होने पर ही जनसंख्या वृद्धि को रोकना चाहिए ।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचनाएं—इस सिद्धान्त की भी अनेक आलोचनाएं की गई हैं । प्रमुख आलोचनाओं का यहां वर्णन किया जा रहा है ।

(1) **यह जनसंख्या का सिद्धान्त नहीं है**—सही अर्थ में यह जनसंख्या का सिद्धान्त नही है । यह तो अनुकूलतम के विचार को जनसंख्या के क्षेत्र में प्रयोग करता है यह जनसंख्या की वृद्धि के कारणों की व्याख्या नही करता है तथा न ही जनसंख्या को रोकने के उपाय बताता है ।

(2) **यह राष्ट्रीय आय के विवरण पर ध्यान नहीं देता है**—यह सिद्धान्त राष्ट्रीय आय अथवा प्रति व्यक्ति आय को अधिकतम देखना चाहता है । परन्तु प्रति व्यक्ति आय का अधिकतम होना ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उसका उचित वितरण भी होना चाहिए । यदि राष्ट्रीय आय बढ़ती है तथा इसका संकेन्द्रण कुछ ही हाथों में होता है तो यह समाज के लिए अहितकर होगा ।

यह आलोचना ठीक नही है क्योंकि कुछ अर्थशास्त्रियों ने अनुकूलतम जनसंख्या के विचार में धन के उचित एव न्यायपूर्ण वितरण को शामिल किया है ।

(3) **यह जनसंख्या पर आर्थिक दृष्टि से विचार करता है**—जनसंख्या के आकार का निर्धारण सामाजिक, राजनीतिक, सैनिक तथा आर्थिक दृष्टि से किया जाना चाहिए । परन्तु यह सिद्धान्त जनसंख्या के आकार को केवल आर्थिक दृष्टि से विचार करता है । जनसंख्या का एक आकार आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त है वह अन्य दृष्टिकोणों में अनुपयुक्त हो सकता है । अत: विभिन्न दृष्टिकोणों को ध्यान में रख कर जनसंख्या का अनुकूलतम बिन्दु निर्धारित होना चाहिए ।

(4) **यह सिद्धान्त सामाजिक उद्देश्योंके प्रति संकीर्ण है**—यह जनसंख्या सिद्धान्त एक देश की प्रति व्यक्ति आय का अधिकतम होना ही अनुकूलतम जनसंख्या का बिन्दु मानता है । प्रति व्यक्ति आय का अधिकतम होना ही किसी देश के लिए पर्याप्त नहीं है बल्कि देश की प्रगति के लिए जनसंख्या का स्वस्थ्य, शिक्षित, बुद्धिमान एवं उच्च नैतिक स्तर का होना भी अत्यन्त आवश्यक है ।

इस आलोचना का भी विशेष महत्व नहीं है क्योंकि कुछ अर्थशास्त्रियों ने अधिकतम प्रति व्यक्ति आय के साथ जनसंख्या के गुणात्मक तथ्यों को भी शामिल किया है ।

(5) **यह स्थैतिक विचार है**—इस सिद्धान्त मे समय विशेष पर अनुकूलतम जनसंख्या ज्ञात करने के लिए तकनीकी ज्ञान, प्राकृतिक साधन, उत्पादन कौशल आदि को अपरिवर्तन शील मान लिया जाता है । परन्तु ये मान्यताएं दोषपूर्ण हैं क्योंकि विश्व गत्यात्मक है स्थिर नहीं । अत: ये बातें परिवर्तनशील हैं । कुछ अर्थशास्त्रियों

ने अनुकूलतम जनसंख्या बिन्दु को स्थिर नहीं माना है उनके विचार से यह सिद्धान्त गत्यात्मक हो जाता है।

(6) *व्यावहारिक नीति निर्धारण मे सहायक नहीं—यह सिद्धान्त जनसंख्या* के सम्बन्ध में व्यावहारिक नीति निर्धारण मे सहायक नही होता है। क्योंकि यह सिद्धान्त जनसंख्या वृद्धि के कारण एव रोकने क उपायो को नहीं बताता है।

(7) अनुकूलतम बिन्दु को ज्ञात करना कठिन है—इस सिद्धान्त का सबसे बडा दोष यह है कि इस के अनुसार अनुकूलतम जनसंख्या बिन्दु को ज्ञात करना बडा कठिन है। परिणामस्वरूप इसकी व्यावहारिक उपयोगिता समाप्त हो जाती है।

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त से तुलना

अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त से श्रेष्ठ समझा जाता है। इसके निम्न कारण हैं।

(1) जनसंख्या की तुलना केवल खाद्य सामग्री से न करके सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन से करता है—माल्थस ने जनसंख्या की तुलना देश मे उपलब्ध खाद्य-सामग्री से की है *जबकि अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त न सम्पूर्ण राष्ट्रीय उत्पादन से तुलना* की है। यह विचार अधिक ठीक है क्योंकि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्र अपने निर्यातो द्वारा अन्य देश म खाद्य सामग्री प्राप्त कर सकता है।

(2) *आशावादी दृष्टिकोण—माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त मानव भविष्य* को अन्धकारमय मानता है तथा इसक अनुसार जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि हानिकारक होती है जबकि अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त आशावादी है तथा यह मानव भविष्य को *अन्धकारमय नहीं मानता है। अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त के अनुसार* अनुकूलतम बिन्दु क बाद ही जनसंख्या का बढना हानिकारक होता है।

(3) अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त परिमाणात्मक होने के साथ साथ गुणात्मक भी है—माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त केवल परिमाणात्मक ही है जबकि अनुकूलतम जनसंख्या *सिद्धान्त जनसंख्या के आकार क साथ लोगों के स्वास्थ्य, ईमानदारी* चरित्र आदि पर भी ध्यान देता।

(4) अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त प्रावैगिक दृष्टिकोण पर आधारित है—*माल्थस का सिद्धान्त उत्पत्ति ह्रास नियम एव भूमि की सीमितता पर आधारित* है। इसलिए यह सिद्धान्त स्थैतिक है। जबकि अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धांत मे अनुकूलतम जनसंख्या बिन्दु कोई स्थिर बिन्दु नही है यह परिस्थितियो क परिवर्तन क साथ साथ बदलता रहता है। अत यह प्रावैगिक धारणा है।

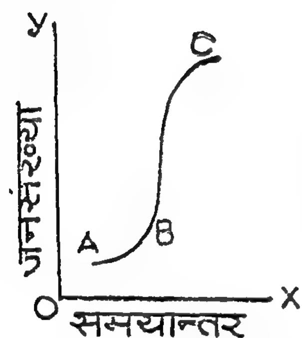
(5) माल्थस का सिद्धान वास्तव मे जनसंख्या का सिद्धान्त है—*माल्थस का* सिद्धान्त वास्तव म जनसंख्या का सिद्धान्त है क्योंकि यह जनसंख्या की वृद्धि के कारणों एव प्रभावों का अध्ययन करता है तथा जनसंख्या वृद्धि रोकन के उपाय भी बताता है। *अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त वास्तव म कोई सिद्धान्त नहीं है बल्कि* यह अनुकूलतम क विचार का जनसंख्या के क्षेत्र में प्रयोग है। *फिर भी यह माल्थस के* सिद्धान्त से इस अर्थ म श्रेष्ठ है कि यह जनसंख्या की वृद्धि अथवा कमी को ठीक व सन्तुलित दृष्टि स समझने में सहायक होता है।

उपरोक्त के आधार पर कहा जा सकता है कि माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की तुलना में अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त अधिक व्यावहारिक, प्रावैगिक, एवं आशावादी होने से श्रेष्ठ है।

3. जनसंख्या का जैवकीय सिद्धान्त

(The Biological Theory of Population)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अमेरिकाके प्रसिद्ध जीव-शास्त्री प्रो. रेमण्ड पर्ल द्वारा किया गया है। यह सिद्धान्त लॉजिस्टिक वक्र सिद्धान्तभी कहलाता है क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्ति को रेखाचित्र पर अंकित करने पर बनने वाले वक्र की शक्ल अंग्रेजी वर्णमालाके 'S' अक्षर से मिलती जुलती होती है। 'S' शक्लकी वक्र को गणित में लॉजिस्टिक वक्र कहते हैं। इसीलिए इस सिद्धान्त को लॉजिस्टिक सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार पहले जनसंख्या धीमी गति से बढ़ती है, इसके बाद जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ती है और अन्त में स्थिर हो जाती है अथवा गिरने लगती है पर पहले से अधिक रहती है। इस प्रकार जनसंख्या की प्रवृत्ति बढ़ने की रहती है।



रेखा चित्र सं 19 2

इसे नीचे के रेखा चित्र संख्या 19·2 से स्पष्ट किया जा सकता है।

उपरोक्त रेखा चित्र में OX अक्ष पर समयान्तर तथा OY अक्ष पर जनसंख्या प्रदर्शित की गई है। इसमे जनसंख्या प्रारम्भ में A से B बिन्दु तक धीमी गति से बढ़ती है तथा फिर B से C तक बड़ी तेजी से बढ़ती हैतथा C बिन्दु के बाद जनसंख्या स्थिर-सी हो जाती है।

जैवकीय सिद्धान्त की आलोचनाएं—इस सिद्धांत के भी कुछ दोष हैं।

(1) **जनसंख्या के केवल जैविकीय पक्ष का अध्ययन**—यह जीव-शास्त्रीय सिद्धान्त है तथा इसमे जनसंख्या के जैविकीय पक्ष का अध्ययन किया जाता है। जनसंख्या के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्षो की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है।

(2) **वातावरण परिवर्तनों का अध्ययन नहीं करता है**—वातावरण में परिवर्तन होने से मनुष्य के विचार, स्वभाव तथा रूचि में परिवर्तन हो जाते हैं। जिनका यह सिद्धान्त अध्ययन नहीं करता है।

4. जनसंख्या का विशुद्ध पुनरुत्पादन दर का सिद्धान्त

जनसंख्या के विशुद्ध पुनरुत्पादन दर के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रसिद्ध अंक-शास्त्री कुजिस्को द्वारा किया गया है। यह सिद्धान्त जनसंख्या के मापने की विधि पर प्रकाश डालता है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी देश में जनसंख्या की वृद्धि किसी देश मे जन्म दर एवं मृत्यु दर के अन्तर पर निर्भर नहीं करती है बल्कि यह उन स्त्रियों की संख्या पर निर्भर करती है जो बच्चे पैदा करने की आयु वर्ग में है। इस

सिद्धान्त के अनुसार जनसंख्या वृद्धि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जनसंख्या की विशुद्ध पुनरुत्पादन दर ज्ञात की जाती है। विशुद्ध पुनरुत्पादन दर वह दर है जिस पर स्त्री अपने आप को पुनरुत्पादित करती है। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। मानाकि एक देश में बच्चे पैदा करने के आयु वर्ग में सन् 1971 में 1000 स्त्रियां हैं। (सामान्यता बच्चे पैदा करने का आयु वर्ग 15से 45 वर्ष या 15 से 50 वर्ष माना जाता है।) ये स्त्रियां अपने जीवन काल में मानाकि 1500 लड़कियों को जन्म देंगी तो विशुद्ध पुनरुत्पादन दर $\frac{1500}{1000}$ अथवा 1·5 होगी। यदि जन्म की यह दर स्थिर रहे तो प्रत्येक पीढ़ी में जनसंख्या में 50 प्रतिशत की दर से वृद्धि होगी। विशुद्ध पुनरुत्पादन दर यदि 1 0 आती है तो जनसंख्या स्थिर रहती है। एक से कम होने पर जनसंख्या में कमी होती है तथा एक से अधिक होने पर जनसंख्या बढ़ती है।

प्रश्न एवं संकेत

1 माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। क्या यह सिद्धान्त आज भी क्रियाशील है ?

(संकेत—सर्वप्रथम माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त की प्रमुख बातें लिख कर इसकी आलोचनाएं बतायें। बाद में स्पष्ट करें कि इस सिद्धान्त की क्रियाशीलता का भय पश्चिम के विकसित देशों में समाप्त हो गया है परन्तु भारत, चीन तथा अनेक विकासशील देशों में आज भी यह नियम क्रियाशील है।)

2 अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए। यह सिद्धान्त कहां तक माल्थस के सिद्धान्त से श्रेष्ठ कहा जा सकता है ?

(संकेत—प्रथम भाग में अनुकूलतम जनसंख्या का अर्थ स्पष्ट कर दें। इसका रेखा चित्र भी दे दें। द्वितीय भाग में माल्थस के सिद्धान्त से इस सिद्धान्त की तुलना करते हुये लिखें कि अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त श्रेष्ठ है।)

3 अति जनसंख्या एवं न्यून जनसंख्या का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताइये कि क्या जनसंख्या की प्रत्येक वृद्धि हानिकारक होती है ?

(संकेत—प्रथम भाग में अनुकूलतम जनसंख्या सिद्धान्त के अनुसार अति-जनसंख्या एवं न्यून जनसंख्या का भेद स्पष्ट करें। द्वितीय भाग में लिखें कि प्रत्येक वृद्धि हानिकारक नहीं होती है केवल अनुकूलतम बिन्दु से बाद ही जनसंख्या वृद्धि हानिकारक होती है।)

4 जनसंख्या के लॉजिस्टिक वक्र सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

(संकेत—लॉजिस्टिक वक्र सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण दें।)

5. जनसंख्या की विशुद्ध पुनरुत्पादन दर का अर्थ स्पष्ट कीजिये।

(संकेत—विशुद्ध पुनरुत्पादन दर नामक शीर्षक देखकर कर अर्थ लिखें।)

18 पूंजी तथा पूंजी निर्माण
(Capital and Capital Formation)

वृक्षों से फल गिराने के लिए आखेट युग में भी पत्थर तथा डंडे का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार किसी न किसी रूप में पूंजी का प्रयोग सदैव से होता रहा है। वर्तमान युग में धनोत्पत्ति बडे पैमाने पर की जाती है तथा उत्पादकों में गला काट प्रतिस्पर्धा पाई जाती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को अनिवार्य रूप से कृत्रिम वस्तुओं का अधिक सहयोग लेना आवश्यक होता है। उत्पत्ति में प्रयुक्त ऐसी कृत्रिम वस्तुओं को पूंजी कहा जाता है। इनकी तीन विशेषताएं होती हैं—(1) ये कृत्रिम या मनुष्यकृत होती है, (2) इन्हें धन माना जाता है, तथा (3) ये और अधिक धन के उत्पादन में सहायक होती हैं।

पूंजी

अर्थ—धन का वह भाग जो और अधिक धनोत्पत्ति में सहायक होता है पूंजी कहलाता है।

पूंजी का महत्व :

(1) बड़े पैमाने के उत्पादन का आधार,
(2) नियोजित अर्थव्यवस्था का आधार,
(3) रोजगार का विकास,
(4) राजनीतिक महत्व,
(5) प्रत्येक अर्थव्यवस्था का आधार, तथा
(6) उन्नत सामाजिक जीवन का सूचक।

पूंजी निर्माण :

अर्थ—धन बचाकर उत्पादन

पूंजी का अर्थ—उपरोक्त तथ्यों के आधार पर पूंजी धन का वह भाग है जो जो और अधिक धन उत्पादन के लिये उत्पादन कार्यों में प्रयोग किया जाता है। प्रो० मार्शल के शब्दों में "प्रकृति की निःशुल्क देन के अतिरिक्त, वह समस्त सम्पत्ति जिसमे आय प्राय प्राप्त होती है, पूंजी कहलाती है।"[1]

बोम-बेवर्क (Bohm-Bawerk) ने 'उत्पादित उत्पादन के साधनों' (Produced means of production) को पूंजी कहा है अर्थात् श्रम द्वारा उत्पादित यन्त्र, मशीन, भवन इत्यादि पूंजी हैं।

प्रो० थोमस की परिभाषा प्रो० मार्शल की परिभाषा से मिलती-जुलती है। उनके

1. "Capital will be taken to consist of those kinds of wealth, other than the free gifts of nature, which yield income."
—Marshall

कार्यों में लगाने की प्रक्रिया पूंजी निर्माण कहलाती है।

पूंजी निर्माण की अवस्थाएं

(1) बचतों का निर्माण।

(2) बचतों का एकत्रीकरण।

(3) बचतों को पूंजीगत परिसम्पत्तियों में बदलना।

पूंजी निर्माण तथा पूंजी संचय को प्रभावित करने वाली बातें

I बचत करने की इच्छा

(i) दूरदर्शिता,
(ii) पारिवारिक मोह,
(iii) आय प्राप्ति की इच्छा,
(iv) सामाजिक प्रतिष्ठा, तथा
(v) व्यक्तिगत स्वभाव।

II बचत करने की क्षमता

(i) आय,
(ii) प्राकृतिक स्रोत,
(iii) धन का वितरण,
(iv) उत्पादन साधनों की कार्यक्षमता,
(v) व्यय का ढंग,
(vi) समृद्ध व्यापार, तथा
(vii) सरकार की आर्थिक नीति।

III बचत करने की सुविधायें

(i) विनियोग सुविधा
(ii) योग्य उद्यमी,
(iii) शान्ति तथा सुरक्षा, तथा
(iv) मुद्रा मूल्य में स्थायित्व।

अनुसार "भूमि के अतिरिक्त, पूंजी व्यक्तिगत तथा सामाजिक सम्पत्ति का भाग है जिसकी और अधिक धनोत्पत्ति में सहायता ली जाती है।'[2]

प्रो० फिशर के अनुसार, "पूंजी ऐसी सम्पत्ति है जो भूतकालीन श्रम (Past labour) द्वारा उत्पन्न होती है, परन्तु जिसका प्रयोग अधिक धनोत्पत्ति के साधन के रूप में किया जाता है।"

प्रो० चैपमैन के शब्दों में, "पूंजी वह सम्पत्ति है जिससे आय प्राप्त होती है अथवा आय की उत्पत्ति में सहायक होती है अथवा जो ऐसा करने का इरादा रखती है।'[3] इन्होंने भी उसी सम्पत्ति को पूंजी माना है जो आय (धन) के उत्पादन में सहायक होती है।

प्रो० जे० आर हिक्स के मतानुसार, 'पूंजी में किसी समय विशेष पर उपस्थित वे सभी वस्तुएं सम्मिलित होती हैं, जिन्हें भविष्य की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उपयोग में लाया जाता है।"

प्रो० स्टोनियर एवं हेग ने लगभग उन्हीं शब्दों को दोहराया है जो बौम बेवर्क ने पूंजी के लिए प्रयुक्त किये हैं। इन्हीं के शब्दों में, 'पूंजी शब्द उत्पादन के उन सभी उपकरणों के लिये प्रयोग किया जाता है जिन्हें मनुष्य जान-बूझकर भविष्य में उत्पादन करने के उद्देश्य से बनाता है।"

---

2 "Capital is a part of that wealth of individuals and of communities, other than land, which is used to assist in the production of further wealth"—Thomas

3 'Capital is wealth which yields an income or aid the production of an income or is intended to do so"—Chapman

IV. सरकार की भूमिका

भारत में पूंजी निर्माण की गति धीमी होने के कारण :

(1) बचत इच्छा कम,
(2) बचत क्षमता कम,
(3) अधिक जनसंख्या,
(4) संचय सुविधाओं की कमी,
(5) शिक्षा का अभाव,
(6) उद्यमियों का अभाव,
(7) निर्धनता दुश्चक्र,
(8) प्रभावी मांग कम,
(9) अधिक कर,
(10) श्रम उत्पादिता कम,
(11) घाटे की अर्थव्यवस्था,
(12) सामाजिक पूंजी कम,
(13) सरकारी नीति, तथा
(14) भ्रष्ट व अकुशल प्रशासन ।

विभिन्न विचारकों ने पूंजी के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं उन सबका निचोड़ यह है कि पूंजी मानव कृत धन का वह भाग है जो और अधिक धन अथवा आय उत्पादन के लिए प्रयोग में लाया जाता है अथवा आय के उत्पादन में सहायक होता है ।

पूंजी और धन दोनों भिन्न हैं । जिन पदार्थों में उपयोगिता होती है, जिनकी मात्रा सीमित होती है तथा जो हस्तांतरणीय होते हैं उन्हें अर्थशास्त्र में धन कहा जाता है । परन्तु पूंजी इस धन का एक भाग होता है जो और अधिक धन उत्पादन में सहायक होता है । इस प्रकार सम्पूर्ण पूंजी तो धन है परन्तु समस्त धन पूंजी नहीं होता । बेन्हम ने समस्त धन को पूंजी कहा है जो ठीक नहीं है ।

पूंजी तथा द्रव्य में भी भिन्नता है । सम्पूर्ण द्रव्य पूंजी नहीं होती ; धन के समान द्रव्य का भी वही भाग पूंजी होता है जो और अधिक उत्पादन में सहायक होता है । दूसरी ओर समस्त पूंजी भी द्रव्य नहीं होता । पूंजी का अधिकांश भाग भवन, मशीनों तथा यन्त्र व स्टाक के रूप में होता है ।

पूंजी तथा भूमि सामजिक दृष्टि से काफी भिन्न है । भूमि समाज को प्रकृति प्रदत्त निःशुल्क उपहार के रूप में प्राप्त होती है जबकि पूंजी मानव कृत धन का एक भाग होती है । भूमि और पूंजी के अन्तर को इनकी विशेषताओं की तुलना द्वारा जाना जा सकता है ।

पूंजी की विशेषतायें (Characteristics of Capital)– हम पढ़ चुके हैं कि पूंजी मानवकृत धन का वह भाग है जो और अधिक धनोत्पत्ति के लिये प्रयोग में लाया जाता है । अतः पूंजी की निम्नलिखित विशेषतायें हैं:—

(1) **पूंजी मानव श्रम का परिणाम है**–श्रम द्वारा धन का उत्पादन होता है । धन पूंजी निर्माण में सहायक होता है । इस प्रकार पूंजी संचित श्रम का परिणाम होती है ।

(2) **पूंजी बचत का परिणाम है**—मानव द्वारा उत्पादित धन का सम्पूर्ण भाग प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय न किया जाकर कुछ भाग बचाकर अधिक आय प्राप्त करने की दृष्टि से उत्पादन कार्यों में लगा दिया जाता है जिसे पूंजी कहा जाता है । इस प्रकार स्पष्ट है कि पूंजी बचत का परिणाम होती है ।

(3) पूंजी उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन है—भूमि की भांति पूंजी भी उत्पादन का एक निष्क्रिय साधन है। पूंजी स्वयं कुछ नहीं कर सकती। ग्रीष्मावकाश में शिक्षण संस्थायें बन्द रहने के कारण विद्यालय भवन, फर्नीचर, पुस्तकें आदि बेकार पड़े रहते हैं। इसी प्रकार ट्रैक्टर, हल, बैल, कारखानों की मशीनें आदि मनुष्य के बिना व्यर्थ हैं।

(4) पूंजी नाशवान—उपयोग के कारण टूट-फूट व घिसावट तथा समय एवं मौसम आदि के परिवर्तनों के कारण पूंजी में ह्रास आता रहता है। समय-समय पर इसके पुनर्स्थापन की आवश्यकता होती है। इसीलिये प्रो० हायेक ने पूंजी को अस्थायी कह कर इसकी पुनरुत्पत्ति तथा पुनःपूर्ति की आवश्यकता बताई है।

(5) पूंजी में उत्पादकता होती है—पूंजी से प्राप्त उपकरणों का प्रयोग करके श्रमिक और अधिक कुशलता से अधिक मात्रा में काम कर सकता है। पूंजी की उत्पादकता के कारण उद्यमी इसकी मांग करते हैं।

(6) पूंजी आय प्रदान करती है—धन बचा कर लोग पूंजी एकत्रित करते हैं वे इसे स्वयं प्रयोग करके अथवा दूसरों को ब्याज पर उठाकर भविष्य में आय प्राप्त कर सकते हैं। इसी कारण पूंजी की पूर्ति में वृद्धि होती है।

(7) पूंजी परिवर्तनशील होती है—भूमि की मात्रा तथा पूर्ति सीमित होती हैं और श्रम की पूर्ति भी धीरे धीरे होती है। परन्तु पूंजी आसानी से कम अधिक की जा सकती है।

(8) पूंजी अधिक गतिशील होती है—भूमि में स्थानीय गतिशीलता का अभाव होता है और श्रम की गतिशीलता भी अनेक तत्वों से प्रभावित होने के कारण सीमित होती है परन्तु पूंजी बहुत अधिक गतिशील होती है। बैंक, बीमा, उद्योग, व्यापार आदि के विस्तार के साथ-साथ पूंजी की गतिशीलता बढ़ती जाती है।

(9) पूंजी उत्पादन का गौण साधन है—भूमि तथा श्रम बिना तो किसी भी प्रकार की उत्पादन क्रिया सम्भव नहीं हो सकती लेकिन पूंजी के उपयोग बिना उत्पादन में थोड़ी बहुत सफलता मिल सकती है। परन्तु वर्तमान बड़े पैमाने के युग में पूंजी उत्पादन का एक अनिवार्य साधन बन गई है।

पूंजी के कार्य (Functions of Capital)—वर्तमान आर्थिक जगत में पूंजी के कार्य निम्नलिखित हैं :—

(1) उत्पादन के लिये विविध सामग्री की व्यवस्था करना—उत्पादन के भवन, मशीन तथा यन्त्र, कच्चा माल एवं शक्ति के साधनों आदि की आवश्यकता पड़ती है। इनकी व्यवस्था पूंजी द्वारा की जाती है।

(2) उत्पत्ति के साधनों को पारिश्रमिक का भुगतान—उत्पादित माल हाथों-हाथ तो बिकता नहीं, परन्तु उत्पादन में प्रयुक्त साधनों के पारिश्रमिक का भुगतान साथ-साथ करना होता है। जैसे भूमि का लगान, श्रम की मजदूरी, पूंजी पर ब्याज

आदि। साधनों के पारिश्रमिक का यथासमय भुगतान पूंजी की सहायता से किया जाता है।

(3) **श्रम की उत्पादकता को बढ़ाने में सहायक**—पूंजी श्रम-उत्पादिता को दो प्रकार से बढ़ाती है। श्रमिकों के शिक्षण व प्रशिक्षण में पूंजी का निवेश किया जा सकता है जिससे उनकी उत्पादन शक्ति बढ़ जाती है; दूसरे पूंजी के माध्यम से उपलब्ध विविध उपकरण यथा मशीन, यन्त्र आदि अधिक मात्रा में अच्छी किस्म की वस्तुओं के उत्पादन में सहायक होते हैं।

(4) **जीवन निर्वाह की व्यवस्था**—श्रमिक को उत्पत्ति में से अपना अंश प्राप्त करने के लिये कुछ समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इस अवधि में उसके लिये भोजन, वस्त्र, निवास, शिक्षा आदि जीवन निर्वाह के साधनों की व्यवस्था पूंजी द्वारा की जाती है।

(5) **उत्पादन में निरन्तरता**—पूंजी की सहायता से उत्पादन क्रम निरन्तर बना रहता है। प्रथम इकाई की बिक्री से प्राप्त राशि की प्रतीक्षा किये बिना ही पूंजी की सहायता से उत्पादन के समस्त साधनों की व्यवस्था करके उत्पादन क्रम को टूटने नहीं दिया जाता है।

(6) **उत्पत्ति की बिक्री की व्यवस्था**—उपभोक्ता तक माल को पहुंचाने के लिये विनिमय के सभी माध्यमों यथा यातायात एवं संचार, विज्ञापन आदि की व्यवस्था पूंजी की सहायता की जाती है। उधार बिक्री में भुगतान प्राप्ति की अवधि तक धनोत्पादन की व्यवस्था भी पूंजी द्वारा की जाती है। इस प्रकार पूंजी उत्पादित माल की बिक्री में सहायक होती है।

पूंजी का महत्व (Importance of Capital) पूंजी के कार्यों को देख कर हम कह सकते हैं कि सामाजिक प्रगति के साथ-साथ उत्पादन में पूंजी की अपरिहार्यता बढ़ती जाती है। उत्पादन का कुशलतापूर्वक संचालन पूंजी के सहयोग बिना लगभग असम्भव है। पूंजी के महत्व का वर्णन निम्न शीर्षकों में दिया जा सकता है :

(1) **वर्तमान बड़े पैमाने की अर्थव्यवस्था का आधार**—उत्पादन तथा उपभोग के बीच काफी अन्तर होता है। पूंजी की सहायता से इन सभी समस्याओं को हल कर लिया जाता है। पूंजी की सहायता से बड़ी से बड़ी मात्रा में भवन, मशीन तथा यन्त्र, कच्चा माल, यातायात व संचार, मध्यस्थों को भुगतान, उधार बिक्री आदि की व्यवस्था संभव होती है। इस प्रकार पूंजी के बिना आधुनिक उत्पादन व्यवस्था का संचालन असम्भव है।

(2) **नियोजित अर्थ व्यवस्था का आधार**—विकासशील तथा अविकसित देशों में आर्थिक विकास के लिये नियोजन को अपनाया जाता है। पूंजी की सहायता से अशोषित भौतिक साधनों, तथा मानव शक्ति का पूरा पूरा प्रयोग किया जा सकता है।

(3) **रोजगार संभावनाओं का विकास**—भारत जैसे विकासशील देशों में,

जहाँ बेकारी का बोलबाला है पूँजी की सहायता से नये नये कल कारखाने खोलकर बेकारी की समस्या को हल किया जा सकता है।

(4) राजनीतिक महत्व—वर्तमान युग मे, जब बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रो को हड़पना चाहते हैं, पूँजी का राजनीतिक महत्व बहुत अधिक है। पूँजी के अभाव मे देश की स्वतन्त्रता को चिरस्थायी नहीं बनाया जा सकता। एक ओर देश मे आन्तरिक शान्ति व्यवस्था पूँजी की सहायता से उपलब्ध आर्थिक समृद्धि शीलता के कारण संभव है तो दूसरी विदेशी शत्रुओं से सुरक्षा सैन्य बल से ही सम्भव है। भारी समुद्री बेड़ा, हवाई तथा थल सेना सामरिक दृष्टि से आवश्यक हैं। दूसरे अमेरिका तथा रूस जैसे लोलुप राष्ट्र पिछड़े हुए राष्ट्रो को आर्थिक सहायता का लोभ देकर उनके ऊपर मानसिक दासता लादने में प्रयत्नशील है। जापान ने अपनी पूँजी के बल पर ही अमेरिका द्वारा फैलाये गये जाल को तोड़ डाला है।

(5) प्रत्येक प्रकार की अर्थव्यवस्था का आधार पूँजी है—अर्थव्यवस्था चाहे पूँजीवादी हो चाहे साम्यवादी अथवा समाजवादी प्रत्येक की सफलता का आधार पूँजी है। पूँजी से आर्थिक समृद्धि प्राप्त की जा सकती है। पूँजीवाद मे लाभ का आधार तो पूँजी है ही साम्यवाद तथा समाजवाद मे सम्पूर्ण सामाजिक लाभ का आधार पूँजी है।

(6) उन्नत सामाजिक जीवन—सामाजिक कुरीतियो तथा रूढ़ियों को समाप्त करने, लोगो मे देश भक्ति भरने तथा सामाजिक नैतिक स्तर को उन्नत करने की दृष्टि से पूँजी का महत्व बहुत अधिक है। शिक्षा का प्रसार तथा बेकारी, भूख एवं अभाव से सुरक्षा ऐसे तत्व हैं जो सामाजिक जीवन को शुद्ध एवं उन्नत रखते हैं तथा किसी भी कीमत पर न बिकने की भावना उनमे जाग्रत कर देते हैं।

उपर्युक्त विवरण तथा पूँजी के कार्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि आज के युग म प्रत्येक प्रकार की आर्थिक प्रणालियों, मे आर्थिक समृद्धि, उन्नत सामाजिक जीवन तथा राजनीतिक स्थायित्व की दृष्टि से पूँजी उत्पादन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है।

पूँजी का वर्गीकरण (Classification of Capital) पूँजी को निम्नलिखित वर्गों मे बाँटा जा सकता है —

(1) अचल तथा चल पूँजी (Fixed and Fluctuating Capital)— भवन यन्त्र, मशीनें आदि ऐसी पूँजी जो धनोत्पत्ति मे बार बार काम आती रहती है अचल पूँजी तथा कच्चा माल, रासायनिक पदार्थ आदि जिनकी उपयोगिता उस रूप मे एक बार के प्रयोग से ही बदल जाती है चल पूँजी कहलाते हैं।

(2) एक अर्थी तथा बहु अर्थी पूँजी (Sunk and Floating Capital)— एक अर्थी पूँजी वह विशिष्ट पूँजी होती है जो किसी कार्य विशेष के लिये ही प्रयोग में लाई जा सकती है। जैसे टाइप राइटर केवल टाइप करने के लिये ही उपयोगी होता है। बहु अर्थी पूँजी को अविशिष्ट पूँजी कहा जाता है, उसका प्रयोग एक से अधिक कार्यों मे किया जा सकता है। जैसे रुपया पैसा, विद्युत आदि।

(3) उत्पादन तथा उपभोग पूंजी (Production and Consumption Capital)—धन का वह भाग जो प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन में सहायक होता है उत्पादन पूंजी कहलाता है । भवन, मशीन, यन्त्र, कच्चा माल आदि इस श्रेणी में आते हैं । जो धन उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है उपभोग पूंजी कहलाता है । जैसे भोजन, वस्त्र मकान आदि । इन वस्तुओं का उपभोग अप्रत्यक्ष रूप से धनोत्पादन को प्रोत्साहित करता है ।

(4) भौतिक तथा वैयक्तिक पूंजी (Material and Personal Capital)—ऐसी पूंजी जो स्थूल रूप में विद्यमान होती है तथा जिसे देख व स्पर्श कर सकते हैं और जिसका हस्तांतरण किया जा सकता है भौतिक पूंजी कहलाती है । समस्त भौतिक वस्तुएं इस श्रेणी में आती हैं । व्यक्ति के निजी गुण जो उसकी कार्यक्षमता का आधार होते हैं हस्तांतरित नहीं किये जा सकते । इन्हें वैयक्तिक पूंजी कहते हैं । उदाहरणार्थ अध्यापक की पढ़ाने की योग्यता, संगीतज्ञ के गाने की योग्यता आदि ।

(5) निजी तथा सार्वजनिक पूंजी (Private and Public Capital)—जिस पूंजी पर एक निजी व्यक्ति का स्वामित्व होता है निजी या व्यक्तिगत पूंजी कहलाती है । इस श्रेणी में व्यक्ति के भवन, फर्नीचर, वस्त्र, वर्तन, पुस्तकें आदि सभी वस्तुएं आती हैं जिनका विक्रय अधिकार उसका होता है । सार्वजनिक पूंजी सामाजिक सम्पत्ति होती है इस पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार होता है जैसे सड़कें, नहरें, विद्यालय, सार्वजनिक उद्यान, चिड़ियाघर आदि ।

(6) राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी (National and International Capital)— जिस पूंजी पर किसी एक राष्ट्र का स्वामित्व होता है वह उस राष्ट्र की पूंजी होती है यथा भारतीय रेलें, भारतीय सार्वजनिक संस्थान आदि । अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी पर सम्पूर्ण विश्व का अधिकार होता है जैसे विश्व बैंक तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की पूंजी ।

(7) स्वदेश या आन्तरिक तथा विदेशी पूंजी (Internal and Foreign Capital)—देश के आन्तरिक साधनों से उपार्जित धन जिस पर देशवासियों का व्यक्तिगत अथवा सामूहिक अधिकार होता है स्वदेशी या आन्तरिक पूंजी कहलाती है और जो पूंजी विदेशों से उपलब्ध की जाती है वह विदेशी पूंजी कहलाती है ।

(8) पारिश्रमिक प्रदायक पूंजी तथा सहायक पूंजी (Remunerative and Auxialiary Capital)—श्रमिक को पारिश्रमिक भुगतान में प्रयोग की जाने वाली पूंजी पारिश्रमिक प्रदायक पूंजी या वेतन पूंजी कहलाती है तथा जिस पूंजी से श्रमिकों को उत्पादन में सहायता प्राप्त होती है, सहायक पूंजी कहलाती है, जैसे कच्चा माल, मशीन, यन्त्र, शक्ति के साधन आदि ।

(9) कार्यशील तथा सुरक्षित पूंजी (Working and Reserve Capital)—व्यवसाय के दैनिन्दिन खर्चों के लिए जो पूंजी नकद द्रव्य के रूप में व्यवसाय में रखी रहती है कार्यशील पूंजी कहलाती है । कभी-कभी व्यवसायी पूंजी के कुछ अंश को सुरक्षित कोष में डाल देते हैं तो यह उनकी सुरक्षित पूंजी होती है ।

पूंजी की कार्य कुशलता (Efficiency of Capital)—पूंजी का प्रमुख कार्य और अधिक धनोत्पादन मे सहायक होना है अतः पूंजी की कार्यकुशलता का तात्पर्य पूंजी के उस गुण से है जिसके फलस्वरूप उत्पत्ति मे वृद्धि होती है तथा उत्पत्ति की किस्म मे सुधार होता है। अगर समान मात्राओ तथा परिस्थितियो मे पूंजी का प्रयोग किये जाने पर किसी उद्योग मे दूसरे उद्योग की अपेक्षा अधिक या अच्छा अथवा अधिक और अच्छा उत्पादन होता है तो दूसरे उद्योग की तुलना में उस उद्योग की पूंजी अधिक कार्यकुशल है। पूंजी की कार्यकुशलता पर निम्न लिखित बातो का प्रभाव पडता है—

(1) उपयुक्तता—पूंजी की कार्यकुशलता मुख्य रूप से इस बात पर निर्भर करती है कि पूंजी का प्रयोग जिस कार्य के लिए किया जा रहा है पूंजी उस कार्य के लिए कहा तक उपयुक्त है। जैसे नाई उस्तरे से नाखून काटने लगे, कपडे सीने की मशीन से चमडा सीने का काम लिया जाय, खेत के विस्तृत क्षेत्रफल के लिये हल अथवा छोटे खेत के लिये ट्रैक्टर का प्रयोग किया जाय। इन परिस्थितियो मे पूंजी की उत्पादन *क्षमता कम रहेगी।*

(2) पूंजी का सदुपयोग—अगर पूंजी का प्रयोग पूर्ण सावधानी तथा देख-रेख के साथ किया जायगा तो पूंजी की उत्पादकता अधिक होगी। उदाहरणत अनभिज्ञ व्यक्तियो द्वारा मशीनो का प्रयोग किये जाने पर उत्पादन उतना नही होगा जितना उनके प्रयोग मे दक्ष व्यक्तियो द्वारा प्रयोग करने से होगा। इसी प्रकार पूंजीगत साज-सामान की उचित देखभाल तथा रखरखाव न होने पर पूंजी की कार्य कुशलता में ह्रास होता है। जैसे उपयुक्त समय पर मशीनों में तेल आदि न डालना तथा टूट-फूट की मरम्मत न करना।

(3) प्रबन्धक की कुशलता—अगर सगठनकर्त्ता अपनी सगठन करने की योग्यता से इस प्रकार श्रम विभाजन करता है कि प्रत्येक श्रमिक को उसकी योग्यता-नुसार कार्य तथा उचित प्रकार के यत्र आदि मिल जाते हैं तो ऐसी अवस्था में पूंजी की कार्यकुशलता बढ जाती है। इसी प्रकार वह कच्चे माल आदि की समयानुसार उचित व्यवस्था करता है तो पूंजी की कार्यक्षमता अधिक बढ जाती है।

(4) पूंजी के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधनों की कार्यक्षमता—पूंजी की कार्यकुशलता पर श्रम की कार्यकुशलता, कच्चे माल की उपयुक्तता तथा सगठन की कार्यकुशलता का भी प्रभाव पडता है।

(5) बाह्य तत्व—हडताल, घेराव, तालाबन्दी, बन्द, मन्दी, छटनी, सचालन शक्ति का अभाव आदि बातो के कारण पूंजी का पूरा-पूरा प्रयोग नही हो पाता तथा ऐसी परिस्थितियो मे पूंजी की उत्पादकता गिर जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूंजी की कार्यकुशलता पर उत्पादन के लिए उसकी उपयुक्ता, उसके सदुपयोग, सगठक की दक्षता, उत्पादन के अन्य साधनो की कार्यक्षमता तथा देश के घटनाक्रम आदि का प्रभाव पडता है।

पूंजी निर्माण एवं पूंजी संचय (Formation and Accumulation of Capital)—पूंजी के बड़े पैमाने पर प्रयोग से ही वर्तमान अर्थव्यवस्था की सफलता संभव है। अत प्रत्येक देश की आर्थिक प्रगति के लिए बड़े पैमाने पर पूंजी का निर्माण तथा संचय आवश्यक है। यहां पूंजी निर्माण एवं पूंजी संचय का अर्थ बता कर पूंजी निर्माण को प्रभावित करने वाले तत्वों का वर्णन किया गया है।

पूंजी निर्माण का अर्थ—सम्पूर्ण धनोत्पत्ति का लक्ष्य आवश्यकताओं की पूर्ति होता है। कुछ धन प्रत्यक्ष रूप से आवश्यकताओं की सन्तुष्टि पर व्यय किया जाता है वह उपभोग कहलाता है; और कुछ धन भविष्य के लिए बचाकर उत्पादन कार्यों में लगा दिया जाता है वह पूंजी कहलाता है। **धन बचाकर उत्पादन कार्यों में लगाने की प्रक्रिया पूंजी निर्माण कहलाती है।** समाज के लोग, पूंजी निर्माण के लिए, वर्तमान उपभोग को कम करते हैं और बचत को उत्पादक कार्यों में लगा देते हैं ताकि और अधिक धनोत्पादन हो सके। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पूंजी निर्माण का अर्थ कुल राष्ट्रीय आय के एक अंश को वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय न करके ऐसे कार्यों में लगाने से है, जिनसे और अधिक धनोत्पत्ति होती है। प्रो० नर्क्स के अनुसार "........ पूंजी निर्माण की प्रक्रिया का सार समाज के वर्तमान उपलब्ध साधनों के एक भाग को पूंजीगत वस्तुओं के स्टाक में वृद्धि के लिये प्रयुक्त करना है ताकि भविष्य में उपभोग योग्य उत्पादन का विस्तार किया जा सके।" इस प्रकार पूंजी निर्माण का तात्पर्य मशीनें तथा यन्त्र, कच्चा माल, परिवहन के साधन आदि पूंजीगत स्टाक में वृद्धि अथवा पूंजी के संचय से है। **इस प्रकार पूंजी निर्माण और पूंजी संचय में कोई अन्तर नहीं है। पूंजी निर्माण पूंजी संचय की एक प्रक्रिया है।**

पूंजीगत वस्तुओ के स्टाक में वृद्धि पूंजी निर्माण का लक्ष्य होता है। केवल बैंक में धन जमा करना अथवा बीमा पॉलिसी लेना या कम्पनी के अंश अथवा ऋण पत्र खरीदना पूंजी निर्माण नहीं कहा जा सकता वरन् इस विनियोग द्वारा धनोत्पादन में और अधिक वृद्धि हो। केवल धनोत्पादन से भी तब तक पूंजी निर्माण नहीं होगा जब तक वर्तमान पूंजी स्टाक में वृद्धि न हो। अतः उत्पादित धन में से पूंजी का ह्रास, टूट फूट, घिसावट आदि से होने वाली हानि को घटाना आवश्यक है। इसके बाद अगर कुछ बचत होती है तो यह आधिक्य विशुद्ध विनियोग के रूप में पूंजी निर्माण है।

व्यापक दृष्टि से देखें तो हमें ज्ञात होता है कि पूंजी निर्माण में केवल भौतिक पूंजी सहयोग नहीं देती वरन् मानव पूंजी, जो अभौतिक तथा अदृश्य होती है, सहयोग देती है। अर्थात् राष्ट्रीय आय के उस भाग के अतिरिक्त, जो प्रत्यक्ष रूप से धनोत्पादन के काम में लाया जाता है पूंजी निर्माण में वह राशि भी शामिल की जाती है जो शिक्षण-प्रशिक्षण, स्वास्थ्य, सफाई, मनोरंजन आदि सामाजिक सेवाओं पर व्यय की जाती है। क्योंकि इन सभी सामाजिक सेवाओं पर व्यय किए गये धन से समाज की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है, जिससे समाज की पूंजी निर्माण की शक्ति भी बढ़ती है।

पूंजी निर्माण की अवस्थायें (Stages of Capital Formation)—पूंजी निर्माण की परिभाषा के अनुसार पूंजी निर्माण की अवस्थाओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है—

(1) वास्तविक बचतों का निर्माण करना (Creation of Real Savings)—बचत का तात्पर्य प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय न किये गये धन को उत्पादन कार्यों में लगाने से है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब आय वर्तमान व्यय से अधिक हो अर्थात् लोगों में बचाने की क्षमता हो, लोगों में बचत करने की इच्छा हो तथा बचाने की सुविधा हो।

(2) बचतों को एकत्रित करना (Mobilization of the Savings)—बचतें समाज के छोटे-बड़े, पढ़ लिखे अपढ़, ग्रामीण तथा शहरी सभी वर्गों के लोगों द्वारा की जाती है। ये सभी व्यक्ति अपनी अपनी बचतों को चाहते हुए भी धनोत्पादन के कार्यों में लगाने में असमर्थ होते हैं। अतः पूंजी निर्माण की दृष्टि से इन बचतों को गतिशीलता प्रदान करके इन्हें एकत्रित करना आवश्यक है। विकसित बैंकिंग व्यवस्था, बीमा कम्पनियां, देशी साहूकार, डाकखाने आदि वित्तीय संस्थाओं की पर्याप्त व्यवस्था द्वारा इन बचतों को एकत्रित करके वास्तविक विनियोक्ताओं तक पहुंचाया जा सकता है।

(3) बचतों को वास्तविक पूंजीगत परिसम्पत्तियों में बदलना (Transformation of savings in Real Capital Assets)—बचत करने वालों को जब तक यह पूर्ण विश्वास नहीं हो जाता कि उनकी बचतें सुरक्षित रहेंगी तथा उन्हें निरन्तर पर्याप्त आय प्राप्त होती रहेगी तब तक वे अपनी बचतों को वित्तीय संस्थाओं को या अन्य व्यक्तियों को नहीं सौंपेंगे। अगर उन्होंने इन संस्थाओं को बचतों को सौंप दिया तब भी यह आवश्यक नहीं कि जमा राशि से पूंजी निर्माण अवश्य होगा। यह तभी सम्भव हो सकता है जब देश में कुशल तथा योग्य एवं ईमानदार साहसी, उद्यमी, व्यापारी आदि हों जो इन बचतों को प्राप्त करके उत्पादक कार्यों में विनियोजित कर सकें। इस प्रकार यह अवस्था पूंजी निर्माण की एक महत्वपूर्ण अवस्था है क्योंकि कुशल तथा ईमानदार व्यवसाइयों द्वारा उचित ढंग से किये गये विनियोग से ही उत्पादन में वृद्धि होती है। उत्पादन बढ़ने पर लोगों की आय में वृद्धि होगी आय बढ़ने पर बचत क्षमता तथा बचतें बढ़ेंगी, तथा इसके फलस्वरूप पूंजी का अधिक निर्माण होगा।

पूंजी निर्माण तथा पूंजी संचय को प्रभावित करने वाली बातें (Factors affecting Formation and Accumulation of Capital)—अब तक हम देख चुके हैं कि पूंजी निर्माण अथवा पूंजी संचय बचत का परिणाम होता है। कीन्स के अनुसार "पूंजी निर्माण बचत की प्रवृत्ति (Propensity to Save) पर निर्भर करता है"। बचत करने की प्रवृत्ति या इच्छा पर बचाने की क्षमता के अतिरिक्त बचाने की सुविधाओं तथा सरकार की नीति का भी प्रभाव पड़ता है। पूंजी संचय पर निम्न लिखित बातों का प्रभाव पड़ता है—

I—बचत करने की इच्छा (Will to Save),

II—बचत करने की क्षमता (Ability or Power to Save),

III—बचत करने की सुविधाएं (Facilities to Save), तथा

IV—सरकार की भूमिका (Role of government)।

I—बचत करने की इच्छा—मनुष्य की बचत करने की इच्छा अनेक बातों द्वारा प्रभावित होती है यथा:

(i) दूरदर्शिता—प्रत्येक मनुष्य भविष्य की आकस्मिकताओं से सुरक्षा चाहता है। बीमारी, दुर्घटना, बेकारी, वृद्धावस्था आदि का सामना करने के लिये उसे धन की आवश्यकता पड़ सकती है, जिसकी व्यवस्था, वह अपनी वर्तमान आय में से बचत करके, करता है। अगर देश में सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था उपयुक्त है तो वह अधिक मात्रा में बचत करने को प्रेरित नहीं होता।

(ii) पारिवारिक मोह—मनुष्य की सदैव यही अभिलाषा रहती है कि उसके आश्रित सुखी तथा सम्पन्न बनें। इनकी शिक्षा-दीक्षा, शादी-ब्याह, नौकरी-चाकरी आदि के लिये वह धन बचाना चाहता है।

(iii) आय प्राप्ति की इच्छा—मनुष्य अधिक धन कमाने के लिये व्यावसायिक सफलता प्राप्त करना चाहता है तथा व्यावसायिक सफलता के लिये पूंजी आवश्यक होती है। अतः वह व्यक्तिगत पूंजी जुटाने के लिये धन बचाता है। कुछ लोग ब्याज के रूप में आय प्राप्त करने के लिये धन की बचत करते हैं।

(iv) सामाजिन प्रतिष्ठा—आज के भौतिकवादी युग में सच्चरित्र तथा गुणवान व्यक्तियों का स्थान गौण होता जा रहा है। मनुष्य को उसके धन की मात्रा के अनुसार प्रतिष्ठा दी जाती है। दूसरे राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त व्यक्ति समाज में अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति माने जाते हैं जैसे एम. एल. ए., एम. पी.। अतः मनुष्य सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की दृष्टि से भी धन की बचत करता है।

(v) व्यक्तिगत स्वभाव—बचत करना कुछ लोगों का स्वभाव बन जाता है। बचत करना इनका एक सुदृढ़ सिद्धान्त होता है। ऐसे लोग अपनी वर्तमान आवश्यकताओं को कम करके बचत करते हैं। दूसरी ओर कुछ लोगों का स्वभाव बहुत खर्चीला होता है। ऐसे लोग बचत करने के स्थान पर उल्टे उधार लेकर अपने खर्च पूरा करते हैं।

II—बचत करने की क्षमता—जब तक बचत की योग्यता अथवा क्षमता नहीं होगी तो मनुष्य धन बचाने में असमर्थ रहेगा। किसी व्यक्ति की धन बचाने की लाख इच्छा रहे परन्तु उसके आर्थिक श्रोत उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से अपर्याप्त हैं तो वह धन की बचत नहीं कर सकता है। अतः एक व्यक्ति में बचत करने की क्षमता का होना आवश्यक है। धन बचाने की क्षमता निम्न लिखित बातों पर निर्भर करती है—

(i) आय—आय अधिक होने पर व्यक्ति अधिक धन बचा सकता है अन्यथा नहीं। राष्ट्रीय आय अधिक होने पर देश में कुल बचत की मात्रा अधिक होती है।

(ii) प्राकृतिक साधनों की मात्रा—धनोत्पादन प्राकृतिक साधनो के द्वारा ही सम्भव होता है। अत अगर कोई राष्ट्र प्राकृतिक साधनो मे धनी होता है तो वहा के निवासी कृषि, खनिज व्यवसाय, वनो के शोषण, उद्योग धन्धे आदि अनेक कार्यों म लगे होते हैं। प्राकृतिक साधनो की प्रचुरता से देश का विकास भी तेजी से हो सकता है। राष्ट्रीय आय बढाने से लोगो की बचत करने की शक्ति बढती है।

(iii) राष्ट्रीय आय का वितरण—राष्ट्रीय आय का वितरण समान होने पर समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव तथा व्यय के अनुसार कुछ न कुछ बचा सकने मे समर्थ होगा। धन के वितरण के असमान होने पर कुछ व्यक्ति अत्यधिक निर्धन होगे और कुछ आवश्यकता से अधिक धनी। निर्धन धनाभाव के कारण बचान मे असमर्थ रहेगे तो धनिक धन को विलासिताओ पर व्यय करने के कारण धन नही बचा पायेंगे। दूसरे धनिक लोग विशाल अट्टालिकाओ, आभूषणो आदि मे धन बर्बाद करेंगे।

(iv) उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता—देश के प्राकृतिक श्रोतो का सदुपयोग करने के लिए योग्य तथा कुशल श्रमिक, पूजी तथा सगठनकर्ता की आवश्यकता है ताकि कम से कम लागत मे अधिकतम तथा श्रेष्ठतम उत्पत्ति प्राप्त की जा सके।

(v) व्यय करने का ढग—अगर पारिवारिक बजट बनाकर व्यय किया जाता है तो बिना सोचे मनमाने व्यय पर रोक लग जाती है तथा कम व्यय करके भी अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार विवेक पूर्ण ढग से व्यय करने से धन की बचत की जा सकती है।

(vi) समृद्ध व्यापार—देश के आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार के समृद्ध होने पर आय मे वृद्धि अधिक होती है। कहावत प्रसिद्ध है कि 'व्यापारे बसते लक्ष्मी।" आय अधिक होने पर अधिक बचत होना स्वाभाविक है।

(vii) सरकार की आर्थिक नीति—सरकार भारी मात्रा मे कर लगाकर जनता की बचत करने की क्षमता को कम कर देती है। दूसरी ओर कम दरें, अनिवार्य बचत योजना अथवा महगाई भत्ता व वेतन वृद्धि के कुछ अ श अनिवार्य कटौती, बचत को बढा देती हैं।

III बचत करने की सुविधायें—पूजी निर्माण की प्रक्रिया की तीसरी अवस्था बचत को एकत्रित करके उसके विनियोग को प्रोत्साहित करने की व्यवस्था है। अगर बचत करने वाले को बैंक, बीमा, कुशल तथा ईमानदार उद्यमी आदि के रूप मे ये सुविधायें उपलब्ध होगी तो पूजी का सचय अधिक होगा। बचत करने की सुविधाओ मे निम्नलिखित बाते आती हैं

(i) पूजी विनियोग की सुविधायें—बैंक, बीमा कम्पनिया, डाकखाने, उद्योग धन्धे, व्यापार आदि के माध्यम से बचतो को विनियोजित किया जा सकता है। ये सुविधायें जितनी अधिक मात्रा मे उपलब्ध होगी बचत को उतनी शीघ्र ही बडी मे बडी मात्रा मे विनियोजित किया जा सकेगा अन्यथा ये भवन, आभूषण आदि अनुत्पादक सम्पत्तियो पर व्यय कर दी जायगी।

(ii) **योग्य, ईमानदार व कुशल उद्यमी**—बचतकर्ताओं को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि उनका धन अन्य हाथों में सुरक्षित रहेगा तथा उन्हे नियमित रूप से आय प्राप्त होती रहेगी तो वे अधिक बचत करेंगे तथा अपनी बचतों को उत्पादन कार्यों मे लगावेगे। अतः देश मे योग्य, ईमानदार तथा कुशल उद्योगपति, व्यवसायी तथा व्यापारियो का होना आवश्यक है।

(iii) **देश में शान्ति तथा सुरक्षा**—देश में आन्तरिक अशान्ति तथा विदेशी आक्रमण के भय के समय लोगों के जान और माल की असुरक्षा रहती है। ऐसी अवस्थाओ मे लोग बचत बहुत कम करते हे। अत: अधिक बचत के लिये देश में शान्ति तथा सुरक्षा का होना आवश्यक है।

(iv) **मुद्रा के मूल्य में स्थायित्व**—अगर देश की मुद्रा के मूल्यो मे भारी उतार-चढ़ाव आते रहते हैं तो मुद्रा प्रणाली में जनता का विश्वास उठ जाता है और लोग कम बचत करने लगते हैं। मुद्रा प्रसार का बचतों पर बहुत बुरा प्रभाव पडता है क्योकि मुद्रा के रूप मे बचतों का वास्तविक मूल्य बहुत कम रह जाने का भय रहता है। भारत मे गत दो-तीन वर्षो मे वस्तुओ के दामो में अत्यधिक वृद्धि के कारण रु. का वास्तविक मूल्य $\frac{1}{3}$ मे भी कम हो गया है।

IV **सरकार की भूमिका**—वर्तमान आर्थिक पेचीदगियों के युग मे अर्थव्यवस्था की सफलता के लिये नियोजन आवश्यक होता है। नियोजित अर्थव्यवस्था की सफलता के लिये पर्याप्त करारोपण, व्यय मे मितव्ययता, निजी व्यय एव उपभोग पर रोक, अनिवार्य बचत योजना, अनिवार्य बीमायोजना, सम्पत्ति की अधिकतम सीमा निर्धारण, सरकार की मौद्रिक, राजस्व एव वित्तीय नीतियां अधिक बचतों को प्रोत्साहित करती हैं। बैंको पर उचित नियन्त्रण लोगो मे बैंकों के प्रति विश्वास पैदा करने में सहायक होता है। दूसरी ओर घाटे की अर्थव्यवस्था मुद्रा प्रसार को प्रोत्साहित करती है और वस्तुओं की मूल्य वृद्धि के कारण लोगों द्वारा बचते कम की जाती हैं। सरकार अपने संस्थान चलाकर, विदेशी सहायता आमन्त्रित करके, पूंजी निर्माण की गति को बढा सकती है। सरकार सामान्य शिक्षा के प्रसार की सुविधाये प्रदान करके, लोगों के दृष्टिकोण मे परिवर्तन लाकर, प्रतिभोज, मृत्यु भोज, आभूषणो की प्राप्ति आदि अनुत्पादक कार्यो मे अपनी बचते नही लगायंगे। प्रो० नर्क्से के अनुसार अर्द्धविकसित तथा अविकसित देशो में बेकार विशाल श्रम शक्ति को सड़क तथा रेलो के निर्माण, कुए, तालाब आदि लघु सिंचाई योजनाओ की व्यवस्था, भवन निर्माण आदि कार्यों मे लगा कर बडे पैमाने पर पूंजी का निर्माण किया जा सकता है।

भारत में पूंजी निर्माण की गति धीमी क्यों (Why The Rate of Capital Formation in India is Low ?)—यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भारत मे पूंजी निर्माण की गति धीमी क्यो है? भारत में पूंजी निर्माण की धीमी गति के लिए अनेक तत्व जिम्मेदार है जिनमें से प्रमुख तत्वों का वर्णन आगे किया जा रहा है :

(1) बचत करने की इच्छा की कमी—अधिकांश भारतीयों में बचत करने की इच्छा का अभाव पाया जाता है। इसके अनेक कारण हैं। सादा जीवन उच्च विचार की भावना विद्यमान होने के कारण हम अधिक आय प्राप्त नहीं करना चाहते, संयुक्त परिवार प्रथा के कारण पारिवारिक उत्तरदायित्व कम रहता है, आय स्तर निम्न होने के कारण स्वभाव में बचत करना नहीं आ पाता, ग्रामीण क्षेत्रों में जमींदार, साहूकार, व्यापारी आदि द्वारा इतना अधिक शोषण होता है कि सर्वसाधारण ग्रामीण बचत का लाभ नहीं उठा पाता इसलिये वह बचत करने के लिये प्रोत्साहित नहीं होता।

(2) बचत करने की क्षमता का कम होना—भारत में प्रति व्यक्ति शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन 1960 61 के मूल्यों के आधार पर लगभग 350 रु० वार्षिक है। इस प्रकार आय कम होने के कारण एक भारतीय की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं हो जाती तो बचत करने में वह कैसे समर्थ हो सकता है।

(3) जनसंख्या की अधिकता तथा बेकारी—भारत में जनसंख्या की वार्षिक वृद्धि दर 2 5 प्रतिशत से भी अधिक है। परन्तु उत्पादन के साधनों में जनसंख्या की वृद्धि के हिसाब से वृद्धि नहीं हो रही है। अतः देश में बड़े पैमाने पर बेकारी तथा अर्द्ध बेकारी की समस्या बनी हुई है। इस प्रकार उत्पादन उपभोग की तुलना में बहुत कम रहने के कारण बचत नहीं हो पाती।

(4) संचय की सुविधाओं का अभाव—भारत में वित्तीय संस्थाओं यथा बैंक, बीमा, डाकघर, आदि का अधिक विकास नहीं हो पाया है। अब भी अनेक ऐसी मंडियाँ हैं जिनमें बैंकों की शाखायें भी नहीं हैं। इस प्रकार भारतीय अपनी बचतों को ऐसी संस्थाओं में जमा करने में असमर्थ रहने के कारण बचत नहीं कर पाते। बचाये हुए धन को आभूषण आदि अनुत्पादक कार्यों में व्यय कर डालते हैं।

शिक्षा का अभाव—देश में शिक्षा की दर केवल 25 45 % है। यही कारण है कि भारतवासी रूढ़ियों तथा सामाजिक कुरीतियों से ग्रसित रहते हैं जिनमें व्यर्थ ही धन बर्बाद होता है और बचत नहीं कर पाते।

(6) देश में योग्य ईमानदार तथा कुशल और अनुभवी उद्यमियों का अभाव है—यह समस्या बचतों को दो प्रकार से प्रभावित करती है। एक तो साधारण नागरिक को इन उद्यमियों का विश्वास नहीं हो पाता अतः वे अपनी जमा (deposits) को इनके हाथों में सुरक्षित नहीं समझते। दूसरे बेईमान तथा अकुशल उद्यमी घटिया किस्म के माल का उत्पादन व वस्तुओं में मिलावट आदि करते हैं। अतः उपभोक्ता को आवश्यकताओं की पूर्ति पर आय का अपेक्षाकृत अधिक भाग व्यय करना पड़ता है और बचत कम हो जाती है।

(7) निर्धनता का दुष्चक्र—भारत में उत्पत्ति के साधनों के अभाव तथा अकार्यकुशलता के कारण प्रति व्यक्ति आय कम, बचत कम तथा पूंजी का निर्माण कम रहता है। इसीलिये विनियोग भी कम रहते हैं अतः उत्पादन क्रिया का ह्रास होता है। निर्धनता का यह दुष्चक्र निरन्तर चलता रहता है।

(8) **प्रभावी मांग का अभाव**—भारत में सीमित आय के कारण जनसाधारण की क्रय शक्ति कम रहती है। निर्धन लोग साधारणत: आत्म निर्भरता का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं अत: मांग में वृद्धि नहीं हो पाती। इन दोनों तथ्यों के कारण प्रभावी मांग कम रहती है अत उत्पादन की क्रिया का ह्रास होता है। उत्पादन के अभाव में न तो शुद्ध राष्ट्रीय उत्पत्ति और न प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है। इस प्रकार बचत भी नहीं हो पाती।

(9) **करों की अधिकता**—भारत में नियोजित आर्थिक विकास प्रणाली को अपनाया है जिसकी सफलता के लिये अधिक कर लगा कर धन संचय किया जाता है। यही कारण है कि निर्धन भारतीयों की आय का पर्याप्त भाग प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों के रूप में सरकार ले लेती है फलस्वरूप बचतें कम होती हैं।

(10) **श्रम उत्पादिता का कम होना**—निम्न जीवन स्तर के कारण भारतीयों में शिक्षा तथा प्रशिक्षण का अभाव है। इसी कारण भारतीय श्रमिक कम कार्यकुशल होता है और उसकी उत्पादन शक्ति कम होती है। फलस्वरूप वह जैसे-तैसे पेट भरने लायक कमा पाता है।

(11) **घाटे की अर्थव्यवस्था**—भारत में योजना व्यय के लिये साधनों में कमी की पूर्ति घाटे की अर्थव्यवस्था द्वारा पूरी की जाती है। जिसके कारण देश में अत्यधिक मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई है। वस्तुओं के दाम इतने बढ़ गये हैं कि भारतीयों को अपनी अत्यल्प आय से उदर पूर्ति भी असम्भव है।

(12) **सामाजिक पूंजीगत परिसम्पत्ति का अभाव**—भारत में यातायात, संचार, शक्ति के साधन, आधार भूत उद्योग आदि सामाजिक पूंजीगत परिसम्पत्ति का अभाव है अत: आर्थिक विकास का आवश्यक आधार तैयार नहीं हो पाता है। फलस्वरूप देश में पूंजी निर्माण की गति भी मन्द है।

(13) **सरकार की नीतियां**—वैसे तो भारत सरकार की नीति समाजवादी समाज की स्थापना करने की है। परन्तु यह नीति वास्तविकता से बहुत दूर है। गत वर्षों में सरकार के व्यवहार को देखें तो ज्ञात होता है कि सरकार की सभी नीतियां पूंजीपतियों को पोषण प्रदान कर रही हैं। सरकार ने जो नीतियां घोषित की हैं उनमें से अधिकांश नीतियाँ (चीनी, खाद्यान्न, मिट्टी का तेल, पैट्रोल तथा ईंधन, साबुनों, वनस्पति घी आदि के मूल्य निर्धारण) के कारण पूंजीपति वर्ग रात-रात में कई गुनी सम्पत्ति का स्वामी बन गया है। फलस्वरूप धनिक और अधिक धनिक तथा निर्धन और अधिक निर्धन बनता जा रहा है।

(14) **भ्रष्ट तथा अकुशल प्रशासन**—इस समय देश के प्रशासन में अकुशलता तथा भ्रष्टाचार चरम सीमा पर है। फलस्वरूप सार्वजनिक निर्माण कार्यों में निर्धारित पूंजी का विनियोग नहीं होता है तथा सरकार द्वारा चलाये गये अधिकांश संस्थानों में भारी घाटा हो रहा है। साथ ही साथ जनसाधारण को घूस तथा रिश्वत आदि में काफी धन व्यय करना पड़ता है। दैनिक उपभोग की वस्तुओं में मिलावट को भी रोकने में प्रशासन असमर्थ है अत: अधिक व्यय करने पर भी

लोगो को पर्याप्त उपयोगिता प्राप्त नही होती है जिससे व्यय बढ़ता जाता है और पूंजी निर्माण की दर नीची बनी रहती है।

भारत में पूंजी निर्माण की गति मे वृद्धि करने के सुझाव (Suggestions for increasing the Rate of Capital Formation in India)—उपरोक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीयो को अधिक पूंजी निर्माण की दृष्टि से समर्थ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश मे कृषि तथा उद्योगो के विकास द्वारा रोजगार सभावनाये बढायी जाय। पर्याप्त रोजगार के कारण लोगो की आय बढ़गी तथा वे अधिक बचत करने लगेंगे तो पूंजी का निर्माण भी अधिक होने लगेगा।

देश के सभी औद्योगिक केन्द्रो तथा मण्डियो मे बैंकिंग आदि वित्तीय सुविधाओं का विकास किया जाना चाहिए ताकि छोटी-छोटी बचतो को भी एकत्रित किया जा सके। डाकघर बचतो को प्रोत्साहित करने के लिए ब्याज की दर बढाना आवश्यक है।

शिक्षण तथा प्रशिक्षण व्यवस्था का प्रसार आवश्यक है ताकि श्रम की कार्यक्षमता बढ़ सके तथा समाज मे व्याप्त कुरीतिया दूर हो सकें और अनुत्पादक व्यय कम हो जाय।

जनसख्या की वृद्धि पर रोक लगाई जाय ताकि परिवार सीमित रहे। इससे पारिवारिक उपभोग अपने आप सीमित हो जायगा तथा बचते होने लगेगी।

विनियोगो का आवश्यक आधार सामाजिक पूंजीगत परिसम्पत्तियो यथा-यातायात एव सचार, शक्ति के साधनो, आधारभूत उद्योगों आदि का आवश्यक विकास किया जाय ताकि विनियोगो को प्रोत्साहन मिल सके और राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो सके।

सरकार को घाटे की अर्थव्यवस्था का परित्याग करके मुद्रा प्रसार पर रोक लगाने के प्रयास करने चाहिए, करों की मात्रा कम करनी चाहिए, धन के वितरण की असमानताओ को दूर करना चाहिए, उपभोग की अधिकतम सीमा निर्धारित करके व्यक्तिगत उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए, मिलावट तथा भ्रष्टाचार रोकने के लिए कड़े से कड़े दण्ड की व्यवस्था करनी चाहिए, तथा अन्य वे सभी उपाय किए जाने चाहिए जो देश मे व्याप्त निर्धनता के दुष्चक्र को तोड़ने में सहायक सिद्ध हो सकें।

प्रश्न एवं सकेत

पूंजी की परिभाषा दीजिए। इसकी मुख्य-मुख्य विशेषताओ को समझाइए तथा पूंजी के प्रकार भी बताइए।

(सकेत—परिभाषा, विशेषताओ तथा पूंजी के वर्गीकरण की व्याख्या करें।)

2. पूंजी से आप क्या समझते हो ? पूंजी निर्माण तथा पूंजी संचय पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है ?

(संकेत—पूंजी का अर्थ लिखें तथा पूंजी निर्माण में सहायक तत्वों का वर्णन करें)

3. किसी भी देश में पूंजी निर्माण मे सहायक तत्वों की व्याख्या करते हुए बताइए कि भारत में पूंजी निर्माण की गति मन्द क्यों है ? इस गति के बढ़ाने के उपाय सुझाइए ।

(संकेत—पूंजी की परिभाषा देते हुए पूंजी निर्माण का भावार्थ समझावे तथा पूंजी निर्माण को प्रभावित करने वाली बातों का उल्लेख करें । दूसरे भाग मे उन कारणों का वर्णन करें जिनकी वजह से भारत में पूंजी निर्माण की गति मन्द बनी हुई है । अन्त में आवश्यक सुझाव दे)

4. पूंजी की परिभाषा समझाइए तथा वर्तमान अर्थव्यवस्था में पूंजी का महत्व समझाइए ।

5. पूंजी के कार्य तथा महत्व विषय पर एक निबन्ध लिखिए ।

(संकेत—सक्षेप में पूंजी की परिभाषा समझाकर पूंजी के कार्य तथा पूंजी के महत्व का वर्णन करें ।)

6. पूंजी की कार्यकुशलता से आप क्या समझते हो ? पूंजी की कार्यकुशलता को प्रभावित करने वाली बातो का वर्णन कीजिए ।

7. पूंजी निर्माण का अर्थ तथा पूंजी निर्माण की अवस्थाये बताते हुए उन बातों को बताइए जो किसी देश में पूंजी निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करती है ।

---

21 साहस तथा संगठन (Enterprise and Organisation)

छोटे पैमाने की अर्थव्यवस्था मे साहसी तथा सगठनकर्ता दोनो एक ही व्यक्ति होते हैं। उद्योग धन्धे के प्रबन्ध तथा लाभ हानि की जोखिम का उत्तरदायित्व साधारणतः एक ही व्यक्ति पर निर्भर होता है। परन्तु बड़े पैमाने की अर्थव्यवस्था मे साहसी साझेदारो अथवा अंशधारियो के रूप मे केवल जोखिम का भार उठाता है; व्यवस्था तथा सगठन कार्य को सम्पन्न करने के लिए अलग से एक प्रबन्धक अथवा सगठनकर्ता नियुक्त कर लेता है। अत साहस तथा सगठन दोनो का अलग से अध्ययन आवश्यक है।

साहस (Enterprise)

अर्थ—काम-धन्धों मे अनिश्चितताओ के कारण जोखिम बनी रहती है। व्यवसाय की इस जोखिम तथा अनिश्चितताओ को उठाने वाले को साहसी तथा उसके जोखिम उठाने के कार्य को साहस कहते हैं। उत्पादन प्रारम्भ करने से लेकर माल की उत्पत्ति को बेचने तक की प्रक्रिया मे अनेक प्रकार की अनिश्चितताओं तथा जोखिमो की सभावना होती है, जिनसे भूमि के स्वामी, श्रमिक, पूजी के स्वामी तथा प्रबन्धक को कोई सरोकार नही होता। उत्पादन के ये सभी साधन नियोक्ता से अपना-अपना ठहराया हुआ पारिश्रमिक हर अवस्था मे लेना चाहेगे। इस प्रकार जोखिम का समस्त भार इनके अतिरिक्त जिस व्यक्ति को उठाना पडता है वही साहसी कहलाता है। यह साहसी, उद्यमी अथवा जोखिम उठाने वाला व्यक्ति किसी वस्तु की उत्पादन सभावनाओ तथा उत्पादन पैमाने का अनुमान लगाकर उत्पादन के विभिन्न साधनो को एकत्रित करके उत्पादन चलाता है। आधुनिक युग मे जोखिम की सभावनाए और अधिक बढ गई हैं। उत्पादन योजना बनाने के वर्षों बाद उत्पादन प्रारम्भ होता है। आय होना और भी बाद मे प्रारम्भ होता है। इस बीच अनुमान परिवर्तित होते रहते हैं। परन्तु साहसी उत्पादन के साधनो को नियमित रूप से पारिश्रमिक देकर उन्हे हर प्रकार की जोखिम से निश्चित कर देता है। साहसी के अभाव मे समस्त उत्पादन कार्य ठप्प पड जाएगा। इस प्रकार साहसी उत्पादन का एक अपरिहार्य साधन है।

साहसी के कार्य—(Functions of Enterpreneur)—साहसी नियोक्ता होने

के नाते वे सभी कार्य करता है जो एक मिल मालिक को करने पड़ते हैं। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है—

(1) जोखिम उठाने सम्बन्धी कार्य (Risk taking Functions)—वर्तमान अर्थव्यवस्था में उत्पादन प्रक्रिया अनेक संभावनाओं तथा अनिश्चितताओं से प्रभावित रहती है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य में जोखिम का थोड़ा बहुत अंश अवश्य रहता है जिसे साहसी ही उठाता है। साहसी ही उत्पादन के अन्य साधनों को उनके पारिश्रमिक के सम्बन्ध में निश्चित करके उत्पादन की निरंतरता को बनाये रखता है।

(2) निर्णय लेने सम्बन्धी कार्य (Decision taking Functions)—उत्पादन करने से पूर्व साहसी को कुछ निर्णय लेने पड़ते हैं, जैसे :

(i) उद्योग का चुनाव—यह निर्णय करना कि कौनसा कार्य प्रारम्भ किया जाय बड़ा कठिन होता है। साहसी जनता की मांग की मात्रा व स्वभाव उनसे सम्बन्धित साधनों की उपलब्धि की सम्भावना, आवश्यक वांछित पूंजी, भावी लाभ आदि का पूरा पूरा अनुमान लगाकर उचित उद्योग का चुनाव करता है।

(ii) उत्पादन के पैमाने का निर्णय—साहसी जनता की भावी प्रभावी मांग तथा पूंजी की उपलब्धि का अनुमान लगाकर उत्पादन के पैमाने का निर्णय करता है कि उत्पादन छोटे पैमाने पर चलाना अधिक लाभकारी रहेगा अथवा बड़े पैमाने का उत्पादन।

(iii) उत्पादन के स्थान का चुनाव—साहसी कच्चे माल तथा शक्ति के साधनों की निकटता, श्रम की उपलब्धि, परिवहन सेवाओं तथा बाजार की निकटता आदि बातों को ध्यान में रखकर उस स्थान का चुनाव करता है जहां उत्पादन चलाना अधिक मितव्ययिता पूर्ण होगा।

(iv) उत्पादन के साधनों का आदर्श सम्मिश्रण—साहसी इस बात का निर्णय भी लेता है कि उत्पादन के पैमाने के अनुसार भूमि, श्रम, पूंजी आदि की कितनी कितनी मात्रा उत्पादन कार्य में प्रयुक्त की जाय कि उत्पादन के प्रत्येक साधन की पूरी पूरी कार्यक्षमता का प्रयोग किया जा सके ताकि न्यूनतम लागत पर अधिकाधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सके

(3) प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य (Managerial Functions)—छोटे पैमाने के उत्पादन में साहसी को प्रबन्धक के कार्य भी करने पड़ते हैं। वह श्रम-विभाजन, विज्ञापन, बिक्री आदि की व्यवस्था करता है।

(4) वितरण सम्बन्धी कार्य (Distributive Functions)—साहसी का सर्वाधिक महत्व का कार्य उत्पादन के अन्य साधनों को उत्पादन में से उनका उचित एवं आवश्यक भाग देकर उन्हें सन्तुष्ट रखने का है। इस सम्बन्ध में वह प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता को ध्यान में रखता है।

साहसी के गुण—एक सफल साहसी उपरोक्त कार्यों को तभी सम्पन्न कर सकता है। जब उसमें (1) दूरदर्शिता का गुण हो, (2) शीघ्र निर्णय शक्ति हो,

(3) उसे उचित प्रशिक्षण मिला हो, (4) मानवीय स्वभाव का पूरा पूरा ज्ञान हो, (5) नवीनतम आविष्कारो तथा सुधारो से वह पूर्ण रूप से परिचित हो, (6) ईमानदार तथा अच्छे स्वभाव का हो, तथा (7) उत्पादन कार्यों मे आने वाली समस्त बाधाओ तथा कठिनाइयो का धैर्य पूर्वक सामना कर सके ।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो गया है कि साहसी का बडा भारी महत्व होता है । प्रो० मार्शल ने तो इसे उद्योग के कप्तान की सज्ञा दी है क्योंकि वह जोखिम तथा अनिश्चितता वाहक नहीं होता वह एक प्रबन्धक, भविष्यद्रष्टा, नवीनतम उत्पादन विधियों का आविष्कारक तथा देश के आर्थिक ढाचे का निर्माता होता है। अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये एक ओर वह धन्ध की आन्तरिक व्यवस्था पर पूरी पूरी निग्रह रखता है तो दूसरी ओर वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों की गतिविधियों का पूरा पूरा ध्यान रखता है ।

संगठन या प्रबन्ध (Organisation)

अर्थ—भूमि, श्रम तथा पूजीगत साधनो को एकत्रित करने तथा उनको अनुकूलतम अनुपात म मिलाकर उनसे उत्पादन चलाने के कार्य को सगठन तथा इस सगठन कार्य को करने वाले को सगठनकर्ता कहते हैं। वास्तव मे सगठनकर्ता एक कुशल श्रमिक ही होता है ।

सगठनकर्ता के कार्य—साहसी अथवा मालिक के निर्देशानुसार सगठक को निम्न कार्य करने पडते हैं—

(1) उत्पादन की योजना तैयार करना, (2) उत्पादन का पैमाना तथा किस्म निर्धारित करना, (3) आवश्यकतानुसार उत्पादन के साधनों को एकत्रित करना, (4) कच्चा माल, शक्ति के साधन तथा यन्त्रों की व्यवस्था करना, (5) श्रम विभाजन द्वारा श्रमिकों को उनकी योग्यतानुसार कार्य देना, (6) श्रमिकों के कार्य पर नियन्त्रण रखना, (7) उत्पादन पर नियन्त्रण रखना, (8) हिसाब-किताब तथा कार्यालय व्यवस्था की देख देख करना, (9) साधनो को पारिश्रमिक देना—विशेष रूप से श्रमिकों की मजदूरी वितरण पर नियन्त्रण रखना, (10) उत्पत्ति का मूल्य निर्धारण तथा उसकी विक्रय व्यवस्था करना, (11) व्यावसायिक प्रगति के लिए अनुसधान आदि की व्यवस्था करना, (12) अकेक्षण सम्बन्धी व्यवस्था करके हिसाब किताब सम्बन्धी शुद्धता बनाये रखना, (13) आय कर, बिक्री कर, तथा अन्य सरकारी खर्चों का भुगतान करना ।

सगठनकर्ता का महत्व—वर्तमान बडे पैमाने की अर्थव्यवस्था मे उत्पादन प्रणाली अति जटिल है तथा उत्पादक व उपभोक्ता के मध्य काफी अन्तर है। ऐसी स्थिति मे मालिक स्वय उत्पादन सम्बन्धी समस्त कार्यों को कुशलता पूर्वक नहीं कर सकता । दूसरे मिश्रित पूजी वाली कम्पनियो मे अशधारियों के रूप मे दूर दूर तक बिखरे हुए मालिक उत्पादन कार्य की व्यक्तिगत देखरेख नहीं रख सकते।

इन सभी कार्यों को संगठनकर्ता ही सम्पन्न कर सकता है। संगठनकर्ता के कार्य इसके महत्त्व को और अधिक बढा देते हैं।

संगठनकर्ता के गुण—एक कुशल संगठक के अभाव में उत्पादन कार्य की सफलता सन्देहजनक है अतः एक संगठक में निम्नलिखित गुण होने चाहिए—

(1) मांग में उतार-चढ़ाव के अनुमान लगाने की दूरदर्शिता, (2) उत्पादन साधनों को अनुकूलतम अनुपात में मिलाने की क्षमता, (3) श्रम समस्याओं को समझकर उन्हें सुलझाने की क्षमता के लिए मनोविज्ञान का ज्ञान, (4) उद्यम संबंधी तकनीक-विज्ञान का आवश्यक प्रशिक्षण तथा अनुभव, (5) आत्मविश्वास, दृढ़ता तथा धैर्य, (6) ईमानदारी व कर्त्तव्यनिष्ठा, (7) साहसी के प्रति पूर्ण निष्ठा तथा स्वामिभक्ति आदि गुण संगठनकर्ता के अन्दर होने चाहिए।

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि संगठनकर्त्ता के अभाव में उत्पादन कार्य की सफलता सन्देहजनक है। अन्य साधनों के समान सगठन भी उत्पादन का एक आवश्यक साधन है।

प्रश्न एवं संकेत

1. साहसी का अर्थ तथा उसके कार्यों की विवेचना करते हुए आधुनिक अर्थव्यवस्था में उसके महत्व को समझाइए।

(संकेत—साहसी का अर्थ तथा उसके कार्यों का वर्णन करके उसके महत्व को समझाइये।

2. संगठन का अर्थ बताइए तथा इसके कार्यों का वर्णन करते हुए इसके महत्व को समझाइए।

3. क्या साहसी और संगठनकर्त्ता दोनों अलग-अलग हैं? समझाइए।

———

22 विशिष्टीकरण एवं श्रम विभाजन
(Specialisation and Division of Labour)

बड़े पैमाने के उत्पादन की वर्तमान अर्थव्यवस्था की सफलता का आधार **विशिष्टीकरण** तथा श्रम विभाजन है। कल कारखानों में काम करने वाले असंख्य श्रमिकों से इस विशिष्टीकरण एव श्रम विभाजन द्वारा ही उत्पादन में उनका अधिकतम योगदान प्राप्त किया जा सकता है। विशिष्टीकरण के कारण श्रमिक की निपुणता बढ़ने से उसकी उत्पादन क्षमता बढ़ जाती है। यहा विशिष्टीकरण एव श्रम विभाजन का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

श्रम विभाजन

अर्थ—उत्पादन कार्य को अनेक छोटी छोटी उपक्रियाओं मे बाटकर श्रमिको को उनकी योग्यतानुसार कार्य देना श्रम विभाजन है।

प्रकार या रूप :

(1) प्रादेशिक
(2) सरल
(3) जटिल
 (i) पूर्ण प्रक्रिया
 (ii) अपूर्ण प्रक्रिया

आवश्यक दशायें :

(1) बड़े पैमाने पर उत्पादन,
(2) श्रमिको में सहयोग,
(3) क्रय विक्रय प्रणाली,
(4) विनिमय सुविधायें,
(5) निरन्तर उत्पादन,
(6) विस्तृत बाजार,
(7) संगठक की योग्यता, तथा
(8) बढ़ी हुई आवश्यकतायें।

श्रम विभाजन का अर्थ—श्रम विभाजन का तात्पर्य उस प्रणाली से है जिसके अन्तर्गत किसी कार्य मे सलग्न श्रमिक समुदाय को कार्य की उपविधियो के अनुसार विभिन्न वर्गों में इस प्रकार बाट देना है कि प्रत्येक श्रमिक अपनी योग्यता तथा प्रशिक्षण के अनुसार कार्य की एक ही उपविधि को सम्पन्न करे। चैपमैन ने 'कार्यों के विशिष्टीकरण' को श्रम विभाजन कहा है। एच एल. हैन्सन के शब्दो मे "श्रम-विभाजन का अर्थ क्रियाओं का विशिष्टीकरण है।" वाटसन के शब्दो मे, "उत्पादन की किसी क्रिया को विभिन्न उपक्रियाओ मे विभाजित कर, प्रत्येक विशिष्ट साधन को उसी उपक्रिया मे लगाना जिसके लिये वह निपुण हो और फिर सभी के उत्पादन को मिलाकर उपभोग की अपेक्षित वस्तु तैयार करना ही श्रम विभाजन है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि किसी

लाभ या गुण :

I श्रमिकों को :

(I) कार्य कुशलता में वृद्धि,
(ii) रुचि के अनुसार कार्य,
(iii) काम सीखना सरल,
(iv) श्रम गतिशीलता में वृद्धि,
(v) शारीरिक श्रम कम,
(vi) रोजगार में वृद्धि,
(vii) श्रम संगठनों को प्रोत्साहन,
(vii) श्रमिकों का मानसिक विकास,
(ix) आश्रितों को रोजगार,
(x) उन्नत जीवन स्तर,
(xi) कुशल प्रबन्धकों की संख्या वृद्धि,
(xii) श्रमिक उत्तरदायित्व में वृद्धि।

II उत्पादन को :

(i) उत्पादन में वृद्धि,
(ii) ,, की किस्म सुधार,
(iii) मशीनों का प्रयोग,
(iv) यन्त्रों की मितव्ययिता,
(v) समय की बचत,
(iv) आविष्कारों में वृद्धि,
(vii) लागत कम,
(vii) बारीक काम संभव,
(ix) प्रमापित उत्पादन, तथा
(x) साधनों की बर्बादी कम।

III समाज को

हानियां दोष या कमियां :

I श्रमिकों को :

(i) कार्य नीरसता,
(ii) कार्य क्षमता ह्रास,
(iii) उत्तरदायित्व का ह्रास,
(iv) बच्चों का शोषण,
(v) बेकारी का भय तथा
(vi) स्वतन्त्रता में कमी।

II उत्पादन तथा समाज को—

कार्य को इतने छोटे छोटे विभागों तथा उपविभागों में बांट दिया जाय कि प्रत्येक श्रमिक को उसकी योग्यतानुसार कार्य मिल जाय। श्रम-विशिष्टीकरण की यह प्रक्रिया ही श्रम-विभाजन है।

श्रम विभाजन का उदय (Origin of Division of Labour)—प्राचीन समय में मनुष्य की आवश्यकतायें बहुत सीमित थीं, जिन्हें वह स्वयं पूरा कर लेता था। जैसे-जैसे मानव की आवश्यकतायें बढ़ती गईं, उसे उन्हें पूरा करने के लिये अपने तथा अपने परिवार के प्रयत्न थोड़े पड़ने लगे। अतः उसे अन्य लोगों की सहायता लेनी पड़ी। इस प्रकार जो व्यक्ति या परिवार जिस कार्य अथवा कला में दक्ष था उसने उसी कार्य को अपना लिया। इस प्रकार कोई कृषक बन गया तो कोई बढ़ई, कुम्हार, लुहार, जुलाहा या मोची और कोई दुकानदार। भारतीय वर्ण-व्यवस्था का इसी समय प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार प्रारम्भ में व्यावसायिक तथा भौगोलिक श्रम विभाजन का उदय हुआ। आगे चल कर जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताओं में और अधिक वृद्धि होती गई और उत्पादन का पैमाना बढ़ता गया श्रम विभाजन के जटिल रूप को अपनाया जाने लगा। आजकल तो श्रम विभाजन ने जटिलतम रूप धारण कर लिया है।

श्रम विभाजन के रूप या प्रकार (Forms or Kinds of Division of Labour) श्रम विभाजन तीन प्रकार का होता है :

(1) प्रादेशिक या भौगोलिक श्रमविभाजन (Territorial or Geograpical Division of Labour)—उद्योगों का स्थानीय

(i) वर्ग भेद को बढावा,
(ii) मालिक मजदूर संघर्ष,
(iii) उत्तरदायित्व न ठहराया जा सकना,
(iv) कारखाना प्रणाली के दोष, तथा
(v) उचित पारिश्रमिक का न मिलना।

सीमायें

(1) व्यवसाय का स्वभाव,
(2) बाजार की माँग,
(3) बाजार की सीमा,
(4) विनिमय सुविधायें,
(5) पर्याप्त पूजी,
(6) पर्याप्त श्रम शक्ति, तथा
(7) कुशल संगठक।

करण ही प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन कहलाता है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों के कारण किसी स्थान, क्षेत्र या देश मे एक ही प्रकार का उद्योग बहुत बडे पैमाने पर चल या जाने लगता है तो यह प्रादेशिक श्रम विभाजन कहलाता है। प० बगाल मे जूट उद्योग व महाराष्ट्र तथा गुजरात मे सूती वस्त्र उद्योग का केन्द्रीयकरण इसी प्रकार का श्रम विभाजन है।

(2) सरल श्रम विभाजन (Simple Division of Labour)—सरल श्रम विभाजन के अन्तर्गत उत्पादन की किसी क्रिया को प्रारम्भ से अन्त तक एक ही व्यक्ति को सम्पन्न करना पडता है प्रो. टॉमस के शब्दो मे "जब कोई कार्य एक व्यक्ति के लिये बहुत बडा, कठिन अथवा भारी हो और जब उसे सम्पन्न करने के लिये, दो या दो से अधिक व्यक्ति, एक ही प्रकार से कार्य करते हुए, सहयोग प्रदान करें तो इसे सरल श्रम-विभाजन कहा जाता है।" उदाहरण के तौर पर भारतीय वर्ण व्यवस्था इसी प्रकार के श्रम विभाजन का परिणाम थी। ब्राह्मण विद्या-दान, क्षत्रिय शान्ति व सुरक्षा, वैश्य कृषि तथा व्यवसाय तथा शूद्र वर्ग अन्य सेवा (Services) कार्य करते थे। किसी किसी अर्थशास्त्री ने व्यावसायिक (Occupational) श्रमविभाजन को ही सरल श्रम विभाजन कहा है। जुलाहा कपडा बुनने के सम्पूर्ण कार्य को स्वय ही सम्पन्न करता है। खेत जोतने मे लेकर फसल काटने तक का समस्त कृषि कार्य स्वय कृषक को ही करना होता है।

(3) जटिल श्रम विभाजन (Complex Division of Labour)—अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने की दृष्टि से जब किसी कार्य को अनेक विभाग तथा उपविभागों में बाट कर अलग-अलग श्रमिको द्वारा सम्पन्न कराया जाता है तो यह जटिल श्रम विभाजन कहलाता है। प्रो० टामस के अनुसार "जटिल श्रम विभाजन में प्रत्येक व्यक्ति तथा व्यक्तियो का समूह कोई ऐसा विशिष्ट कार्य करता है जो अन्तिम उत्पादन में केवल सहायक मात्र होता है।" अधिकांशत आजकल श्रम विभाजन का यही रूप प्रयोग किया जाता है। इसके दो रूप हो सकते हैं

(i) पूर्ण प्रक्रिया (Complete Process) श्रम विभाजन—जब किसी व्यवसाय को अलग अलग पूर्ण विभागो मे बाट कर श्रमिको के पृथक पृथक समूह द्वारा उसे सम्पन्न कराया जाता है तो यह पूर्ण प्रक्रिया या पूर्ण विधि श्रम विभाजन कहलाता है। इस प्रणाली मे अलग अलग विधियां एक पूर्ण प्रक्रिया होती हैं।

जैसे कपास ओटना, रूई कातना, कपड़ा बुनना, कपड़े की रंगाई व ब्लीचिंग आदि। इस प्रकार एक प्रक्रिया की उत्पत्ति या तो स्वतन्त्र रूप से बाजार में बेची जा सकती है अथवा उसी उत्पादन कार्य की दूसरी प्रक्रिया में कच्चे माल के रूप में प्रयोग की जा सकती है।

(ii) अपूर्ण प्रक्रिया (Incomplete Process) श्रम विभाजन—जब उत्पादन कार्य की पूर्ण प्रक्रियाओं को भी छोटी-छोटी उप-प्रक्रियाओं में विभाजित करके अलग-अलग श्रमिकों द्वारा सम्पन्न कराया जाता है तो इसे अपूर्ण-प्रक्रिया श्रम विभाजन कहते हैं। उदाहरणार्थ कपास ओटने के कार्य के कई उपविभाग कर दिये जाते हैं यथा कपास को जिनिंग मशीन तक लाना, मशीन में डालना, रुई व बिनौला अलग-अलग करना, रुई की तोलाई करना, रुई की गांठे बनाना, बिनौले की तुलाई करना, बिनौले को बोरियों में भरना आदि आदि। इस प्रक्रिया में कार्य को इतनी छोटी छोटी प्रक्रियाओं में विभाजित कर दिया जाता है कि प्रत्येक प्रक्रिया का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है तथा अकुशल से अकुशल श्रमिक से भी अधिकतम काम लिया जा सकता है।

श्रम विभाजन के लक्षण अथवा श्रम विभाजन की आवश्यक दशायें Features or Prerequisites of Division of Labour) - श्रम विभाजन तभी सम्भव हो सकता है जब निम्न लिखित बातें अथवा आवश्यक दशाएं उपलब्ध हों :

(1) उत्पादन का बड़े पैमाने पर चलाया जाना—उत्पादन का पैमाना बढ़ने पर श्रमिकों की संख्या बढ़ जाती है। अतः उनकी कार्यकुशलता का अधिकतम प्रयोग करने के लिये श्रम विभाजन की आवश्यकता पड़ती है।

(2) श्रमिकों में आपसी सहयोग—अगर विभिन्न श्रम वर्गों में आपसी सहयोग नहीं है तो कार्य कभी पूरा नहीं हो सकेगा। अतः श्रम विभाजन के श्रमिकों में आपसी सहयोग होना आवश्यक है।

(3) विनिमय की क्रयविक्रय प्रणाली का प्रयोग—वस्तु विनिमय में विनिमय का क्षेत्र सीमित होने के कारण उत्पादन का पैमाना छोटा रहता है। क्रय-विक्रय अर्थात् विनिमय में द्रव्य का प्रयोग होने पर विनिमय क्षेत्र बढ़ जाता है। अतः उत्पादन का पैमाना बढ़ जाता है। उत्पादन का बड़ा पैमाना होने पर श्रम विभाजन अपनाना सरल एव मितव्ययी होता है।

(4) विनिमय सुविधाओं का विकास—विनिमय की सुविधायें यथा मुद्रा, यातायात एव संचार, बीमा, विज्ञापन आदि जितनी अधिक विकसित होंगी बाजार उतना ही अधिक विस्तृत होगा और उत्पादन भी उतना ही अधिक होगा। अतः बड़े पैमाने की सफलता के लिये श्रम विभाजन अपनाना आवश्यक हो जायगा।

(5) उत्पादन की निरन्तरता (Continuity)—उत्पादन के निरन्तर होते रहने पर ही श्रम विभाजन सम्भव हो सकता है क्योंकि उत्पादन का सूत्र टूटने पर श्रमिक अन्यत्र काम खोजने लग जाते हैं। इस प्रकार वे एक ही कार्य में दक्ष नहीं हो सकते।

(6) बाजार का विस्तार—मांग अधिक होने पर अधिक उत्पादन

किया जाना स्वाभाविक है। और उत्पादन का पैमाना बढने पर श्रम विभाजन अपनाना आवश्यक हो जाता है।

(7) योग्य तथा कुशल सगठनकर्ता—श्रम विभाजन की उचित व्यवस्था अपनाने तथा उसका सफलता पूर्वक सचालन करने के लिये कुशल सगठक की आवश्यकता होती है।

(8) आवश्यकताओं मे वृद्धि—वास्तव मे आवश्यकताओ में वृद्धि होने पर उत्पादन का पैमाना बढाया जाता है। सीमित आवश्यकताओं को तो व्यक्तिगत प्रयासो स पूरा कर लिया जाता है। अत आवश्यकताओ के बढने पर उत्पादन का पैमाना बढ जाता है और इस प्रकार श्रम विभाजन की आवश्यकता पडती है।

श्रम विभाजन के लाभ तथा हानिया (Advantages and Disadvantages of Division of Labour or Merits or Demerits of Division of Labour)

श्रम विभाजन के लाभ या गुण—श्रम विभाजन का समाज के प्रत्येक अ ग पर प्रभाव पडता है। श्रमिक, मालिक तथा समाज सभी को श्रम विभाजन के जो लाभ है उनका वर्णन आगे किया जा रहा है :

I श्रमिको को लाभ

(i) **कार्य कुशलता मे वृद्धि**—श्रम विभाजन के अन्तर्गत श्रमिक को एक क्रिया को ही निरन्तर करना पडता है। परिणामस्वरूप उसकी कार्य-कुशलता बढ जाती है और उसे अधिक पारिश्रमिक मिलने लगता है।

(ii) **रुचि व योग्यतानुसार कार्य मिलना**—श्रम विभाजन क अन्तर्गत कार्य को इतन छोटे-छोटे विभागो तथा उपविभागो मे बाट दिया जाता है कि प्रत्येक श्रमिक को उसकी रुचि तथा योग्यतानुसार कार्य मिल जाता है।

(iii) **काम सीखने मे सरलता**—श्रम विभाजन के अन्तर्गत कार्य को अति सूक्ष्म विभागो मे बाट दिया जाता है। अत श्रमिक को इन उप-क्रियाओ को सीखने मे न तो अधिक कठिनाई आती है और न समय तथा धन अधिक व्यय होता है।

(iv) **श्रम की गतिशीलता में वृद्धि**—श्रम विभाजन में श्रमिक के लिये एक उपविभ ग या उपक्रिया को सीखना पर्याप्त होता है। दूसर श्रम विभाजन के कारण मशीनो तथा कलपुर्जों का अधिक प्रयोग किया जाता है जो सभी कल-कारखानो म लगभग एक जैसे होते हैं। इस प्रकार श्रमिक आसानी से एक कार्य से दूसरे कार्य मे काम पा सकता है।

(v) **शारीरिक परिश्रम कम**—श्रम विभाजन के कारण मशीनो का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है। अत भारी भारी काम मशीनो द्वारा सम्पन्न होते रहने के कारण श्रमिक के शरीर पर अधिक भार नही पडता है।

(vi) **रोजगार सम्भावनाओं की वृद्धि**—श्रम विभाजन बडे पैमाने पर विविध उद्योगो को प्रोत्साहन देता है, श्रम विभाजन मे श्रमिक को कार्य की एक उपक्रिया को सीखना पडता है और श्रम विभाजन के कारण श्रम की गतिशीलता मे वृद्धि

होती है। इन सब बातों के कारण रोजगार सम्भावनाओं तथा अवसरों में वृद्धि होती है।

(vii) **श्रम संगठनों को प्रोत्साहन**—बड़े पैमाने के उत्पादन में सैकड़ों-हजारों श्रमिक एक साथ मिल-जुल कर कार्य करते है। उनके हित सामूहिक होते हैं। अपने हितों की सुरक्षा के लिये उनमें संगठित होकर रहने की भावना को बढ़ावा मिलता है।

(viii) **श्रमिकों का मानसिक विकास तथा विशाल दृष्टिकोण**—श्रमिकों को पेचीदा मशीन तथा यन्त्रो मे काम करना पड़ता है अतः उनकी सामान्य बुद्धि तथा मानसिक शक्तियां प्रखर होती हैं। दूसरे उनको अनेक ऐसे अन्य श्रमिकों के साथ काम करना पड़ता है जो विभिन्न जाँत-पाँत, धर्मावलम्बी, भाषा-भाषी, रीति-रिवाज तथा देश-विदेश अथवा क्षेत्रों से काम पर आ लगे हैं। अतः श्रमिकों का दृष्टिकोण विशाल तथा स्वभाव सहनशील हो जाता है।

(xi) **आश्रितों को रोजगार**—श्रम विभाजन के कारण कार्य अनेक ऐसी छोटी-छोटी क्रियाओं तथा उपक्रियाओं में बाँट दिया जाता है कि श्रमिक के स्त्री, बच्चों तथा अन्य आश्रितों को भी काम मिल जाता है।

(x) **श्रमिक के रहन सहन स्तर में उन्नति**—श्रम विभाजन के कारण श्रमिक की कार्य-कुशलता बढ़ती है, उसे अधिक पारिश्रमिक मिलता है तथा उसके आश्रितों को काम मिलने से उनको आय होती है। इस प्रकार कुल पारिवारिक आय बढ़ने से श्रमिक का जीवनस्तर उन्नत हो जाता है।

(xi) **श्रमिक और अधिक कुशल तथा दक्ष होने पर कुशल प्रबन्धक बन जाते है।**

(xii) **श्रमिकों में उत्तरदायित्व की भावना का जाग्रत होना**—श्रमिक एक ही उपक्रिया को सम्पन्न करता है। उसे एक ही मशीन से काम करना पड़ता है। अतः कार्य का सम्पूर्ण भार उसी पर होने के कारण उसमे उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न हो जाती है।

II—उत्पादकों को लाभ :

(i) **उत्पादन में वृद्धि**—श्रम विभाजन के कारण प्रत्येक श्रमिक को निरन्तर एक ही कार्य करना पड़ता है। अतः उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है।

(ii) **उत्पादन की किस्म में सुधार**—निरन्तर कार्य का एक ही उपविभाग करते रहने के कारण श्रमिक उस उपविभाग को पूर्ण कुशलता से सम्पन्न करता है; दूसरे उत्पादन में मशीनो का अधिक प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति की किस्म मे सुधार हो जाता है।

(iii) **मशीन तथा यन्त्रो के प्रयोग में वृद्धि**—प्रत्येक उपक्रिया को सम्पन्न करने के लिये अलग-अलग मशीनों का आविष्कार हो जाता है। अतः प्रत्येक उपक्रिया मशीनों के प्रयोग द्वारा सम्पन्न की जाती है। उत्पादन की मात्रा तथा अच्छाई मे वृद्धि होती है।

(iv) मशीन तथा यन्त्रों के प्रयोग में मितव्ययिता—श्रम विभाजन में प्रत्येक श्रमिक को निरन्तर एक ही मशीन से एक ही कार्य करते रहना पड़ता है। अतः कोई भी मशीन तथा औजार थोड़ी देर को भी खाली नहीं रह पाते।

(v) समय की बचत—श्रम विभाजन में श्रमिक को एक ही उपक्रिया को निरन्तर एक ही प्रकार के यन्त्रों से करते रहना पड़ता है। अतः कार्य अथवा यन्त्रों के बदलने की आवश्यकता नहीं पड़ती और इस प्रकार समय की काफी बचत हो जाती है।

(vi) आविष्कारों में वृद्धि—श्रमिकों को निरन्तर एक ही उपक्रिया को करना पड़ता है। बहुत सारे श्रमिक जब एक साथ उठते बैठते हैं तो कार्य सम्बन्धी आपसी कठिनाइयों असुविधाओं तथा बाधाओं की चर्चा होती है। इस प्रकार के आपसी विचार विमर्श आविष्कारों के जन्मदाता हुआ करते हैं। अतः आविष्कारों में वृद्धि हो जाती है।

(vii) लागत का कम होना—श्रम विभाजन के कारण उत्पादक को जो विभिन्न लाभ होते हैं उनके परिणामस्वरूप प्रति इकाई लागत कम हो जाती है।

(viii) बारीक तथा कठिन काम का सम्पन्न होना—श्रम विभाजन के कारण प्रयुक्त मशीनों की सहायता से बारीक से बारीक तथा कठिन से कठिन काम आसानी से सम्पन्न हो जाते हैं।

(ix) प्रमापित उत्पादन—श्रम विभाजन में मशीनों की सहायता से प्रमापित उत्पादन होता है।

(x) साधनों की बर्बादी कम—श्रम विभाजन में प्रत्येक उपक्रिया विशेषज्ञों द्वारा सम्पन्न होने से उत्पादन साधनों की बर्बादी कम होती है।

III समाज को लाभ—श्रम विभाजन के उपरोक्त सभी लाभ अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण समाज को ही लाभकारी सिद्ध होते हैं। मानव शक्ति का उसकी योग्यतानुसार पूरा पूरा प्रयोग श्रम विभाजन के कारण ही सम्भव हो पाता है। आविष्कारों की संख्या में वृद्धि रोजगार सम्भावनाओं में वृद्धि उत्पादन साधनों का उचित प्रयोग आपसी सहयोग की भावना में वृद्धि आदि मिलकर अधिकतम सामाजिक हित प्रदान करती हैं।

श्रम विभाजन की हानियाँ या कमियाँ—श्रम विभाजन की कुछ कमियाँ हैं जिनके कारण यह श्रमिक तथा समाज दोनों के लिए हानिकारक है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है

I श्रमिकों को हानियाँ

(i) कार्य की नीरसता तथा उकताहट—श्रम विभाजन के कारण श्रमिक को निरन्तर वही कार्य उन्हीं मशीनों से करते रहना पड़ता है अतः उसका मन ऊब जाता है और कार्य में उकताहट तथा नीरसता का अनुभव होने लगता है।

(ii) कार्य क्षमता का कम तथा सीमित होना—श्रम विभाजन के अन्तर्गत

क्रियाओं के सूक्ष्मतम उपविभाजन के कारण कुशल तथा अकुशल श्रमिकों में अन्तर करना कठिन होता है। सभी को एक ही लकड़ी से हाँका जाने के कारण एक समान पारिश्रमिक दिया जाता है। दूसरे कुशल श्रमिकों को अपनी कार्य कुशलता को प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिल पाता है।

श्रम-विभाजन की अधिकांश कमियों को, कारखाना प्रणाली में सुधार लाकर तथा बड़े पैमाने के दोषों को दूर करके, दूर किया जा सकता है। दोषों की तुलना में इसके लाभ अधिक हैं। अतः श्रमविभाजन श्रमिक, मालिक, उत्पादक तथा समाज सभी की दृष्टि से लाभ-प्रद है।

श्रम विभाजन की सीमायें (Limitations or Extent of Division of Labour)—किसी उत्पादन प्रणाली में श्रम विभाजन किस सीमा तक सम्भव है, यह अनेक बातों पर निर्भर करता है। जैसे—

(1) व्यवसाय का स्वभाव—किसी काम धन्धे को जितना अधिक विभागों तथा उप विभागों में बाँटना सम्भव होता है श्रम विभाजन उतना ही जटिल होना सम्भव होता है। कृषि जैसे कार्यों को केवल कुछ ही उपविभागों में बाँटा जा सकता है अतः ऐसे कार्यों में श्रम विभाजन सीमित मात्रा में होता है।

(2) माँग की मात्रा—माँग बढ़ने से उत्पादन का पैमाना बढ़ जाता है और माँग गिरने पर उत्पादन का पैमाना भी छोटा हो जाता है। इस प्रकार श्रम विभाजन की मात्रा अधिक या कम हो जाती है।

(3) बाजार की सीमा- किसी वस्तु का बाजार जितना अधिक विस्तृत होगा उसकी माँग उतनी ही बढ़ जाती है और श्रम विभाजन की जटिलता भी उतनी ही बढ़ जाती है।

(4) विनिमय में सहायक तत्वों की सुविधा—मुद्रा, परिवहन व संचार, बैंकिंग, बीमा, कुशल तथा ईमानदार व्यापारी, विज्ञापन आदि की सुविधायें जितनी अधिक होंगी बाजार का उतना ही अधिक विस्तार होगा और सामूहिक माँग भी अधिक होगी। अतः उत्पादन का पैमाना बड़ा होने से श्रम विभाजन जटिलतम होता जाता है।

(5) पूँजी की पर्याप्तता—पूँजी की मात्रा पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होने पर श्रम विभाजन के आधार मशीनों तथा अनुसंधान की व्यवस्था हो सकती है। कारखाना प्रणाली की सफलता भी पूँजी की पर्याप्तता पर निर्भर रहती है।

(6) पर्याप्त श्रम शक्ति की उपलब्धि—श्रम विभाजन की सीमा श्रमिकों की पर्याप्त मात्रा में उपलब्धि तथा उनमें आपसी सहयोग की भावना पर निर्भर करती है। इनकी अनुपस्थिति में न तो कार्यों को उपविभागों में बाँटना सम्भव है और न एक विभाग की उत्पत्ति का दूसरे विभाग द्वारा प्रयोग ही सम्भव होगा। अतः श्रम विभाजन सीमित मात्रा में होगा।

(7) संगठक की कुशलता—उत्पादन क्रिया के समस्त कार्यों की देखभाल

संगठनकर्ता को करनी होती है। अतः श्रम विभाजन का रूप भी उसी की योग्यता पर निर्भर करता है।

प्रश्न एवं संकेत

1. श्रम विभाजन से आप क्या समझते हो ? इसका उदय कैसे हुआ। इसके रूप भी बताइए।

(संकेत—श्रम विभाजन की परिभाषा समझाते हुए इसके अभ्युदय के कारण बताइए। दूसरे भाग मे श्रम विभाजन के प्रकारों का वर्णन करें।)

2. श्रम विभाजन का अर्थ समझाइए। श्रम विभाजन के गुण व दोषों अथवा लाभ व हानि का वर्णन कीजिए।

3. श्रम विभाजन के मुख्य-मुख्य लक्षण बताइये और श्रम विभाजन की सीमाओं का भी उल्लेख करिये।

(संकेत—श्रम विभाजन की परिभाषा देकर श्रम विभाजन की आवश्यक दशाओं का वर्णन करें। अन्त में श्रम विभाजन की सीमाओं को समझाइए।)

5. क्या श्रम विभाजन एक अमिश्रित वरदान है ?

(संकेत—श्रम विभाजन का अर्थ समझाकर श्रम विभाजन के गुण व दोषों का वर्णन करें।)

6. श्रम विभाजन का अर्थ समझाइए और बताइए कि श्रम विभाजन का उत्पादक तथा समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(संकेत– श्रम विभाजन का अर्थ समझा कर श्रम विभाजन के गुण व दोषों का इस प्रकार वर्णन करें कि उनके समाज व उत्पादन पर प्रभाव प्रकट हो जाय।)

7 संक्षेप में टिप्पणी लिखे—

(i) प्रादेशिक या भौगोलिक श्रम विभाजन, (ii) श्रम विभाजन की आवश्यक दशाये, (iii) श्रम विभाजन की सीमाये।

8 "श्रम विभाजन बाजार के विस्तार द्वारा प्रभावित होता है।" आप इस कथन से कहां तक सहमत हैं।

———

23 उत्पत्ति का पैमाना

(Scale of Production)

अर्थ—उत्पत्ति के पैमाने का तात्पर्य उत्पादन करने वाली इकाई के आकार तथा उसके उत्पादन की मात्रा से है। साधारणत उत्पादन का पैमाना दो प्रकार का हो सकता है—छोटे पैमाने का उत्पादन तथा बड़े पैमाने का उत्पादन।

उत्पत्ति का पैमाना

अर्थ—उत्पादन करने वाली इकाई के आकार तथा उत्पादन की मात्रा को उत्पादन का पैमाना कहते हैं।

प्रकार

(1) छोटे पैमाने का उत्पादन

(2) बड़े पैमाने का उत्पादन

(1) छोटे पैमाने का उत्पादन—उत्पादन के साधनों की मात्रा कम होती है तो उत्पादन का पैमाना छोटा होता है।

लाभ या गुण

(1) व्यक्तिगत देख रेख,
(2) आर्थिक असमानता दूर करना,
(3) क्षेत्रीय विषमताओं में कमी,
(4) रोजगार में वृद्धि,
(5) कार्य की स्वतन्त्रता,
(6) मालिक मजदूर में घनिष्टता,
(7) श्रमिकों के व्यक्तित्व का विकास,
(8) प्रबन्धकीय सरलता,
(9) उपभोक्ता की व्यक्तिगत रुचि,

I छोटे पैमाने का उत्पादन (Small Scale of Production)—जब उत्पादन प्रक्रिया में थोड़ी मात्रा में श्रम, कच्चा माल, यन्त्र तथा मशीनें आदि का प्रयोग किया जाता है तथा उत्पादन भी थोड़ी मात्रा में होता है तो इसे छोटे पैमाने का उत्पादन कहते हैं। प्राचीन समय में लोग *साधारणत स्वावलम्बी हुआ करते थे* और अपने स्वयं के अथवा अपने परिवार या पास पड़ोसियों के उत्पादन के साधनों का प्रयोग करके उत्पादन चलाया करते थे। इस प्रकार उस समय उत्पादन की इकाई का रूप छोटा तथा उसके द्वारा उत्पादित माल की मात्रा थोड़ी हुआ करती थी।

छोटे पैमाने के उत्पादन के लाभ—वर्तमान बड़े पैमाने के उत्पादन के युग में छोटे पैमाने का उत्पादन अपने गुणों के कारण ही जीवित है। छोटे पैमाने के उत्पादन के लाभों का अध्ययन आगे किया जा रहा है।

(1) व्यक्तिगत देख-रेख की सुविधा—छोटे पैमाने के उत्पादन में उत्पादक देख सकता है कि श्रमिक ठीक ठीक कार्य कर

(10) *कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन,*
(11) कारखाना प्रणाली के दोषों से मुक्ति,
(12) अत्योत्पादन का भय नहीं, तथा
(13) तत्काल प्रतिफल।

कमियां व दोष :
(1) अपर्याप्त पूंजी,
(2) कुशल श्रमिकों का अभाव,
(3) उन्नत तकनीक का कम प्रयोग,
(4) कच्चे माल की कमी,
(5) अधिक लागत,
(6) उपोत्पाद का प्रयोग नहीं,
(7) टिकने की क्षमता कम,
(8) एकसारता का अभाव,
(9) आर्थिक संकट का डर,
(10) निम्न हिसाबी पद्धति,
(11) अनुसंधान का अभाव,
(12) उपयुक्तता का अभाव, तथा
(13) अधिक ऊपरी व्यय।

बड़े पैमाने के उत्पादन में उत्पादन साधनों का बडी मात्रा में प्रयोग करके उत्पादन अधिक मात्रा में किया जाता है।

लाभ :
(1) आन्तरिक बचतें।
(2) बाह्य बचतें।

कमियां :
(1) एकाधिकार प्रवृत्ति।
(2) धन का असमान वितरण।
(3) मालिक मजदूर संघर्ष।
(4) कारखाना प्रणाली के दोष।
(5) लघु व कुटीर उद्योगों की अवहेलना।
(6) व्यक्तिगत रुचि की उपेक्षा।
(7) अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, तथा

रहे हैं या नहीं व कच्चे माल तथा यन्त्रों की बर्बादी नहीं हो रही है। इस प्रकार मालिक कम लागत पर श्रेष्ठ किस्म का उत्पादन प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

(2) **आर्थिक समानता लाने में सहायक**—छोटे पैमाने के उत्पादन में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण केवल कुछ ही बड़े उद्योगपतियों के हाथ में न होकर अनेक छोटे-छोटे उत्पादकों में वितरित हो जाता है। इस प्रकार धन का वितरण समान हो जाता है तथा आर्थिक असमानताओं के कारण उत्पन्न होने वाला मन मुटाव तथा वर्ग संघर्ष उत्पन्न नही हो पाता।

(3) **क्षेत्रीय विषमताओं में कमी**—*बड़ी-बड़ी उत्पादन इकाइयां तो केवल कुछ* ही क्षेत्रों तक सीमित रहती हैं जबकि उत्पादन की छोटी-छोटी इकाइयों को देश के विभिन्न भागों मे कहीं भी स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार आर्थिक समृद्धिशीलता का लाभ देश का प्रत्येक क्षेत्र उठा सकता है।

(4) **रोजगार में वृद्धि**—छोटे पैमाने के उत्पादन में साधारणतः अधिकांश कार्य मानवीय श्रम द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। इस प्रकार रोजगार सम्भावनाओं में वृद्धि होती है।

(5) **कार्य की स्वतन्त्रता**—कारीगर अगर किसी दूसरे का कार्य नहीं करना चाहता तो वह अपने स्वयं के थोड़े साधनों से भी छोटे पैमाने पर उत्पादन चलाकर जीविका प्राप्त कर सकता है। दूसरे छोटे पैमाने के उत्पादन में श्रमिकोंको स्वतन्त्रता भी अधिक रहती है।

(6) **मालिक-मजदूर में घनिष्ठ सम्बन्ध**—छोटे पैमाने के उत्पादन में श्रमिकों की संख्या सीमित होने से मालिक मजदूर एक दूसरे की कठिनाइयों को समझते हैं

(8) राजनीतिक प्रभाव ।

सीमाएं

(1) धन्धे का स्वभाव,
(2) बाजार मांग,
(3) प्रबन्ध क्षमता
(4) तकनीकी,
(5) उत्पत्ति साधन,
(6) वित्त उपलब्धि,
(7) परिवहन, तथा
(8) उपभोक्ता का स्वभाव ।

अत आपसी सुख तथा दु ख दर्द का ध्यान रखते हैं, आपसी विद्वेष तथा वर्ग संघर्ष कम हो जाता है ।

(7) श्रमिकों के व्यक्तित्व का विकास—मालिक द्वारा निकट से निरीक्षण कार्य की स्वतन्त्रता तथा आपसी मधुर सम्बन्ध एवं निकटतम सम्पर्क के कारण श्रमिकों मे उत्तरदायित्व, ईमानदारी तथा स्वाभिमान की भावना जागृत होती है । इस प्रकार श्रमिक के व्यक्तित्व का विकास होता है ।

(8) प्रबन्ध में सरलता तथा हिसाबी किताबी सुविधा—व्यक्तिगत देख-रेख तथा सम्पर्क के कारण मालिक को प्रबन्ध में कोई कठिनाई नही होती दूसरे हिसाब-किताब सम्बन्धी अनेक औपचारिकतायें कम हो जाती हैं ।

(9) उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत रुचि का ध्यान—छोटे पैमाने के उत्पादन मे थोड़े से उपभोक्ताओं की मांग की पूर्ति की जाती है अत उत्पादक अपने ग्राहकों की अभिरुचि तथा प्रवृत्तियों से परिचित रहने के कारण उत्पादन मे उनकी व्यक्तिगत रुचि का भी ध्यान रखता है ।

(10) कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन—छोटे पैमाने के उत्पादन मे मालिक तथा श्रमिक की व्यक्तिगत देख-रेख मे श्रमिकों को पर्याप्त स्वतन्त्रता उपलब्ध करा कर उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत अभिरुचि को ध्यान मे रखकर चलाया जाता है अत कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन होता है । कांजीवरम् तथा मटके की साड़िया, जयपुरी बधेज, लखनऊ का कटर्क, मूर्ति कला आदि ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

(11) कारखाना प्रणाली के दोषों से मुक्ति—छोटे पैमाने की उत्पदान इकाइयां अलग अलग क्षेत्रो मे स्थापित करने से कारखाना प्रणाली द्वारा उत्पन्न बड़े-बड़े नगरो की समस्या नही आती । छोटे पैमाने के उत्पादन म श्रमिकों की सुख-सुविधा तथा स्वास्थ्य आदि का पूरा पूरा ध्यान रखा जाने के कारण स्त्री-बच्चों का शोषण नहीं हो पाता । मशीनो के अत्यधिक प्रयोग न होने से बेकारी भी नही बढती । कारखानो से निकले दूषित पानी तथा चिमनियो से निकले धुए के कारण वातावरण भी दूषित नहीं होता ।

(12) अत्योत्पादन (Overproduction) का भय नहीं—छोटे पैमाने के उत्पादन मे बाजार की माग तथा अभिरुचि का पूर पूरा ध्यान रखना सभव है । बाजार की प्रभावी मांग के अनुसार उत्पादन को चाहे जिस मात्रा मे घटाया बढ़ाया जा सकता है । इस प्रकार न तो अधिक उत्पादन का भय रहता है और परिस्थितियों के अनुसार घटाबढी किये जाने के कारण उत्पादन इकाइयो मे लोच का गुण भी बना रहता है ।

(13) **विनियोजित पूंजी का प्रतिफल** तत्काल ही मालिक को मिलता रहता है क्योंकि उसको अपनी छोटी मात्रा की उत्पत्ति को वेचने तथा सहायक साधनों को प्रतिफल चुकाने में वड़ी सुविधा रहती है।

(1) **पूंजी की अपर्याप्ता**— छोटे पैमाने पर उत्पादन चलाने वालों के साधन सीमित होने कारण उनकी व्यक्तिगत पूंजी कम रहती है तथा उत्पादन कम होने के कारण उनकी उधार लेने की क्षमता भी सीमित होती है तथा उनको व्याज की दरें भी ऊंची चुकानी पड़ती हैं।

(2) **कुशलतम श्रमिकों की सेवाओं का कम प्रयोग**—साधन सीमित होने तथा भुगतान क्षमता कम होने के कारण छोटे पैमाने का उत्पादन उच्च प्रशिक्षण प्राप्त श्रमिकों की सेवाओं से वंचित रहता है क्योंकि इनकी सेवाओं का मूल्य उनकी सामर्थ्य से अधिक होता है।

(3) **श्रमविभाजन तथा मशीनों का सीमित प्रयोग**–छोटे पैमाने के उत्पादन में श्रमिकों तथा मशीन व यन्त्रों की मात्रा सीमित होती है। इस प्रकार न तो आधुनिकतम मशीन व यन्त्रों का खरीदना संभव होता है और न श्रमिकों को ही अलग-अलग कार्य दिया जा सकता है।

(4) **उच्च कोटि का कच्चा माल उपलब्ध न हो पाना**—कच्चे माल के क्रय में छोटे उत्पादक वड़े-वड़े उद्योगपतियों के सामने टिक नही पाते अतः उन्हें वड़े उत्पादकों द्वारा क्रय किये जाने के उपरान्त बचे-खुचे कच्चे माल को ही खरीदना पड़ता है।

(5) **लागत का अधिक बैठना**—वड़े पैमाने के उत्पादन में उपलब्ध आन्तरिक तथा वाह्य वचतों से छोटे पैमाने का उत्पादन वंचित रहता है अतः उत्पादन लागत अधिक पड़ती है।

(6) **उत्पोत्पाद (By-products) तथा अवशिष्ट माल का सदुपयोग न हो पाना**— छोटे पैमाने के उत्पादन में उपोत्पाद तथा अवशिष्ट माल की मात्रा कम होती है। स्वयं उत्पादक द्वारा उनसे अलग उत्पादन कार्य चलाना सम्भव नहीं। अतः वह उस व्यर्थ वचे माल को या तो इधर-उधर फेंकने या सस्ते दामों पर वेचने को विवश होता है।

(7) **प्रतियोगिता में टिकने की क्षमता कम**—लागत अधिक पड़ने के कारण छोटे पैमाने का उत्पादन वड़े उद्योगपतियों के सामने टिक नहीं पाता और कभी-कभी तो उसे उत्पादन कार्य वन्द करने के लिये भी विवश होना पड़ता है।

(8) **उत्पादन एक सा नहीं हो पाता**—छोटे पैमाने के उत्पादन में अधिकांशतः मानव शक्ति का प्रयोग किया जाता है। मशीनों का प्रयोग तो सीमित मात्रा में होता है। अतः उत्पत्ति की समरूपता (uniformity) वनी नहीं रह पाती। इस प्रकार प्रमापित माल का उत्पादन नहीं हो पाता।

(9) **आर्थिक संकटों में टिके रहने की क्षमता कम**—अत्यधिक मन्दी जैसे आर्थिक संकटों के झटकों को छोटे पैमाने का उत्पदन सहन न कर पाने के कारण

बन्द होने का विवश होता है। क्योंकि उनके सीमित साधन इन सकटों का मुकाबला करने मे असमर्थ होते हैं।

(10) उच्च किस्म की हिसाबी पद्धतियो का प्रयोग न कर पाना—छोटे पैमाने का उत्पादन उच्च प्रशिक्षण प्राप्त कर्मचारियो की सेवाओं से वचित होने के कारण छोटे मोटे मुनीम या लेखाकार से ही हिसाब किताब रखवाने को विवश होता है। फलस्वरूप उसका हिसाब किताब वैज्ञानिक पद्धति से नही रखा जाता है। आयकर तथा बिक्रीकर के भुगतान के समय उसे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है।

(11) अनुसधान कार्यो का अभाव—छोटे पैमाने का उत्पादन अनुसधान व्यय को वहन करने मे असमर्थ होता है।

(12) कुछ उद्योगो के लिये उपयुक्त नहीं—छोटे पैमाने का उत्पादन लोहा इस्पात, जलयान अथवा वायुयान निर्माण, तल शोधन उद्योग आदि जैसे वृहत उद्योगों के लिए अनुपयुक्त होता है।

(13) प्रति इकाई उपरिव्यय अधिक—छोटे पैमाने के उत्पादन मे सस्थापन, विज्ञापन, आदि उपरिव्यय प्रति इकाई अधिक बैठते हैं क्योकि सम्बन्धित समस्त व्यय थोडी मात्रा के उत्पादन म ही बटता है।

बडे पैमाने का उत्पादन

(Large Scale Production)

आज मनुष्य स्वावलम्बी नही है। उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अन्य व्यक्तियो द्वारा उत्पादित धन का प्रयोग करना पडता है। अत उत्पादक अपनी अथवा अपने परिवार या पास पडोसियो की आवश्यकता पूर्ति के लिये ही उत्पादन नही करता। उसे अपनी वस्तु के उपभोक्ताओं की माग का भी ध्यान रखना पडता है। इस प्रकार उत्पादन का पैमाना बढ जाता है। अब उत्पत्ति की सामान्य इकाई एक परिवार अथवा मामूली किस्म के औजार तथा आस पास से जैसा भी मिल गया वैसे कच्चे माल को प्रयोग करने वाले, छोटे से समुदाय नही रहे वरन उत्पत्ति का रूप बडे-बडे कल कारखानों ने ले लिया है जहा हजारो सुसगठित श्रमिक कीमती से कीमती आधुनिकतम कल पुर्जो का प्रयोग करते हैं तथा देश विदेश से प्राप्त कच्चे माल का प्रयोग करके उत्पादन क्रिया को सम्पन्न करते हैं। उत्पादन का यह रूप बडे पैमाने का उत्पादन कहलाता है। बडे पैमाने के उत्पादन म आधुनिकतम मशीनो का प्रयोग करने, अच्छे से अच्छे कच्चे माल की उपलब्धि तथा श्रम विभाजन की वैज्ञानिक विधि का प्रयोग करने के कारण लागत कम बैठती है तथा साथ ही साथ बडे पैमाने की कुछ बचतें भी प्राप्त होती हैं जिनके कारण भी लागत कम आती है। इन बचतो का अध्ययन हम दो भागो म कर सकते हैं I आन्तरिक बचते तथा II बाह्य बचतें।

I आन्तरिक बचते (Internal Economies) किसी उत्पादन इकाई की अपनी आन्तरिक व्यवस्था के अच्छी होने के परिणामस्वरूप जो बचतें प्राप्त होती

हैं उन्हें उस संस्था की आन्तरिक बचतें कहते हैं। मार्शल के अनुसार "ये किसी फर्म को उसकी आन्तरिक कुशलता तथा व्यवस्था आदि की श्रेष्ठता के कारण होतीं हैं। केअरनक्रास ने कहा है कि "ये अन्य फर्मों के कार्यों पर आश्रित नहीं होती; ये फर्म के उत्पादन के पैमाने में वृद्धि का परिणाम हैं तथा ये किसी भी प्रकार के आविष्कारों का परिणाम नहीं हैं वरन् उत्पादन की उन प्रचलित विधियों के प्रयोग का परिणाम हैं जिन्हें एक छोटी फर्म प्रयोग में लाकर लाभ नहीं उठा सकती।"[1] इस प्रकार आन्तरिक बचतें (1) किसी फर्म की आन्तरिक व्यवस्था का परिणाम होती हैं, (2) बाह्य आविष्कारों का इनमें योगदान नहीं होता है तथा (3) ये किसी फर्म विशेष को ही उपलब्ध होती हैं।

एक कारखाने के खर्चों को तीन भागों में बांटा जा सकता है : (1) प्रारम्भिक खर्चे, (2) निर्माण सम्बन्धी खर्चे, तथा (3) निर्मित माल के वितरण सम्बन्धी खर्चे।

(1) प्रारम्भिक खर्चों मे भूमि, कच्चे माल, ईंधन, यन्त्र व औजार आदि से सम्बन्धित खर्चे आते हैं।

(2) निर्माण सम्बन्धी खर्चों में इंजन रूम, निर्माण शाला, उपोत्पाद का प्रयोग, पैकिंग, आफिस आदि के खर्चे आते हैं तथा (3) निर्मित माल के वितरण सम्बन्धी खर्चों के अन्तर्गत एजेन्ट, विज्ञापन, यातायात आदि के खर्चे आते हैं। बड़े पैमाने के उत्पादन में इन खर्चों में कुछ न कुछ मितव्ययिता अवश्य होती है अतः लागत प्रति इकाई कम बैठती है। इन बचतों का लाभ छोटी इकाइयां नही उठा सकती हैं। केवल बड़ी इकाइयां ही उठा सकती हैं। इसके दो कारण हैं :

(अ) अविभाज्यतायें (Indivisibilities), तथा (ब) विशिष्टीकरण (Specialisation)।

(अ) अविभाज्यतायें—उत्पादन के प्रत्येक साधन के विभाजन की सीमा होती है जिसके आगे उसके और छोटे-छोटे टुकड़े नहीं किये जा सकते। इस स्थिति को अविभाज्यता कहते हैं। मशीन तथा यन्त्र, प्रबन्धक, अनुसन्धान, वित्त तथा विपणन व्यवस्था आदि में अविभाज्यता का तत्व होता है। इन अविभाज्य साधनों का उनकी पूरी पूरी क्षमता में प्रयोग, उत्पादन इकाइयों के बड़ा होने पर ही सम्भव होता है। उत्पादन की अधिकतम सीमा तक इनका प्रयोग करने से इनकी प्रति इकाई लागत कम बैठती है। क्योंकि स्थिर लागत (Fixed Cost) उत्पादन की अधिक मात्रा पर बंट जाती है।

---

1. "Internal economies are those which are open to a single factory or firm independently of the actions of other firms. They result from an increase in the scale of output of the firm. They are not the result of inventions of any kind, but are due to the use of known methods of production which a small firm does not find worth while.'—Caironcross

उदाहरणार्थ किसी मशीन से प्रति दिन 1000 मीटर कपड़ा बुना जा सकता है और उसकी स्थिर लागत 1000 रु० प्रति दिन है जो प्रति मीटर 1 रु० बैठती है। अगर प्रतिदिन केवल 500 मीटर ही कपड़ा बुना जाता है तो प्रति मीटर स्थिर लागत 2 रु० बैठेगी। यही स्थिति अन्य अविभाज्य साधनों की होती है। इस प्रकार उत्पादन बढ़ाने पर स्थिर लागत प्रति इकाई घट जाती है और घटाने पर बढ़ जाती है।

(ब) विशिष्टीकरण—बड़े पैमाने के उत्पादन में कार्य का विभाजन अनेक उपक्रियाओं में सम्भव होता है। इन उपक्रियाओं को सम्पन्न करने के लिये विशिष्टतम यन्त्र व अन्य उपकरणों को काम में लाकर विशिष्टतम श्रम की सहायता से उत्पादन चलाया जा सकता है। अर्थात् बड़े पैमाने की उत्पादन क्रिया के सम्पन्न करने में आधुनिकतम वैज्ञानिक साधनों तथा प्रक्रिया का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार उत्पादन कुशलता बढ़ने से लागत प्रति इकाई कम बैठती है। छोटे पैमाने के उत्पादन विशिष्टीकरण की इस सुविधा से वंचित रहते हैं अतः उनकी लागत प्रति इकाई अधिक बैठती है।

आन्तरिक बचतों को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है: (1) तकनीकी बचतें, (2) प्रबन्धकीय बचतें, (3) व्यापारिक तथा विपणन सम्बन्धी बचतें, (4) वित्तीय बचत तथा (5) जोखिम उठाने सम्बन्धी बचतें। इन बचतों का विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय में किया गया है।

II बाह्य बचतें (External Economies)—ये उद्योगों के सामान्य विकास से उत्पन्न होती हैं तथा उसी प्रकार की इकाइयों के एक ही क्षेत्र में केन्द्रीयकरण अथवा उद्योगों के स्थानीयकरण द्वारा उत्पन्न होती हैं। इनमें केन्द्रीयकरण के कारण उत्पन्न होने वाली तथा अन्य बचतें आती हैं। ये एक उद्योग में लगी सभी फर्मों को प्राप्त होती हैं। बाह्य बचतों में यातायात सुविधाएं, बैंकिंग तथा मरम्मत सुविधाएं आदि से सम्बन्धित बचतें शामिल होती हैं।

बड़े पैमाने के उत्पादन की कमियाँ या हानियाँ (Demerits or Disadvantages of Large Scale Production)—बड़े पैमाने के उत्पादन के कुछ दोष तथा कमियाँ हैं। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है :

(1) एकाधिकारी प्रवृत्तियों को बढ़ावा—बड़े पैमाने के उत्पादन के कारण स्थानीयकरण तथा विशिष्टीकरण होना स्वाभाविक है। इस प्रकार कारखाने के स्वामियों का एक साथ मिलकर संघ, समूह, ट्रस्ट व कार्टेल आदि बनाना सम्भव हो जाता है। ये उपभोक्ताओं का भारी शोषण करते हैं।

(2) धन तथा सम्पत्ति का असमान वितरण—बड़े पैमाने के बल कारखाने अगर सरकार द्वारा नहीं चलाये जाते हैं तो इनका स्वामित्व केवल कुछ बड़े उद्योग घरानों के हाथों में केन्द्रित हो जाता है। ये और अधिक धनवान तथा अन्य लोग अधिक निर्धन होते चले जाते हैं। इस प्रकार धन तथा सम्पत्ति की असमानतायें

इतनी बढ़ जाती हैं कि अधिकांश तो भूख से मरने लगते हैं और कुछ आवश्यकता से अधिक खाकर मर जाते हैं।

(3) **मालिक तथा मजदूर में संघर्ष**—बड़े पैमाने के उत्पादन में श्रमिकों की इतनी बड़ी सख्या होती है कि मालिक व मजदूर के बीच आपसी सम्पर्क टूट जाता है। एक दूसरे की कठिनाइयों को न समझ पाने के कारण वर्ग संघर्ष बढ़ जाता है। हड़तालें, तोड़-फोड़, तालेबन्दी, घेराव तथा बन्द जैसी अनार्थिक एवं अलाभकारी घटनायें आये दिन होती रहती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय आय की हानि होती है।

(4) **कारखाने प्रणाली के दोष**—बड़े पैमाने का उत्पादन कारखाना प्रणाली को जन्म देता है। इसके अनेक दोष होते हैं यथा (i) **बड़े बड़े नगरों के बनने की समस्या**–बड़े-बड़े नगरो में भोजन, स्वास्थ्य एवं सफाई, बिजली-पानी ईंधन, यातायात, जीवन व सम्पत्ति की चोर-उचक्कों तथा गुण्डों से सुरक्षा, आमोद प्रमोद, शिक्षा, मिलावट आदि की समस्यायें अपने विकराल रूप में उपस्थित होती हैं (ii) **झुग्गी झोंपड़ियों (Slums) की समस्या** जिस घिनौने रूप में उत्पन्न होती है वह अवर्णनीय है। परिणाम स्वरूप मनुष्य का स्वास्थ्य, नैतिक तथा चरित्र बल का भारी अधः पतन होता है।

(iii) **वातावरण का दूषित होना**—कारखानों से निकले गन्दे पानी तथा उनकी चिमनियों के धुंयें से सारा वातावरण अस्वास्थ्यप्रद हो जाता है। (iv) **बड़े पैमाने पर मशीनों तथा श्रम विभाजन प्रणाली के प्रयोग** के कारण श्रमिकों की बेकारी बढ़ जाती है तथा उनकी कार्य कुशलता का ह्रास होने लगता है। (v) **आवश्यकता से अधिक या कम उत्पादन की समस्या** का भय बना रहता है। क्योंकि प्रचलित मांग का सही-सही अनुमान गलत भी बैठ सकता है। फलस्वरूप **मन्दी तथा अभाव** की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(5) **लघु तथा कुटीर उद्योगों की अवहेलना**—बडे पैमाने का उत्पादन सस्ता एवं इकसार होने के कारण अधिकांश लोगों की मांग की पूर्ति का साधन होता है। अतः लोग कुटीर तथा गृह उद्योग धन्धों द्वारा निर्मित माल की उपेक्षा करते हैं। अतः इन पर आश्रित असंख्य लोगों में बेकारी फैलती है।

(6) **व्यक्तिगत रुचियों की उपेक्षा**—बड़े पैमाने के उत्पादन में अधिकांशतः प्रमापित वस्तुओं का ही उत्पादन किया जाता है और व्यक्तिगत रुचि का कोई ध्यान नहीं रखा जाता है।

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बढ़ावा**—प्रत्येक राष्ट्र, बड़े पैमाने के कारण सम्भव उत्पादन के आधिक्य को अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में बेचने का जो प्रयास करता है उसके फलस्वरूप आपसी हितो में टकराहट उत्पन्न होने से अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तनावपूर्ण तथा विस्फोटक बनी रहती है।

(8) **राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीयकरण**—जैसा कि हम पहिले पढ़ चुके हैं कि बड़े पैमाने के उत्पादन के कारण आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण कुछ 'घरानो' के

हाथों में ही हो जाता है। भारत जैसी भ्रष्ट प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली ऐसे सेठों के हाथ की कठपुतली बनी रहती है। सम्पूर्ण अफसर शाही इनके पैसो का गुलाम होती है।

निष्कर्ष—बड़े पैमाने के उत्पादन के गुण व दोषों के आधार पर यह कह सकते हैं कि विकसित देशो के लिये बड़े पैमाने की उत्पादन पद्धति उनके आर्थिक विकास मे सहायक होती है। परन्तु भारत जैसे विकासशील, अर्द्ध विकसित अथवा अविकसित राष्ट्रों में अगर सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था का सचालन बड़े पैमाने पर होता है तो यह उस देश के लिये घातक होती है। अत आधारभूत एव भारी उद्योगों के ऐसे क्षेत्र मे ही इस पद्धति का प्रयोग किया जाना चाहिए जो मानवीय श्रम की शारीरिक क्षमता के लिये असहनीय हो। अन्य सभी क्षेत्रो मे छोटे पैमाने की उत्पादन व्यवस्था का प्रयोग करके बेकारी को दूर किया जा सकता है तथा राष्ट्रीय समृद्धि को बढ़ाया जा सकता है।

बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमाएं (Limitations of Large Scale Production)—प्रश्न यह उठ सकता है कि बड़े पैमाने पर उत्पादन को किस सीमा तक बढ़ाया जा सकता है कि उत्पादन लाभ-प्रद बना रहे? एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है कि उसके आगे उत्पादन का पैमाना बढ़ने पर बचतो के स्थान पर हानि होने लगती है क्योंकि उत्पादन के पैमाने की सीमा निर्धारण मे निम्न-लिखित बातों का प्रभाव पड़ता है

(1) उद्योग धन्धों का स्वभाव—कुछ उद्योग धन्धे ऐसे होते हैं जिनमें बड़े पैमाने का उत्पादन सम्भव नही हो सकता है क्योंकि इन उद्योगो मे निरन्तर व्यक्तिगत निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती रहती है जैसे कृषि कार्य कलात्मक वस्तुओ का उत्पादन आदि। सुनार व दर्जी आदि के कार्य ऐसे होते हैं जिनमें व्यक्तिगत रुचि के अनुसार माल तैयार किया जाता है। इन कार्यों में बड़े पैमाने का उत्पादन लाभप्रद नही हो सकता।

(2) बाजार की माग—सीमित माग की वस्तुओ का अथवा ऐसी वस्तुओं का जिनकी माग मे बहुत अधिक उतार चढाव आते रहते हैं बड़े पैमाने पर उत्पादन लाभदायक नहीं हो सकता। उदाहरणत लाख की चूडिया अथवा गाधी टोपी की माग सीमित होती है, विलासिता की वस्तुओं के मूल्यों मे थोड़े से उतार चढाव से भारी घट बढ हो जाती है।

(3) सगठनकर्ता या प्रबन्धक की योग्यता—प्रत्येक सगठक या प्रबन्धक इतना क्षम्य नहीं हो सकता कि वह चाहे जितनी बडी उत्पादन इकाई की पूरी पूरी देख भाल भली भाति कर सके। इस प्रकार प्रबन्धक की क्षमता का उत्पादन के पैमाने पर प्रभाव पड़ता है।

(4) तकनीकी सीमाए—यन्त्र तथा मशीनो की भी उत्पादन क्षमता की सीमा होती है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने पर उनकी कार्य-क्षमता का ह्रास हो जाता है।

(5) **उत्पादन के साधनों की पूर्ति की सीमाएं**—श्रेष्ठ किस्म का कच्चा माल, ईंधन, शक्ति, भूमि, श्रम आदि साधनों की पूर्ति की भी सीमायें होती हैं। इन सीमाओं के कारण उत्पादनकर्ताओं को अस्थायी छंटनी द्वारा उत्पादन बन्द अथवा कम करना (Lay off) पड़ता है।

(6) **वित्तीय सीमाएं**—पूंजी का आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में यथा समय उपलब्ध न होना उत्पादन के पैमाने मे बाधक होता है। अविकसित और विकासशील राष्ट्रों को पूंजीगत सामान की कमी उत्पादन का पैमाना बढ़ाने में बाधक होती है।

(7) **यातायात व संचार सुविधाओं का अविकसित होना**—यातायात व संचार व्यवस्था अगर सस्ती व शीघ्रगामी नही होती है तो कच्चे माल, मशीनें, श्रमिक, पूंजी आदि की प्राप्ति तथा निर्मित माल को उपभोक्ताओं तक पहुंचाने की लागत अधिक पड़ने से उत्पादन का पैमाना सीमित रखना पड़ता है; जैसे ईंटों, फर्नीचर आदि का उत्पादन तथा डबलरोटी, दूध आदि शीघ्र सड़ने गलने वाली वस्तुएं।

(8) **उपभोक्ता का स्वभाव**—अधिकांश वस्तुओं की बिक्री उनके 'ट्रेड मार्क' अथवा 'ब्रांड' के आधार पर होती है। क्योंकि किसी उपभोक्ता को कोई 'ब्रांड' पसन्द आता है और किसी को कोई अन्य। चाय का ही उदाहरण लें। कोई ब्रुक ब्रान्ड चाय पसन्द करता है तो कोई लिप्टन तो कोई अन्य कोई ब्रांड। इस प्रकार वस्तु का असीमित मात्रा में उत्पादन एक ही इकाई द्वारा सम्भव नहीं।

छोटे पैमाने की उत्पादन इकाइयों का टिका रहना—बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमाओं का अध्ययन करने से हमें ज्ञात होता है कि उद्योग-धन्धे के स्वभाव, बाजार की मांग, प्रबन्धक की योग्यता, तकनीकी सीमाएं, उत्पादन के साधनों की पूर्ति की सीमाएं, वित्तीय कठिनाइयां, यात्रा व संचार सुविधाओं का अभाव तथा उपभोक्ता की अभिरुचि आदि के कारण चाहे जिस मात्रा में उत्पादन इकाई को विस्तार नहीं किया जा सकता है। इन्हीं तथ्यों की वजह से कुछ उद्योग-धन्धे छोटे पैमाने पर भी चलाने पड़ते हैं। यही कारण है कि उत्पादन की छोटी-छोटी इकाइयां अभी तक जीवित हैं।

प्रश्न एवं संकेत

1. उत्पादन के पैमाने से आप क्या समझते हो ? छोटे पैमाने के उत्पादन के गुण व दोषों की व्याख्या कीजिए।

(संकेत—उत्पादन के पैमाने का अर्थ समझाकर उत्पादन के पैमाने के दोनों प्रकारों के नाम देकर छोटे पैमाने के उत्पादन के गुण व दोषों का वर्णन कीजिए।)

2 बड़े पैमाने के उत्पादन का अर्थ समझाते हुए बताइए कि बड़े पैमाने का उत्पादन लाभप्रद क्यों रहता है ?

(संकेत—उत्पादन के पैमाने का अर्थ समझाकर बड़े पैमाने के उत्पादन मे उपलब्ध आन्तरिक तथा बाह्य बचतो का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए बतावें कि इन्ही की वजह से लागत प्रति इकाई कम बैठती है ।)

3 बड़े पैमाने के उत्पादन का अर्थ समझाइये तथा इसके गुण व दोषों का भी वर्णन कीजिए ।

4. बड़े पैमाने के गुण व दोषो का वर्णन करते हुए इसकी सीमाए बताइए ।

(संकेत—प्रथम भाग मे बड़े पैमाने के उत्पादन के गुण व दोषों का वर्णन करना है तथा दूसरे भाग मे बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमाओं को बताना है ।)

5 बड़े और छोटे पैमाने के उत्पादनो की तुलना करते हुए बताइए कि किसी देश के आर्थिक विकास के लिये कौन अधिक ठीक है ?

(संकेत—प्रथम भाग में छोटे पैमाने व बड़े पैमाने के उत्पादनो का अर्थ समझा कर बाद मे इनके गुण व दोषों का वर्णन करते हुए इनकी तुलना कीजिये । यह भी बतावें कि बड़े पैमाने के उत्पादन मे जो बचतें होती हैं उनके कारण लागत प्रति इकाई कम बैठती है । दूसरे भाग म अपना मत व्यक्त करें कि विकसित राष्ट्रो में बड़े पैमाने का उत्पादन तथा अविकसित तथा विकासशील राष्ट्रो में उत्पादन के दोनो पैमाने आवश्यक है ।)

6 बड़े पैमाने के उत्पादन व छोटे पैमाने के उत्पादन म अन्तर बताइये । समझाइये कि हमारे देश मे कौनसा उपयुक्त है और क्यों ?

(संकेत—उत्तर प्रश्न 5 के समान होगा ।)

7. टिप्पणी लिखो —

(i) आन्तरिक व बाह्य बचतें (ii) बड़े पैमाने के उत्पादन की सीमाए (iii) छोटे पैमाने का उत्पादन क्यों जीवित है ? (iv) उत्पादन की अविभाज्यताए तथा विशिष्टीकरण ।

---

24 अविभाज्यता की धारणा तथा आन्तरिक एवं बाह्य बचतें

(The Concept of Indivisibility and Internal and External Economies)

किसी कल-कारखाने के खर्चों को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(1) प्रारम्भिक खर्चे जिनमें भूमि, कच्चे माल, ईंधन, यंत्र व औजार आदि से संबधित खर्चे आते है; (2) निर्माण सबंधि खर्चे, जिनमे शक्तिगृह, निर्माणशाला, उपोत्पाद (by products) का सदुपयोग, पैंकिग, कार्यालय आदि के खर्चे आते हैं; तथा (3) निर्मित माल के वितरण सम्बन्धी खर्चे, जिनमें विक्रय ऐजेन्टों की नियुक्ति, विज्ञापन, परिवहन आदि से सम्बन्धित खर्चे आते हैं।

अविभाज्यता तथा आन्तरिक एवं बाह्य बचतें

अविभाज्यता—उत्पादन के साधन की विभाज्य सीमा से आगे उसका विभाजन न किये जाने की स्थिति अविभाज्यता है।

I आन्तरिक बचतें—व्यवसाय की स्वयं की आन्तरिक व्यवस्था तथा प्रबन्ध का परिणाम होती है।

प्रकार :

(अ) प्रारंभिक व्यय में बचत

(ब) माल निर्माण में बचत :

(i) शक्ति गृह,

(ii) निर्माण शाला,

(iii) उपोत्पाद का सदुपयोग,

(iv) कार्यालय व्यवस्था, तथा

(v) पैंकिग व्यय।

(स) वितरण व्यय में बचत :

(i) विज्ञापन,

(ii) विक्रय एजेन्ट, तथा

बड़े पैमाने के उत्पादन में इन खर्चों में कुछ न कुछ मितव्ययिता अवश्य होती है। इन बचतों का लाभ छोटी इकाइयां नहीं उठा सकतीं केवल बड़ी इकाइयां ही उठा सकती हैं। इसके दो कारण हैं :

I. अविभाज्यतायें (Indivisibilities) तथा II. विशिष्टीकरण (Specialisation)

I. अविभाज्यतायें—उत्पादन के प्रत्येक साधन के विभाजन की सीमा होती है, जिसके आगे उसके और छोटे टुकड़े नहीं किए जा सकते। इसी स्थिति को अविभाज्यता कहते हैं। मशीन तथा यंत्र, प्रबन्धक, अनुसंधान कार्य, वित्त तथा विपणन व्यवस्था आदि में अविभाज्यता का तत्व होता है। इन अविभाज्य साधनों का उनकी पूरी-पूरी क्षमता में प्रयोग, उत्पादन इकाइयों के बड़ा होने पर ही संभव होता है। उत्पादन की अधिकतम सीमा तक इनका प्रयोग करने से इनकी प्रति इकाई लागत कम बैठती है क्योंकि

(iii) परिवहन ।

(द) प्रबन्धकीय बचत

II बाह्य बचतें—ये उद्योगों के केन्द्रीयकरण तथा विशिष्टीकरण के कारण उत्पन्न होती हैं ।

स्थिर लागत (Fixed Cost) उत्पादन की अधिक मात्रा पर बट जाती है ।

उदाहरण के लिए कपडा बुनने की किसी मशीन से प्रति दिन 1000 मीटर कपडा बुना जा सकता है और उसकी स्थिर लागत 1000 रु प्रति दिन है जो प्रति मीटर 1 रु बैठती है । माना प्रति-दिन 500 मीटर ही कपडा बुना जाता है तो स्थिर लागत प्रति मीटर 2 रु बैठेगी । यही स्थिति अन्य अविभाज्य साधनों की भी होती है । माना किसी प्रबन्धक को 2000 रु प्रति मास पारिश्रमिक दिया जाता है व प्रति माह 2000 इकाइयो का उत्पादन होता है तो प्रबन्धक की लागत प्रति इकाई 1 रु है । परन्तु अगर उत्पादन केवल 500 इकाइयो का ही होना है तो प्रबन्धक की लागत प्रति इकाई 4 रु० होगी और अगर उत्पादन 5000 इकाइयो का होने लगे तो प्रबन्धक की प्रति इकाई लागत केवल 40 पैसे बैठेगी ।

श्रीमती जॉन रोबिन्सन के शब्दों में, "यदि उत्पादन के समस्त साधन बालू के समान उचित रूप से विभाज्य होते तो किसी भी वस्तु की न्यूनतम मात्रा उत्पादन करने पर भी बडे पैमाने की उत्पत्ति के समस्त लाभ प्राप्त करना सम्भव होता ।" परन्तु समस्त उत्पादन साधनो मे अविभाज्यता का गुण नही होता है । अत बडे पैमाने की उत्पत्ति मे जो लाभ प्राप्त होते हैं वे छोटे पैमाने की उत्पत्ति मे प्राप्त नही होते हैं ।

कुछ अर्थशास्त्री उत्पादन के लाभो को उत्पत्ति साधनो की अविभाज्यता के कारण नही मानते वरन् विशिष्टीकरण का परिणाम मानते हैं ।

II—विशिष्टीकरण—बडे पैमाने के उत्पादन मे कार्य का विभाजन अनेक उप क्रियाओं मे सभव होता है । इन उपक्रियाओ को सम्पन्न करने के वास्ते विशिष्टीकृत यन्त्र तथा अन्य उपकरणोका प्रयोग करके विशिष्टतम श्रम की सहायता से उत्पादन चलाया जा सकता है । अर्थात् बडे पैमाने की उत्पादन क्रिया सम्पन्न करने मे आधुनिक वैज्ञानिक साधनो तथा प्रक्रिया का प्रयोग किया जा सकता है । इस प्रकार उत्पादन कुशलता बढ़ने से लागत प्रति इकाई कम बैठती है । जबकि छोटे पैमाने की उत्पादन इकाइयां विशिष्टीकरण की इस सुविधा से वंचित रहती हैं अत उनकी प्रति इकाई लागत अधिक बठती है ।

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्पादन साधनों की अविभाज्यता तथा विशिष्टीकरण के कारण बडे पैमाने की उत्पत्ति मे आन्तरिक तथा बाह्य बचतें उत्पन्न होती हैं ।

I आन्तरिक बचतें *(Internal Economies)*—किसी उत्पादन इकाई की अपनी स्वय की आन्तरिक व्यवस्था तथा प्रबन्ध के अच्छा होने के परिणाम स्वरूप जो बचतें प्राप्त होती हैं उन्हे उस संस्था की आन्तरिक बचतें कहते हैं ।

प्रो० मार्शल के अनुसार "ये किसी फर्म को उसकी आन्तरिक कुशलता तथा व्यवस्था आदि की श्रेष्ठता के कारण होती हैं।" केअरनक्रास ने कहा है कि "ये अन्य फर्मों के कार्यों पर आश्रित नहीं होतीं, ये फर्म के उत्पादन में वृद्धि का परिणाम हैं तथा ये किसी भी प्रकार के आविष्कारों का परिणाम नहीं हैं वरन् उत्पादन की उन प्रचलित विधियों के प्रयोग का परिणाम हैं, जिन्हें एक छोटी फर्म प्रयोग में लाकर लाभ नहीं उठा सकती।"[1] इस प्रकार आन्तरिक बचतें (1) किसी फर्म की आन्तरिक व्यवस्था का परिणाम होती हैं, (2) बाह्य आविष्कारों का इनमें योगदान नहीं होता तथा (3) ये किसी फर्म विशेष को ही उपलब्ध होती हैं।

आन्तरिक बचतों के प्रकार— आन्तरिक बचतों को पांच वर्गों में बांटा जा सकता है : (1) तकनीकी बचतें, (2) प्रबन्धकीय बचतें, (2) व्यापारिक तथा विपणन सम्बन्धी बचतें, (4) वित्तीय बचतें, तथा (5) जोखिम उठाने सम्बन्धी बचतें। इनका अध्ययन हम कल-कारखानो के अलग अलग विभागों के खर्चों सम्बन्धी बचतों के रूप में कर सकते है। इन्हें एक कारखाने के खर्चों के अनुसार तीन भागों में बांटा जा सकता है (1) प्रारम्भिक खर्चे, (2) निर्माण सम्बन्धी खर्चे तथा (3) निर्मित माल के वितरण सम्बन्धी खर्चे। इनका विस्तार से वर्णन आगे किया किया जा रहा है।

(अ) प्रारम्भिक व्यय में बचत—बड़े पैमाने के उत्पादन में भवन, मशीन तथा यंत्र, कच्चा माल, आदि के प्रारम्भिक व्यय में काफी बचत होती है। बड़ी मात्रा में खरीदने पर ये सस्ती मिल जाती है। चीनी मिल स्वयं का गन्ने का फार्म तथा धातु उद्योग स्वयं की खानें भी खरीद सकते हैं। मशीनों तथा यंत्रों का स्थापन व्यय भी कम बैठता है। आवश्यकता पड़ने पर उच्च किस्म की आधुनिकतम मशीनों का विदेशों से आयात भी किया जा सकता है। इस प्रकार प्रारम्भिक खर्चों में बचत करके प्रति इकाई लागत कम पड़ती है।

(ब) माल निर्माण में बचतें—ये बचतें माल के निर्माण से सम्बन्वित होती हैं। इनके अन्तर्गत शक्ति निर्माण, निर्माण शाला, उपोत्पाद का सदुपयोग, कार्यालय, पैकिंग आदि क्रियायें आती हैं।

(i) शक्ति निर्माण में बचतें—बड़े पैमाने के कलकारखानों को बहुत सस्ती बिजली मिलती है अन्यथा ये अपना स्वयं का शक्ति गृह भी स्थापित कर लेते हैं। इस प्रकार ये संचालन शक्ति सम्बन्धी व्यय में भारी बचत कर लेते हैं।

---

1. "Internal economies are those which are open to a single factory or firm independently of other firms. They result from an increase in the scale of out put of the firm. They are not the result of inventions of any kind, but are due to the use of known methods of production which a small firm dose not find worth while."—Caironcross

(ii) निर्माण शाला मे बचतें—बडे पैमाने के कल कारखानो मे बडी से बडी मात्रा मे नवीनतम मशीनो का प्रयोग सम्भव होता है तथा उन पर कुशलतम श्रमिकों को श्रम विभाजन की श्रेष्ठतम विधि का प्रयोग करके लगाया जा सकता है। मशीनो की टूट-फूट की मरम्मत के लिए एक विभाग स्थापित कर लिया जाता है। इस प्रकार निर्माण शाला मे भी काफी बचत हो जाती है।

(iii) उपोत्पाद का सदुपयोग—बडे पैमाने के कलकारखानों मे अवशिष्ट माल की मात्रा इतनी पर्याप्त रहती है कि उससे एक अलग कारखाना खोला जा सकता है। उदाहरणार्थ चीनी मिल म शीरा, खोई तथा काट की मात्रा इतनी अधिक होती है कि इनसे क्रमश शराब तथा स्प्रिट, गत्ता तथा कागज व खाद के कारखाने चलाये जाते है। इस प्रकार लागत मे काफी बचत हो जाती है।

(iv) कार्यालय सबधी व्यवस्था मे बचतें—उत्पादन का पैमाना जिस अनुपात मे बढता है उसी अनुपात म क्लर्क, लेखाधिकारी, अकेक्षक आदि की सख्या बढाने की आवश्यकता नही पडती। दूसरे हिसाब किताब की श्रेष्ठतम पद्धति तथा यन्त्रों यथा डुप्लीकेटर्स, टेबुलेटर्स, मल्टीप्लायर्स, लागटेबिल्स, रैडी-रेकनर, कम्पयूटर्स आदि का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार कार्यालय की कार्यकुशलता श्रेष्ठतम होने से भी काफी बचत होती है।

(v) पैकिंग विभाग मे बचतें—बडे पैमाने के कलकारखाने मे पैकिंग के लिए अलग से एक पैकिंग का सामान बनाने का विभाग व पैकिंग विभाग स्थापित करके पैकिंग व्यय मे काफी बचत की जा सकती है।

(स) निर्मित माल के वितरण सम्बन्धी व्यय मे बचत—उपभोक्ता तथा अन्य ग्राहको तक माल को पहुचाने म विज्ञापन, ऐजेन्टो की नियुक्ति तथा यातायात एव सचार आदि सेवाओ की आवश्यकता पडती है।

(i) विज्ञापन सम्बन्धी व्यय मे बचत—बडे पैमाने का उत्पादन विज्ञापन की श्रेष्ठतम विधियां यथा समाचार पत्र, टेलीविजन, रेडियो, सिनेमा स्लाइड्स, होर्डिंग्स आदि का अधिकतम प्रयोग करके उपभोक्ता तथा ग्राहको को माल से परिचित कराकर विक्रय सम्भावनाओ को बढा सकता है।

(ii) विक्रय एजेन्ट तथा यात्री एजेन्टो की नियुक्ति में बचत—बडे पैमाने के उत्पादन मे विभिन्न प्रकार के एजेन्टो तथा मध्यस्थो की सेवाओ का अधिकतम प्रयोग सम्भव होता है। ये लोग बिक्री बढाने मे बहुत अधिक सहयोगी सिद्ध होते हैं।

(iii) यातायात व सचार व्यय में बचत—बडे पैमाने की उत्पादन इकाई स्वय की यातायात एव सचार व्यवस्था अपनाने म समर्थ होती है अर्थात् स्वय की इकाई के द्वारा माल को ग्राहको तक पहुचा कर काफी बचत कर लेती है।

(द) प्रबन्ध सबन्धी बचतें—बडे व्यवसाय मे योग्यतम प्रबन्धको की सेवाओ का प्रयोग सम्भव होता है। इन व्यवसायो पर बाजार के उतार चढाव तथा मांग की घटाबढ़ी का विशेष प्रभाव नहीं पडता क्योंकि कुशल प्रबन्धको की भविष्यवाणी

बहुधा ठीक निकलती है । इस प्रकार देशी-विदेशी प्रतिस्पर्धा तथा आर्थिक समस्याओं को ये आसानी से सुलझाने में समर्थ होते हैं । बड़ी व्यावसायिक इकाइयों को बैंकों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं से पर्याप्त मात्रा में आसानी से ऋण उधार मिल जाता है । ये इकाइया अपने अंश व ऋण पत्रों की बिक्री से भी काफी पूंजी एकत्रित कर लेती हैं ।

(य) जोखिम संबधी बचते—बड़ी व्यावसायिक इकाई में जोखिम को फैलाना सरल होता है । अतः जोखिम का भय कम हो जाता है । ये इकाइयां उत्पादन के विविधीकरण द्वारा हानि देने वाली वस्तुओं के स्थान पर लाभ प्रदान करने वाली वस्तुओं का उत्पादन चालू करके विभिन्न बाजारों मे वस्तु को बेचकर जोखिम को फैलाने में सफल हो जाती हैं । जोखिम फैलाने का व्यय संभावित लाभ की तुलना में कम बैठता है ।

II बाह्य बचते (External Eocnomies)—बाह्य बचते वे बचते होती है जो उत्पादन की समस्त इकाइयों को प्राप्त होती है । मार्शल के अनुसार, "बाह्य मितव्ययिताएं उद्योग के सामान्य विकास से उत्पन्न होती है । ये विशेष रूप से उसी प्रकार की इकाइयों के एक ही क्षेत्र में केन्द्रीयकरण अथवा उद्योगों के स्थानीयकरण द्वारा उत्पन्न होती है ।"[2] इस प्रकार जैसे-जैसे किसी उद्योग का विकास होता जाता है वैसे-वैसे ये मितव्ययितायें भी अधिक मात्रा में उपलब्ध होने लगती है । बाह्य बचतों का वर्णन आगे किया जा रहा है :

(1) केन्द्रीयकरण अथवा स्थानीयकरण की बचते—उद्योगों के स्थानीयकरण के अन्तर्गत एक ही प्रकार की अनेक औद्योगिक इकाइयां एक ही क्षेत्र में केन्द्रित हो जाती है फलस्वरूप (1) कुशल श्रमिकों की उपलब्धि तथा उनके प्रशिक्षण की सुविधायें आसान हो जाती हैं, (2) इन क्षेत्रों में परिवहन तथा संचार के विकास का लाभ उपलब्ध होने लगता है, (3) सस्ती शक्ति की उपलब्धि होने लगती है, (4) वित्तीय संस्थाओं के विकास का लाभ मिलने लगता है, (5) अनेक नवीन औद्योगिक इकाइया तथा सहायक उद्योग खुल जाते हैं, तथा (6) बड़ी मात्रा में एकत्रित अवशिष्ट माल से एक स्वतंत्र औद्योगिक संस्थान स्थापित कर दिया जाता है ।

(2) अन्य बचते—बड़े पैमाने पर एक ही प्रकार का उत्पादन करने वाली अनेक व्यावसायिक इकाइया मिलजुल कर केन्द्रीय अनुसंधान संबंधी लाभ उठा सकती हैं; व्यापारिक तथा तकनीकी पत्रिकाओं के प्रकाशन की व्यवस्था कर सकती हैं तथा कभी-कभी आपसी मेल मिलाप द्वारा उत्पादन की विभिन्न प्रक्रियाओं को आपस में

---

2. "External Economics arise from the general development of an industry and specially from the concentration of many businesses of a similar character in particular localities or, as is commonly said, from the localisation of Industry."
—Marshall

बांटकर उनमे विशिष्टीकरण भी प्राप्त कर सकती हैं। आपसी प्रतिस्पर्धा से बचने के लिए सामूहिक सघ भी बना सकती हैं। इस प्रकार इन सभी बाह्य बचतों के कारण उत्पादन लागत काफी कम हो जाती हैं।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि बड़े पैमाने के उत्पादन मे आन्तरिक तथा बाह्य बचतें प्राप्त होती है। आन्तरिक बचतें साधनो की अविभाज्यता व विशिष्टीकरण से प्राप्त होती है जबकि बाह्य बचतें उद्योग के आकार मे वृद्धि, स्थानीयकरण तथा विशिष्टीकरण के कारण उत्पन्न होती हैं। इन बचतो का लाभ केवल उत्पादनकर्त्ताओ को ही नही मिलता वरन् समाज के सभी वर्गों यथा उपभोक्ताओ, श्रमिको आदि तथा सरकार को भी मिलता है। वास्तव मे ये सम्पूर्ण बड़े पैमाने की अर्थव्यवस्था की सफलता की कुंजी हैं।

प्रश्न एव संकेत

1 आन्तरिक तथा बाह्य बचतों से आप क्या समझते हो ? ये क्यो उत्पन्न होती हैं ? इनमे अन्तर बताइये।

(संकेत—अन्तरिक तथा बाह्य बचतो का अर्थ समझा कर उन कारणो का वर्णन करें जिनकी वजह से ये उत्पन्न होती हैं। अन्त मे दोनों का अन्तर समझावें।)

2 बड़े पैमाने की उत्पत्ति मे आन्तरिक तथा बाह्य बचतो की व्याख्या कीजिये।

3 "आन्तरिक बचतें अविभाज्यता तथा विशिष्टीकरण का परिणाम हैं तो बाह्य बचतें उद्योगो के आकार, स्थानीयकरण तथा विशिष्टीकरण का।" इस कथन की व्याख्या कीजिये।

(सकेत—आन्तरिक व बाह्य बचतो के उत्पन्न होने के कारणो के सन्दर्भ मे प्रश्नोत्तर लिखें।)

25 उत्पत्ति के नियम
(Laws of Production)

उत्पत्ति के नियम हमें यह बताते हैं कि एक उत्पादक द्वारा अल्पकाल में उत्पादन के कुछ साधन/साधनों को स्थिर रख कर अन्य साधन/साधनों को परिवर्तित करने पर उत्पादन की मात्रा में किस अनुपात में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन तीन प्रकार का हो सकता है और इसी के अनुसार उत्पत्ति के भी तीन नियम होते हैं। यदि उत्पत्ति में वृद्धि साधनोमें वृद्धि के अनुपात से अधिक होती है तो इसे उत्पत्ति वृद्धि नियम कहते हैं। यदि उत्पत्ति में वृद्धि साधनों में वृद्धि के अनुपात में होती है तो यह उत्पत्ति समता नियम कहलाता है और यदि उत्पत्ति में वृद्धि साधनों में वृद्धि के अनुपात से कम होती है तो यह उत्पत्ति ह्रास नियम कहलाता है। कुछ अर्थशास्त्री उत्पत्ति का केवल एक ही नियम—उत्पत्ति ह्रास नियम ही मानते हैं। उनके अनुसार उत्पत्ति वृद्धि एवं उत्पत्ति समता नियम तो बहुत थोड़े समय के लिए लागू होते हैं और अन्त में उत्पत्ति ह्रास नियम ही क्रियाशील होता है। उत्पत्ति वृद्धि नियम एवं उत्पत्ति समता नियम उत्पत्ति ह्रास नियम की ही अस्थायी अवस्थाएं हैं। इस अध्याय में उत्पत्ति के तीनों नियमों का अध्ययन किया गया है।

उत्पत्ति के नियम

उत्पत्ति के नियम यह बताते हैं कि एक उत्पादक द्वारा अल्पकाल में उत्पादन के साधन / साधनों को स्थिर रख कर अन्य साधन/साधनों को परिवर्तित करने पर उत्पादन की मात्रा में किस अनुपात में परिवर्तन होता है।

उत्पत्ति के तीन नियम होते हैं।

उत्पत्ति ह्रास नियम :

अर्थ—उत्पत्ति के अन्य साधनों को स्थिर रख कर किसी एक साधन की मात्रा बढ़ाने पर एक निश्चित बिन्दु के बाद उत्पादन में घटती हुयी दर से वृद्धि उत्पत्ति ह्रास नियम कहलाती है।

मान्यताएं :

(1) उत्पत्ति के साधनों में इच्छानुसार परिवर्तन सम्भव।

(2) कुछ साधनों को स्थिर रख कर अन्य साधनों को परिवर्तनशील रखा जावे।

1. उत्पत्ति ह्रास नियम
(Law of Diminishing Returns)

मार्शल ने उत्पत्ति ह्रास नियम का केवल कृषि क्षेत्र में ही लागू होना माना है। उन्होंने केवल भूमि को स्थिर माना तथा

(3) परिवर्तनशील साधन की सभी इकाइयाँ समरूप होनी चाहिए।

(4) एक सीमा के बाद अवश्य लागू होता है।

(5) उत्पादन की तकनीक व सगठन मे सुधार न हो।

(6) नियम का सम्बन्ध वस्तु की भौतिक मात्रा से होता है उसके मूल्य से नही।

नियम के लागू होने के कारण

(1) एक या अधिक साधनों का स्थिर होना।

(2) साधनो की सीमितता।

(3) अनुकूलतम सयोग के आगे उत्पादन बढाना।

(4) उत्पत्ति साधनो का एक दूसरे का पूर्ण स्थानापन्न न होना।

नियम का महत्व.

(1) माल्थस का जनसख्या सिद्धान्त इसी पर आधारित है।

(2) रिकार्डो के लगान सिद्धान्त का आधार भी यही नियम है।

(3) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त इसी पर आधारित है।

(4) एक देश के लोगो का जीवन—

उत्पत्ति के अन्य साधनों को परिवर्तनशील। इसी सन्दर्भ मे मार्शल ने उत्पत्ति ह्रास नियम को परिभाषित करते हुये लिखा है 'यदि कृषि कला मे कोई सुधार न हो तो सामान्यत कृषि मे प्रयुक्त श्रम और पूजी की मात्रा मे वृद्धि से उत्पादन मे अनुपात से कम वृद्धि होती है।"[1] इस प्रकार मार्शल ने स्पष्ट किया है कि कृषि कला मे सुधार न होने पर उसमे श्रम तथा पूजी की उत्तरोत्तर इकाइया लगाने से सीमान्त उत्पादन घटता जाता है।

आधुनिक व्याख्या या परिवर्तनशील अनुपातों का नियम

आधुनिक अर्थशास्त्री मार्शल के दृष्टिकोण से सहमत नही है तथा वे इस नियम को केवल कृषि मे ही लागू होना नहीं मानते हैं। उनके अनुसार यह एक व्यापक नियम है तथा उत्पत्ति के किसी भी एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों को बढाया जाय तो यह नियम अन्तोगत्वा उत्पत्ति के प्रत्येक क्षेत्र मे कार्यशील होगा।

प्रो बेन्हम के अनुसार 'उत्पादन के साधनो के सयोग मे एक साधन का अनुपात जैसे-जैसे बढाया जाता है वैसे वैसे एक बिन्दु के पश्चात् उस साधन का सीमान्त तथा औसत उत्पादन घटता जाता है।"[2] बेन्हम

---

1 "An increase in capital and labour employed in cultivation of land causes in general, less than a proportionate increase in the amount of produce raised, unless it happens to coincide with an improvement in the arts of agriculture"
—Marshall

2 "As the proportion of one factor in a combination of factors is increased after a point, the marginal and average product of the factor will diminish"—Benham

स्तर उत्पत्ति ह्रास नियम से प्रभावित होता है ।

(5) आविष्कारों एवं खोजों के लिए प्रेरणा ।

(6) जनसंख्या का प्रवास ।

उत्पत्ति वृद्धि नियम :

अर्थ–जब उत्पादन के किसी क्षेत्र में उत्पत्ति के किसी साधन की अधिक मात्रा लगाने से संगठन में सुधार होने से उत्पत्ति साधनों की कुशलता बढ़ने के कारण उत्पादन में साधनों की वृद्धि से अधिक अनुपात में वृद्धि होती है तो यह उत्पत्ति वृद्धि नियम कहलाता है ।

नियम की क्रियाशीलता के कारण :

(1) साधनों की अविभाज्यता ।

(2) साधनों की पर्याप्त मात्रा में पूर्ति ।

(3) बड़े पैमाने के उत्पादन की बचतें ।

उत्पत्ति स्थिरता नियम :

अर्थ–उत्पादन के जिस स्तर पर उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होना समाप्त होता है तथा उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना प्रारम्भ नहीं होता वहां उत्पत्ति स्थिरता नियम लागू होता है। इस नियम के अन्तर्गत उत्पादन में वृद्धि उत्पादन साधनों के अनुपात में ही होती है ।

के अनुसार उत्पत्ति ह्रास नियम उस समय लागू होता है जब उत्पत्ति के अन्य साधनों को स्थिर रख कर किसी एक साधन को बढ़ाया जाता है। उत्पत्ति ह्रास नियम में सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन दोनों घटते हैं ।

श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार "उत्पत्ति ह्रास नियम जैसा कि इसे बनाया जाता है, बतलाता है कि किसी एक उत्पत्ति के साधन की मात्रा को स्थिर रख कर अन्य साधनों की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि करने पर एक निश्चित बिन्दु के बाद उत्पादन में घटती हुयी दर से वृद्धि होगी ।"[2] श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार उत्पत्ति के किसी एक साधन को स्थिर रख कर अन्य साधनों में वृद्धि करने से कुल उत्पादन घटती दर से बढ़ता है ।

सेम्युल्सन ने किसी एक साधन को स्थिर रख कर अन्य साधनों को बढ़ाने अथवा अन्य साधनों को स्थिर रख कर किसी एक साधन को बढ़ाने के भेद को समाप्त करते हुये उत्पत्ति ह्रास नियम को परिभाषित करते हुये लिखा है, "स्थिर साधनों की तुलना में, कुछ साधनों में वृद्धि करने से उत्पादन में वृद्धि होगी, परन्तु एक बिन्दु के बाद साधनों की समान वृद्धियों से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन उत्तरोत्तर कम होता जावेगा ।"

2. "The law of Diminishing Returns, as it is usually formulated states that with a fixed amount of any one factor of production successive increases in the amount of other factor will after a point yield a diminishing increment of the product."
—Mrs. Joan Robinson

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि किसी एक साधन को स्थिर रख कर अन्य साधनो मे वृद्धि करने या अन्य साधनो को स्थिर रख कर एक साधन को बढाने अथवा कुछ साधनो को स्थिर रख कर अन्य साधनों मे वृद्धि करने पर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

उदाहरण एवं रेखा चित्र से नियम का स्पष्टीकरण—उत्पत्ति ह्रास नियम को समझाने के लिए कुल उत्पादन, सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन को समझना आवश्यक है। किसी समय जो सामूहिक उत्पादन होता है उसे कुल उत्पादन (TP) कहते हैं। सीमान्त उत्पादन (MPP) कुल उत्पादन मे होने वाली वह वृद्धि है जो उत्पादन की एक अतिरिक्त इकाई लगाने से होती है। औसत उत्पादन (APP) कुल उत्पादन मे उत्पादन के साधनो का भाग देने पर प्राप्त होता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। माना कि एक कारखाने में 20 हजार रुपये की पूंजी के साथ श्रम की विभिन्न इकाइयां लगाने से प्राप्त कुल उत्पादन, सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन नीचे की तालिका मे दिया गया है—

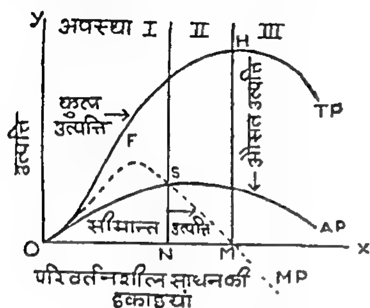
एक कारखाने में बीस हजार रुपये की पूंजी के साथ श्रम की विभिन्न इकाइयों के प्रयोग से प्राप्त होने वाला उत्पादन

श्रम की इकाइयां	कुल उत्पत्ति (T P)	सीमान्त उत्पत्ति (M P P)	औसत उत्पत्ति (A P)	विशेष विवरण
1	4	4	4	प्रथम अवस्था
2	10	6	5	
3	18	8	6	
4	24	6	6	द्वितीय अवस्था
5	28	4	5 6	
6	30	2	5	
7	30	0	4 3	तृतीय अवस्था
8	27	–3	3 3	

उपरोक्त तालिका के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि उत्पत्ति ह्रास नियम की तीन अवस्थाएं होती हैं

प्रथम अवस्था—इस अवस्था में परिवर्तनशील साधन (श्रम) की उत्तरोत्तर इकाइयां बढ़ाने से स्थिर साधनों का अधिक अच्छा प्रयोग होने लगता है जिससे सीमान्त उत्पत्ति एवं औसत उत्पत्ति दोनो बढती हैं तथा कुल उत्पत्ति बढ़ती दर से बढती है। इस अवस्था मे औसत उत्पत्ति सर्वाधिक होती है। उपरोक्त तालिका मे यह अवस्था श्रम की तीसरी इकाई तक है।

द्वितीय अवस्था—इस अवस्था में औसत उत्पत्ति तथा सीमान्त उत्पत्ति दोनों घटती हुई होती हैं। कुल उत्पादन घटती दर से बढ़कर अधिकतम हो जाता है। यह अवस्था उस समय समाप्त होती है जब सीमान्त उत्पत्ति शून्य तथा कुल उत्पादन अधिकतम होता है उपरोक्त तालिका में यह श्रम की सातवीं इकाई लगाने पर होता है।



रेखा चित्र सं. 25·1

तृतीय अवस्था—यह अवस्था उस समय प्रारम्भ होती है जब कुल उत्पादन घटने लगता है तथा सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक हो जाता है। उपरोक्त तालिका में श्रम की आठवीं इकाई लगाने पर ऐसा होता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम की इन तीन अवस्थाओं को इस रेखा चित्र से भी देखा जा सकता है :

उपरोक्त रेखा चित्र सं. 25·1 में OX अक्ष पर परिवर्तनशील साधन की मात्रा तथा OY अक्ष पर उत्पत्ति की मात्रा प्रदर्शित की गई है। इस रेखा चित्र में ON परिवर्तनशील साधन की मात्रा तक प्रथम अवस्था है जब औसत उत्पादन अधिकतम है तथा कुल उत्पादन बढ़ती दर से बढ़ रहा है। N से M मात्रा तक द्वितीय अवस्था है जब औसत उत्पत्ति एवं सीमान्त उत्पत्ति दोनों घटती हैं तथा कुल उत्पादन घटती दर से बढ़ता हुआ अधिकतम हो जाता है। O M मात्रा के पश्चात् तृतीय अवस्था आ जाती है जब कुल उत्पत्ति भी घटने लगती है। सामान्यतया एक उत्पादक द्वितीय अवस्था में ही उत्पादन करता हुआ होता है। वह तृतीय अवस्था में नहीं पहुँचना चाहता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम की मान्यताएं—उत्पत्ति ह्रास नियम निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :

(1) उत्पत्ति के साधनों में इच्छानुसार परिवर्तन किया जा सकता है।

(2) यह नियम तब ही कार्यशील होता है जब एक साधन को स्थिर रख कर अन्य साधनों को परिवर्तनशील रखा जाय अथवा अन्य साधनों को स्थिर रख कर एक साधन को परिवर्तनशील रखा जावे।

(3) परिवर्तनशील साधन की सभी इकाइयां सम-रूप होनी चाहिए।

(4) यह नियम एक सीमा बाद अवश्य लागू होता है अर्थात् हो सकता है प्रारम्भ की अवस्था में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।

(5) कृषि कला में कोई सुधार नहीं हो। अर्थात् उत्पादन की तकनीक एवं संगठन में परिवर्तन न होने पर ही यह नियम लागू होता हो।

(5) इस नियम का सम्बन्ध वस्तु की भौतिक मात्रा से होता है उसके मूल्य से नहीं।

उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने कारण—उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के प्रमुख कारण निम्न लिखित हैं—

(1) **एक या अधिक साधनों का स्थिर होना**—जब उत्पत्ति के एक या कुछ साधनो को स्थिर रख कर उत्पादन किया जाता है तो परिवर्तनशील साधन को स्थिर साधन की ओर कम मात्रा के साथ कार्य करना पडता है जिससे परिवर्तनशील साधन की उत्पादन क्षमता कम हो जाती है।

(2) **उत्पत्ति साधनों का पूर्ण स्थानापन्न न होना**—उत्पादन के साधन एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न नहीं होते हैं अर्थात् उत्पादन के साधनो की प्रतिस्थापन की लोच असीमित नहीं होती है। अत उत्पादन के एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का कुछ सीमा तक ही प्रयोग किया जा सकता है। परिणाम स्वरूप एक सीमा के बाद उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है।

(3) **साधनों की सीमितता**—कुछ साधनों की पूर्ति एक उत्पादक के लिए सीमित होती है अत एक उत्पादक जब किसी साधन की पूर्ति नहीं बढा सकता है तो उत्पादक को उस साधन की सीमित मात्रा से काम चलाना होता है, परिणाम स्वरूप उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है। उदाहरणार्थ कृषि वस्तुओं के उत्पादन की वृद्धि करने के लिए यदि भूमि की मात्रा को नहीं बढाया जा सकता है तो भूमि की सीमित मात्रा के साथ श्रम तथा पूंजी की अधिक इकाइयों का प्रयोग करना होता है, परिणामस्वरूप एक बिन्दु के बाद उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है। इसी तरह उत्पादन के अन्य क्षेत्रों मे भी कुछ साधनो की सीमितता के कारण यह नियम लागू हो जाता है।

(4) **अनुकूलतम सयोग के बाद भी उत्पादन आगे बढ़ाने पर**—उत्पत्ति के अन्य साधनो को स्थिर रख कर जब किसी एक साधन को बढाया जाता है तो एक बिन्दु पर उत्पत्ति के साधनो का एक अनुकूलतम सयोग स्थापित हो जाता है जहा उत्पादन लागत न्यूनतम होती है। इस अनुकूलतम सयोग से उत्पादन आगे बढावे पर लागत बढ जाती है अर्थात् उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील हो जाता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम का क्षेत्र—मार्शल ने उत्पत्ति ह्रास नियम को केवल कृषि तथा भूमि से पदार्थ निकालने वाले उद्योगो मे लागू होना माना था। उनके अनुसार निर्माणकारी उद्योगो मे उत्पत्ति ह्रास नियम लागू नहीं होता है। आधुनिक अर्थशास्त्री मार्शल के दृष्टिकोण से सहमत नही हैं तथा उनका यह विचार है कि उत्पत्ति ह्रास नियम कृषि तथा अन्य सभी उद्योगों मे क्रियाशील होता है। उत्पादन के किसी एक या कुछ साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधनो को परिवर्तनशील रखा जाता है तो अनुकूलतम सयोग के बाद यह नियम अवश्य लागू होता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम का महत्व—उत्पत्ति ह्रास नियम अर्थशास्त्र का एक आधारभूत नियम है। यह अर्थशास्त्र के अनेक नियमो का आधार है। इसका महत्व निम्न तथ्यो से स्पष्ट है—

(1) माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त का आधार—माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त इसी नियम पर आधारित है। माल्थस का सिद्धान्त बताता है कि एक देश में खाद्य सामग्री के उत्पादन में वृद्धि जनसंख्या मे वृद्धि से कम होती है। खाद्य सामग्री में धीमी गति से वृद्धि का कारण उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना है।

(2) रिकार्डो का लगान सिद्धान्त भी इसी पर आधारित है-रिकार्डो के लगान सिद्धान्त के अन्तर्गत लगान के उत्पन्न होने का कारण कृषि मे उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना ही है। इसे गहरी खेती तथा विस्तृत खेती दोनो में देखा जा सकता है। गहरी खेती मे कृषि भूमि को स्थिर रख कर उस पर श्रम एव पूंजी की अधिक इकाइयां लगाकर उत्पादन बढ़ाया जाता है। इसमे प्रारम्भ की इकाइयों की अपेक्षा बाद की इकाइयों की उत्पत्ति घटती जाती है क्योंकि उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियशील होता है। अतः सीमान्त इकाई से पूर्व की इकाइयो से बचत प्राप्त होती है उसी को रिकार्डो ने लगान कहा है। विस्तृत खेती मे श्रम व पूंजी की मात्रा को स्थिर रख कर भूमि की अधिक मात्रा जोती जाती है। इसमे श्रेष्ठ भूमियों के बाद घटिया भूमि इसलिए जोती जाती है कि श्रेष्ठ भूमियो का उत्पादन उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के कारण बढ़ती हुयी जनसंख्या के लिए कम पड़ जाता है।

(3) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का आधार—उत्पादन साधनों के पुरस्कार निर्धारण का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्त सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त भी उत्पत्ति ह्रास नियम पर ही आधारित है। उत्पत्ति ह्रास नियम के कारण ही परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता घटती हुयी होती है।

(4) एक देश अथवा क्षेत्र के लोगों का जीवन स्तर उत्पत्ति ह्रास नियम से प्रभावित होता है—किसी देश अथवा क्षेत्र मे जब जनसंख्या उत्पत्ति के अन्य साधनों की तुलना मे अधिक तेजी से बढ़ती है तो वहां उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने पर संबंधित क्षेत्र के लोगो के जीवन-स्तर मे उत्थान होगा।

(5) आविष्कारों एवं खोजों के लिए प्रेरणादायक—उत्पत्ति ह्रास नियम की कार्यशीलता को स्थगित करने के लिए अनेक नवीन आविष्कार किये गये हैं।

(6) जनसंख्या का प्रवास—एक क्षेत्र में जनसंख्या का दबाव बढ़ने से वहां उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होता है तो जनसंख्या उस क्षेत्र से अन्य क्षेत्रों को चली जाती है।

2. उत्पत्ति वृद्धि नियम
(Law of Increasing Returns)

उत्पत्ति वृद्धि नियम हमें यह बताता है कि किसी समय उत्पत्ति के एक या कुछ साधनों को स्थिर रख कर अन्य साधनों को बढ़ाया जाता है तो इसके परिणाम स्वरूप उत्पादन मे वृद्धि साधनो के अनुपात मे की गई वृद्धि से अधिक होती है। उदाहरण के तौर पर उत्पादन के साधनों मे 10 प्रतिशत वृद्धि करने पर यदि उत्पादन में वृद्धि 10 प्रतिशत से अधिक होती है तो इस उत्पादन वृद्धि की प्रवृत्ति को उत्पत्ति वृद्धि नियम कहते हैं।

मार्शल के अनुसार "श्रम तथा पूंजी में वृद्धि से सामान्यतया संगठन में सुधार होता है जिसके परिणाम स्वरूप श्रम तथा पूंजी की कार्यक्षमता बढ जाती है है।'[4] मार्शल ने उत्पत्ति वृद्धि नियम को केवल निर्माणकारी उद्योगो में होना माना है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री मार्शल के इस दृष्टिकोण को गलत मानते हैं और आधुनिक मत के अनुसार यह नियम कृषि उद्योग तथा उत्पादन के अन्य सभी क्षेत्रो मे लागू होता है।

श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार "जब किसी निश्चित प्रयोग मे किसी उत्पत्ति के साधन की अधिक मात्रा लगाई जाती है तो प्राय संगठन मे सुधार हो जाता है जिससे उत्पत्ति मे साधनो की स्वाभाविक इकाइया (मनुष्य, एकड़ या द्राव्यिक पूंजी) अधिक कुशल हो जाती हैं। ऐसी स्थिति मे उत्पादन म वृद्धि के लिए साधनो की भौतिक मात्रा मे आनुपातिक वृद्धि करने की आवश्यकता नही होती है।"[5]

इस नियम के सम्बन्ध मे श्रीमती जोन रोबिन्सन ने आगे यह भी लिखा है कि 'यह नियम या प्रवृति उत्पत्ति ह्रास नियम की भांति उत्पादन के सभी साधनों के सम्बन्ध मे समान रूप से लागू हो सकती है, परन्तु उत्पत्ति ह्रास नियम के विपरीत यह प्रत्येक स्थिति मे लागू नहीं होती है। कभी साधनो की वृद्धि से कुशलता मे सुधार होगे और कभी नही भी होगे।"

उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि उत्पत्ति वृद्धि नियम उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है। इसके लागू होने का कारण संगठन मे सुधार होना होता है।

नियम की व्याख्या—उत्पत्ति वृद्धि नियम के लागू होने की धारणा के पीछे यह विचार निहित है कि साधनो की अधिक इकाइयो के प्रयोग से संगठन मे सुधार होता है जिससे साधनो की कुशलता बढती है। बडे पैमाने की आन्तरिक एव बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं। स्थिर तथा अविभाज्य साधनो का अधिक अच्छा प्रयोग होता है परिणामस्वरूप कुल उत्पादन बढती हुयी दर से बढता है। सीमान्त एव औसत उत्पादन भी बढते हुये होते हैं। यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब

---

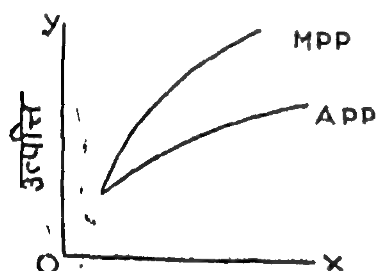
4 "An increase of labour and capital leads generally to improved organisation which increases the efficiency of work of labour and capital"—Marshall

5 "When an increased amount of any factor of production is devoted to a certain use, it is often the case that improvements in organisation can be introduced which will make natural units of the factors (men, acres or money capital), more efficient, so that an increase in out put does not require a proportionate increase in the physical amount of factors"
—Mrs Joan Robinson

तक साधनों का प्रयोग अनुकूलतम संयोग तक नहीं पहुंच जाता। इस अनुकूलतम संयोग के बाद भी साधनों की मात्रा में वृद्धि करने से सीमान्त उत्पत्ति तथा औसत उत्पत्ति दोनों घटने लगती है।

इस नियम को निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

परिवर्तन शील साधन (श्रम व पूंजी) की इकाइयां	कुल उत्पादन (T P)	सीमान्त उत्पादन (M P P)	औसत उत्पादन (A P P)
1	25	25	25
2	60	35	30
3	120	60	40
4	200	80	50
5	300	100	60

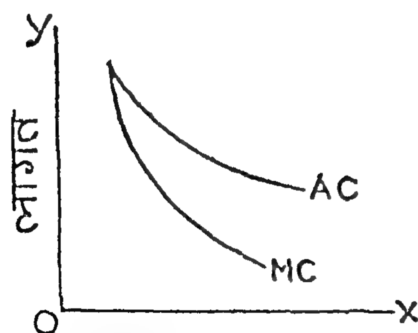


श्रम व पूंजी की इकाइयां
चित्र सं. 25·2

उपरोक्त तालिका के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि परिवर्तनशील साधन (श्रम व पूंजी) की इकाइयां बढ़ाने से सीमान्त एवं औसत उत्पादन बढ़ता है तथा कुल उत्पादन बढ़ती हुयी दर से बढ़ रहा है।

नियम को इस रेखा चित्र से देखा जा सकता है

उपरोक्त रेखा चित्र से स्पष्ट होता है कि श्रम व पूंजी की इकाइयां बढ़ाने पर सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन दोनों बढ़ रहे हैं।



परिवर्तनशील साधन की इकाइयां
चित्र सं. 25·3

यदि इसी नियम को उत्पादन लागतों के रूप में देखा जाय तो यह ज्ञात होता है सीमान्त लागत एवं औसत लागत दोनों घटती जाती हैं। कुल लागत में घटती दर से वृद्धि होती है। लागत वक्रों के रूप में उत्पत्ति वृद्धि नियम जिसे लागत ह्रास नियम भी कहते हैं। रेखा चित्र सं. 25·3 से देखा जा सकता है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम के लागू होने अथवा इसकी क्रियाशीलता के कारण

उत्पत्ति वृद्धि नियम के लागू होने के निम्नलिखित कारण हैं

(1) साधनो की अविभाज्यता—उत्पत्ति के कुछ साधन अविभाज्य होते हैं। उनका प्रयोग सम्पूर्ण इकाई के रूप मे ही किया जा सकता है टुकडो मे नहीं जैसे मशीन। इन अविभाज्य साधनो का प्रारम्भ मे पूरा पूरा उपयोग नही होता है अत उत्पत्ति के दूसरे साधनो की जैसे जैसे मात्रा बढ़ायी जाती है वैसे वैसे इस अविभाज्य साधन का अधिक अच्छा उपयोग होने लगता है। परिणामस्वरूप कुल उत्पादन साधनो की वृद्धि के अनुपात से अधिक तेजी से बढता है।

(2) साधनों की पर्याप्त मात्रा मे पूर्ति—यदि उत्पादन के सभी आवश्यक साधनो की पूर्ति सरलता से पर्याप्त मात्रा मे हो सकती है तो ऐसी स्थिति में साधनो के अनुपात मे आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं। इससे परिवर्तनशील अनुपातों का नियम लागू होगा और एक सीमा तक उत्पादन साधनों की वृद्धि के अनुपात से अधिक तेजी से बढ़ेगा।

(3) बडे पैमाने के उत्पादन की बचतें—अनेक उद्योगो में जब उत्पादन के साधनों को बढाया जाता है तो इससे बडे पैमाने के उत्पादन की आन्तरिक एव बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं जिनसे एक सीमा तक उत्पादन साधनों के अनुपात से अधिक बढ़ता है लागत घटती है और उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम का क्षेत्र एव इसकी क्रियाशीलता की अवधि—उत्पत्ति वृद्धि नियम उत्पादन के कौन-कौन से क्षेत्रों मे लागू होता है? क्या यह नियम अनन्त काल तक अथवा अनिश्चित सीमा तक क्रियाशील हो सकता है? इन प्रश्नो का उत्तर बडा ही सरल है। उत्पत्ति वृद्धि नियम उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र मे लागू हो सकता है। यह नियम उत्पादन के किसी भी क्षेत्र मे उसी समय तक लागू होता है जब तक साधनो के मिलाने का एक अनुकूलतम सयोग प्राप्त नही हो जाता है। यदि इस अनुकूलतम सयोग के बिन्दु के बाद भी उत्पादन चालू रखा जाता है तो उत्पत्ति वृद्धि नियम के स्थान पर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होगा। यदि उत्पत्ति वृद्धि नियम अनन्त सीमा तक लागू होता रहता तो एक छोटे से खेत पर ही समस्त विश्व के लिए खाद्यान्न पैदा करना सभव हो सकता था।

3 उत्पत्ति स्थिरता नियम

(Law of Constant Returns)

उत्पत्ति स्थिरता नियम हमे यह बताता है कि उत्पादन के कुछ साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधनो मे वृद्धि करने पर उत्पत्ति मे उसी अनुपात में वृद्धि होती है जिस अनुपात मे साधनो को बढाया जाता है। यह नियम उत्पत्ति वृद्धि नियम तथा उत्पत्ति ह्रास नियम के बीच के सधिकाल में लागू होता है। यह नियम भले ही थोड़े समय के लिए लागू हो सकता है परन्तु यह उस समय लागू होता है जब उत्पत्ति

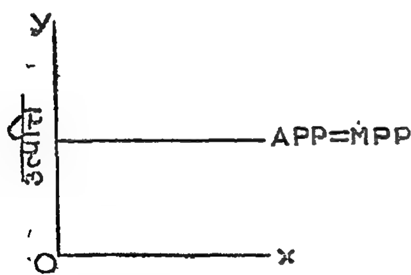
वृद्धि नियम का लागू होना बन्द हो जाता है तथा उत्पत्ति ह्रास नियम का लागू होना प्रारम्भ नहीं होता है।

मार्शल के अनुसार—"उत्पादन के जिस स्तर पर उत्पत्ति वृद्धि तथा उत्पादन ह्रास मान दोनों नियमों के प्रभाव बराबर हो जाते हैं वहां उत्पत्ति स्थिरता नियम लागू होने लगता है।"

मार्शल की इस परिभाषा के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि एक उत्पादक जब उत्पादन बढ़ाने के लिए उत्पादन साधनों में वृद्धि करता है तो उत्पादन एक ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है जहां उत्पत्ति वृद्धि नियम का लागू होना समाप्त हो जाता है तथा उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना प्रारम्भ नहीं होता है उस समय उत्पत्ति स्थिरता नियम कार्यशील होता है अर्थात् उत्पादन में वृद्धि उसी अनुपात में होती है जिस अनुपात में साधनों में वृद्धि की जाती है। इस प्रवृत्ति को उत्पत्ति स्थिरता नियम कहते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

परिवर्तनशील साधन की इकाइयां	कुल उत्पादन (T P)	सीमान्त उत्पादन (M P P)	औसत उत्पादन (A P P)
1	25	25	25
2	50	25	25
3	75	25	25
4	100	25	25
5	125	25	25

उत्पत्ति स्थिरता नियम को नीचे के रेखा चित्र सं. 25·4 से समझाया जा सकता है :



चित्र सं. 25.4

बराबर के रेखा चित्र में परिवर्तनशील साधन की मात्रा में वृद्धि करने पर सीमान्त एवं औसत उत्पादन स्थिर रहता है अर्थात् उत्पादन में वृद्धि साधनों के अनुपात में होती है।

इसी नियम को लागतों के रूप में देखें तो ज्ञात होता है कि औसत उत्पत्ति एवं सीमान्त उत्पादन दोनों समान होने से उत्पादन की औसत लागत एवं सीमान्त लागत भी समान रहती हैं।

प्रश्न एवं संकेत

1. 'उत्पत्ति ह्रास नियम' की उचित उदाहरण देते हुए व्याख्या कीजिए और इस नियम की सीमाओं को समझाइये।

(संकेत—उत्पत्ति ह्रास नियम की परिभाषा एव अर्थ लिखकर इसे उदाहरण एव रेखा चित्र से स्पष्ट कर दें। इसके बाद इसके लागू होने के कारण बता कर इसकी सीमाएं लिखें।)

2. 'उत्पत्ति ह्रास नियम' की कार्यशीलता को रेखा चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए। क्या यह नियम केवल कृषि मे ही लागू होता है ?

(संकेत—उत्पत्ति ह्रास नियम की परिभाषा एव अर्थ स्पष्ट करके इसका रेखा चित्र दें। इसके बाद बतलावें कि उत्पत्ति के प्रत्येक क्षेत्र में यह नियम कार्यशील हो सकता है चाहे वह कृषि क्षेत्र हो या उत्पादन का अन्य क्षेत्र। यह लिखने के बाद इस नियम के लागू होने के कारण सक्षेप में बतला दें।)

3 उत्पत्ति वृद्धि नियम से आप क्या समझते हैं ? इसकी क्रियाशीलता के कारण बतलाइये।

(संकेत—सर्वप्रथम उत्पत्ति वृद्धि नियम की परिभाषा एव अर्थ आवश्यक उदाहरण व रेखा चित्रो की सहायता से स्पष्ट करें तथा बाद में इस नियम के लागू होने के कारण बतला दें।)

4. "वृद्धि तथा स्थिरता नियम केवल उत्पत्ति ह्रास नियम के ही अस्थायी रूप हैं।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।

(संकेत—उत्पत्ति ह्रास नियम की आधुनिक व्याख्या देकर निष्कर्ष निकालें कि उत्पत्ति वृद्धि नियम तथा उत्पत्ति स्थिरता नियम उत्पत्ति ह्रास नियम के ही अस्थायी रूप हैं अन्त मे उत्पत्ति ह्रास नियम ही लागू होता है।)

26 पैमाने के प्रतिफल
(Returns to Scale)

पिछले अध्याय में हम इस बात का अध्ययन कर चुके हैं कि एक फर्म द्वारा अल्पकाल में कुछ साधनों को स्थिर रख कर अन्य साधनों में परिवर्तन करने पर उत्पत्ति पर जो प्रभाव पड़ते हैं वे उत्पत्ति के नियमों के नाम से पुकारे जाते हैं। इस अध्याय में हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि एक फर्म द्वारा दीर्घकाल में जब उत्पत्ति के सभी साधनों में एक से ही अनुपात में परिवर्तन किया जाता है तो उत्पत्ति पर कैसा प्रभाव पड़ता है। दीर्घकाल में उत्पत्ति के सभी साधनों में समान अनुपात में वृद्धि की जाती है तो उससे उत्पत्ति पर पड़ने वाले प्रभावों को पैमाने के प्रतिफल के नाम से पुकारा जाता है। पैमाने के प्रतिफल तीन होते हैं।

(1) पैमाने के बढ़ते प्रतिफल (Increasing Returns to Scale)—जब उत्पादन के साधनों में जिस अनुपात में परिवर्तन किया जाता है (मानाकि साधनों में 10% वृद्धि की जाती है) उससे अधिक अनुपात में उत्पत्ति में वृद्धि हो (मानाकि उत्पत्ति में वृद्धि 15% की होती हैं) तो इसे बढ़ते पैमाने के प्रतिफल कहते हैं। **(2) पैमाने के समता प्रतिफल**—जब उत्पादन के साधनों में जिस अनुपात में वृद्धि की जाय उसी अनुपात में उत्पादन में वृद्धि हो तो इसे पैमाने के समता प्रतिफल के नाम से जाना जाता है। उदाहरणार्थ उत्पादन के साधनों में 10% वृद्धि करने पर उत्पादन में भी 10% वृद्धि हो। **(3) पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल**—जब उत्पादन के साधनों में जिस अनुपात में वृद्धि की जाय उससे कम अनुपात में उत्पत्ति में वृद्धि हो तो यह पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल की स्थिति होगी।

पैमाने के प्रतिफलों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बातें या मान्यताएं—

(1) पैमाने के प्रतिफलों का सम्बन्ध केवल दीर्घकाल से होता है।

(2) पैमाने के प्रतिफल तभी लागू होते हैं जब उत्पादन के सभी साधनों में एक ही अनुपात में परिवर्तन किया जाता है उदाहरणार्थ एक श्रमिक व पूंजी की एक इकाई के स्थान पर 2 श्रमिक तथा पूंजी की 2 इकाइयां काम में लें। अर्थात् सभी साधनों की मात्रा बढ़ाकर दुगनी कर दी जाय या तिगुनी कर दी जाय आदि।

(3) तकनीकी परिवर्तन नहीं होते हैं।

(4) पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मान ली जाती है जिससे फर्म के लिए उत्पादन साधनों का मूल्य स्थिर तथा दिया हुआ होता है।

(5) उत्पादन की गणना मात्रा मे की जाती है।

उपरोक्त मान्यताओ के आधार पर हम पैमाने के तीनो प्रकार के प्रतिफलों का अध्ययन कर सकते हैं।

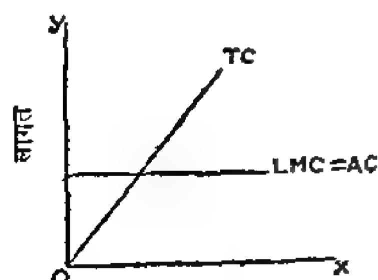
पैमाने के समान प्रतिफल (Constant Returns to Scale)—जब उत्पादन के साधनो मे की गई वृद्धि से ठीक उसी अनुपात मे उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होती है तो इसे हम पैमाने के समान प्रतिफल की स्थिति कहते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है।

उदाहरण—

श्रम + पूंजी की इकाइयां अथवा उत्पत्ति का पैमाना	कुल उत्पत्ति (इकाइयां)	कुल लागत (रु)	औसत लागत (रु)	सीमान्त लागत (रु.)
1 + 1	5	10	2	2
2 + 2	10	20	2	2
4 + 4	20	40	2	2

उपरोक्त उदाहरण मे श्रम की एक इकाई का मूल्य 5 रुपये तथा पूंजी की एक इकाई का मूल्य 5 रुपये अर्थात् पूंजी की एक इकाई व एक श्रम की इकाई का मूल्य 10 रु मान लिया गया है।

अब उपरोक्त तालिका को देखें तो ज्ञात होता है कि श्रम की एक इकाई तथा पूंजी की एक इकाई 5 वस्तुओं का उत्पादन करती हैं। अब श्रम तथा पूंजी की इकाइयो को बढा कर दुगुना करने पर उत्पादन भी दुगना अर्थात् 5 से 10 इकाइयां हो जाता है फिर श्रम तथा पूंजी बढाकर चार गुना करने पर उत्पादन भी चार गुना होता है। पैमाने के समान प्रतिफल की दशा मे साधनो मे जिस अनुपात में वृद्धि की जाती है कुल लागत उसी अनुपात मे बढती है जबकि औसत एव सीमान्त लागत समान रहती हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जिस अनुपात में साधनो मे वृद्धि की जाती है उसी अनुपात में उत्पादन मे वृद्धि हो जाती है। पैमाने के समान प्रतिफल के समय लागतो की जो प्रवृत्ति है उसे

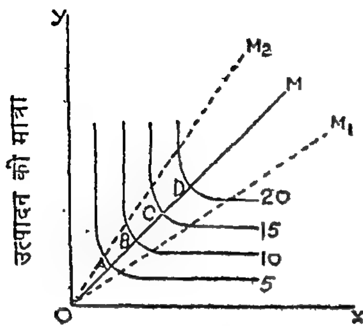


उत्पादन की मात्रा

चित्र स 26 1

रेखा चित्र द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है। रेखा चित्र स 26 1 पर सीमान्त

लागत एवं औसत लागत दोनों एक क्षैतिज रेखा के रूप में हैं जबकि कुल लागत वक्र समान गति से बढ़ता हुआ वक्र है।



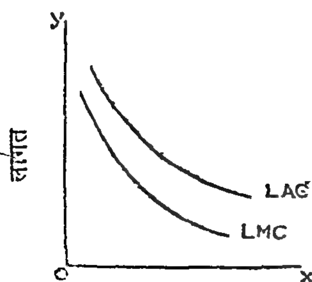
श्रम की इकाइयां
चित्र सं. 26·2

पैमाने के समान प्रतिफल की दशा को समोत्पत्ति वक्रों (Iso-Product Curves) व पैमाने की रेखा (Scale Line) द्वारा भी दिखाया जा सकता है। चित्र सं. 26·2 में यही विधि अपनाई गई है।

इस रेखा चित्र में OX अक्ष पर श्रम की इकाइयां OY अक्ष पर पूंजी की मात्रा ली गई है। OM पैमाने के विस्तार की रेखा है। चित्र में पैमाने के विस्तार की रेखा OM पर OA = AB = BC = CD होने से स्पष्ट होता है कि पैमाने के समता प्रतिफल मिल रहे हैं। पैमाने के विस्तार की रेखा OM की बजाय OM_1 अथवा OM_2 होने से भी इस स्थिति में अन्तर नहीं पड़ता तथा पैमाने के समान प्रतिफल प्राप्त होते हैं।

पैमाने के बढ़ते प्रतिफल (Increasing Returns to Scale) उत्पत्ति के साधनों में जिस अनुपात में वृद्धि की जाती है उससे अधिक अनुपात में उत्पत्ति में वृद्धि होती है तो इसे पैमाने के बढ़ते प्रतिफल के नाम से पुकारा जाता है। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

श्रम + पूंजी की इकाइयां अथवा उत्पत्ति का पैमाना	कुल उत्पत्ति (इकाइयां)	कुल लागत (रु.)	औसत लागत (रु.)	सीमान्त लागत (रु.)
1 + 1	5	10	2	2
2 + 2	12	20	$1\frac{2}{3}$	$1\frac{3}{7}$
4 + 4	32	40	$1\frac{1}{4}$	1

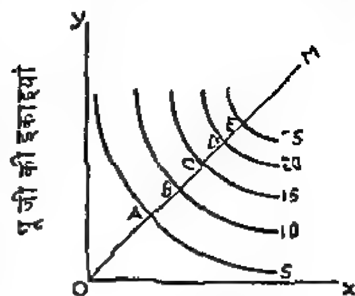


उत्पादन की मात्रा
चित्र सं. 26·3

इस उदाहरण में भी श्रम तथा पूंजी की प्रति इकाई लागत 5 रुपये माना गया है। ऊपर दी गई तालिका में औसत एवं सीमान्त दोनों लागतें घटती हुई हैं। इस तथ्य को रेखाचित्र पर भी व्यक्त किया जा सकता है।

इस चित्र सं. 26·3 में पैमाने के बढ़ते प्रतिफल की कार्यशीलता के कारण L A C तथा LMC दोनों घटते वक्र हैं।

पैमाने के बढते प्रतिफल की दशा को समोत्पत्ति वक्रो तथा पैमाने की रेखा की सहायता से भी स्पष्ट किया जा सकता है। रेखा चित्र स 26 4 मे OM पैमाने की रेखा को समोत्पत्ति वक्र A B, C, D तथा E बिन्दु पर काटती हैं इस रेखा चित्र मे O से E तक बढते पैमाने का प्रतिफल लागू हो रहा है क्योकि उत्पत्ति की समान वृद्धि के लिए दोनो साधनो की कम कम इकाइयो की आवश्यकता होती है। रेखा में OA दूरी से AB की दूरी कम है। इसी प्रकार B C को A B से, CD की BC से



चित्र स 26 4

तथा DE की C D से दूरी कम है। ये इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं कि उत्पत्ति की समान वृद्धि साधनो की कम कम वृद्धि द्वारा प्राप्त की जा सकती है अर्थात् पैमाने के बढते प्रतिफल लागू होते हैं।

पैमाने के बढते प्रतिफल के लागू होने के कारण—प्रो० स्टिगलर ने पैमाने के बढते प्रतिफल के लागू होने के चार कारण बताये हैं।

(1) अतिरिक्त क्षमता जिसे टाला नहीं जा सकता—उत्पादन के क्षेत्र मे अनेक बार अतिरिक्त क्षमता विद्यमान रहती है जिसके कारण उत्पादन में समान वृद्धि करने के लिए इससे कम अनुपात मे साधनो के बढाने की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए एक रेल मार्ग मे एक सुरंग एक दिये हुये यातायात के लिए आवश्यक होती है वह उससे दुगने-तिगुने यातायात के सचालन के लिए भी पर्याप्त रहती है।

(2) साधनों का बड़े पैमाने पर क्रय सस्ता—कई साधनो की इकाइयाँ अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर खरीदी जाने पर सस्ती पडती हैं। बड़े पैमाने पर क्रय के सौदो पर कमीशन तथा कटौतियां अधिक मिलती हैं। कच्चा माल, उपकरण व साज-समान बड़े पैमाने पर क्रय करने मे सस्ते पडते हैं।

(3) विशिष्टीकरण के लाभ—उत्पादन का पैमाना बढाकर उत्पादन कार्य मे विशिष्टीकरण के सिद्धान्त को लागू किया जा सकता है। विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट प्रक्रिया अपनायी जा सकती है। श्रम विभाजन करके श्रमिको को दक्षता के अनुसार कार्य दिया जा सकता है। विशिष्टीकरण से उत्पादन साधनो की कुशलता बढती है।

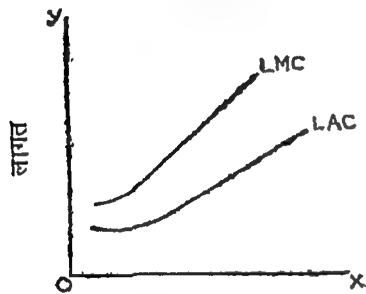
(4) आन्तरिक एव बाह्य बचतें—उत्पादन के पैमाने के बढने से आन्तरिक एव बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं। इन बचतो की प्राप्ति से बढते पैमाने के प्रतिफल प्राप्त होते हैं। आतरिक सगठन मे सुधार से विशेष फर्म को मिलने वाले लाभ आन्तरिक बचतें कहलाती हैं। बाह्य बचतें वे होती है जो सभी फर्मों को मिलती हैं। आन्तरिक एव बाह्य बचतो का विस्तृत अध्ययन अलग से पिछले एक अध्याय मे किया जा चुका है।

पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल (Diminishing Returns to Scale)—जब उत्पादन के साधनों में की गई वृद्धि से कम अनुपात में उत्पत्ति में वृद्धि होती है तो इसे पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल कहते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है जैसे उत्पादन के साधनों में 20 प्रतिशत वृद्धि की जाय और इससे उत्पादन में 15 प्रतिशत वृद्धि हो तो यह पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल की दशा होगी। पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल को तालिका तथा रेखा चित्रों की सहायता से स्पष्ट किया गया है।

उदाहरण—

श्रम व पूंजी की इकाइयां या उत्पादन का पैमाना	कुल उत्पत्ति (इकाइयां)	कुल लागत (रु.)	औसत लागत (रु.)	सीमान्त लागत (रु.)
1 + 1	5	10	2	2
2 + 2	9	20	$2\frac{2}{9}$	$2\frac{1}{2}$
4 + 4	14	40	$2\frac{6}{7}$	4

इस उाहरण में भी प्रति इकाई श्रम एवं पूंजी का मूल्य 5 रुपये माना है। उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि जिस अनुपात में साधनों में वृद्धि की जा रही है उससे कम अनुपात में उत्पत्ति में वृद्धि हो रही है जैसे श्रम एवं पूंजी की इकाइयां 1 + 1 से बढ़ा कर दुगनी 2 + 2 इकाइयां कीं तो कुल उत्पत्ति 5 से 10 नहीं हुयी बल्कि 9 ही हुई। इसी तरह 2 + 2 श्रम व पूंजी की इकाइयों को 4 + 4 श्रम व पूंजी की इकाइयां किया तो उत्पादन 9 से बढ़ कर 18 नहीं बल्कि 14 ही हुआ। ह्रास मान प्रतिफल के लागू होने के कारण औसत लागत एवं सीमान्त लागत दोनों बढ़ती हुयी हैं।

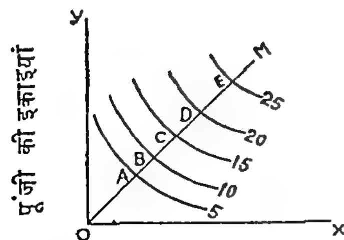


रेखा चित्र सं. 26·5

इस तथ्य को रेखा चित्र 26·5 से स्पष्ट किया गया है।

उपरोक्त रेखा चित्र में ह्रासमान प्रतिफल के लागू होने के कारण दीर्घकालीन सीमान्त एवं दीर्घकालीन औसत लागत बढ़ती हुयी हैं।

इसी तथ्य को समोत्पत्ति वक्रों तथा पैमाने की रेखा द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है।



चित्र सं.26·6

उपरोक्त रेखा चित्र स० 26 6 मे O X अक्ष पर श्रम की इकाइया तथा OY अक्ष पर पूंजी की इकाइयाँ ली गयी हैं तथा OM पैमाने की रेखा पर DE की दूरी CD से अधिक है, CD की दूरी BC से अधिक है तथा BC की दूरी AB से अधिक है अर्थात् समान अनुपात मे उत्पादन वृद्धि के लिए साधनो मे अधिक अनुपात मे वृद्धि की आवश्यकता होती है।

पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल उस समय लागू होता है जब बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताए प्राप्त होना समाप्त हो जाता है तथा बड़े पैमाने के उत्पादन में प्रबन्ध की कठिनाइया उत्पन्न होने से अमितव्ययिताए प्राप्त होने लगती हैं। एक सीमा के बाद बड़े उपक्रम का प्रबन्ध करना कठिन हो जाता है। विभिन्न विभागों के कार्यों में समन्वय नही हो पाता, निर्णय लेने एव लागू करने में देरी होती है तथा अन्य अनेक प्रकार की कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं जिनके कारण पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल की स्थिति आ जाती है।

प्रश्न एव सकेत

1. पैमाने के प्रतिफलों का अर्थ स्पष्ट करते हुये विभिन्न पैमाने के प्रतिफलो के लागू होने के कारण बताइये।

(सकेत—सर्व प्रथम लिखें की दीर्घकाल म उत्पत्ति के सभी साधनो में समान अनुपात से वृद्धि करने पर उत्पत्ति पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या पैमाने के प्रतिफलो द्वारा की जाती है। ये तीन होते हैं। फिर पैमाने के तीनो प्रतिफलो को रेखा चित्रो की सहायता से स्पष्ट करदें। प्रत्येक पैमाने के प्रतिफल की व्याख्या करते समय उसके लागू होने के कारण भी दे दें।)

भाग--4
विनिमय
(EXCHANGE)

27. बाजार तथा बाजारों के रूप
28. लागत विश्लेषण
29. आगम विश्लेषण
30. मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त
31. मूल्य निर्धारण में समय तत्व
32. फर्म एवं उद्योग का साम्य–सामान्य विश्लेषण
33. पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म एवं उद्योग का साम्य
34. एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण
35. विभेदात्मक एकाधिकार
36. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण

27 बाजार
(Market)

प्राय वस्तुओ को खरीदने के लिये हमे बाजार जाना पडता है। इस प्रकार नित्य प्रति की भाषा मे 'बाजार' का अर्थ उस स्थान विशेष या क्रय-विक्रय केन्द्र से लगाया जाता है जहा पर एक या एक से अधिक वस्तुओं के क्रेता-विक्रेता आमने-सामने उपस्थित होकर क्रय-विक्रय के सौदे करते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र मे बाजार का अर्थ बडा व्यापक है। किसी वस्तु के बाजार के लिये यह आवश्यक नही कि उसके क्रेता-विक्रेता सौदा करने के लिये आमने-सामने उपस्थित हो। वे दलाल, गुमाश्तों, तार, टेलीफोन, चिट्ठी-पत्री आदि द्वारा क्रय-विक्रय के सौदे कर सकते हैं, और यह भी आवश्यक नहीं कि माल का जहा सौदा हो वहा सुपुर्दगी भी हो जाय। अत *बाजार का सम्बन्ध किसी स्थान विशेष से* होना आवश्यक नही है।

बाजार

अर्थ—वह क्षेत्र जिसमे किसी वस्तु के क्रेता विक्रेता आपास में सौदे कर सकते हैं बाजार कहलाता है।

विशेषताए

(1) एक क्षेत्र, (2) एक वस्तु, (3) क्रेता विक्रेता, (4) एक मूल्य, तथा (5) प्रतिस्पर्धा।

वर्गीकरण

I—क्षेत्रीय बाजार
- (i) स्थानीय
- (ii) प्रादेशिक
- (iii) राष्ट्रीय
- (iv) अन्तर्राष्ट्रीय

II—समय बाजार
- (i) अति अल्पकालीन
- (ii) अल्पकालीन
- (iii) दीर्घकालीन
- (iv) अति दीर्घकालीन

III—प्रतियोगिता के आधार पर
- (i) पूर्ण बाजार
- (ii) अपूर्ण बाजार

अर्थ शास्त्र में बाजार का अर्थ—समय समय पर विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने 'बाजार' की जो परिभाषायें दी है उनमे से कुछ का उल्लेख यहा किया जा रहा। प्रो मार्शल ने कूर्नो (Cournot) तथा जेवन्स (Jevons) द्वारा दी गई बाजार की परिभाषाओं की चर्चा की है।

कूर्नो के शब्दों में, "अर्थशास्त्री बाजार शब्द का तात्पर्य उस स्थान विशेष से नहीं लगाते जहा वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता है, वरन् उस समस्त क्षेत्र से लगाते हैं जहा क्रेता-विक्रेता परस्पर व्यवहार में इतने स्वतन्त्र होते हैं कि किसी वस्तु के दाम

IV–कार्यात्मक बाजार :
(i) मिश्रित या सामान्य
(ii) विशिष्ट
(iii) नमूनों का
(iv) श्रेणी या प्रमाप

V–औचित्य के आधार पर :
(i) खुला या उचित
(ii) काला या चोर

बाजार का विस्तार :
प्रभावित करने वाली बातें :

I–वस्तु के गुण :
(i) मांग का स्वभाव, (ii) टिकाऊपन, (iii) वहनीयता,
(iv) पहिचानने योग्य, (v) नमूने या ग्रेड, (vi) पर्याप्त पूर्ति,
(vii) स्थानापन्न वस्तुओं की संख्या तथा
(viii) विविध उपयोग ।

सुगमता तथा शीघ्रता के साथ एक समान हो जाते हैं ।"[1]

जैवन्स के अनुसार, "बाजार का आशय व्यक्तियों के उस समूह से होता है जिनमें घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध होते है तथा जो किसी वस्तु में बड़े पैमाने पर सौदे करते है ।"[2]

केअरनक्रास के अनुसार–"अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ सामान्यतः क्रेता-विक्रेताओं के मध्य किसी एक साधन अथवा उत्पत्ति के लेन-लेन के तन्त्र से होता है ।"[3]

बेन्हम के शब्दों में, "कोई क्षेत्र, जिसमें क्रेता-विक्रेताओं में आपस में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि बाजार के एक भाग में पाये जाने वाले मूल्य दूसरे भागों में भुगताये गये मूल्यों को प्रभावित करते हैं, बाजार कहलाता है ।"[4]

1. "Economists understand by the term market, not any particular market place in which things are bought and sold, but the whole of any region in which buyers and sellers are in such free intercourse with one another that the prices of the same goods tend to equality easily and quickly."

—Cournot.

2. "....but the word has been generalised, so as to mean any body of persons who are in intimate business relations and carry on extensive transactions in any commodity."

—Jevons.

3. "The market in Economics is simply the net work of dealings in any factor or product between buyers and sellers."

— Cairncross

4. "Any area over which buyers and sellers are in such close touch with one another that the prices obtainable in one part of the market affect the prices paid in other parts, is called a market." —Benham

II–देश की आन्तरिक दशायें
(i) शान्ति व सुरक्षा,
(ii) परिवहन व संचार,
(iii) कुशल तथा ईमानदार व्यापारी,
(iv) कुशल मुद्रा, बैंकिंग एवं साख,
(v) विपणन व्यवस्था,
(vi) श्रम विभाजन सीमा, तथा
(vii) सरकारी नीतियाँ ।

प्रो सिजविक (Sidgwick) के अनुसार, "बाजार ऐसे व्यापारिक सम्बन्धों वाला जन-समूह होता है कि प्रत्येक व्यक्ति आसानी से उन दरों से अपने आपको परिचित रख सकता है जिन पर दूसरे व्यक्तियों द्वारा समय समय पर किन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं का आदान प्रदान किया जाता है।'[5]

प्रो जे के मेहता ने बाजार के सन्दर्भ में एक नया दृष्टिकोण अपनाया है । उनके मतानुसार, 'बाजार शब्द एक ऐसी अवस्था को सूचित करता है जिसमें किसी वस्तु की माँग उस स्थान पर होती है, जहाँ उसे क्रय-विक्रय हेतु प्रस्तुत किया जाता है।"[6]

स्टोनियर तथा हेग ने बाजार के सम्बन्ध में मत व्यक्त करते हुए कहा है कि, "अर्थशास्त्री बाजार का अर्थ एक ऐसे संगठन से लगाते हैं जिसमें किसी वस्तु के क्रेता तथा विक्रेता एक दूसरे के निकट सम्पर्क में रहते हैं।"[7]

विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा बाजार के सम्बन्ध में दी गई उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बाजार का तात्पर्य किसी स्थान विशेष से न होकर उस तमाम क्षेत्र से होता है जिसमें क्रेता विक्रेता किसी भी प्रकार से आपस में सौदे करने में समर्थ हों तथा उस वस्तु का मूल्य सभी स्थानों पर एक समान हो ।

बाजार की विशेषतायें (Characteristics of a Market)—बाजार की परिभाषा के आधार पर इसकी निम्न लिखित विशेषतायें हैं —

(1) एक क्षेत्र का होना—बाजार कहलाने के लिये क्रेता–विक्रेताओं का किसी स्थान विशेष पर एकत्रित होना आवश्यक नहीं । बाजार वह समस्त क्षेत्र होता है जिसमें क्रेता-विक्रेता डाक-तार, टेलीफोन, दलाल तथा अन्य मध्यस्थों के माध्यम से सौदे करने में समर्थ होते हैं ।

---

5. "A market is a body of persons in such commercial relations that each can easily acquaint himself with the rates at which certain kinds of exchange of goods and services are from time to time made by the other" —Sidgwick

6 "The word market signifies a state in which a commodity has a demand at a place where it is offered for sale" —J K Mehta

7 "... by a market economists mean any organisation whereby buyers and sellers of a good are kept in close touch with each other" —Stonier and Hague

2. किसी वस्तु का होना—बाजार होने के लिये किसी वस्तु विशेष का होना भी आवश्यक है, जिसमें क्रेता विक्रेता सौदा कर सकें। प्रो० बेन्हम के अनुसार "प्रत्येक किस्म, जिसकी विशिष्ट मांग हो, वास्तव में एक पृथक वस्तु होती है।........ दो इकाइयां परस्पर पूर्ण प्रतिस्थापनीय न हों तो वास्तव में वे एक ही वस्तु नहीं होती।" अर्थशास्त्र में प्रत्येक वस्तु के लिये एक अलग बाजार माना जाता है, जैसे—सर्राफा बाजार, वस्त्र बाजार, रुई बाजार आदि।

(3) क्रेता विक्रेताओं का होना—क्रेता-विक्रेताओं के मध्य ही किसी वस्तु के सौदे होते हैं। अतः किसी एक वर्ग की अनुपस्थिती में सौदे सम्पन्न नहीं हो सकते।

(4) एक ही मूल्य का होना—किसी बाजार में क्रेता विक्रेताओं के मध्य इतनी प्रतिस्पर्धा होती है कि उस बाजार क्षेत्र में एक वस्तु का एक ही मूल्य होता है। कहा भी जाता है कि "वस्तु का एक ही स्पर्द्धात्मिक मूल्य बाजार की विशेपता तथा उसकी कसौटी होती है।"

(5) पूर्ण प्रतिस्पर्धा का होना—बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अभाव में किसी वस्तु का एक मूल्य संभव नहीं। इसीलिये प्रो० कूर्नो ने पूर्ण प्रतिस्पर्धा को बाजार की एक आवश्यक विशेषता बताया है।

कुछ अर्थशास्त्रियों के मत में 'क्रेता-विक्रेताओं को मूल्य का पूर्ण ज्ञान होना' भी बाजार की एक विशेषता है। परन्तु ऐसा होना संभव नहीं। बाजार में एकाधिकार की स्थिति में पूर्ण प्रतिस्पर्धा भी संभव नहीं होती। इस प्रकार बाजार की केवल चार विशेपतायें होती हैं। (एक क्षेत्र, एक वस्तु, क्रेता-विक्रेताओं की उपस्थिति तथा एक मूल्य)।

बाजारों का वर्गीकरण (Classification of markets)—बाजारों को क्षेत्र, समय, प्रतियोगिता, कार्य तथा औचित्य के आधार पर पांच वर्गों में बांटा जा सकता है।

I. **क्षेत्रीय बाजार**—क्षेत्र के आधार पर बाजार चार प्रकार के हो सकते हैं :-

(i) **स्थानीय बाजार (Local Markets)**—कुछ वस्तुएं वजन में भारी तथा कुछ वस्तुएं शीघ्र सड़ने गलने वाली होती हैं, जैसे ईंटें पत्थर, दूध, दही, साग, सब्जी। इनकी मांग किसी स्थान विशेष के क्रेता-विक्रेताओं की होती है। ऐसी वस्तुओं का बाजार स्थानीय बाजार कहलाता है।

(ii) **प्रादेशिक बाजार (Regional Market)**—कुछ वस्तुओं की मांग किसी क्षेत्र विशेप तक सीमित होती है। जैसे लाख की चूड़ियां जिनका बाजार प्रायः राजस्थान तक ही सीमित है। इनका बाजार प्रादेशिक बाजार कहलाता है।

---

8. "Each variety is really a separate commodity for which there is a distinct demand two units do not really belong to the same commodity, unless they are perfect substitutes."—Benham.

(iii) राष्ट्रीय बाजार (National Market)—कुछ वस्तुओं की माग किसी देश या राष्ट्र तक ही सीमित होती है जैसे गाधी टोपी, धोतिया, चूडिया, साडिया आदि का प्रयोग भारत म ही होता है इनका बाजार राष्ट्रीय होता है।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय बाजार (International Market)—कुछ वस्तुओं की माग समस्त विश्व की होती है। इनका क्रय विक्रय समस्त विश्व मे होता है जैसे सोना, चादी, रुई, खाद्यान्न वस्त्र, दवाइया आदि। इनका बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होता है।

II समय बाजार (Time Markets)—समय के आधार पर बाजारो को चार भागो मे बाटा जा सकता है —

(i) दैनिक या अति अल्पकालीन बाजार (Daily or Very Short Period Market)—अति अल्पकालीन बाजार म वस्तुओ की पूर्ति गोदामों के स्टाक तक सीमित होती है। समयाभाव के कारण वस्तु की पूर्ति को परिवर्तित माग के अनुसार घटाया-बढाया नही जा सकता अत मूल्य निर्धारण म माग तत्व का प्रमुख हाथ होता है माग अधिक होने पर मूल्य अधिक तथा कम होने पर मूल्य कम रहता है। अति अल्पकालीन मूल्य 'बाजार मूल्य' कहलाता है। शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओ यथा दूध, दही, साग सब्जी आदि का बाजार प्राय अति अल्पकालीन बाजार होता है।

(ii) अल्पकालीन बाजार (Short Period Market)– अल्पकालीन बाजार में उत्पादन क्षमता सीमित[9] होने के कारण पूर्ति को उत्पादन क्षमता तक ही बढाया जा सकता है। उत्पादक के पास इतना समय नही होता कि वह माग के अनुसार सयत्र तथा उत्पादन की अन्य मशीनरी या तत्र को बदल सके। इस कारण उत्पादन में एक सीमा तक ही वृद्धि की जा सकती है। अत मूल्य निर्धारण में माग तत्व का प्रमुख हाथ रहता है माग मे वृद्धि या कमी से मूल्य म वृद्धि या कमी होगी। ये परिवर्तन अति अल्पकालीन बाजार की तुलना मे कम होग। इस बाजार का मूल्य 'अल्पकालीन मूल्य' या 'अल्पकालीन सामान्य मूल्य' कहलाता है।

(ii) दीर्घकालीन बाजार (Long Period Market)—दीर्घकालीन बाजार मे उत्पादक के पास इतना समय होता है कि वह पूर्ति को न केवल विद्यमान साधनों की क्षमता तक ही बढा सकता है वरन् वह सयत्र तथा उत्पादन के पैमाने को भी बढा सकता है। इस प्रकार परिवर्तित माग क अनुसार पूर्ति को घटाया बढाया जा सकता है। अत मूल्य निर्धारण म माग की तुलना म पूर्ति तत्व का प्रमुख हाथ होता है। इस अवधि के मूल्य को दीर्घकालीन मूल्य', 'सामान्य मूल्य' (Normal Price) या 'लागत मूल्य' कहते हैं।

(iii) अति दीर्घकालीन बाजार या काल निरपेक्ष बाजार (Very Long Period Market or Secular Market) —अति-दीर्घकालीन बाजार मे माग तथा पूर्ति दोनो मे ही परिवर्तन सभव होते हैं। एक ओर जनसख्या मे वृद्धि तथा

---

9 In the short period, the productive capacity and not the output, is constant

उपभोक्ताओं की रुचि तथा फैशनों में परिवर्तनों के कारण मांग में परिवर्तन होते रहते हैं तो दूसरी ओर उत्पादकों के पास इतना समय होता है कि वे उत्पादन करने वाले साधनों को ही नहीं बढ़ा सकते वरन् वे जनसंख्या तथा श्रम की कार्यक्षमता बढ़ाकर श्रम की पूर्ति बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार मांग व पूर्ति में समन्वय की प्रक्रिया चलती रहती है। इस बाजार का मूल्य 'अति-दीर्घकालीन मूल्य' या 'काल निरपेक्ष मूल्य' कहलाता है।

III प्रतियोगिता के आधार पर बाजार (Markets on the Basis of Competition)—प्रतियोगिता के आधार पर बाजार दो प्रकार के हो सकते हैं—

(i) **पूर्ण बाजार** (Perfect Market)—पूर्ण बाजार में क्रेता-विक्रेताओं तथा स्वयं क्रेता और विक्रेताओं में आपस में प्रतिस्पर्धा होती है। अतः इन्हें 'पूर्ण बाजार' अथवा 'पूर्ण प्रतियोगिता बाजार' कहते हैं। पूर्ण प्रतियोगिता बाजार तभी संभव हो सकते हैं जब (अ) क्रेता-विक्रेताओं की संख्या बहुत अधिक हो, (ब) इन्हें बाजार का पूर्ण ज्ञान हो, (स) वस्तु समरूप हो, तथा (द) यातायात व संचार सुविधा पर्याप्त मात्रा में हों। इस प्रकार ऐसे बाजार में मूल्य एक होता है।

(ii) **अपूर्ण बाजार** (Imperfect Market)—पूर्ण प्रतियोगिता के अभाव में बाजार अपूर्ण बाजार कहलाता है। ऐसे बाजार में क्रेता-विक्रेताओं की संख्या कम होती है, इन्हें बाजार का ज्ञान नहीं होता तथा वस्तु समरूप भी नहीं होती। फलस्वरूप वस्तु का एक ही मूल्य नहीं होता।

IV कार्यात्मक बाजार (Functional Market)—बाजारों के द्वारा किये जाने वाले कार्यों के आधार पर बाजार निम्न प्रकार के हो सकते हैं—

(i) **मिश्रित या सामान्य बाजार** (Mixed or General Market)—इस प्रकार के बाजारों में अनेक प्रकार की वस्तुएं खरीदी या बेची जाती हैं। नगरों में बाजार इसी प्रकार के होते हैं।

(ii) **विशिष्ट बाजार** (Specialised Market)—विशिष्ट बाजार में एक ही प्रकार की वस्तु का क्रय-विक्रय होता है, जैसे सब्जी-मंडी, अनाज-मंडी, सर्राफा बाजार, कपड़ा बाजार, पुस्तकों का बाजार आदि। बड़े नगरों में विभिन्न वस्तुओं के बाजार प्रायः अलग-अलग केन्द्रों में केन्द्रित हो जाते हैं।

(ii) **नमूनों द्वारा बिक्री** (Marketing by Samples)—अनेक बार विक्रेता के लिये यह संभव नहीं कि वह समस्त माल को विक्रय केन्द्र पर रखे और न क्रेता के लिये ही संभव है कि वह सम्पूर्ण माल का निरीक्षण कर सके। अतः माल का क्रय-विक्रय नमूनों के आधार पर होता है। जैसे अनाज, तिलहन या कपास को बड़े पैमाने पर खरीदने वाले केवल 'बानगी' देखकर खरीद कर लेते हैं। इसी प्रकार वस्त्र मिल वाले विविध प्रकार के वस्त्रों के नमूने 'नमूना पुस्तक' में रखते हैं जिनके आधार पर क्रय-विक्रय होता है।

(iv) **श्रेणी अथवा प्रमापों द्वारा बिक्री** (Marketing by Grades)—कुछ वस्तुओं को उनकी श्रेणी के हिसाब से अलग-अलग नाम या चिन्ह दे दिये जाते हैं,

जैसे इंजन मार्का सरसों का तेल, काठियावाड़ का या पोस्टमेन छाप मूंगफली का तेल आदि। केवल नाम बताने से ही इन वस्तुओं का क्रय विक्रय होता रहता है। वनस्पति घी, स्नान करने के साबुन, टीन की चादरें, स्टील तथा पीतल के बर्तन, वस्त्र आदि की खरीद बिक्री आजकल प्राय श्रेणी अथवा प्रमापों के आधार पर होती है।

V औचित्य के आधार पर बाजार—कभी-कभी बाजार मे वस्तु विशेष के मूल्य अनुचित रूप म भी लिये जाते हैं। इस प्रकार औचित्य के आधार पर बाजार दो प्रकार के हो सकते हैं—

(i) खुला या उचित बाजार (Open or Fair Market)—खुले बाजार म सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य लिये जाते हैं।

(ii) काला या चोर बाजार (Black Market)—चोर बाजार मे सरकार द्वारा निर्धारित मूल्यों म अधिक मूल्य वसूल किये जाते हैं। ऐसा वस्तुओं के अभाव के समय होता है।

बाजारों का वर्गीकरण क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तु के आधार पर भी किया जा सकता है, जैसे 'उपज विनिमय स्थल' (Produce Exchange), 'स्कन्ध विनिमय स्थल' (Stock Exchange) आदि।

बाजार का विस्तार (Extent of Market)—बाजार के वर्गीकरण म हमने क्षेत्रीय बाजार के अन्तर्गत क्षेत्रानुसार बाजारों का अध्ययन किया है। यह आवश्यक नहीं कि किसी वस्तु का क्रय-विक्रय किसी स्थान या क्षेत्र विशेष तक सीमित रहे। दूसरी ओर सभी वस्तुओं का क्रय विक्रय क्षेत्र भी एक समान नहीं होता। दूध, दही, साग, सब्जी आदि की तुलना मे अनाज, सोना, चांदी, इस्पात, वस्त्र आदि का बाजार अधिक विस्तृत होता है। इस प्रकार कुछ वस्तुओं का बाजार सीमित तथा कुछ का बहुत विस्तृत होता है। वस्तु के बाजार क्षेत्र का विस्तृत या सीमित होना अनेक बातों पर निर्भर करता है।

बाजार के विस्तार को प्रभावित करने वाली बातें—बाजार के विस्तार को प्रभावित करने वाली बातों को दो वर्गों मे बांटा जा सकता है—

I–वस्तु के गुण अथवा विशेषतायें व II–देश की आन्तरिक दशायें।

I–वस्तु के गुण अथवा विशेषताएं (Characteristics of the Commodity)—किसी वस्तु के बाजार का विस्तृत या सीमित होना उसकी निम्नलिखित विशेषताओं अथवा गुणों पर निर्भर करता है—

(i) माग का स्वभाव (Nature of Demand)—जिस वस्तु के द्वारा जितनी अधिक व्यापक तथा विस्तृत माग की पूर्ति होती है उसका बाजार उतना ही विस्तृत होता है। सोना, चादी, वस्त्र, चीनी, खाद्यान्न आदि की माग विश्वव्यापी होने से इनका बाजार विस्तृत होता है। लेकिन चूड़िया, धोती तथा टाई की माग केवल भारत तक ही सीमित होने से इनका बाजार सीमित होता है।

(ii) टिकाऊपन (Durability)—शीघ्र सड़ने-गलने वाली तथा नाशवान

वस्तुओं यथा दूध, दही, साग, सब्जी, मछली आदि का बाजार सीमित होता है जबकि सोना, चांदी, अनाज, वस्त्र आदि अधिक टिकाऊ वस्तुओं का बाजार अधिक विस्तृत होता है। आजकल पैकिंग तथा शीतागार (coldstorage) पद्धतियों तथा प्रशीतक यन्त्रों (referigerators) की सहायता से वस्तुओं के टिकाऊपन में वृद्धि करके उनके बाजार को विस्तृत कर दिया जाता है।

(iii) **वहनीयता** (Portability)—जिन वस्तुओं का भार उनके मूल्य के अनुपात में जितना अधिक होता है उनका बाजार उतना ही सीमित होता है। उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाने ले जाने की लागत तथा असुविधायें अधिक होने से उनका मूल्य बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ जयपुर में ईंटे 120 रु. प्रति हजार मिलती हैं जबकि दिल्ली में 200 रु. प्रति हजार। परन्तु ईंटों में वहनीयता का अभाव होने के कारण जयपुर से दिल्ली ईंटें ले जाना मितव्ययी नहीं होता लेकिन सोना, चांदी, आदि मूल्यवान पदार्थों का आदान-प्रदान संसार के प्रत्येक भाग में होता है।

(iv) **पहिचानने योग्य या संज्ञेयता** (Cognizability)—जिन वस्तुओं के गुणों तथा किस्मों को क्रेता जितनी सरलता से जान सकते है उनका बाजार उतना ही विस्तृत होता है। शुद्ध घी की पहिचान हर एक को न होने के कारण इसका बाजार सीमित होता जा रहा है।

(v) **नमूने तथा ग्रेड बनाने की उपयुक्तता** (Suitability for Sampling and Grading)—जिन वस्तुओं के नमूने या ग्रेड बनाये जा सकते हैं अथवा जिनका क्रय-विक्रय वर्णन द्वारा सम्भव होता है उनका बाजार विस्तृत होता है। उदाहरणार्थ ऊनी वस्त्र, गेहूँ, कपास आदि के अलग-अलग नमूने तथा ग्रेड बनाये जा सकने के कारण इनका बाजार विस्तृत होता है। परन्तु दूध, साग-सब्जी आदि के गुण या नमूने बनाना सम्भव न होने के कारण इनका बाजार सीमित होता है। आलू बेचने वाला आलुओं को बड़े-छोटे के हिसाब से अलग-अलग ढेरों में रखकर उनकी विक्रय संभावना बढ़ा देता है।

(vi) **पूर्ति की पर्याप्तता** (Adequacy of Supply)—जिन वस्तुओं की पूर्ति उनकी मांग के अनुसार पर्याप्त मात्रा में घटाई बढ़ाई जा सकती है तो उनका बाजार विस्तृत होता है। पूर्ति को मांग के अनुसार बढ़ाना सम्भव न होने पर बाजार सीमित हो जाता है क्योंकि उपभोक्ता अन्य वस्तुओं के उपभोग द्वारा आवश्यकता की पूर्ति करते हैं।

(vii) **स्थानापन्न वस्तुओं की संख्या** (Number of Substitutes)—जिस वस्तु के स्थानापन्न जितने अधिक होते हैं उसका बाजार उतना ही सीमित होता है। वस्तु का मूल्य थोड़ा सा बढ़ते ही उसके स्थानापन्नों का प्रयोग किया जाने लगता है।

(viii) **विविध उपयोग** (Multiplicity of Uses)—अगर किसी वस्तु को कई प्रकार से उपभोग किया जा सकता है अथवा कई उपयोगों में काम में लाया जाता है तो उसका बाजार विस्तृत हो जाता है क्योंकि जिन वस्तुओं के स्थानापन्न

का कार्य यह करती है उनके मूल्यों के उतार-चढ़ाव का इस वस्तु की माग पर भी प्रभाव पडता है।

II देश की आन्तरिक दशायें (Conditions prevailing within the Country)—किसी वस्तु के बाजार के विस्तार पर उसकी स्वय की विशेषताओं के अतिरिक्त देश के अन्तरिक वातावरण तथा दशाओं का भारी प्रभाव पडता है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है :

(i) देश मे शान्ति तथा सुरक्षा—अगर देश मे शान्ति एव सुरक्षा व्यवस्था सुदृढ है तो लोगो की जान व माल भी सुरक्षित होंगे। वस्तुओ का आदान-प्रदान निश्चितता मे होता रहेगा। जनसाधारण तथा व्यवसाइयो में सुरक्षा की भावना बढने से आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार मे वृद्धि के साथ-साथ अनेक नये व्यवसाय स्थापित होने लगते हैं। इस प्रकार वस्तु का बाजार विस्तृत हो जाता है।

(ii) सस्ते एव शीघ्रगामी परिवहन तथा सचार साधनों की पर्याप्तता (Availability of Cheap and Quick Means of Transport)—डाक, तार, टेलीफोन आदि सचार के विविध साधन तथा रेल, सडक, वायुयान तथा जलयान आदि परिवहन के साधन सस्ते एव शीघ्रगामी होने से एक स्थान से दूसरे स्थान पर वस्तुओ के भेजने की लागत कम बैठती है। इस प्रकार वस्तुओ का बाजार विस्तृत हो जाता है। आजकल परिवहन साधनो मे शीतभंडार–युक्त सुविधाओ के उपलब्ध होने से शीघ्र सडने गलने वाली वस्तुओ का बाजार भी विस्तृत होता जा रहा है।

(iii) देश मे कुशल तथा ईमानदार व्यापारियों का होना (Efficient and Honest Traders)—अगर देश के व्यापारी कुशल तथा ईमानदार हैं तो उपभोक्ता एव उत्पादक निश्चित होकर वस्तुओ का आदान प्रदान करेंगे। इस प्रकार वस्तुओ के बाजार का विस्तृत होना स्वाभाविक है।

(iv) कुशल मुद्रा, बैंकिंग एव साख व्यवस्था (Efficient Money, Banking and Credit System)—अगर देश मे प्रचलित मुद्रा के मूल्य मे स्थायित्व है, बैंकिंग सुविधायें विस्तृत तथा कुशल हैं और साख व्यवस्था सुव्यवस्थित तथा पर्याप्त है तो उपभोक्ता, उत्पादक तथा व्यापारियों को हानि का भय कम से कम रहेगा। इस प्रकार आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार मे वृद्धि होगी और वस्तुओ का बाजार विस्तृत हो जायगा।

(v) वैज्ञानिक एव विकसित विपणन व्यवस्था (Scientific and Developed Marketing System)—अगर देश मे माल को बेचने के लिए नवीनतम वैज्ञानिक विधियो यथा प्रदर्शनियां तथा मेले, विज्ञापन आदि का प्रयोग किया जाता है तो वस्तुओ का विक्रय क्षेत्र बढ जाता है।

(vi) श्रम विभाजन की सीमा (Extent of Division of Labour)—किसी वस्तु के बाजार की सीमा श्रम विभाजन पर भी निर्भर करती है। अगर देश में उत्पादन कार्यों म जटिल तथा सूक्ष्म श्रम विभाजन का प्रयोग होता है तो उत्पादन

लागत काफी कम हो जाती है। इस प्रकार वस्तु के सस्ते होने के कारण उसका बाजार विस्तृत हो जाता है।

(vii) **सरकारी नीतियां (Government Policies)**—वस्तुओं के आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार पर सरकार की नीतियों का भारी प्रभाव पड़ता है। सरकार आन्तरिक व्यापार पर क्षेत्रीय प्रतिबन्ध लगा देती है अथवा आयात निर्यात कर बढ़ा देती है अथवा आयात निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा देती है तो सम्बन्धित वस्तुओं का बाजार सीमित हो जाता है। व्यापार सम्बन्धी छूट देने पर वस्तुओं का बाजार विस्तृत हो जाता है।

प्रश्न

1. बाजार का अर्थ लिखिए तथा बाजार की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
(संकेत—विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं का वर्णन करते हुए बाजार की विशेषताओं का वर्णन करें।)

2. बाजार शब्द की व्याख्या कीजिए तथा बाजार के वर्गीकरण को समझाइये।
(संकेत—बाजार की परिभाषा समझाने के उपरान्त बाजार के विभिन्न रूपों को बतावें।)

3 बाजार के विस्तार से आप क्या समझते हो ? किसी वस्तु के बाजार को प्रभावित करने वाली बातें अथवा विस्तृत बाजार की दशाओं का वर्णन करें।
(संकेत—बाजार के विस्तार का अर्थ लिखें तथा बाद में उन सभी बातों का वर्णन करें जो किसी वस्तु के बाजार के विस्तार को प्रभावित करती हैं।)

4. अन्तर स्पष्ट कीजिये—(i) पूर्ण तथा अपूर्ण बाजार, (ii) अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन बाजार, (iii) मिश्रित तथा विशिष्ट बाजार, (iv) स्थानीय तथा राष्ट्रीय बाजार।

28 लागत विश्लेषण
(Cost Analysis)

किसी फर्म के उत्पादन की मात्रा फर्म की लागत एव आगम पर निर्भर करती है । किसी वस्तु का मूल्य दिया हुआ होने पर फर्म वस्तु का उत्पादन उस बिन्दु तक करती है जहा पर उस वस्तु के उत्पादन की सीमान्त लागत वस्तु के मूल्य (सीमान्त आगम) के बराबर होती है । इस अध्याय में लागत विश्लेषण का अध्ययन किया गया है । अगले अध्याय मे आगम विश्लेषण का अध्ययन किया जायगा ।

लागत की धारणायें (The Concepts of Costs)—आर्थिक विश्लेषण मे 'लागत' शब्द का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों मे किया जाता है । लागत के सम्बन्ध म तीन प्रकार की धारणायें प्रचलित हैं—(1) मौद्रिक लागत, (2) वास्तविक लागत एव (3) अवसर लागत । इन तीनो धारणाओं का यहाँ सक्षेप मे अध्ययन किया जा रहा है ।

(1) मौद्रिक लागत (Money Cost)—कोई फर्म अपने उत्पादन कार्य मे उत्पा दन के विभिन्न साधनों पर जो व्यय करती है वह मौद्रिक लागत कहलाती है । मौद्रिक लागत में सभी प्रकार के व्यय सम्मिलित होते हैं, जैसे कच्चे माल का मूल्य, श्रम की मजदूरी, पूजी का ब्याज, भूमि का लगान, प्रबन्धक एव कर्मचारियो का वेतन तथा उद्यमकर्त्ता का सामान्य लाभ आदि । मौद्रिक लागतो म स्पष्ट लागतें तथा अस्पष्ट लागतें दोनों आती हैं ।

(अ) स्पष्ट लागतें या व्यक्त लागतें (Explicit Costs)—किसी फर्म द्वारा अन्य लोगो से खरीदे या किराय पर लिए गये साधना पर जो प्रत्यक्ष व्यय किया जाता है वह स्पष्ट, व्यक्त अथवा सुनिश्चित लागतों क अन्तगत आता है । उदाहरण के लिए एक सूती वस्त्र के कारखान में कर्मचारियो को दिया गया वेतन, बाजार से रुई की खरीद पर किया गया व्यय बिजली पानी के बिल का भुगतान, बैंक के उधार धन का ब्याज आदि व्यक्त लागतें होती हैं । लेखाधिकारी व्यक्त लागतें हिसाब-किताब मे लिख लेता है ।

(ब) अव्यक्त, अस्पष्ट या अन्तर्निहित लागतें (Implicit Cos's)—अव्यक्त लागतों मे वे सब लागतें आती हैं जिनका भुगतान उत्पादक या फर्म के स्वामी द्वारा किसी बाहरी व्यक्ति को नहीं किया जाता है बल्कि स्वय उत्पादक या स्वामी अपन निजी साधनो एव सेवाओं के बदले फर्म से प्राप्त करना चाहता है । अव्यक्त लागतों

में फर्म के स्वामी की पूंजी का ब्याज, स्वामी के श्रम या प्रबन्ध का मूल्य, स्वामी द्वारा फर्नीचर तथा अन्य साज-सामान, जो व्यवसाय में लगा रखा है का मूल्य, ह्रास आदि सम्मिलित होते हैं। एक अर्थशास्त्री के लिए व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों प्रकार की लागतों का महत्व होता है क्योंकि वह समस्त लागतों पर विचार करता है। व्यक्त लागतें तो खातों में अंकित की जाती हैं अतः सरलता से इनकी गणना की जा सकती है परन्तु अव्यक्त लागतों का निर्धारण कठिन होता है। इसके लिए अर्थशास्त्रियों ने वैकल्पिक लागत सिद्धान्त दिया है। उदाहरणार्थ किसी फर्म के स्वामी के स्वय के कार्य का पुरस्कार इस आधार पर आंका जा सकता है कि वह अपने सर्व-श्रेष्ठ वैकल्पिक व्यवसाय में क्या पुरस्कार प्राप्त कर सकता है।

(2) वास्तविक लागत या सामाजिक लागत (Real Cost or Social Cost)—वास्तविक लागत का विचार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा दिया गया है। वास्तविक लागत उन समस्त प्रयत्नों एवं त्याग को कहते हैं जो किसी वस्तु के उत्पादन के लिए करने पड़ते हैं। उत्पादन के साधनों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भाग लेने पर जो प्रयत्न, त्याग, परिश्रम, शक्ति या समय लगाना पड़ता है उन सब को वास्तविक लागत कहते हैं। मार्शल के शब्दों में "किसी वस्तु के निर्माण में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में विभिन्न प्रकार के समस्त श्रम को जो प्रयत्न करने पड़ते हैं तथा साथ में वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त पूंजी की बचत के लिए जो संचय अथवा प्रतीक्षा करनी होती है, वे सब प्रयत्न और त्याग मिलकर वस्तु की वास्तविक लागत कहे जाते हैं"[1] उत्पादन कार्य में श्रमिकों, प्रबन्धकों एवं साहसियों को प्रयत्न करने पड़ते हैं। उत्पादन कार्य के लिए भूमि एवं पूंजी की आवश्यकता होती है। भूमि प्रकृति की निःशुल्क देन है जिसके लिए समाज को कुछ त्याग नहीं करना पड़ता परन्तु उसे कृषि योग्य या उत्पादन कार्य के लिए तैयार करने में प्रयत्न करने पड़ते हैं। इसी तरह पूंजी वर्तमान उपभोग को कम करके प्राप्त की जाती है। अतः पूंजी संचय के लिए त्याग एवं प्रतीक्षा करनी होती है। इन सभी प्रकार के प्रयत्नों के योग से उत्पादन की वास्तविक लागत बनती है। जिन उत्पादन कार्यों को करने में जितने अधिक प्रयत्नों एवं त्याग की आवश्यकता होती है उनकी वास्तविक लागत उतनी ही अधिक होती है। दो वस्तुओं के निर्माण की मौद्रिक लागत समान होते हुये भी उनकी वास्तविक लागतों में अन्तर हो सकता है। वास्तविक लागत को सामाजिक लागत

. "The exertions of all the different kinds of labour that are directly or indirectly involved in making it, together with the abstinences or rather the waitings required for saving the capital used in making it, all these efforts and sacrifices together will be called the real cost of production of the commodity." —Marshall

भी कहते हैं क्योंकि वस्तुओं के उत्पादन के प्रयत्न एवं त्याग सम्पूर्ण समाज को करने पड़ते हैं। वास्तविक लागत का सामाजिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है। परन्तु वास्तविक लागत का विचार बहुत अस्पष्ट है तथा इसकी गणना करना भी कठिन होता है। इसीलिए अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक विश्लेषण में वास्तविक लागत के विचार को त्याग दिया है।

(3) अवसर लागत (Opportunity Cost)—आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने वास्तविक लागत के विचार को त्याग कर इसके स्थान पर लागत के एक नवीन विचार को अपनाया है जो अवसर लागत (Opportunity Cost), वैकल्पिक लागत (Alternative Cost) या हस्तान्तरण आय (Transfer Earning) आदि शब्दों में व्यक्त किया जाता है।

अवसर लागत उस लागत को कहते हैं जो उत्पादन के एक साधन को अपने श्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग से मिल सकती है। इसे उत्पादन के किसी विशेष साधन के उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। माना कि राम एक श्रमिक है जो सूती वस्त्र उद्योग में काम करता है। राम के श्रम की वैकल्पिक या अवसर लागत वह भुगतान होगा जो वह अपने वर्तमान व्यवसाय सूती वस्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी श्रेष्ठ वैकल्पिक कार्य से प्राप्त कर सकता है। यदि राम को सूती वस्त्र उद्योग में अन्य श्रेष्ठ वैकल्पिक कार्य में मिलने वाली राशि से कम भुगतान किया जायगा तो राम इस कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में चला जायगा।

अवसर लागत का सिद्धान्त सम्पूर्ण समाज एवं व्यक्तिगत फर्म दोनों पर लागू होता है तथा यह सिद्धान्त आधुनिक आर्थिक विश्लेषण में अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार है।

अल्पकाल एवं दीर्घकाल

(The Short Run and The Long Run)

प्रत्येक फर्म की उत्पादन लागतों पर समय-तत्व का प्रभाव पड़ता है। लागतों पर पड़ने वाले प्रभाव की दृष्टि से समय-तत्व को दो भागों में बांट सकते हैं—अल्पकाल एवं दीर्घकाल। अल्पकाल एवं दीर्घकाल तिथि पत्रानुसार अवधि की धारणा (Calender Concepts) नहीं हैं क्योंकि एक फर्म के लिए अल्पकाल कुछ सप्ताह की अवधि हो सकती है जबकि दूसरी फर्म के लिए दो या तीन वर्ष की अवधि भी अल्पकाल हो सकती है। आर्थिक विश्लेषण की दृष्टि से अल्पकाल समय की वह अवधि होती है जिसमें कोई फर्म अपने उत्पादन के पैमाने को परिवर्तित नहीं कर सकती है बल्कि अपने वर्तमान उत्पादन के पैमाने पर ही साधनों के अधिक या कम प्रयोग द्वारा उत्पादन में परिवर्तन कर सकती है। अल्पकाल में समय इतना कम होता है कि स्थायी साधनों यथा प्लाट एवं उपकरण, भवन, भूमि प्रबन्ध आदि में परिवर्तन नहीं किये जा सकते हैं। दीर्घकाल वह समयावधि होती है जिसमें कोई फर्म उत्पादन के सभी साधनों में इच्छित परिवर्तन कर सकती है। दीर्घकाल में फर्म

का उत्पादन एवं उत्पादन का पैमाना दोनों परिवर्तनशील होते हैं। अब हम यहां दोनों समयावधियों में लागतों का विश्लेषण करेंगे।

अल्पकाल में लागत

जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि अल्पकाल समय की वह अवधि होती है जिसमें फर्म अपने उत्पादन के पैमाने को परिवर्तित नहीं कर सकती है बल्कि वह विद्यमान पैमाने के अधिक या कम प्रयोग द्वारा ही उत्पत्ति को एक निश्चित सीमा तक बढ़ा या घटा सकती है। अल्पकाल की दृष्टि से साधनों को दो वर्गों में बांट सकते हैं—स्थिर साधन एवं परिवर्तनशील साधन। स्थिर साधन या स्थायी साधन (Fixed resources) वे होते हैं जिनकी मात्रा में अल्पकाल में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है जैसे भवन, प्लांट एवं उपकरण, प्रबन्ध आदि। परिवर्तनशील साधन (Variable resources) वे होते हैं जिन्हें उत्पत्ति की मात्रा के अनुसार अल्प-काल में भी परिवर्तित किया जा सकता है जैसे कच्चा एव अर्द्ध निर्मित माल, प्रत्यक्ष श्रम, विजली-पानी, परिवहन व्यय आदि। अल्पकाल में इन दोनों प्रकार के साधनों का उत्पादन लागत पर प्रभाव पड़ता है। यहां अल्पकालीन लागतों का अध्ययन किया गया है।

कुल लागतें (Total Costs or TC)

कुल उत्पादन व्यय को कुल लागत कहते हैं। अल्पकाल में हम उत्पादन साधनों को स्थिर तथा परिवर्तनशील वर्गों में बांटते हैं, इसी के अनुसार हम कुल लागतों को दो वर्गों में बांट सकते हैं—कुल स्थिर लागतें तथा कुल परिवर्तनशील लागतें।

कुल स्थिर अथवा स्थायी लागतें (Total Fixed Costs)— कुल स्थिर लागतों को पूरक लागतें ((Supplementary costs), अप्रत्यक्ष लागतें (Indirect costs) अथवा ऊपरी लागतें (Overhead costs) भी कहते हैं। कुल स्थिर लागतें वे लागतें होती हैं, जिनका सम्बन्ध उत्पत्ति की मात्रा से न होकर उत्पत्ति के पैमाने से होता है। ये लागतें उत्पादक को अल्पकाल में शून्य उत्पत्ति से लेकर अधिकतम उत्पत्ति तक एक ही मात्रा में करनी पड़ती हैं। एक फर्म की स्थिर लागतों में पूंजी का व्याज, भवन का किराया, बीमा का प्रीमियम, उच्च प्रवन्धकों का वेतन, लाइसेन्स शुल्क आदि सम्मिलित होते हैं।

कुल परिवर्तनशील लागतें (Total Variable Costs)—इन लागतों को प्रमुख लागतें (Prime Costs) अथवा प्रत्यक्ष लागतें (Direct Costs) भी कहा जाता है। कुल परिवर्तनशील लागतें वे समस्त लागतें होती हैं जो अल्पकाल में भी उत्पत्ति की मात्रा के साथ-साथ परिवर्तित होती जाती हैं। इनमें कच्चे माल की लागत, मजदूरी का भुगतान, ईंधन एवं शक्ति की लागत आदि सम्मिलित होती हैं। कुल परिवर्तनशील लागत शून्य उत्पादन पर शून्य रहती है। यह उत्पत्ति वृद्धि के साथ-साथ वढ़ती है। उत्पत्ति में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होने पर घटती दर से बढ़ती है, ह्रासमान उत्पत्ति नियम लागू होने पर वढ़ती दर से बढ़ती है तथा उत्पत्ति स्थिरता निमय के समय समान दर से वढ़ती हैं।

कुल लागत (Total Costs or STC)—कुल अल्पकालीन स्थिर तथा कुल अल्पकालीन परिवर्तनशील लागतो का योग कुल अल्पकालीन लागत (STC) होती है।

$$TC = TFC + TVC$$

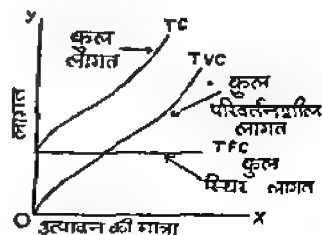
उपरोक्त तीनो प्रकार की कुल स्थायी लागत, कुल परिवर्तनशील लागत तथा कुल लागत को नीचे की तालिका तथा रेखा चित्र से स्पष्ट किया जा सकता है।

लागतें रुपयों में

उत्पादन की मात्रा प्रति सप्ताह	कुल स्थिर लागत (TFC)	कुल परिवर्तनशील लागत (TVC)	कुल लागत (TC)
0	100	0	100
1	100	15	115
2	100	30	130
3	100	40	140
4	100	45	145
5	100	50	150
6	100	60	160
7	100	80	180
8	100	105	205
9	100	150	250
10	100	200	300

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि कुल स्थिर लागत (TFC) शून्य उत्पादन से 10 इकाइयों के उत्पादन तक स्थिर है। जबकि कुल परिवर्तनशील लागत (TVC) शून्य उत्पादन पर शून्य है तथा उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ बढ रही है। कुल लागत (TC) शून्य उत्पादन पर स्थिर लागतों के बराबर है तथा उत्पादन वृद्धि के साथ बढ रही है। इसमे परिवर्तन स्थिर लागतो तथा परिवर्तनशील लागतो के योग के अनुसार होता है। स्थिर लागतें अल्पकाल मे स्थिर रहती हैं। अतः कुल लागत मे परिवर्तन केवल परिवर्तनशील लागतो के कारण होता है। कुल लागतो को रेखा चित्र स 28 1 पर प्रदर्शित किया गया है।

इस रेखा चित्र से ज्ञात होता है कि कुल स्थिर लागत उत्पादन की प्रत्येक मात्रा पर OC के बराबर है अर्थात स्थिर है। जबकि कुल परिवर्तनशील लागत शून्य उत्पादन पर शून्य है तथा जैसे जैसे उत्पादन बढता है वैसे-वैसे बढती गयी है। इसके बढने की वृद्धि की दर प्रारम्भ मे कम है तथा बाद मे ज्यादा है (ऐसा उत्पत्ति नियमों की क्रियाशीलता के कारण होता है)। कुल लागत (TC) शून्य उत्पादन पर OC है अर्थात स्थिर लागत के बराबर है। इसके पश्चात उत्पादन की मात्रा के साथ-साथ



उत्पादन की मात्रा
चित्र स 28·1

वढ़ती है। इसकी वृद्धि कुल परिवर्तनशील लागत पर निर्भर करती है क्योंकि कुल स्थिर लागत अल्पकाल में स्थिर है। यदि हम कुल स्थिर लागत वक्र के ऊपर कुल परिवर्तनशील लागत वक्र खींच दें तो भी हमें कुल लागत (TC) वक्र प्राप्त हो जावेगा।

स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतों में भेद तथा मूल्य निर्धारण में इनका महत्व—स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतों में कुछ महत्वपूर्ण भेद है तथा इस भेद का फर्म की मूल्य निर्धारण प्रक्रिया पर प्रभाव पड़ता है।

(1) स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतों में भेद केवल अल्पकाल में ही रहता है, दीर्घकाल मे कोई भी लागत स्थिर नहीं होती है। दीर्घकाल में सभी साधनों में परिवर्तन सम्भव होने के कारण सभी लागतें परिवर्तनशील होती है।

(2) स्थिर एवं परिवर्तनशील दोनों लागतें उत्पादन में एक साथ विद्यमान रहती हैं। स्थिर लागतें अल्पकाल में स्थिर रहती हैं जबकि परिवर्तनशील लागतें अल्पकाल में भी परिवर्तित होती रहती हैं।

(3) स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतों का अन्तर मूल्य निर्धारण में वहुत अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि अल्पकाल में एक फर्म केवल परिवर्तनशील लागत के वरावर मूल्य प्राप्त होने पर भी उत्पादन चालू रख सकती है जबकि दीर्घकाल में सभी लागतें प्राप्त होने पर वह उत्पादन चालू रखती है। यदि दीर्घकाल में सम्पूर्ण लागतों के बरावर भुगतान नहीं प्राप्त होवें तो फर्म उत्पादन बन्द कर देती है। अतः अल्पकाल में फर्म स्थिर लागतों के वरावर हानि उठा कर उत्पादन चालू रख सकती है परन्तु दीर्घकाल में वह हानि उठा कर उत्पादन चालू नहीं रखेगी।

(4) प्रमुख एवं पूरक लागतों में भेद की कोई स्पष्ट रेखा खींचना सम्भव नहीं है।

प्रति इकाई लागतें
(Per Unit Costs)

ऊपर जो कुल लागतें वताई गई हैं उनमें से प्रत्येक अपनी अपनी प्रति इकाई लागतें रखती है। यदि हम कुल स्थिर लागत को विभिन्न उत्पादन स्तरों के उत्पादन की मात्रा (वस्तु की इकाइयों) से विभाजित कर दें तो औसत स्थिर लागत (AFC) ज्ञात हो जावेगी। इसी तरह कुल परिवर्तनशील लागत को वस्तु की इकाइयों से विभाजित करने पर औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) तथा कुल लागत को वस्तु की इकाइयों से विभाजित करने पर औसत लागत (AC) प्राप्त होगी। आगे दी गई तालिका में स्तम्भ 2 को स्तम्भ 1 से विभाजित करने पर स्तम्भ 5 में औसत स्थिर लागत (AFC) प्राप्त हुयी हैं। स्तम्भ 3 को स्तम्भ 1 से विभाजित करके स्तम्भ 6 में औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) तथा स्तम्भ 4 को स्तम्भ 1 से विभाजित करके औसत लागत (AC) प्राप्त की गई है।

लागतें रुपयों में

उत्पादन की मात्रा प्रति सप्ताह	कुल स्थिर लागत (TFC)	कुल परिवर्तनशील लागत (TVC)	कुल लागत (T C)	औसत स्थिर लागत (AFC)	औसत परिवर्तनशील लागत (AVC)	औसत लागत (AC)	सीमान्त लागत (MC)
1	2	3	4	5	6	7	8
0	100	0	100	—	—	—	—
1	100	15	115	100	15	115	15
2	100	30	130	50	15	65	15
3	100	40	140	$33\frac{1}{3}$	$13\frac{1}{3}$	$46\frac{2}{3}$	10
4	100	45	145	25	$11\frac{1}{4}$	$36\frac{1}{4}$	5
5	100	50	150	20	10	30	5
6	100	60	160	$16\frac{2}{3}$	10	$26\frac{2}{3}$	15
7	100	80	180	$14\frac{2}{7}$	$11\frac{3}{7}$	$25\frac{5}{7}$	20
8	100	105	205	$12\frac{1}{2}$	$13\frac{1}{8}$	$25\frac{5}{8}$	25
9	100	150	250	$11\frac{1}{9}$	$16\frac{2}{3}$	$27\frac{7}{9}$	45
10	100	200	300	10	20	30	50

औसत स्थिर लागत (A F C)—कुल स्थिर लागत को वस्तु की इकाइयों से भाग देने पर औसत स्थिर लागत ज्ञात होती है। औसत स्थिर लागत उत्पादन वृद्धि के साथ साथ घटती जाती है क्योंकि स्थिर लागत अधिक इकाइयों पर फैलती जाती है। इस तथ्य को ऊपर दी गई तालिका के स्तम्भ 5 से देखा जासकता है। यह कभी शून्य नहीं होती है।

$$AFC = \frac{TFC}{Q}$$ जहा A F C औसत स्थिर लागत को, T F C कुल स्थिर लागत को तथा Q वस्तु की उत्पादित इकाइयों की संख्या को व्यक्त करता है।

औसत परिवर्तनशील लागत (A V C)—कुल परिवर्तनशील लागत को वस्तु की इकाइयों का भाग देने पर औसत परिवर्तनशील लागत प्राप्त होती है। यह प्रारम्भ मे उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होने से घटती है फिर अनुकूलतम उत्पादन बिन्दु पर पहुच कर कुछ देर स्थिर रहती है तथा फिर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने के कारण बढ़ने लगती है। इसकी आकृति अंग्रेजी वर्णमाला के U अक्षर जैसे होती है। इसकी प्रकृति को उपरोक्त तालिका के स्तम्भ 6 से देखा जा सकता है।

$$\text{औसत परिवर्तनशील लागत} = \frac{\text{कुल परिवर्तनशील लागत}}{\text{वस्तु की इकाइयां}}$$

$$\text{या } AVC = \frac{TVC}{Q}$$

औसत लागत (AC)—कुल लागत मे वस्तु की इकाइयों का भाग देने पर औसत लागत प्राप्त होती है। यह उत्पत्ति की प्रत्येक मात्रा पर औसत स्थिर लागत

+ औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर होती है। इसकी आकृति भी U जैसी होती है। प्रारम्भ में यह औसत स्थिर लागत तथा औसत परिवर्तनशील लागत के घटने के कारण घटती है। बाद में औसत स्थिर लागत के घटने का प्रभाव औसत परिवर्तनशील लागत के बढ़ने के प्रभाव से अधिक होने पर घटती रह सकती है तथा औसत परिवर्तनशील लागत के बढ़ने का प्रभाव औसत स्थिर लागत के घटने के प्रभाव से अधिक होने पर बढ़ने लगती है। औसत लागत को पिछली तालिका के स्तम्भ 7 से देखा जा सकता है। इसे दो तरह से प्राप्त किया जा सकता है—

प्रथम विधि

$AC = \frac{TC}{Q}$ अर्थात कुल लागत में वस्तु की इकाइयों का भाग देकर प्राप्त करना।

द्वितीय विधि

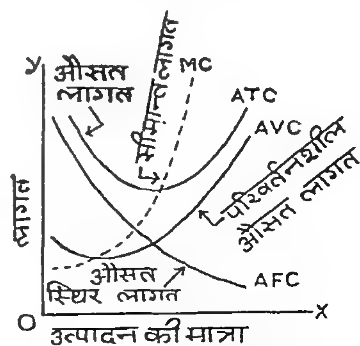
$AC = AFC + AVC$ अर्थात औसत स्थिर लागत तथा औसत परिवर्तनशील लागत के योग द्वारा प्राप्त करना।

सीमान्त लागत (Marginal Cost or MC)—फर्म द्वारा वस्तु की एक और इकाई उत्पन्न करने पर कुल लागत में जो वृद्धि होती है वह सीमान्त लागत कहलाती है। दूसरे शब्दों में सीमान्त लागत फर्म द्वारा एक अतिरिक्त इकाई उत्पन्न करने पर फर्म की कुल लागत में होने वाला परिवर्तन होता है। पिछली तालिका से देखें तो 4 इकाइयां उत्पन्न करने पर कुल लागत 145 रुपये है तथा एक और इकाई उत्पन्न करने पर पाँच इकाइयों की कुल लागत 150 रुपये है अर्थात पांचवी इकाई को उत्पन्न करने से कुल लागत में 150 – 145 = 5 रुपये की वृद्धि होती है अर्थात 5 वीं इकाई की लागत जो सीमान्त लागत भी है 5 रुपये हुयी।

$$MC = TC_n - TC_{n-1}$$

प्रति इकाई लागतों को रेखा चित्र सं. 28·2 पर प्रदर्शित किया गया है :

इस रेखा चित्र को देखने से ज्ञात होता है कि औसत स्थिर लागत (AFC) वक्र उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ लगातार घटता गया है। प्रारम्भ में तेजी से घटा है तथा बाद में धीमी गति से। औसत परिवर्तनशील लागत वक्र प्रारम्भ में घटती हुयी है तथा कुछ देर स्थिर रहने के बाद बढ़ने लगी है। इसकी आकृति U अक्षर जैसी है। औसत लागत वक्र प्रारम्भ मे औसत स्थिर लागत तथा औसत परिवर्तनशील लागत के घटने के कारण घटता गया है।



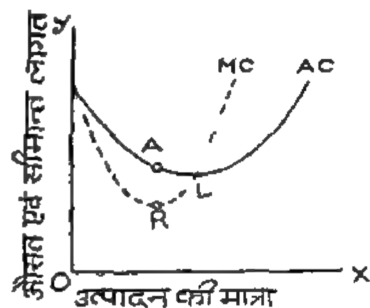
रेखा चित्र सं. 28·2

इसके बाद औसत परिवर्तनशील लागत के बढ़ने के बाद भी यह कुछ समय

तक घटता हुआ हो सकता है क्योंकि औसत स्थिर लागत के घटने का प्रभाव औसत परिवर्तनशील लागत के बढने से अधिक हो सकता है। इसके बाद यह बढने लगता है क्योंकि औसत परिवर्तनशील लागत के बढने का प्रभाव औसत स्थिर लागत के घटने के प्रभाव से अधिक होता है। इस प्रकार औसत लागत की आकृति भी U अक्षर जैसी होती है। सीमान्त लागत वक्र औसत परिवर्तनशील लागत वक्र तथा औसत लागत वक्र दोनो को इनके निम्नतम बिन्दुओ से काटता है।

अल्पकाल मे औसत लागत व सीमान्त लागत मे सम्बन्ध—औसत लागत एव सीमान्त लागत मे गहरा सम्बन्ध होता है। जब तक औसत लागत वक्र घटता है तब तक सीमान्त लागत वक्र औसत लागत वक्र से नीचे होता और जब औसत लागत वक्र बढती हुयी होती है तब सीमान्त लागत वक्र औसत लागत वक्र से ऊपर होता हैं। उत्पत्ति की जिस मात्रा पर औसत लागत न्यूनतम होती है वहा सीमांत लागत औसत लागत के बराबर होती है अर्थात सीमान्त लागत वक्र औसत लागत वक्र को इसके निम्नतम बिन्दु से काटता है। सीमान्त लागत एव औसत लागत के सम्बन्ध को रेखाचित्र स 28 3 में दर्शाया गया है।

रेखाचित्र स 28 3 में AC औसत लागत तथा MC सीमान्त लागत वक्र हैं। जब तक AC वक्र L बिन्दु के पूर्व तक घटता गया है तब तक MC वक्र AC वक्र के नीचे रहता हैं। जब L बिन्दु के बाद AC वक्र बढने लगा है तब MC वक्र AC वक्र से ऊपर हो गया हैं। L बिन्दु AC वक्र का निम्नतम बिन्दु है जहाँ AC तथा MC दोनो बराबर है। MC का R निम्नतम बिन्दु AC के L निम्नतम बिन्दु से पूर्व ही आ जाता हैं।



रेखाचित्र 28 3

सीमान्त एव औसत लागत का मूल्य निर्धारण मे महत्व

सीमान्त लागत का मूल्य एव उत्पादन निर्धारण मे बहुत महत्व होता हैं। मूल्य के दिये हुये होने पर एक फर्म उत्पादन की मात्रा वहाँ निर्धारित करती है जहा फर्म की सीमान्त लागत फर्म की सीमान्त आगम के बराबर हो। इसी उत्पादन बिन्दु पर फर्म अधिकतम लाभ अथवा न्यूनतम हानि अथवा न लाभ व न हानि की स्थिति में होती हैं।

दीर्घकाल में लागत

दीर्घकाल इतनी लम्बी अवधि होती है जिसमे फर्म उत्पादन के पैमाने मे भी इच्छित परिवर्तन कर सकती है। दीर्घकाल के सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं अत दीर्घकाल मे औसत लागत एव सीमान्त लागत वक्र ही होते हैं स्थिर

लागत वक्र नहीं। फर्गू सन के शब्दों में, "दीर्घकाल नियोजन–क्षितिज होता है। समस्त उत्पादन, वास्तव में समस्त आर्थिक क्रिया अल्पकाल में घटित होती है।....इस प्रकार एक अर्थ में दीर्घकाल समस्त संभव अल्पकालीन स्थितियों से बनता है जिसमें एक आर्थिक साधन चुनाव कर सकता है।"[2] लेफ्टविच के अनुसार "दीर्घकाल को वैकल्पिक अल्पकालीन स्थितियों, जिनमें से किसी में भी एक फर्म प्रवेश कर सकती है, की शृंखला के रूप में देखना ज्यादा उपयोगी होगा।....दीर्घकाल की तुलना चलचित्र के क्रिया-अनुक्रम (Action-sequence) से की जा सकती है। यदि हम चलचित्र को रोक कर केवल एक चित्र को देखते हैं तो हमारे समक्ष अल्पकाल की धारणा ही रह जाती है।"[3] दीर्घकाल में फर्म मांग के अनुसार उत्पादन न केवल परिवर्तनशील साधनों में परिवर्तन करके कर सकती है बल्कि सभी साधनों में परिवर्तन द्वारा हर संभव न्यूनतम लागत पर उत्पादन कर सकती है।

दीर्घकालीन औसत लागत—फर्म के दीर्घकालीन लागत वक्र को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। माना कि एक उद्योग में काम करने वाली किसी फर्म के सामने केवल उत्पादन के तीन किस्म के संयन्त्रों के पैमाने उपलब्ध हैं जिन्हें, क्रमशः छोटे आकार का, मध्यम आकार का तथा बड़े आकार का कहा जा सकता है। इन तीनों किस्म के संयंत्रों के अल्पकालीन औसत लागत वक्र रेखाचित्र सं. 28·4 द्वारा प्रदर्शित की गई हैं।

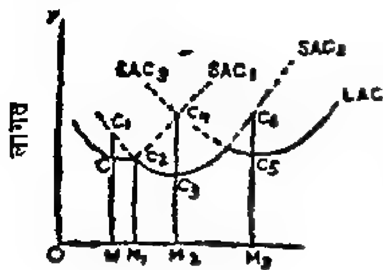
दीर्घकाल में फर्म इन तीनों संभव पैमानों में से किसी भी पैमाने को अपना सकती है। अब यहां यह प्रश्न उठता है कि फर्म इनमें से किस पैमाने का चुनाव करेगी? इसका उत्तर बड़ा सरल है। फर्म अपनी मांग के अनुसार उत्पादन का पैमाना निर्धारित करेगी और वह पैमाने के निर्धारण में इस बात का ध्यान रखेगी कि उत्पादन की मात्रा यथा सम्भव न्यूनतम लागत पर उत्पन्न करे। रेखाचित्र सं 28·4 के सन्दर्भ में देखें तो कहा जा सकता है कि उत्पादन की OM मात्रा के लिए SAC_1, संयन्त्र का पैमाना उपयुक्त है क्योंकि इस पर उत्पादन की लागत MC संयन्त्र के SAC_2 पैमाने की लागत MC_1 से कम है। OM_1 मात्रा के लिए SAC_1 या SAC_2 में किसी को भी चुना जा सकता है क्योंकि दोनों पर ही औसत लागत M_1C_2 है। OM_2 के लिए SAC_2 पैमाना उपयुक्त है क्योंकि इस पर औसत लागत M_2C_3 है जो दोनों अन्य पैमानों की लागत M_2C_4 से कम है। इसी तरह OM_3 मात्रा के उत्पादन के लिए

---

2. "The long run is a planning horizon. All production, indeed all economic activity, takes place in the short run............Thus in a sense, the long run consists of all possible short run situ ations among which an economic agent may choose.—C. E. Ferguson, Micro Economic Theory p. 198.

3. कीमत प्रणाली एवं साधन आंवटन, लेफ्टविच पृष्ट 156.

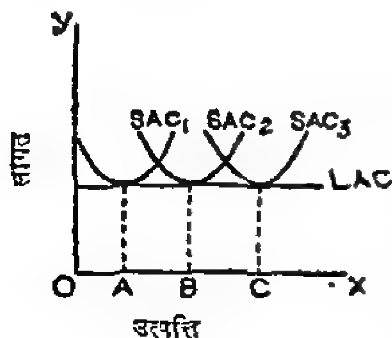
SAC_3 उपयुक्त है क्योंकि इसकी औसत लागत M_3 C_5 सयन्त्र के SAC_2 की औसत लागत M_3 C_6 से कम है।



उत्पत्ति की मात्रा
चित्र सं. 28 4

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र वह होती है जो उन समस्त न्यूनतम संभव औसत लागतो को प्रदर्शित करती है जिन पर उत्पत्ति की सब वैकल्पि मात्राएं उत्पन्न की जा सकती हैं जबकि फर्म को सयन्त्र के वैकल्पिक पैमानों मे से चुनाव की स्वतन्त्रता होती है। यदि हम उपरोक्त उदाहरण म, जहा केवल सयत्र के तीन पैमानो मे से ही चुनाव की फर्म को स्वतन्त्रता है, उत्पादन की सभी वैकल्पिक मात्राओ के लिए दीर्घकालीन औसत लागत वक्र SAC_1 SAC_2 तथा SAC_3 के गहरे अंशों से व्यक्त किया गया है। फर्म दीर्घकाल मे अल्पकालीन लागत वक्रो के कटे हुये अशों पर कार्य नही करेगी क्योंकि इसकी बजाय वह सयन्त्र के पैमाने में परिवर्तन कर लागतों मे कमी कर सकेगी।

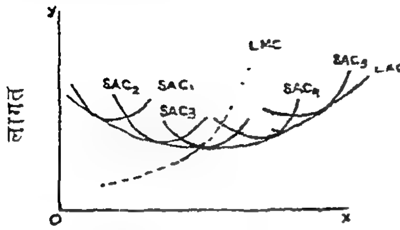
सामान्यता दीर्घकालीन औसत लागत वक्र अधिक समतल एव नियमित होता है क्योंकि फर्म को सयन्त्र के असीमित पैमाने उपलब्ध होते हैं। वास्तव में दीर्घकालीन लागत वक्र की आकृति किस तरह की होगी यह अनेक तथ्यों पर निर्भर करता है जिनमे से एक तथ्य यह है कि सयन्त्र के पैमाने को बदलने पर पैमाने का कौनसा प्रतिफल लागू होता है। यदि सयन्त्र के पैमानो को बदलने से पैमाने के समता प्रतिफल की स्थिति होती है तो दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) एक क्षैतिज सरल रेखा होगी, देखें रेखाचित्र स. 28 5। पैमाने का समता प्रतिफल प्राप्त होने पर OX उत्पत्ति, OX_1 अथवा OX_2 उत्पत्ति के लिए औसत लागत समान रहती है अत LAC एक क्षैतिज सरल वक्र होता है।



उत्पत्ति
चित्र स 28·5

व्यवहार मे LAC की आकृति भी U आकृति जैसी होती है, क्योंकि सयन्त्र के पैमानो मे परिवर्तन करने पर प्रारम्भ मे पैमाने का बढता प्रतिफल, फिर पैमाने का समता प्रतिफल तथा अन्त मे पैमाने का घटता प्रतिफल प्राप्त होता है। अत. प्रारम्भ मे LAC घटता है फिर कुछ देर स्थिर रह कर अन्त मे बढने लगता है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की आकृति U आकृति होते हुये भी यह अल्पकालीन औसत लागत वक्र की तुलना मे अधिक फैलाव रखने के कारण अधिक चपटी होती है। यदि अल्पकालीन औसत लागत वक्रो को स्पर्श करती हुयी एक रेखा खीची जाय तो हमें एक दीर्घकालीन औसत लागत वक्र

प्राप्त होता है। इस वक्र को गणित की भाषा में लपेटन या परिवेष्टन वक्र (Envelope curve) कहते हैं। रेखा चित्र सं. 28·6 पर एक अधिक समतल एवं नियमित LAC वक्र दिखाया गया है जहां फर्म के सामने उत्पादन के असंख्य वैकल्पिक पैमाने उपलब्ध हैं।



उत्पादन की मात्रा
चित्र सं. 28·6

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की विशेषताएं—दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की प्रमुख विशेषताएं निम्न लिखित होती हैं।

(1) दीर्घकालीन औसत लागत सदैव अल्पकालीन औसत लागत से कम होती है। इसकी वक्र कभी भी SAC से ऊपर नहीं हो सकती है।

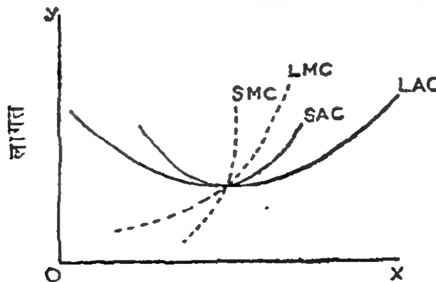
(2) दीर्घकालीन औसत लागत वक्र सदैव अल्पकालीन औसत लागत वक्रों को स्पर्श ही करता है। कभी यह अल्पकालीन औसत लागत वक्रों को काटता नहीं है।

(3) दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का निम्नतम विन्दु उत्पादन की न्यूनतम लागत और फर्म के आदर्श आकार को प्रकट करता है।

(4) दीर्घकालीन औसत लागत वक्र भी U आकृति का होता है। परन्तु यह *अल्पकालीन औसत लागत वक्र से अधिक चपटा होता है।*

दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र (LMC)—दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र तथा अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। दीर्घकालीन सीमान्त लागत भी एक अतिरिक्त इकाई को उत्पन्न करने की लागत होती है। दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र भी दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की तरह अधिक चपटा होता है।

आदर्श फर्म के अनुकूलतम उत्पादन विन्दु पर दीर्घकालीन औसत लागत, दीर्घकालीन सीमान्त लागत, अल्पकालीन औसत लागत तथा अल्पकालीन सीमान्त लागत सब बराबर होती है। यह तथ्य रेखाचित्र सं. 28 7 पर देखा जा सकता है।



उत्पादन की मात्रा
रेखाचित्र 28·7

प्रश्न एवं संकेत

(1) प्रमुख लागत व सहायक लागत के अन्तर लिखिए और इनका किसी वस्तु की कीमत निर्धारण मे महत्व समझाइये।

(संकेत—सर्वप्रथम प्रमुख लागत व सहायक लागत का अर्थ लिखकर उदाहरण एव रेखाचित्र से इन्हे स्पष्ट करें। बाद मे प्रमुख लागत व सहायक लागत का अन्तर बताते हुये मूल्य या कीमत निर्धारण मे इनका महत्व स्पष्ट करदें।)

2 सीमान्त लागत तथा औसत लागत का अर्थ स्पष्ट कीजिए। रेखाचित्रो की सहायता से इनका सम्बन्ध बताइये। मूल्य निर्धारण मे इनका महत्व बताइये।

(संकेत—प्रश्न का उत्तर तीन भागों मे दिया जा सकता है। प्रथम भाग मे सीमान्त एव औसत लागत का अर्थ स्पष्ट कर दें। दूसरे भाग मे सीमान्त लागत व औसत लागत का सम्बन्ध बतावें। इस सम्बन्ध की व्याख्या पुस्तक मे दिये गए दो रेखा चित्रों से करें। अन्तिम भाग मे सीमान्त एव औसत लागत का मूल्य निर्धारण मे महत्व स्पष्ट कर दें।)

(3) दीर्घकाल से आप क्या समझते हैं ? दीर्घकालीन औसत एव सीमान्त लागतों को आवश्यक रेखाचित्रों की सहायता से समझाइये।

(संकेत—प्रथम भाग मे दीर्घकाल का अर्थ लिख दें। द्वितीय भाग मे लिखें कि दीर्घकाल मे औसत एव सीमान्त लागत वक्र ही होती हैं स्थिर लागत वक्र नहीं। अन्त मे दीर्घकालीन औसत लागत व दीर्घ. सीमान्त लागत का अर्थ एव रेखाचित्र दें।)

(4) लागतें कितने प्रकार की होती हैं ? प्रत्येक का सक्षेप मे वर्णन कीजिए।

(संकेत—इस प्रश्न का उत्तर दो तरह से दिया जा सकता है। प्रथम तरीके के अनुसार लागतो के तीन प्रकारों—मौद्रिक लागत, वास्तविक लागत तथा अवसर लागत का वर्णन कर दें। द्वितीय तरीके के अनुसार लागतों को दो वर्गों—अल्पकालीन लागतें तथा दीर्घकालीन लागतो मे बाट कर दोनो वर्गों की विभिन्न प्रकार की लागतों का वर्णन कर दें।)

29 आगम विश्लेषण
(The Revenue Analysis)

प्रत्येक फर्म अथवा उत्पादक का प्रमुख उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना होना है। किसी फर्म का लाभ उस फर्म की कुल आगम तथा कुल लागत का अन्तर होता है। अतः लाभ दो तत्वों पर निर्भर करता है—**लागत तत्व एव आगम तत्व**। एक फर्म का लाभ अधिकतम उस समय होता है जब फर्म उत्पादन हर सम्भव न्यूनतम लागत पर करे तथा अधिक से अधिक मूल्य पर वेचे। लागत विश्लेषण का अध्ययन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इस अध्याय में फर्म की विभिन्न आगमों का अध्ययन किया गया है। अर्थशास्त्री 'आगम' का विचार तीन अर्थों में प्रयोग करते हैं जो क्रमशः कुल आगम, औसत आगम तथा सीमान्त आगम है।

(1) **कुल आगम** (Total Revenue)—कुल आगम वह धनराशि है जो फर्म अपने उत्पादन की एक निश्चित मात्रा का विक्रय करके प्राप्त करती है। वस्तु की वेची गई इकाइयों को प्रति इकाई मूल्य से गुणा कर दिया जाय तो कुल आगम प्राप्त होगी। इसे निम्न सूत्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है—

$$TR = Q \times P$$

जहाँ TR कुल आगम को, Q वस्तु की मात्रा को तथा P वस्तु के मूल्य को व्यक्त करता है।

आगे दी गई तालिका में स्तम्भ एक को स्तम्भ दो से गुणा करके कुल आगम प्राप्त किया गया है।

कुल, औसत एवं सीमान्त आगम

उत्पादन की मात्रा (Output) (1)	प्रति इकाई मूल्य (Price per unit) रुपये (2)	कुल आगम (Total Revenue) रुपये (3)	औसत आगम (Average Revenue) रुपये (4)	सीमान्त आगम (Marginal Revenue) रुपये (5)
1	10	10	10	10
2	9	18	9	8
3	8	24	8	6
4	7	28	7	4
5	6	30	6	2
6	5	30	5	0
7	4	28	4	−2

(2) औसत आगम (Average Revenue)—कुल आगम में वस्तु की बेची गई इकाइयों का भाग देने से औसत आगम प्राप्त होती है। इसे सूत्र के रूप में निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते है—

$$AR = \frac{TR}{Q}$$

जहाँ AR औसत आगम को, TR कुल आगम को तथा Q वस्तु की बेची गई इकाइयों को व्यक्त करता है।

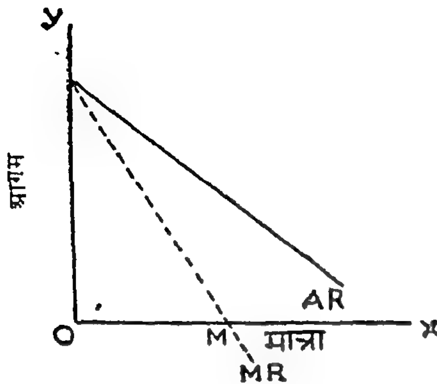
उपरोक्त तालिका में स्तम्भ 3 को स्तम्भ एक से विभाजित कर स्तम्भ 4 में औसत आगम प्राप्त की गई है। उपरोक्त तालिका में देखने से ज्ञात होता है कि स्तम्भ 2 में दिया गया वस्तु का मूल्य तथा स्तम्भ 4 में प्राप्त औसत आगम दोनों एक ही हैं अर्थात् वस्तु का मूल्य तथा औसत आगम दोनो एक ही होते हैं।

औसत आगम को रेखा चित्र पर व्यक्त करने पर बनने वाली वक्र औसत आगम वक्र कहलाती है। औसत आगम वक्र को 'माग वक्र' भी कहते हैं। एक क्रेता वस्तु के लिए जो मूल्य देता है वह विक्रेता की दृष्टि से आगम होती है। अत क्रेता की दृष्टि से जो माँग वक्र होती है वही विक्रेता की दृष्टि से आगम वक्र होती है। औसत आगम वक्र यह बताती है कि फर्म को वस्तु की विभिन्न मात्राओ को बेचने से कितना मूल्य अथवा औसत आगम मिलेगा। बहुत से अर्थशास्त्री औसत आगम वक्र को माग वक्र की तुलना में 'विक्रय वक्र' कहना अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि यह रेखा विभिन्न मूल्यो पर फर्म द्वारा उत्पादित माल की बिक्री की मात्राओ को प्रदर्शित करती है।

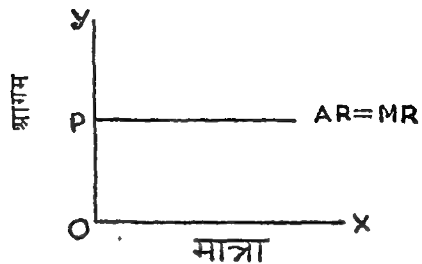
औसत आगम वक्र की आकृति बाजार की विभिन्न स्थितियों में अलग-अलग प्रकार की होती है। पूर्ण प्रतियोगिता मे जहा फर्म मूल्य निर्धारक नहीं बल्कि मूल्य प्राप्त करने वाली होती है वहा औसत आगम वक्र या रेखा एक पड़ी हुयी रेखा (Horizontal line) होती है क्योंकि एक दिये हुये मूल्य पर फर्म चाहे जितनी मात्राए बेच सकती है, उसे मूल्य कम करने की आवश्यकता नहीं होती है। जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता के सभी रूपों में फर्म की औसत आगम वक्र ऊपर से नीचे को गिरती हुयी रेखा होती है क्योंकि फर्म अधिक इकाइया कम मूल्य पर ही बेच सकती है। पूर्ण प्रतियोगिता तथा अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्म के औसत आगम वक्र को पृष्ठ 313 के रेखा चित्र स 29 1 से देखा जा सकता है।

(3) सीमान्त आगम (Marginal Revenue)—एक उत्पादक द्वारा वस्तु की एक और इकाई के विक्रय से कुल आगम में जो वृद्धि होती है वह सीमान्त आगम कहलाती है। उदाहरण के तौर पर पिछली तालिका में 3 इकाइयों के विक्रय से कुल आगम 24 रुपये प्राप्त होती है और 4 इकाइयां बेचने पर कुल आगम 28 रु०

(अ)



(ब)



चित्र सं. 29·1

प्राप्त होती है अतः चौथी इकाई की सीमान्त आगम 28—24 = 4 रुपये हुई। इसे सूत्र द्वारा निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

$$MR = TR_n - TR_{n-1}$$

जहां M R सीमान्त आगम को TR_n फर्म द्वारा N वस्तुओं को बेचने से प्राप्त कुल आगम तथा TR_{n-1} फर्म द्वारा N–1 वस्तुओं को बेचने के कुल आगम को व्यक्त करता है।

सीमान्त आगम को रेखा चित्र पर व्यक्त करने से बनने वाली वक्र सीमान्त आगम वक्र कहलाती है। सीमान्त आगम वक्र की आकृति भी बाजार की विभिन्न अवस्थाओं में अलग-अलग प्रकार की होती है। पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म की सीमान्त आगम रेखा एक पड़ी हुयी रेखा होती है तथा यही फर्म की औसत आगम वक्र भी होती है (देखें रेखा चित्र 29·1 ब)। जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त आगम वक्र भी औसत आगम वक्र की तरह दायीं ओर नीचे को गिरती हुयी एक रेखा होती है (देखें रेखा चित्र 29·1 अ)। अपूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त आगम वक्र औसत आगम वक्र से अधिक तेज गति से गिरती हुयी होती है।

सीमान्त आगम एवं औसत आगम का मूल्य निर्धारण में महत्व—मूल्य निर्धारण में सीमान्त आगम एवं औसत आगम का बहुत महत्व होता है। एक फर्म उस समय सन्तुलन में होती है जब फर्म की सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत दोनों बराबर हों। सन्तुलन बिन्दु पर फर्म को अधिकतम लाभ हो सकता है या न्यूनतम हानि हो सकती है या न लाभ तथा न हानि हो सकती है। यदि सन्तुलन बिन्दु पर फर्म की औसत आगम वक्र औसत लागत वक्र से ऊपर होती है तो फर्म को लाभ होता है, औसत आगम वक्र औसत लागत वक्र से नीचे होगी तो हानि होगी और औसत आगम वक्र एवं औसत लागत वक्र दोनों एक ही होंगी तो फर्म को न लाभ होगा और न हानि होगी।

प्रश्न एवं संकेत

1. आगम के विचार से आप क्या समझते हैं ? एक फर्म की विभिन्न आगमों का रेखा चित्रों की सहायता से स्पष्टीकरण कीजिये ।

(संकेत—सर्वप्रथम आगम शब्द का अर्थ लिखें। बाद मे आगम के तीनों प्रकारों का वर्णन करें तथा आवश्यक रेखा चित्र भी दें।)

2. एक फर्म के औसत एव सीमान्त आगम के बीच अन्तर बताइये। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत इनका वस्तु के मूल्य निर्धारण से सम्बन्ध बताइये।

(संकेत—प्रथम भाग में औसत एव सीमान्त आगम का अर्थ लिख कर इनका अन्तर लिख दें। द्वितीय भाग मे पूर्ण प्रतियोगिता मे इनकी आकृति बताते हुये मूल्य निर्धारण से सम्बन्ध बता दें।)

---

30 मूल्य-निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त
(General Theory of Value)

मूल्य-निर्धारण सिद्धान्त आर्थिक विश्लेपण का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। प्रो. बोल्डिंग ने अर्थशास्त्री के साम्राज्य का $\frac{9}{10}$ भाग विनिमय को माना है जो कि मूल्य-निर्धारण से ही सम्बन्धित है। उन्हीं के शब्दों में "Indeed, it is hardly too much to say that the study of exchange comprises nine-tenths of the econmist's domain." वास्तव में अर्थशास्त्र में मूल्य-निर्धारण की समस्या का महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों में मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध में अत्यधिक मतभेद रहे हैं।

सर्वप्रथम एडम स्मिथ तथा डेविड रिकार्डो ने वस्तु के मूल्य-निर्धारण के संबंध में मूल्य का श्रम सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन में लगे श्रम के बराबर होता है। अतः जिस वस्तु में जितना अधिक श्रम लगेगा उसका मूल्य उतना ही अधिक होगा। उदाहरणार्थ एक लकड़ी के सन्दूक के उत्पादन में चार दिन का श्रम लगे तथा एक चारपाई के निर्माण में एक दिन का श्रम लगे तो सन्दूक का मूल्य चारपाई से चार गुना होगा। इस सिद्धान्त में उत्पादन की केवल श्रम लागत के बारे में विचार किया जाता है जबकि उत्पादन में श्रम के अतिरिक्त अन्य साधनों की लागतें भी सम्मिलित होती हैं। अतः एडमस्मिथ तथा रिकार्डो के सिद्धान्तों में सीनियर एवं मिल आदि ने संशोधन किये तथा उन्होंने मूल्य-निर्धारण का उत्पादन लागत सिद्धान्त (Cost of Production Theory of Value) बताया। उत्पादन लागत सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन में प्रयुक्त सभी साधनों की लागत के बराबर होता है अर्थात उत्पादन लागत में श्रम के अतिरिक्त पूंजी, जोखिम, सगठन आदि की लागत को भी सम्मिलित किया जाता है। यह सिद्धान्त एक पक्षीय है क्योंकि यह केवल वस्तु की लागत अथवा पूर्ति पर विचार करता है अतः इसकी आलोचना की जाती है और इसे स्वीकार भी नहीं किया जाता है।

कुछ अर्थशास्त्रियों के द्वारा मूल्य के उपयोगिता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। इनमें गोसेन, जेवन्स तथा क्लार्क आदि के नाम प्रमुख हैं। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता पर निर्भर करता है। जिस वस्तु में जितनी अधिक उपयोगिता होगी उसका मूल्य उतना ही अधिक होगा। वस्तु का मूल्य वस्तु

की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होता है। यह वस्तु के मूल्य का उपयोगिता सिद्धान्त भी एक पक्षीय है क्योंकि यह वस्तु की मांग अथवा उपयोगिता पर ही विचार करता है। अत यह सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है।

मार्शल ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मूल्य के उत्पादन लागत सिद्धान्त तथा मूल्य के उपयोगिता सिद्धान्त दोनों को एक साथ मिला कर मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त (General Theory of Value) अथवा मूल्य निर्धारण का माग और पूर्ति का सिद्धान्त (Demand and Supply Theory of Value) प्रस्तुत किया। मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार न तो वस्तु का मूल्य केवल वस्तु की पूर्ति के द्वारा निश्चित होता है और न ही केवल वस्तु की माग द्वारा। बल्कि वस्तु का मूल्य वस्तु की माग तथा पूर्ति दोनों की शक्तियों द्वारा वहां निर्धारित होता है जहां वस्तु की माग और पूर्ति दोनों एक दूसरे के बराबर होती हैं।

मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त

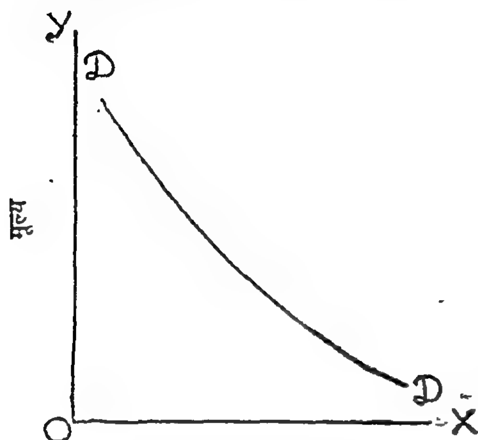
(General Theory of Value)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त प्रो. अल्फ्रेड मार्शल द्वारा प्रस्तुत किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का मूल्य उसकी माग तथा पूर्ति दोनों द्वारा निर्धारित होता है। मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त का अध्ययन करने के लिए वस्तु के माग पक्ष तथा पूर्ति पक्ष दोनों का ज्ञान करना आवश्यक है।

माग पक्ष

माग पक्ष मे इस बात का अध्ययन किया जाता है कि उपभोक्ता किसी वस्तु की माग क्यों करता है, वह किसी वस्तु का मूल्य क्यो देने को तत्पर होता है तथा वह किसी वस्तु का अधिकतम कितना मूल्य दे सकता है ? उपभोक्ता किसी वस्तु की माग उसकी उपयोगिता के कारण करता है अर्थात् वस्तु म उपभोक्ता की आवश्यकता सतुष्टि का गुण होता है इसलिए उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की सतुष्टि के लिए वस्तु की मांग करता है। उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की सतुष्टि के लिए वस्तु को प्राप्त करना चाहता है तथा इसके बदले में वह कुछ त्याग करने को तैयार रहता है। यह त्याग प्राय द्रव्य के रूप मे किया जाता है, जिसे मूल्य कहते है। उपभोक्ता किसी वस्तु के लिए यह त्याग या मूल्य उसकी उपयोगिता के अनुसार करता है। जिस वस्तु मे अधिक उपयोगिता होती है उसके लिए उपभोक्ता अधिक मूल्य देन को तत्पर होता है तथा जिसमे कम उपयोगिता होती है उसके लिए कम ही मूल्य देता ह। एक उपभोक्ता एक वस्तु के लिए कम से कम मूल्य देना चाहता है किन्तु वह किसी भी दशा में वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता स अधिक नहीं देना चाहता है। इस प्रकार माग पक्ष म वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता से किसी भी स्थिति मे अधिक नहीं हो सकता है।

किसी वस्तु की मांग, मांग के नियम द्वारा निर्धारित होती है। मांग का नियम, जिसका अध्ययन हम पहले कर चुके हैं, बताता है कि किसी वस्तु की कम मूल्य पर अधिक तथा अधिक मूल्य पर कम माग होती है। मांग के नियम के अनुसार मांग वक्र बाएं से दायें को नीचे को झुकती हुयी होती है जैसा कि रेखा चित्र संख्या 30.1 से स्पष्ट होता है। यह तथ्य इस बात को बताता है कि किसी वस्तु की अधिक मांग कम मूल्य पर की जाती है तथा अधिक मूल्य पर कम मांग की जाती है। मांग वक्र से दो बातें ज्ञात होती हैं (i) निश्चित मूल्य पर वस्तु की मांगी जाने वाली मात्रा तथा (ii) उस मात्रा की सीमान्त उपयोगिता।

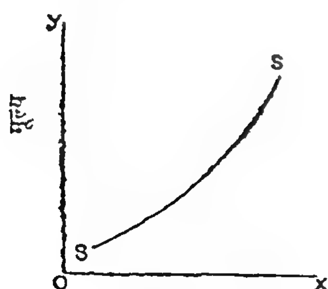


वस्तु की मांगी गई मात्रा
रेखा चित्र सं. 30.1

पूर्ति पक्ष

पूर्ति पक्ष की ओर से इस बात का अध्ययन किया जाता है कि किसी वस्तु की पूर्ति क्यों की जाती है, किसी वस्तु का मूल्य क्यों मांगा जाता है तथा वस्तु की पूर्ति के लिए कम से कम कितना मूल्य लिया जाता है ? एक उत्पादक लाभ कमाने के लिए वस्तुओं की पूर्ति करता है। वस्तुओं के उत्पादन में प्रत्येक उत्पादक को कुछ न कुछ लागत लगती है अतः वह अपनी लागत प्राप्त करने के लिए मूल्य मांगता है तथा वह वस्तु को अपनी उत्पादन लागत से कम पर नहीं बेचना चाहेगा। अतः पूर्ति पक्ष की ओर से उत्पादन लागत अथवा व्यय वस्तु के मूल्य की न्यूनतम सीमा होती है।

वस्तु की पूर्ति, पूर्ति के नियम द्वारा निर्धारित होती है। पूर्ति का नियम, जिसका हम पहले अध्ययन कर चुके हैं, बताता है कि एक उत्पादक वस्तु के अधिक मूल्य पर उसकी अधिक पूर्ति करता है। बाजार की वस्तु की पूर्ति सारणी को रेखा चित्र पर व्यक्त करने पर हमें पूर्ति वक्र प्राप्त होता है जो बायें से दायें को ऊपर को उठता हुआ होता है जैसा कि रेखा चित्र सं 30.2 से ज्ञात होता है। पूर्ति वक्र से दो बातें ज्ञात होती है—(i) निश्चित मूल्य पर वस्तु की पूर्ति की जाने वाली मात्रा तथा (ii) उस मात्रा के उत्पादन की सीमान्त लागत।



पूर्ति की मात्रा
रेखा चित्र स० 30.2

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि वस्तु के मूल्य की दो सीमाएं होती हैं। मांग पक्ष की ओर से वस्तु की सीमान्त उपयोगिता मूल्य की उच्चतम सीमा होती है तथा पूर्ति पक्ष

की ओर से वस्तु की सीमान्त लागत मूल्य की निम्नतम सीमा होती है। मूल्य इन दोनों सीमाओं के मध्य ही कहीं निर्धारित होता है।

माग एव पूर्ति का सतुलन

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे वस्तु का मूल्य अन्तिम रूप से माग एव पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियो द्वारा निर्धारित होता है। पूर्ण प्रतियोगिता म क्रेताओ एव विक्रेताओ मे प्रतिस्पर्धा होती है। क्रेता यह प्रयत्न करता है कि वह कम से कम मूल्य दे। वह किसी भी स्थिति म वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य नही देना चाहेगा। दूसरी ओर विक्रेता अथवा उत्पादक यह प्रयत्न करता है कि वह अपनी वस्तु का अधिक से अधिक मूल्य वसूल करे। वह किसी भी स्थिति मे वस्तु की सीमान्त लागत से कम मूल्य स्वीकार नही करना चाहेगा। इस प्रकार क्रेता की ओर से वस्तु के मूल्य की अधिकतम सीमा तथा विक्रेता की ओर से वस्तु के मूल्य की न्यूनतम सीमा निर्धारित हो जाती है। वास्तविक मूल्य इन दो सीमाओ के मध्य वहा निर्धारित होता है जहा माग एव पूर्ति की परस्पर विरोधी शक्तिया एक दूसरे के समान या बराबर हो जाती हैं। जिस बिन्दु पर माग एव पूर्ति बराबर होती हैं उसे सतुलन या साम्य बिन्दु कहते हैं। इस साम्य बिन्दु पर निर्धारित मूल्य को साम्य मूल्य कहते हैं।

केवल साम्य या सतुलन मूल्य पर ही दोनों क्रेता तथा विक्रेता सतुष्ट होते हैं। यदि वस्तु का मूल्य साम्य मूल्य से कम या अधिक होगा तो क्रेताओ एव विक्रेताओ की इच्छाए पूरी नही होगी, ऐसी स्थिति म या तो क्रेता पूर्ति की गई मात्रा से अधिक की माग करेंगे या विक्रेता मागी गई मात्रा से अधिक की पूर्ति करने को तैयार होगे।

यदि किसी वस्तु का मूल्य साम्य मूल्य से अधिक है तो ऐसी स्थिति मे वस्तु के विक्रेताओ द्वारा वस्तु की पूर्ति उसकी मागी गई मात्रा से अधिक की जावेगी। परिणाम स्वरूप कुछ विक्रेता वस्तु की वह मात्रा पूरी तरह नही बेच पाएगे जिसकी पूर्ति व उस मूल्य पर करना चाहते है। य असतुष्ट विक्रेता वस्तु की अधिक मात्रा बेचने के लिए मूल्य कम कर देंगे। इस प्रकार मूल्य कम होने की प्रवृत्ति उस समय तक चलती रहती है जब तक वस्तु की मागी गई मात्रा वस्तु की पूर्ति की गई मात्रा के बराबर नही हो जाती।

दूसरी तरफ यदि किसी वस्तु का मूल्य साम्य मूल्य से कम है तो उस वस्तु की मागी गई मात्रा वस्तु की पूर्ति की गई मात्रा से अधिक होगी। परिणामस्वरूप कुछ क्रेता वस्तु की उतनी मात्रा नही खरीद सकेगे जितनी वे उस मूल्य पर खरीदना चाहते हैं। अत ये असतुष्ट क्रेता वस्तु का अधिक मूल्य देने को तैयार हो जावेंगे। मूल्य बढने की यह प्रवृत्ति उस समय तक चालू रहेगी जब तक वस्तु की मागी गई मात्रा उसकी पूर्ति की गई मात्रा के बराबर नही हो जाती। अत बाजार म जो अन्त

में मूल्य निर्धारित होगा वह साम्य मूल्य से न अधिक होगा और न कम। यह संतुलन या साम्य मूल्य ही अन्ततः बाजार में प्रचलित रहेगा।

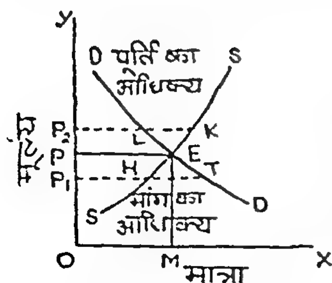
साम्य मूल्य या संतुलन मूल्य निर्धारण को एक उदाहरण तथा रेखा चित्र की सहायता से समझाया जा सकता है। नीचे की तालिका में टेरी-कोट के कपड़े की मांग तथा पूर्ति की अनुसूचियां दी गई है।

मांग एवं पूर्ति में साम्य द्वारा मूल्य निर्धारण

मूल्य (रु० प्रति मीटर)	मांग मात्रा (हजार मीटरों में)	पूर्ति मात्रा (हजार मीटरों में)	मूल्य पर दबाव
15	300	20	↓
20	250	40	↓
25	200	90	↓
30	150	150	साम्य
35	90	200	↑
40	40	250	↑
45	20	300	↑

इस तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि कपड़े का मूल्य 30 रुपये प्रति मीटर होने पर ही उसकी मांग तथा पूर्ति की मात्रा बराबर होती है अतः बाजार में टेरी-कोट कपड़े का मूल्य 30 रुपये प्रति मीटर निर्धारित होगा। केवल इसी मूल्य पर सभी क्रेता एवं विक्रेता संतुष्ट होंगे। यदि मूल्य 25 रुपये (अर्थात साम्य मूल्य से कम) है तो वस्तु की मांग 200 हजार मीटर होगी जबकि पूर्ति केवल 90 हजार मीटर ही होगी। अतः अनेक क्रेताओं को कपड़ा नहीं मिल सकेगा। परिणाम स्वरूप मूल्य बढ़ने की प्रवृत्ति होगी तथा यह बढ़ते-बढ़ते 30 रुपये प्रति मीटर हो जावेगा। इसी तरह यदि मूल्य 40 रुपये प्रति मीटर है तो वस्तु की पूर्ति 250 हजार मीटर होगी जबकि मांग 40 हजार मीटर ही है। अतः अनेक विक्रेता अपना माल नहीं बेच पाने के कारण मूल्य कम करेंगे। मूल्य कम होने की यह प्रवृत्ति उस समय तक बनी रहेगी जब तक मूल्य घट कर 30 रुपये प्रति मीटर नहीं हो जाता।

मूल्य-निर्धारण प्रक्रिया को एक रेखा चित्र की सहायता से भी स्पष्ट किया जा सकता है। रेखा चित्र 30·3 में ऐसा ही किया गया है। रेखा चित्र में OX अक्ष



रेखा चित्र संख्या 30·3

पर वस्तु की मांग एवं पूर्ति की मात्रा दिखाई गई है जबकि OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य। DD मांग वक्र है जो बायें से दायें को नीचे गिरता हुआ है तथा SS पूर्ति वक्र है जो बायें से दायें को ऊपर चढ़ता हुआ है। मांग एवं पूर्ति E बिन्दु पर साम्य अथवा संतुलन में हैं जहां वस्तु का OP मूल्य निर्धारित होता है। इस OP साम्य मूल्य पर वस्तु की बेची जाने वाली तथा खरीदी जाने

वाली मात्रा OM है । OM वस्तु की साम्य मात्रा तथा OP वस्तु का साम्य मूल्य होगा । यदि वस्तु का मूल्य इस साम्य मूल्य से माना कि अधिक OP_2 है तो इस मूल्य पर वस्तु की माग P_2L है जबकि पूर्ति P_2K है अर्थात् पूर्ति का मांग पर LK आधिक्य है । LK अतिरिक्त-पूर्ति (Excessive Supply) को क्रेता खरीदने को तैयार नही हैं । अत इस LK अतिरिक्त पूर्ति को विक्रेता वेचने के लिए आपस में प्रतिस्पर्धा करेंगे तथा इसके लिए कुछ विक्रेता मूल्य कम करने को तैयार होंगे । अत मूल्यों के कम होने की प्रवृत्ति होगी तथा मूल्य घट कर OP हो जायगा ।

अब यदि हम यह मानलें की मूल्य OP_1 अर्थात् साम्य मूल्य OP से कम होता है तो इस मूल्य पर वस्तु की माग P_1T की जाती है जबकि पूर्ति P_1H ही की जाती है अर्थात् वस्तु की माग का पूर्ति पर HT आधिक्य रहता है । परिणाम स्वरूप सभी क्रेताओं को इच्छित मात्रा मे वस्तु नहीं मिल पाती है अत वे वस्तु के क्रय के लिए प्रतिस्पर्धा करेंगे । इस प्रतिस्पर्धा म अनेक क्रेता वस्तु का अधिक मूल्य देने को तैयार होंगे । इससे मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति होगी तथा मूल्य बढ़कर OP हो जायगा । अन्तत यही साम्य मूल्य बाजार में प्रचलित रह सकेगा ।

उपरोक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब भी बाजार मे मूल्य साम्य मूल्य से अधिक या कम होता है तो कुछ ऐसी शक्तियां काम करने लगती हैं जो मूल्य को पुन साम्य मूल्य पर ला देती हैं । अत अन्तत बाजार में वही मूल्य निर्धारित होता है जहा माग व पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं । यह साम्य मूल्य माग अथवा पूर्ति अथवा दोनो के बदल जाने पर बदल जाता है । वस्तु की माग उपभोक्ताओं की आय, रुचि, अन्य वस्तुओं के मूल्य, समय परिवर्तन आदि के कारण परिवर्तित हो जाती है । इसी तरह पूर्ति उत्पादन लागतो म परिवर्तन, नये आविष्कार, कच्चे माल की खोज, उत्पादकों क दृष्टिकोण मे परिवर्तन आदि के कारण परिवर्तित हो जाती है । मांग एवं पूर्ति की दशाओं मे परिवर्तन होने पर साम्य मूल्य भी परिवर्तित हो जाता है तथा नये स्तर पर मूल्य निर्धारित हो जाते हैं ।

प्रश्न एवं सकेत

1. मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त की विवेचना करते हुये समझाइये कि माग और पूर्ति का सतुलन किस प्रकार होता है ?

(सकेत मार्शल द्वारा प्रतिपादित मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त का वर्णन देते हुये इसे तालिका एवं रेखा चित्रों की सहायता से स्पष्ट करते हुये बतावें कि माग एवं पूर्ति वक्र एक दूसरे को जहा काटते हैं वहा सतुलन या साम्य मूल्य निर्धारित होता है ।)

साम्य मूल्य' से आप क्या समझते हैं ? पूर्ण प्रतियोगिता म यह कैसे निर्धारित होता है ? समझाइये ।

(सकेत · 2 साम्य मूल्य का अर्थ लिख कर यह बतावें कि यह माग तथा पूर्ति के साम्य से निर्धारित होता है । इसे स्पष्ट करने के लिए माग पक्ष पूर्ति पक्ष तथा माग व पूर्ति के सतुलन द्वारा मूल्य निर्धारण को स्पष्ट करदें ।)

31

मूल्य निर्धारण में समय तत्व—बाजार मूल्य एवं सामान्य मूल्य
(Time Element in the Determination of Value-Market Price and Normal Price)

मार्शल ने मूल्य-निर्धारण का जो सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया उसका अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। मूल्य-निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार मूल्य मांग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। मूल्य-निर्धारण सिद्धान्त में समय तत्व का अत्यधिक महत्व होता है। मूल्य-निर्धारण में समय तत्व के प्रभाव की व्याख्या सर्वप्रथम प्रो. अल्फ्रेड मार्शल द्वारा की गई थी। समय तत्व मूल्य-निर्धारण में इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वस्तु की पूर्ति, जो मूल्य की एक निर्धारक तत्व है, समय अवधि पर निर्भर करती है। पूर्ति मांग के अनुरूप एकदम नहीं बदल सकती है। पूर्ति को बदलने में समय लगता है क्योंकि पूर्ति में परिवर्तन के लिए फर्मों के आकार, पैमाने तथा संगठन में परिवर्तन करने होते हैं। मार्शल ने, पूर्ति को मांग के अनुरूप बदलने में जो समय लगता है, उसके अनुसार समय को चार वर्गों में बांटा है, जो क्रमशः अति अल्पकाल, अल्पकाल, दीर्घकाल तथा अति दीर्घकाल हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री आर्थिक विश्लेषण में प्रथम तीन को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं तथा चौथे को विशेष महत्व नहीं देते हैं।

यहाँ यह बात विशेष रूप से स्पष्ट करने की है कि मार्शल ने समय का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया है वह घड़ी समय (Clock time) अथवा कलैण्डर समय (Calender time) के आधार पर नहीं अपितु क्रियात्मक समय (Operational time) के आधार पर किया है, अर्थात् मार्शल ने समयावधि को, आर्थिक शक्तियां कुछ परिवर्तनों के अनुरूप बदलने में कितना समय लेती हैं, के आधार पर विभिन्न वर्गों में बांटा है।

(1) अति अल्पकाल (Very Short Period)—अति अल्पकाल समय की वह अवधि होती है जिसमें वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है अर्थात पूर्ति की दशाओं में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो सकता है। इस अवधि में समय इतना कम होता है जिसमें वस्तु की पूर्ति केवल स्टॉक में रखे माल तक ही बढ़ायी जा सकती है। इस अवधि में मांग में वृद्धि होने पर पूर्ति को नहीं बढ़ाया जा सकता है। अतः अति अल्पकाल में मूल्य-निर्धारण में मांग का प्रभाव सर्वाधिक होता है। अति अल्पकाल एक दिन, कुछ दिन अथवा कुछ सप्ताह हो सकता है जो वस्तु की प्रकृति पर निर्भर करता है। उदाहरण के तौर पर दूध, मछली, फल आदि नाशवान वस्तुओं के लिए

अति अल्पकाल एक दिन और लोहा एवं इस्पात, कपड़ा आदि के लिए कुछ सप्ताह अति अल्पकाल हो सकता है। अति अल्पकाल में संतुलन को बाजार संतुलन तथा अति अल्पकालीन मूल्य को बाजार मूल्य के नाम से पुकारते हैं।

(2) अल्पकाल (Short Period)—अल्पकाल वह समय-अवधि होती है जिसमें वस्तु की पूर्ति उत्पादन के वर्तमान पैमाने के अधिकतम प्रयोग तक बढ़ायी जा सकती है। अल्पकाल में एक उत्पादक के पास इतना समय होता है कि मांग बढ़ने पर वह वस्तु की पूर्ति उत्पादन के पैमाने के गहन प्रयोग द्वारा बढ़ा सकता है तथा मांग में कमी होने पर वर्तमान उत्पादन के पैमाने का कम प्रयोग करके पूर्ति को कम कर सकता है। परन्तु उत्पादक के पास इतना समय नहीं होता कि वह वस्तु की मांग बढ़ने पर अपने उत्पत्ति के पैमाने को बदल सके। अल्पकाल में फर्म परिवर्तनशील साधनों की मात्रा में इच्छित परिवर्तन कर सकती है परन्तु स्थिर साधनों की मात्रा को कम या अधिक नहीं कर सकती। अल्पकाल में मूल्य निर्धारण में मांग के साथ साथ पूर्ति का भी प्रभाव पड़ता है तथा फर्म का पूर्ति वक्र बायें से दायें को ऊपर चढ़ता हुआ होता है तथा इस पर उत्पादन के नियमों का प्रभाव पड़ता है। अल्पकाल में मूल्य वस्तु की अल्पकालीन मांग एवं पूर्ति के संतुलन द्वारा निर्धारित होता है। इस संतुलन को अल्पकालीन संतुलन तथा मूल्य को अल्पकालीन मूल्य कहते हैं।

(3) दीर्घकाल (Long Period)—दीर्घकाल वह समय अवधि होती है जिसमें उत्पादन के सभी साधनों में यथेष्ट परिवर्तन किये जा सकते हैं। दीर्घकाल में फर्म उत्पादन के नये पैमाने को अपना सकती हैं तथा पुराने पैमाने को छोड़ सकती हैं। दीर्घकाल में एक उद्योग में नई फर्म प्रवेश कर सकती हैं तथा पुरानी फर्म उद्योग छोड़ कर बहिर्गमन कर सकती हैं। इस अवधि में मांग को पूर्ति के अनुसार पूर्ण रूप से समायोजित किया जा सकता है। इसलिए मूल्य निर्धारण में पूर्ति का प्रभाव अधिक प्रबल होता है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में दीर्घकाल में एक फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होता है। इस अवधि में मांग एवं पूर्ति के संतुलन को दीर्घकालीन संतुलन तथा मूल्य को दीर्घकालीन सामान्य मूल्य कहते हैं।

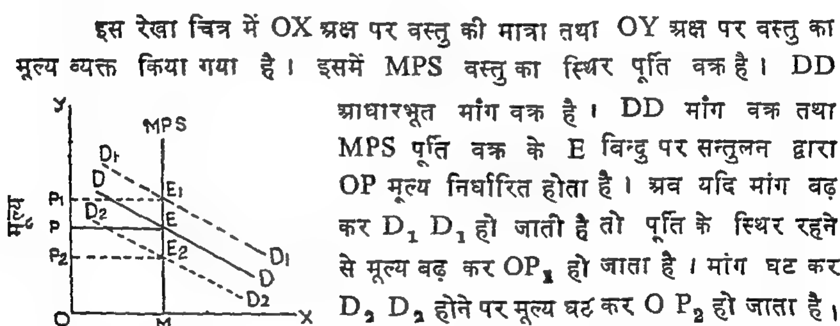
(4) अति दीर्घकाल (Uery Long Period)—अति दीर्घकाल वह समय-अवधि होती है जिसमें मांग तथा पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्व भी बदल जाते हैं। अति दीर्घकाल में जनसंख्या का आकार, कच्चे माल की पूर्ति, पूंजी की पूर्ति, उत्पादन की तकनीक उपभोक्ताओं की आदत तथा रुचि आदि परिवर्तित हो जाते हैं। यह बहुत लम्बी अवधि होती है, जिसमें मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया अत्यन्त कठिन है क्योंकि भविष्य में मांग तथा पूर्ति के तत्वों में किस प्रकार के परिवर्तन होंगे उन्हें जानना बहुत मुश्किल है।

अभी तक हम विभिन्न समय अवधियों के अर्थ तथा अवधियों में पूर्ति के परिवर्तन की सम्भावनाओं का अध्ययन कर चुके हैं। अब हम इन विभिन्न समय अवधियों में मांग एवं पूर्ति में किस प्रकार संतुलन स्थापित होकर, मूल्य निर्धारित होता है, का अध्ययन करेंगे।

अति अल्पकाल में मूल्यनिर्धारण (Price Determination in Very Short Period)

अति अल्पकाल में मूल्य मांग एवं पूर्ति के अस्थायी सन्तुलन द्वारा निर्धारित होता है। जैसा कि हम पिछले पृष्ठों पर अध्ययन कर चुके हैं कि अति अल्पकाल में वस्तु की पूर्ति केवल स्टाक में रखी मात्रा तक बढ़ायी जा सकती है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि उत्पादक वस्तु की पूर्ति को बाजार में अति अल्पकाल में स्टाक में रखी समस्त मात्रा तक बढ़ाये वस्तु की पूर्ति को स्टाक की समस्त मात्रा तक बढ़ाया जायगा या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि वस्तु नाशवान है अथवा टिकाऊ। नाशवान वस्तुओं जैसे हरी सब्जियां, दूध, मछली, आदि को अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रखा जा सकता है क्योंकि ये शीघ्र खराब हो जाती हैं। अतः इनके समस्त स्टाक की बाजार में पूर्ति करनी होती है चाहे वस्तु का मूल्य कितना ही क्यों न हो। अर्थात् नाशवान वस्तुओं की पूर्ति वक्र एक उदग्र सीधी रेखा (Veriticat Straight line) होती है। अति अल्पकाल में नाशवान वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण पर केवल मांग के परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है। मांग बढ़ने पर मूल्य बढ़ जाता है तथा मांग घटने पर मूल्य भी घट जाता हैं। इस तथ्य को रेखा चित्र 31·1 से स्पष्ट किया गया है।

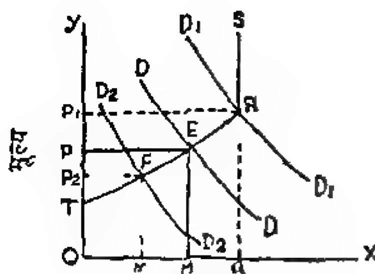
इस रेखा चित्र में OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा तथा OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य व्यक्त किया गया है। इसमें MPS वस्तु का स्थिर पूर्ति वक्र है। DD आधारभूत मांग वक्र है। DD मांग वक्र तथा MPS पूर्ति वक्र के E बिन्दु पर सन्तुलन द्वारा OP मूल्य निर्धारित होता है। अब यदि मांग बढ़ कर D_1 D_1 हो जाती है तो पूर्ति के स्थिर रहने से मूल्य बढ़ कर OP_1 हो जाता है। मांग घट कर D_2 D_2 होने पर मूल्य घट कर O P_2 हो जाता है।



वस्तु की मात्रा

रेखा चित्र 31·1

यदि उत्पादकों द्वारा टिकाऊ वस्तु का उत्पादन तथा विक्रय किया जाता है तो वे अति अल्पकाल में वस्तु की स्टाक में रखी समस्त मात्रा को बेचने को बाध्य नहीं होते हैं। वे बाजार में मूल्य कम होने पर वस्तु को स्टाक में रोके रख कर उस समय तक प्रतीक्षा कर सकते हैं जब तक वस्तु का मूल्य अधिक लाभकारी तथा अनुकूल न हो जाए। अतः वे वस्तु की कम मूल्य पर कम पूर्ति करते हैं तथा अधिक मूल्य पर अधिक। वे वस्तु की समस्त मात्रा एक विशेष ऊंचे मूल्य पर बेचने को तैयार हो जायेंगे तथा उससे अधिक मूल्य पर वस्तु की पूर्ति वक्र उदग्र सीधी रेखा का रूप धारण कर लेता है। इस तथ्य को रेखा चित्र 31·2 पर स्पष्ट किया गया है।



वस्तु की मात्रा
रेखा चित्र 31 2

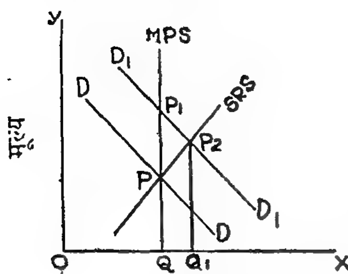
इस रेखा चित्र में वस्तु का पूर्ति वक्र T R S है जो T से R तक ऊपर चढ़ता हुआ है तथा R बिन्दु पर उदग्र सीधी रेखा का रूप धारण कर लेता है अर्थात् वस्तु की पूर्ति अति अल्पकाल मे O Q मात्रा तक सीमित है। आधार भूत माग वक्र D D इस पूर्ति वक्र को E विन्दु पर काटता है जहा वस्तु की O M मात्रा का क्रय-विक्रय O P मूल्य पर होता है। तथा शेष मात्रा स्टाक में रखी जाती है। माग बढ कर $D_1 D_1$ होने पर नया सन्तुलन बिन्दु R होता है जिस पर वस्तु की समस्त O Q मात्रा $O P_1$ मूल्य पर बेच दी जाती है। मांग घट कर D_2 D_2 होने पर नया सन्तुलन F बिन्दु पर होता है जहा केवल O N मात्रा $O P_2$ मूल्य पर बेची जाती है तथा शेष माल स्टाक में रोक कर रखा जाता है। माग O Q मात्रा से अधिक होने पर मूल्य बढता जायगा परन्तु पूर्ति O Q मात्रा तक ही सीमित रहेगी।

अल्पकाल मे मूल्य-निर्धारण

(Price Determination in Short Period)

अल्पकाल मे मूल्य वस्तु की माग तथा पूर्ति के अल्पकालीन सतुलन द्वारा निर्धारित होता है। अल्पकाल वह समय-अवधि होती है जिसमे वस्तु की पूर्ति में पूर्णरूपेण परिवर्तन तो संभव नहीं होते परन्तु पूर्ति को उत्पादन के वर्तमान पैमाने के गहन प्रयोग अथवा कम प्रयोग द्वारा बढाया-घटाया जा सकता है। अल्पकाल मे एक फर्म उत्पादन के परिवर्तनशील साधनो की मात्र मे इच्छित परिवर्तन कर सकती है परन्तु स्थिर साधनो को परिवर्तित नही किया जा सकता। इस समय-अवधि मे उद्योग विशेष मे नई फर्में प्रवेश नही कर सकती हैं तथा न ही उद्योग मे लगी फर्में बहिर्गमन कर सकती हैं। इस अवधि मे एक फर्म मूल्य निर्धारण मे स्थिर लागतो पर विचार नही करती है क्योकि यदि मूल्य स्थिर लागतो को पूरा नहीं करता तब भी वह इस अवधि मे उत्पादन जारी रखती है बशर्ते फर्म को औसत परिवर्तनशील लागतो से अधिक मूल्य प्राप्त हो। अल्पकाल मे उत्पादन बद करने पर भी फर्म को स्थिर लागतों के बराबर हानि होती है। अत एक फर्म अल्पकाल मे औसत परिवर्तनशील लागतों से कम मूल्य प्राप्त होने पर उत्पादन बद करने का निर्णय ले लेती है। इस अवधि में पूर्ति की दशाओं मे कुछ मात्रा मे परिवर्तन सभव होते हैं। इसीलिए अल्पकाल में मूल्य पर माग के प्रभाव की अधिकता के साथ सीमित मात्रा मे पूर्ति का भी प्रभाव पडता है। अल्पकाल मे मूल्य निर्धारण को रेखा चित्र 31 3 द्वारा स्पष्ट किया गया

है। इस रेखा चित्र में OX अक्ष पर वस्तु की मांग तथा पूर्ति की मात्रा तथा OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य व्यक्त किया गया है। MPS वस्तु का अति अल्पकालीन पूर्ति वक्र तथा SRS वस्तु का अल्पकालीन पूर्ति (Short Run Supply) वक्र है। आधार भूत प्रारम्भिक माँग वक्र DD है। रेखा चित्र से ज्ञात होता है कि आधार भूत मांग वक्र DD तथा पूर्ति वक्र SRS के संतुलन द्वारा QP मूल्य निर्धारित होता है जिस पर वस्तु की OQ मात्रा वेची जाती है। जब मांग बढ़कर D_1D_1 हो जाती है तब मूल्य नये संतुलन द्वारा Q_1P_2 होता है जिस पर वस्तु की OQ_1 मात्रा का क्रय-विक्रय किया जाता है। Q_1P_2 मूल्य QP मूल्य से अधिक है परन्तु यह उस मूल्य से कम है जो वस्तु की पूर्ति अति अल्पकाल में बिल्कुल स्थिर रहने पर P_1Q होता।



वस्तु की मात्रा
रेखा चित्र 31·3

उपरोक्त रेखा चित्र से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—(1) अल्पकालीन मूल्य पर मांग के अधिक प्रभाव के साथ पूर्ति का भी कुछ प्रभाव पड़ता है तथा (2) अल्पकाल में मांग बढ़ने पर मूल्य में वृद्धि होती है परन्तु यह वृद्धि अति अल्पकाल में मांग बढ़ने पर होने वाली वृद्धि से कम होती है।

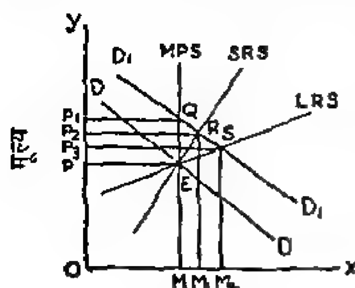
दीर्घकाल में मूल्य-निर्धारण

(Price Determination in the Long Run)

दीर्घकाल में मूल्य वस्तु की मांग तथा पूर्ति के दीर्घकालीन संतुलन द्वारा निर्धारित होता है। दीर्घकालीन मूल्य को सामान्य मूल्य भी कहते हैं। दीर्घकाल इतना लम्बा काल होता है जिसमें मांग के परिवर्तन के अनुरूप पूर्ति को पूर्णरूपेण समायोजित किया जा सकता है। दीर्घकाल में कोई भी स्थिर-साधन नहीं होता है सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। दीर्घकाल में उद्योग में नई फर्में प्रवेश कर सकती हैं तथा पुरानी फर्में बहिर्गमन कर सकती हैं। फर्में अपने उत्पादन के पैमाने में इच्छित परिवर्तन कर सकती हैं। इस अवधि में फर्में मूल्य निर्धारण में कुल लागत पर विचार करती हैं। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है।

इस अवधि में पूर्ति की मात्रा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना संभव होता है। मांग के परिवर्तनों के अनुसार पूर्ति को पूर्णरूपेण समायोजित किया जा सकने के कारण मूल्य-निर्धारण क्रिया पर वस्तु की पूर्ति का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। दीर्घकाल में मूल्य, मांग बढ़ने पर, अति अल्पकाल तथा अल्पकाल दोनों की तुलना में, कम बढ़ता है परन्तु प्रारम्भिक मूल्य से अधिक होता है। दीर्घकाल में मूल्य

निर्धारण को रेखा चित्र 31 4 द्वारा स्पष्ट किया गया है। इस रेखा चित्र में OX



वस्तु की मात्रा

रेखा चित्र सख्या 31 4

अक्ष पर वस्तु की माग तथा पूर्ति की मात्रा एव OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य दिखाया गया है। MPS अति अल्पकाल पूर्ति वक्र, SRS अल्पकालीन पूर्ति वक्र तथा LRS दीर्घकालीन पूर्ति वक्र हैं। DD आधार भूत माग वक्र है। आधारभूत माग वक्र तथा पूर्ति वक्र के सन्तुलन से E सतुलन बिन्दु पर OP मूल्य निर्धारित होता है जिस पर वस्तु की OM मात्रा का क्रय-विक्रय किया जाता है अब माग बढकर D_1D_1 होने पर दीर्घकालीन सतुलन S बिन्दु पर होता है जहा OP_3 मूल्य पर वस्तु की OM_2 मात्रा का क्रय-विक्रय किया जाता है। यह OP_3 मूल्य, अतिअल्पकाल OP_1 मूल्य तथा अल्पकालीन OP_2 मूल्य से कम है परन्तु आधारभूत माग वक्र के सतुलित मूल्य OP से अधिक है।

अति दीर्घकाल मे मूल्य–निर्धारण
(Price Determination in the Secular or Very Long Run)

अति-दीर्घकाल का मूल्य-निर्धारण मे केवल सैद्धान्तिक महत्व है। अति-दीर्घकाल समय की बहुत अधिक लम्बी अवधि होती है जो अनेक दीर्घकालो से मिलकर बनती है। अति-दीर्घकाल मे माग एव पूर्ति मे परिवर्तन के साथ-साथ उन सभी तत्वो मे भी परिवर्तन हो जाता है जो माग एव पूर्ति को निर्धारित करते हैं। अति दीर्घकाल मे मूल्य निर्धारण प्रक्रिया बहुत कठिन होती है क्योकि अति-दीर्घकालीन माग की मात्रा एव पूर्ति की मात्रा का अनुमान लगाना कठिन होता है।

बाजार मूल्य एवं सामान्य मूल्य
(Market Value and Normal Value)

बाजार मूल्य (Market Value)

बाजार मूल्य का अर्थ—बाजार मूल्य वह मूल्य होता है जो किसी बाजार मे अति अल्पकाल मे प्रचलित रहता है। यह माग तथा पूर्ति के अस्थायी साम्य अथवा सन्तुलन द्वारा निर्धारित होता है। बाजार मूल्य का सम्बन्ध कुछ घन्टो, एक दिन, एक सप्ताह, एक माह अथवा तत्कालीन समय से होता है। प्रो स्टिगलर के शब्दो में "किसी वस्तु का बाजार मूल्य समय की उस अवधि के मूल्य को कहते हैं, जिसमे उस वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है।" बाजार मूल्य को अति अल्पकालीन मूल्य अथवा अस्थायी साम्य मूल्य भी कहते हैं। यह मूल्य जल्दी-जल्दी बदलता रहता है।

बाजार मूल्य की विशेषताएं—बाजार मूल्य की निम्नलिखित विशेषताए होती हैं :

(1) **अस्थिर मूल्य**—बाजार मूल्य स्थिर मूल्य नहीं होता है यह हमेशा परिवर्तित होता रहता है। यह माँग बढ़ने पर ऊंचा उठता है तथा मांग घटने पर नीचे गिरता है।

(2) **अस्थायी साम्य**—बाजार मूल्य मांग तथा पूर्ति के अस्थायी साम्य द्वारा निर्धारित होता है। इस अस्थायी साम्य में पूर्ति प्राय: स्थिर रहती है तथा मांग में परिवर्तन के अनुसार ही मूल्य में परिवर्तन होते रहते हैं।

(3) **मांग का अत्यधिक प्रभाव**—बाजार मूल्य के निर्धारण में पूर्ति के स्थिर रहने के कारण मांग का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है।

(4) **लागत तत्व की प्रभावहीनता**—बाजार मूल्य के निर्धारण में लागत तत्व प्रभावहीन होता है।

(5) **सामान्य मूल्य के बराबर होने की प्रवृत्ति**—बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के बराबर होने की प्रवृत्ति रखता है।

बाजार मूल्य का निर्धारण—बाजार मूल्य किसी वस्तु का अति अल्पकालीन मूल्य होता है। अतः इसका निर्धारण वस्तु की मांग तथा पूर्ति के अस्थायी साम्य द्वारा होता है। अति अल्पकाल में वस्तु की पूर्ति निश्चित होनी है जिसे केवल स्टाक में रखी मात्रा तक ही बढ़ाया जा सकता है। इसीलिए बाजार मूल्य के निर्धारण में मांग की प्रधानता रहती है। बाजार मूल्य का निर्धारण अलग अलग प्रकृति की वस्तुओं के सम्बन्ध में अलग-अलग रूप में देखा जा सकता है। वस्तुओं को हम दो वर्गों में बांट सकते हैं।

(1) पुनरुत्पादनीय विक्रय योग्य वस्तुएं, तथा

(2) निरुत्पादनीय विक्रय योग्य वस्तुएं।

(1) **पुनरूत्पादनीय विक्रय योग्य वस्तुओं के बाजार मूल्य का निर्धारण**—पुनरूत्पादनीय वस्तुएं वे होती हैं जिनका पुन: उत्पादन किया जा सकता है। पुनरूत्पादनीय वस्तुएं दो तरह की होती हैं–(अ) शीघ्र नाशवान वस्तुएं तथा (ब) टिकाऊ वस्तुएं। पुनरूत्पादनीय इन दोनों प्रकार की वस्तुओं के मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया का हम यहां अलग-अलग रूप से अध्ययन कर सकते हैं।

(अ) शीघ्र नाशवान वस्तुओं का मूल्य निर्धारण–शीघ्र नाशवान वस्तुएं वे होती हैं जिनको बहुत कम समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है अर्थात जो शीघ्र खराब हो जाती हैं। इस प्रकार की वस्तुओं में टूटे हुए फल, दूध, हरी सब्जियां मछली मांस, तैयार किया हुआ भोजन आदि आते हैं। शीघ्र नाशवान वस्तुओं की पूर्ति अति अल्पकाल में स्थिर होती है इसमें किसी तरह का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। अतः इन वस्तुओं का पूर्ति वक्र मूल्यरेखा से लम्ब रूप में समानान्तर होता है। इन वस्तुओं की पूर्ति स्थिर होने से इनके मूल्य निर्धारण पर मांग का

अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इन वस्तुओं का मूल्य वहा निर्धारित होता है जहाँ इनकी मांग तथा पूर्ति की शक्तियों में अस्थायी सन्तुलन स्थापित होता है। इन वस्तुओं का मूल्य मांग मे परिवर्तन के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। शीघ्र नाशवान वस्तुओं के मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया को पिछले पृष्ठों पर रेखा चित्र 30 1 की सहायता से समझाया जा चुका है।

अनेक बार शीघ्र नाशवान वस्तुओं का मूल्य एक सुरक्षा मूल्य (Reservation Price) से कम नहीं हो पाता है चाहे उनकी मांग बहुत कम हो जावे। सुरक्षा मूल्य वह न्यूनतम मूल्य होता है जिससे कम पर उत्पादक उस वस्तु को कदापि बेचने को तैयार नहीं होता है। वस्तु का सुरक्षा मूल्य उसकी परिवहन लागत भण्डागार-व्यय, भविष्य मे उत्पादन लागत सम्बन्धी अनुमान, भविष्य मे मूल्य वृद्धि की सम्भावना आदि अनेक तत्वो से प्रभावित होता है।

(ब) टिकाऊ वस्तुओं का मूल्य निर्धारण—व वस्तुएं जो शीघ्र नष्ट नहीं होती हैं टिकाऊ वस्तुए कहलाती है। अति अल्पकाल में भी टिकाऊ वस्तुओं की पूर्ति को कुछ मात्रा मे कम या अधिक करना सम्भव होता है। टिकाऊ वस्तुओं की पूर्ति मूल्यरेखा से लम्ब रूप मे समानान्तर नहीं होती है। क्योंकि टिकाऊ वस्तुओं के विक्रेता स्टाक मे रखी समस्त मात्रा को बेचने के लिए बाध्य नहीं होते हैं। वे वस्तु का मूल्य कम होने पर कम इकाइयां बेचते हैं तथा अधिक मूल्य पर अधिक तथा एक विशिष्ट ऊंचे मूल्य पर वे उस वस्तु की समस्त इकाइयां बेचने को तत्पर होते है। अतः टिकाऊ वस्तुओं का पूर्ति वक्र एक सीमा तक बायें से दायें को ऊपर चढ़ता हुआ होता है तथा इस सीमा के बाद वह उदग्र सीधी रेखा का रूप धारण कर लेता है। टिकाऊ वस्तुओं का मूल्य निर्धारण वहा होता है जहां इनकी माग तथा पूर्ति में अल्पकालीन या अस्थायी साम्य होता है। इनके मूल्य निर्धारण मे भी माग का ही अधिक प्रभाव पड़ता है परन्तु कुछ मात्रा मे पूर्ति का भी प्रभाव होता है। टिकाऊ वस्तुओं के मूल्य निर्धारण को रेखा चित्र 31 2 पर पिछले पृष्ठों पर समझाया जा चुका है।

(2) निरुत्पादनीय वस्तुओं के बाजार मूल्य का निर्धारण—निरुत्पादनीय वस्तुए वे होती हैं जिनका पुन उत्पादन सम्भव नहीं होता है। इन वस्तुओं में कुछ अप्राप्य एव विशिष्ट बहुमूल्य वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है। इन वस्तुओं की पूर्ति इनकी पुन उत्पादन सम्भावना नगण्य होने के कारण पूर्ण रूपेण स्थिर होती है। *निरुत्पादनीय वस्तुओं के कुछ उदाहरण विश्व प्रसिद्ध लेखकों की पाण्डुलिपियां,* विशिष्ट कलाकृतियां, विशिष्ट हीरे आदि हैं। इन वस्तुओं की पूर्ति भी शीघ्र नाशवान वस्तुओं की तरह स्थिर रहती है। इन वस्तुओं के मूल्य पर भी मांग का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। माग बढ़ने पर इनका मूल्य बढ़ जाता है तथा माग घटने पर मूल्य घट जाता है।

सामान्य मूल्य (Normal Value)

सामान्य मूल्य का अर्थ—किसी वस्तु की मांग तथा पूर्ति के स्थायी साम्य द्वारा दीर्घकाल में निर्धारित मूल्य को सामान्य मूल्य कहते हैं। प्रो. मार्शल के अनुसार "किसी वस्तु का सामान्य मूल्य वह मूल्य है, जो दीर्घकाल में आर्थिक शक्तियों द्वारा निश्चित होता है।" सामान्य मूल्य मांग तथा पूर्ति दोनों के स्थायी साम्य द्वारा निर्धारित होता है। दीर्घकालीन या सामान्य मूल्य के निर्धारण में पूर्ति का महत्वपूर्ण स्थान होता है। सामान्य मूल्य सीमान्त लागत एवं सीमान्त आगम के बराबर होता है।

सामान्य मूल्य की विशेषताएं—इसकी निम्न विशेषताएं होती हैं—

(1) **स्थिरता**—सामान्य मूल्य में शीघ्र परिवर्तन नहीं होते हैं। इसकी प्रकृति स्थिर रहने की होती है।

(2) **स्थायी साम्य**—सामान्य मूल्य मांग एवं पूर्ति के स्थायी साम्य द्वारा निर्धारित होता है।

(3) **पूर्ति का अधिक प्रभाव**—सामान्य मूल्य के निर्धारण में मांग की तुलना में पूर्ति का अधिक प्रभाव रहता है।

(4) **लागत तत्व का महत्व**—सामान्य मूल्य लागत व्यय के बराबर होता है।

(5) **काल्पनिक मूल्य**—सामान्य मूल्य एक काल्पनिक मूल्य है क्योंकि हम दीर्घकाल में इसके प्रचलित रहने की कल्पना मात्र कर सकते हैं।

सामान्य मूल्य के भेद—कुछ अर्थशास्त्री सामान्य मूल्य के भेद करते हैं तथा वे इसे दो प्रकार का बताते हैं :

(अ) अल्पकालीन सामान्य मूल्य तथा

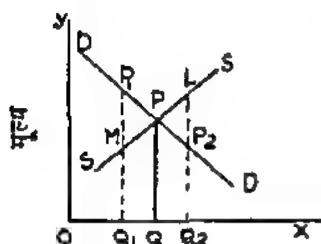
(ब) दीर्घकालीन सामान्य मूल्य।

(अ) अल्पकालीन सामान्य मूल्य—अल्पकालीन सामान्य मूल्य उस मूल्य को कहते हैं जो अल्पकाल में प्रचलित रहता है। अल्पकाल में फर्में उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन उत्पत्ति के पैमाने के गहन या कम प्रयोग द्वारा कर सकती है। अल्पकालीन सामान्य मूल्य के निर्धारण में मांग का अधिक प्रभाव रहता है परन्तु पूर्ति में भी कुछ सीमा तक परिवर्तन किया जा सकता है।

(ब) दीर्घकालीन सामान्य मूल्य—दीर्घकालीन सामान्य मूल्य वह होता है जो वस्तु की मांग तथा पूर्ति के स्थायी साम्य द्वारा दीर्घकाल में निर्धारित होता है। दीर्घकालीन सामान्य मूल्य में मांग के अनुसार पूर्ति में पूर्णरूपेण समायोजन किये जा सकने के कारण पूर्ति का अधिक प्रभाव पड़ता है।

दीर्घकालीन सामान्य मूल्य का निर्धारण—सामान्य मूल्य वह मूल्य होता है जो दीर्घकाल में प्रचलित रहने की प्रवृत्ति रखता है। दीर्घकाल इतना लम्बा काल

होता है जिसमे माग के अनुसार पूर्ति को पूर्ण रूप से समायोजित किया जा सकता है। अतः सामान्य मूल्य के निर्धारण मे पूर्ति का अत्यधिक प्रभाव रहता है। सामान्य मूल्य वहा निर्धारित होता है जहा वस्तु की माग तथा पूर्ति मे स्थायी साम्य होता है। वस्तु की पूर्ति लागतो से प्रभावित होती है तथा माग वस्तु की उपयोगिता से। सामान्य मूल्य की दशा मे सामान्य मूल्य = सीमान्त लागत = सीमान्त उपयोगिता की शर्त पूरी होती है तथा इस मूल्य पर उद्योग मे मूल्य = सीमान्त लागत = औसत लागत की शर्त भी पूरी होती है। दीर्घकाल मे फर्म को सामान्य लाभ ही प्राप्त हो सकता है और यह तभी सभव है जब यह मूल्य औसत लागत के बराबर हो अत दीर्घकाल मे साम्य की अवस्था मे फर्म की सीमान्त लागत = सीमान्त आगम = औसत लागत = औसत आगम। दीर्घकालीन सामान्य मूल्य के निर्धारण को रेखा चित्र 31 5 पर स्पष्ट किया गया है। इस चित्र मे OX अक्ष पर वस्तु की माग व पूर्ति की मात्रा तथा OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य लिया है। SS वस्तु का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र तथा DD वस्तु का दीर्घकालीन माग वक्र है। SS पूर्ति वक्र तथा DD माग वक्र के स्थायी सतुलन द्वारा PQ मूल्य निर्धारित हुआ है जिस पर OQ मात्रा का क्रय-विक्रय होगा। इस मूल्य पर वस्तु की लागत जो SS वक्र द्वारा तथा वस्तु की उपयोगिता जो DD वक्र द्वारा व्यक्त होती हैं, एक दूसरे के बराबर हैं। अब यदि हम मानलें कि मूल्य बढ कर $P_1 Q_1$ हो जाता है तो यहा वस्तु की लागत $Q_1 M$ होगी जबकि मूल्य Q_1P_1 है अत फर्मों को सामान्य से अधिक लाभ होने के कारण उत्पादन बढेगा तथा नई फर्म प्रवेश करेंगी जिससे मूल्य घटकर PQ रह जावेगा। इसी तरह यदि मान लिया जाय कि मूल्य घटकर $P_2 Q_2$ हो जाता है तो इस पर वस्तु की OQ_2 मात्रा के उत्पादन की लागत LQ_2 होगी जबकि फर्म को P_2Q_2 मूल्य ही प्राप्त होगा अत LP_2 के बराबर हानि होती है। हानि होने से फर्म उत्पादन कम कर देगी तथा कुछ फर्में उत्पादन बन्द कर देंगी जिससे मूल्य बढ कर PQ हो जावेगा।



वस्तु की मात्रा

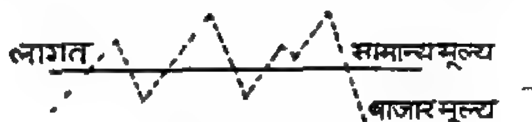
रेखा चित्र स 31 5

उत्पत्ति नियमों का सामान्य मूल्य पर प्रभाव—उत्पत्ति के नियमो का भी सामान्य मूल्य पर प्रभाव पडता है। (i) जब उद्योग मे उत्पादन वृद्धि नियम लागू हो रहा हो उस समय माग बढने पर उत्पादन मे वृद्धि की जा सकती है जिससे उत्पादन लागत मे कमी होती है परिणाम स्वरूप सामान्य मूल्य घट जाता है। (ii) जब उत्पादन स्थिरता नियम लागू होता है तब माग बढने पर उत्पादन बढाने से लागतों पर प्रभाव नही पडता है परिणामस्वरूप सामान्य मूल्य स्थिर रहता है। (iii) जब उत्पादन ह्रास नियम लागू हो रहा हो तब माग बढने पर उत्पादन बढाने से लागतें बढ जाती हैं परिणाम स्वरूप सामान्य मूल्य बढ जाता है।

बाजार मूल्य एवं सामान्य मूल्य में अन्तर

अन्तर का आधार	बाजार मूल्य	सामान्य मूल्य
1. समय	बाजार मूल्य का सम्बन्ध अति अल्पकाल से होता है।	सामान्य मूल्य का सम्बन्ध दीर्घकाल से होता है।
2. निर्धारण	बाजार मूल्य का निर्धारण मांग तथा पूर्ति के अस्थायी साम्य द्वारा होता है।	सामान्य मूल्य का निर्धारण मांग व पूर्ति के स्थायी साम्य द्वारा होता है
3. सक्रियता	बाजार मूल्य के निर्धारण में मांग अधिक सक्रिय होती है।	सामान्य मूल्य के निर्धारण में पूर्ति अधिक सक्रिय रहती है।
4. स्थिरता	बाजार मूल्य बहुत अधिक अस्थिर होता है। इसमें बार-बार परिवर्तन होते रहते है।	सामान्य मूल्य स्थिर रहता है।
5. लागत	बाजार मूल्य लागत से प्रभावित नही होता है। अतः यह लागत से कम या अधिक हो सकता है।	सामान्य मूल्य सदैव उत्पादन लागत के बराबर रहता है।
6. वस्तु की प्रकृति	बाजार मूल्य प्रत्येक प्रकार की वस्तु का होता है।	सामान्य मूल्य केवल पुनरूत्पादनीय वस्तुओं का ही होता है। निरूत्पादनीय वस्तुओं का सामान्य मूल्य नहीं होता।
7 प्रचलित रहना	बाजार मूल्य समय विशेष पर बाजार में वास्तव में प्रचलित रहता है।	सामान्य मूल्य काल्पनिक होता है जो वास्तविक जीवन में प्रचलित नहीं रहता।
8 सम्बन्ध	बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के समान होने की प्रवृति रखता है अर्थात यह सामान्य मूल्य के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है।	सामान्य मूल्य बाजार मूल्य को अपनी ओर खींचता है।

बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य मे सम्बन्ध—बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य में घनिष्ट सम्बन्ध होता है। बाजार मूल्य सदैव सामान्य मूल्य के इर्द गिर्द चक्कर काटता रहता है तथा इसकी प्रवृत्ति सामान्य मूल्य की ओर आने की होती है। वास्तव मे बाजार मूल्य सामान्य मूल्य से न तो बहुत अधिक समय तक अधिक रह सकता है तथा न कम ही। यह विभिन्न आकस्मिक घटनाओ से प्रभावित होकर, कभी सामान्य मूल्य से अधिक हो जाता तथा कभी कम। यदि बाजार मूल्य कभी सामान्य मूल्य से अधिक हो जाता है तो बाजार म वस्तु की पूर्ती बढने लगती है। उत्पादको को अधिक लाभ प्राप्त होने से वे उत्पादन बढा देते हैं तथा नये उत्पादक भी उद्योग मे आ जाते हैं। इन सब से वस्तु की पूर्ति बढती है। वस्तु की पूर्ति बढने से बाजार मूल्य घटने लगता है तथा यह सामान्य मूल्य के पास पास ही आ जाता है। इसके विपरीत यदि बाजार मूल्य सामान्य मूल्य से कम हो जाता है तो उत्पादकों को हानि होती है जिससे वे उत्पादन कम करते हैं तथा कुछ उत्पादक उत्पादन बन्द भी कर देते हैं। इससे वस्तु की पूर्ति कम होती है। वस्तु की कम पूर्ति होने से माग तथा पूर्ति के नये सन्तुलन द्वारा बाजार मूल्य बढ जाता है तथा वह सामान्य मूल्य के बराबर हो जाता है। बाजार मूल्य एव सामान्य मूल्य के सम्बध को रेखा चित्र स० 31 6 पर स्पष्ट किया गया है इस रेखा चित्र से यह स्पष्ट होता है कि बाजार



रेखा चित्र स 31 6

मूल्य की प्रवृत्ति सदैव लागत मूल्य या सामान्य मूल्य के आस-पास रहने की होती है।

प्रश्न एव सकेत

1 मूल्य निर्धारण मे समय तत्व का महत्व समझाइये।

(सकेत—पहले यह बताइये कि मूल्य माग एव पूर्ति के साम्य द्वारा निर्धारित होता है। इस साम्य पर समय का बहुत प्रभाव पडता है। फिर मार्शल द्वारा बतलाई गई चारो समय-अवधियो के बारे मे लिखते हुये उनका मूल्य निर्धारण में महत्व बताइये।)

2. 'अल्पकाल में वस्तु मूल्य अधिकांशत माँग की परिस्थितियो द्वारा निश्चित होता है और दीर्घकाल मे अधिकतर पूर्ति की परिस्थितियों द्वारा।' इस कथन की व्याख्या कीजिए तथा आवश्यक उदाहरण एव रेखा चित्र भी दीजिये।

(सकेत—मूल्य निर्धारण पर समय तत्व का अत्यधिक प्रभाव पडता है। मूल्य-निर्धारण की दृष्टि से समय अवधि चार वर्गों मे बाटी जा सकती है अति अल्पकाल, अल्पकाल दीर्घकाल एव अति दीर्घकाल। इन चारों का सक्षेप मे अर्थ लिख कर अल्पकाल एव दीर्घकाल का

मूल्य निर्धारण पर प्रभाव बताना है। रेखा चित्रों से स्पष्ट करदें कि अल्पकाल में पूर्ति स्थिर रहने के कारण मूल्य निर्धारण में मांग का अधिक प्रभाव रहता है जबकि दीर्घकाल में मांग के अनुसार पूर्ति को पूर्णरूपेण समायोजित किया जा सकने के कारण पूर्ति का अधिक प्रभाव रहता है।)

3. बाजार मूल्य और सामान्य मूल्य के बीच भेद स्पष्ट कीजिए। पूर्ण प्रतियोगिता में सामान्य मूल्य का निर्धारण कैसे होता है?

(संकेत—सर्वप्रथम बाजार मूल्य एवं सामान्य मूल्य का अर्थ लिख कर इनका अन्तर स्पष्ट करें। बाद में सामान्य मूल्य या दीर्घकालीन मूल्य निर्धारण को रेखा चित्र की सहायता से स्पष्ट करदें।)

4. बाजार मूल्य साधारणतः सामान्य मूल्य से न बहुत अधिक और न बहुत कम होता है इसके आस-पास ही रहता है।' इस कथन की विवेचना कीजिए।

अथवा

बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के इर्द-गिर्द ऊंचा-नीचा होता रहता है और वह सामान्य मूल्य की ओर जाने की प्रवृत्ति रखता है। स्पष्ट कीजिये।

(संकेत—सर्वप्रथम बाजार मूल्य एवं सामान्य मूल्य का अर्थ स्पष्ट करें। इसके बाद रेखा चित्र की सहायता से स्पष्ट करें कि बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है। अन्त में बाजार मूल्य के सामान्य मूल्य के निकट आने के कारण लिख दें।)

---

32 फर्म एवं उद्योग का साम्य-सामान्य विश्लेषण
(Equilibriam of the Firm and the Industry General Analysis)

पिछले अध्यायों मे हमने लागत विश्लेषण, आगम विश्लेषण, मूल्य-निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त तथा मूल्य निर्धारण मे समय तत्व के महत्व का अध्ययन कर लिया है। अब इस अध्याय मे फर्म एव उद्योग के साम्य विश्लेषण का अध्ययन करेंगे।

फर्म का साम्य (Equilibrium of the Firm)

अर्थशास्त्र मे कोई फर्म सतुलन की स्थिति मे तब कही जाती है जब उसमें इस प्रकार की कोई इच्छा या प्रेरणा नहीं होती कि वह वस्तु के उत्पादन मे वृद्धि या कमी करे। ऐसा उस समय होता है जब फर्म अधिकतम लाभ कमा रही हो। क्योंकि यदि किसी फर्म को उत्पादन घटाने अथवा बढाने से लाभ बढने की आशा हो तो वह तुरन्त उत्पादन घटाने अथवा बढाने का प्रयत्न करेगी। एक विवेकशील फर्म को केवल अधिकतम उत्पादन के बिन्दु पर ही उत्पादन घटाने या बढाने की प्रेरणा नहीं रहती है अत अधिकतम लाभ का बिन्दु ही फर्म का साम्य बिन्दु होता है।

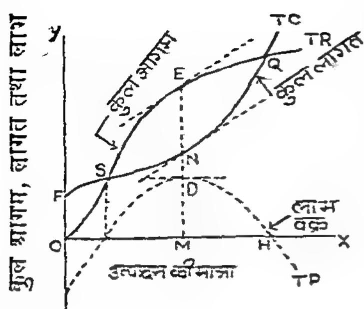
फर्म के विश्लेषण की दो पद्धतिया हैं

(i) फर्म का साम्य विश्लेषण—कुल आगम एव कुल लागत वक्रों द्वारा।

(ii) फर्म का साम्य विश्लेषण—सीमान्त आगम एव सीमान्त लागत वक्रों द्वारा।

फर्म का साम्य कुल आगम एवं कुल लागत वक्रो द्वारा
(Equilibrium of the Firm By Curves of Total Revenue and Total cost)

एक फर्म उस समय साम्य की स्थिति मे होती है जब वह अधिकतम लाभ कमा रही हो अत एक फर्म उत्पादन की मात्रा वहा निर्धारित करती है जहा उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। लाभ कुल आगम तथा कुल लागत का अन्तर होता है अतः फर्म साम्य की अवस्था मे उस समय होती है जब फर्म की कुल आगम तथा कुल लागत मे अन्तर अधिकतम हो। इस तथ्य को रेखा चित्र 32 1 से स्पष्ट किया गया है। रेखाचित्र मे T R फर्म का कुल आगम वक्र है तथा T C कुल लागत वक्र



रेखा चित्र 32·1

कुल आगम मूल विन्दु O से प्रारम्भ होता है जिसका तात्पर्य है कि शून्य उत्पादन पर आगम भी शून्य है। जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ता है वैसे-वैसे कुल आगम भी बढ़ता गया है। T C मूल दिंदु O से प्रारम्भ न होकर थोड़ा ऊपर F विन्दु से प्रारम्भ हुआ है जिसका अर्थ यह है कि फर्म को उत्पादन न करने पर भी स्थिर लागतों के बराबर व्यय करना पड़ता है।

उपरोक्त रेखाचित्र में TR तथा TC वक्र क्रमशः अल्पकाल में फर्म के कुल आगम तथा कुल लागत को व्यक्त करते हैं। इन्हें देखने से ज्ञात होता है कि जब फर्म उत्पादन प्रारम्भ करती है तब प्रारम्भ में कुल लागत कुल आगम से अधिक होती है। इसलिए फर्म को उत्पादन करने से कोई लाभ नहीं बल्कि हानि होती है। ऐसा उत्पादन की OL मात्रा तक होता है। OL मात्रा के उत्पादन करने पर फर्म की कुल आगम तथा कुल लागत दोनों बराबर होती हैं अतः यहां फर्म को न हानि होती तथा न लाभ। यह फर्म का समस्थिति बिंदु (Break-Even Point)) कहलाता है। फर्म इस OL उत्पादन विन्दु से उत्पादन अधिक बढ़ाती है तब फर्म की कुल आय कुल लागत की अपेक्षा अधिक हो जाती है और फर्म को लाभ होने लगता है। यह लाभ OM मात्रा तक बढ़ता जाता है। लाभ OM मात्रा पर अधिकतम है क्योंकि इसी उत्पादन विन्दु पर कुल आगम तथा कुल लागत के बीच दूरी अधिकतम है। फर्म का संतुलन इसी OM उत्पादन की मात्रा पर होगा। फर्म वस्तु का OM से अधिक उत्पादन नहीं करेगी क्योंकि ऐसा करने से कुल आगम तथा लागत के बीच अन्तर कम होने से उसके लाभ घट जावेंगे। उत्पादन बढ़ाने से OH मात्रा पर पुनः TR तथा TC दोनों Q विन्दु पर एक दूसरे के बराबर हो जाते हैं। यहाँ भी फर्म को न लाभ तथा न हानि होगी। यह भी फर्म का समस्थिति विन्दु (Break Even Point) है। उत्पादन को OH से अधिक बढ़ाने पर फर्म की कुल लागत उसकी कुल आगम से अधिक होने के कारण फर्म को हानि होगी।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि जहां फर्म के कुल आगम तथा कुल लागत वक्रों के बीच अन्तर अधिकतम होता है। वहां फर्म को अधिकतम लाभ होता है। यही फार्म का साम्य बिंदु होता है। फर्म के साम्य विन्दु को कुल आगम तथा कुल लागत रेखाओं से ज्ञात करना इतना सरल नहीं होता है जैसा देखने में लगता है। कुल आगम तथा कुल लागत वक्रों के बीच अधिकतम अन्तर मालूम करने के लिए हमें अनेक स्पर्श रेखाएं खींचनी होती हैं तथा जहां कुल आगम तथा लागत वक्र एक दूसरे के समान्तर होती हैं वहां उनके बीच दूरी अधिकतम होती है। यहां फर्म को अधिकतम लाभ होता है। उपरोक्त रेखा चित्र में EN बिंदुओं

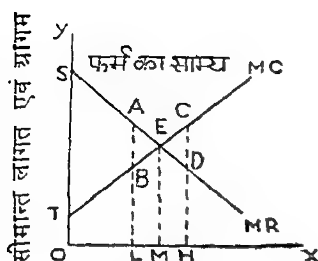
पर खींची गई स्पर्श रेखाए एक दूसरे के समानान्तर हैं इसलिए यहा TR तथा TC का अन्तर अधिकतम होगा तथा फर्म का लाभ इसी बिंदु पर OM मात्रा के उत्पादन एव विक्रय पर अधिकतम होगा।

अधिकतम लाभ तथा उत्पादन की मात्रा के निर्धारण का एक अन्य तरीका कुल लाभ वक्र खीचना है। कुल लाभ वक्र विभिन्न उत्पादन स्तरो पर कुल आगम तथा लागत वक्रो का अन्तर होता है। रेखा चित्र स० 32 1 मे TP वक्र कुल लाभ वक्र है। इस वक्र से फर्म का साम्य बिन्दु जानना बडा सरल है। जहाँ TP वक्र की अपनी आधार रेखा से ऊचाई अधिकतम है वही कुल लाभ अधिक है तथा वही फर्म का सतुलन बिन्दु होगा। OL उत्पादन के बाद लाभ प्रारम्भ होता है जो OM उत्पादन बिन्दु तक बढता जाता है तथा फिर घटने लगता है तथा घटते घटते OH बिन्दु पर शून्य हो जाता है तथा इसके बाद आधार रेखा से नीचे जाने पर हानि में बदल जाता है। अत OM उत्पादन मात्रा पर लाभ अधिकतम होता है यही फर्म का साम्य है।

फर्म का साम्य सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत वक्रों द्वारा (Firm's Equilibrium by Marginal Pevenue and Marginal Cost Curves)

आज अर्थशास्त्र मे सीमान्त विश्लेषण का अधिक प्रचलन है। फर्म के साम्य के विश्लेषण का दूसरा महत्वपूर्ण तरीका सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत वक्रों का है। सीमान्त आगम वक्र यह बताता है कि फर्म को वस्तु की एक और इकाई के विक्रय से कुल आय में कितनी वृद्धि होती है तथा सीमान्त लागत वक्र यह बताता है कि वस्तु की एक और इकाई के उत्पादन से फर्म की कुल लागत मे कितनी वृद्धि होती है। एक फर्म उस समय तक अपना उत्पादन बढ़ाती जायगी जब तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक होती है क्योंकि ऐसा करने से फर्म का लाभ बढता है। जहा फर्म के सीमान्त आगम एव सीमान्त लागत दोनों बराबर होते हैं वहा फर्म साम्य में होती है क्योंकि इसी बिन्दु पर फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। फर्म इस बिन्दु के बाद भी उत्पादन बढाती है तो फर्म का लाभ कम हो जावेगा क्योंकि इस बिन्दु के बाद वस्तु की एक और इकाई के उत्पादन की लागत उससे प्राप्त होने वाली आगम से अधिक बैठेगी अर्थात् अतिरिक्त इकाइयों की उत्पादन लागत अधिक होगी तथा उनके विक्रय से आगम कम जिससे फर्म के लाभ घट जावेंगे। इस तथ्य को रेखा चित्र 32 2 से स्पष्ट किया गया है।

इस रेखा चित्र मे MR फर्म का सीमान्त आगम वक्र तथा MC सीमान्त लागत वक्र है। सीमान्त आगम वक्र (MR) सीमान्त लागत वक्र (MC) को E बिन्दु पर काटता है। इस बिन्दु पर फर्म OM मात्रा का उत्पादन करती है। यहाँ फर्म का लाभ अधिकतम होने के कारण यह फर्म का साम्य बिन्दु है। अगर फर्म इससे कम उत्पादन करती है तो फर्म की सीमान्त आय अधिक होती है तथा लागत कम अत उत्पादन बढाने से लाभ होता है। यदि फर्म इस बिन्दु के बाद भी उत्पादन बढाने का

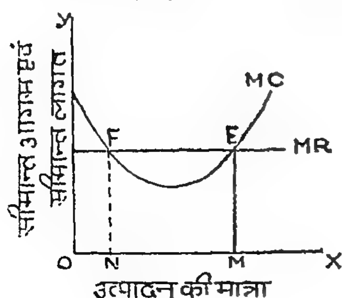


चित्र सं० 32·2

क्रम चालू रखती है। तो फर्म की सीमान्त लागत अधिक होती है तथा सीमान्त आगम कम। परिणामस्वरूप फर्म के लाभ कम हो जाते हैं। इसलिए फर्म उसी बिन्दु पर संतुलन में होगी जहां सीमान्त आगम एवं सीमान्त लागत दोनों एक दूसरे के बराबर हों। इस रेखा चित्र में यदि फर्म OL उत्पादन करती है तो यहां सीमान्त आगम LA है तथा सीमान्त लागत LB है अर्थात फर्म को AB के बराबर अधिक लाभ प्राप्त होता है। अत: उत्पादन बढ़ाना लाभदायक होगा और OM मात्रा तक उत्पादन बढ़ता जायेगा। इसी तरह यदि फर्म OM से अधिक उत्पादन माना कि OH करती है तो यहां फर्म की सीमान्त लागत HC होगी तथा सीमान्त आगम HD होगी अर्थात फर्म को CD के बराबर हानि होगी। (यह हानि फर्म कभी नहीं चाहेगी) अत: फर्म OM मात्रा का उत्पादन करेगी जिसकी EM सीमान्त आगम एवं सीमान्त लागत होगी। इस बिन्दु पर फर्म को अधिकतम लाभ होगा। यही फर्म का साम्य विन्दु होगा। उपरोक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **फर्म उस समय साम्य में होती है जब फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त हो। यह फर्म के साम्य की प्रथम शर्त है।** इस शर्त के अनुसार फर्म उस समय साम्य की स्थिति में होगी जब

सीमान्त आगम (MR) = सीमान्त लागत (MC)

फर्म के साम्य की द्वितीय शर्त—हमने ऊपर देखा है कि फर्म उस बिन्दु पर साम्य की स्थिति में होती है जहां फम का सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आगम वक्र को काटता है। यह फर्म के संतुलन की प्रथम शर्त है। फर्म के साम्य की द्वितीय शर्त यह है कि फर्म का सीमान्त लागत वक्र फर्म के सीमान्त आगम वक्र को साम्य विन्दु पर नीचे से (अथवा बायें से दायें) काटे अर्थात साम्य बिन्दु के बाद फर्म की सीमान्त लागत फर्म की सीमान्त आगम से अधिक हो। यदि यह दूसरी शर्त पूरी नहीं होगी तो फर्म अधिकतम लाभ कमाती हुई नहीं होगी और इसलिए फर्म साम्य की स्थिति में नहीं होगी। इस तथ्य को रेखा चित्र सं० 32.3 पर दिखाया गया है।



रेखा चित्र सं० 32·3

इस रेखा चित्र में फर्म का सीमान्त आगम वक्र MR एक क्षितिजीय रेखा है जो पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में होती है तथा फर्म का MC वक्र प्रारम्भ में घटता हुआ तथा बाद में बढ़ता हुआ है। MC वक्र ने MR वक्र को दो जगह F बिन्दु तथा E विन्दु पर काटा है। फर्म F बिन्दु पर साम्य में नहीं है बल्कि E बिन्दु पर साम्य में है क्योंकि F विन्दु पर MC वक्र MR वक्र को नीचे से

नहीं बल्कि ऊपर से काट रही है। यह फर्म का समस्थिति बिन्दु है जहां सीमान्त लागत एवं आगम बराबर हैं। इस बिन्दु के बाद फर्म की सीमान्त लागत कम होती है अत. उत्पादन बढ़ाना लाभप्रद होगा।

इस रेखा चित्र का E बिन्दु साम्य बिन्दु है क्योंकि इस बिन्दु पर फर्म का MC वक्र फर्म के MR वक्र को नीचे से काटता है। इस बिन्दु के बाद उत्पादन बढाने पर सीमान्त लागत सीमान्त आगम से अधिक होगी अत फर्म को हानि होने लगेगी। फर्म OM साम्य उत्पादन मात्रा उत्पन्न करके इसे EM मूल्य पर बेच कर अधिकतम लाभ कमावेगी।

अत अब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि फर्म उस समय साम्य में होगी जब निम्न दो शर्तें पूरी हों

(i) सीमान्त लागत (M C) = सीमान्त आगम (M R)

(ii) सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आगम वक्र को साम्य बिन्दु पर नीचे से काटे।

उद्योग का साम्य (Equilibrium of Industry)

फर्म के साम्य के बाद अब हम उद्योग के साम्य का अध्ययन कर सकते हैं। एक उद्योग उस समय साम्य की स्थिति में होता है जब उस उद्योग में वस्तु के कुल उत्पादन की मात्रा के घटने बढ़ने की प्रवृत्ति न हो। एक उद्योग म उत्पादन के घटने बढने की प्रवृत्ति उस समय नहीं होती है जब उस उद्योग मे वस्तु की कुल माग वस्तु की कुल पूर्ति के बराबर हो। जब उद्योग में वस्तु की माग अथवा पूर्ति दोनो एक दूसरे के बराबर न हो तब उद्योग द्वारा पूर्ति मे वृद्धि या कमी की जाती है। उदाहरणार्थ एक उद्योग म प्रचलित मूल्य पर वस्तु की माग पूर्ति से अधिक होगी तो वहा उत्पादन में वृद्धि तथा पूर्ति बढाने के प्रयत्न किये जावेंगे। इसके विपरीत यदि वस्तु की पूर्ति प्रचलित मूल्य पर माग से अधिक है तो वस्तु के उत्पादन को घटाने एव पूर्ति कम करने के प्रयत्न किये जावेंगे, जबकि वस्तु की किसी मूल्य पर माग एव पूर्ति समान होने पर उत्पादन वृद्धि अथवा कमी के प्रयत्न नहीं किये जाते हैं। अत: जहाँ उद्योग का पूर्ति वक्र उद्योग के माग-वक्र को काटता है वही उद्योग का साम्य बिन्दु होता है।

किसी उद्योग के साम्य के लिए यह भी आवश्यक है कि उस उद्योग म लगी सभी फर्मों अपने व्यक्तिगत साम्य की स्थिति मे हो अर्थात् उद्योग की कुल माग तथा कुल पूर्ति द्वारा निर्धारित मूल्य इतना हो जिस पर उद्योग म लगी फर्मों के सीमान्त आगम एव सीमान्त लागत बराबर हो।

उद्योग के साम्य की अन्तिम शर्त यह है कि उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश तथा पुरानी फर्मों के बहिर्गमन के लिए प्रेरणा न हो अर्थात् उद्योग मे केवल सामान्य लाभ प्राप्त हो। यहा यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह शर्त केवल दीर्घकाल के सम्बन्ध म ही लागू होती है क्योंकि अल्पकाल मे न तो कोई नई फर्म उद्योग म प्रवेश कर सकती है तथा न कोई फर्म उद्योग छोड सकती है।

इस प्रकार उद्योग के साम्य की तीन शर्तें हैं :

(1) उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु की कुल मांग तथा कुल पूर्ति बराबर हो अर्थात् साम्य उस बिन्दु पर होता है जहां कुल मांग और पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं।

(2) इस कुल मांग एवं कुल पूर्ति वक्रों के साम्य द्वारा निर्धारित मूल्य इतना हो जहां सभी फर्में इतना उत्पादन कर रही हों कि उनकी सीमान्त लागत एवं सीमान्त आगम बराबर हों अर्थात् सभी फर्में व्यक्तिगत साम्य की स्थिति में हों।

(3) नई फर्मों के उद्योग में आने तथा पुरानी फर्मों के उद्योग छोड़ने की प्रवृत्ति न हो अर्थात् उद्योग में फर्मों द्वारा केवल सामान्य लाभ ही कमाया जा रहा हो।

प्रश्न एवं संकेत

1. फर्म के साम्य से आप क्या समझते हैं ? फर्म के साम्य विश्लेषण की विभिन्न विधियां बताइये।

(संकेत—सर्वप्रथम फर्म के साम्य का अर्थ लिखें इसके बाद साम्य विश्लेषण की कुल लागत तथा कुल आगम एवं सीमान्त आगम व सीमान्त लागत विधियों को रेखा चित्रों से स्पष्ट कर दें।)

(2) फर्म एवं उद्योग के साम्य को रेखा चित्रों से स्पष्ट कीजिये।

(संकेत—पहले फर्म के साम्य को बतावें तथा बाद में उद्योग के साम्य को बतावें। आवश्यक उदाहरण व रेखा चित्र भी दें।)



33 पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का साम्य एवं उद्योग का साम्य

(Equilibrium of the Firm and the Industry Under Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता बाजार की वह स्थिति होती है जिसमे एक वस्तु के बहुत अधिक क्रेता तथा विक्रेता होते हैं। उनमे परस्पर वस्तु के क्रय विक्रय के लिए इतनी प्रतिस्पर्धा होती है कि वस्तु का सम्पूर्ण बाजार में एक ही मूल्य प्रचलित रहता है। दूसरे शब्दो मे *पूर्ण प्रतियोगिता वाला बाजार वह होता है जिसमे निम्न* विशेषताए पायी जाती हैं—

(1) **वस्तु के क्रेताओ तथा विक्रेताओं की अधिक संख्या (Large Number of Buyers and Sellers)**—पूर्ण प्रतियोगिता वाले बाजार मे वस्तु के क्रेता तथा *विक्रेताओ की बहुत अधिक संख्या होती है।* क्रेताओ एव विक्रेताओ की सख्या इतनी अधिक होती है कि व्यक्तिगत क्रेता अथवा विक्रेता अपनी क्रियाओ से बाजार के मूल्य को प्रभावित नही कर सकते हैं।

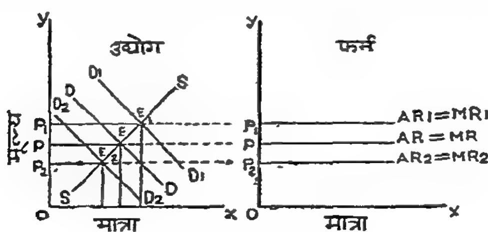
(2) **समरूप वस्तु (Homogeneous Products)**—*पूर्ण प्रतियोगिता में उद्योग मे लगी सभी फर्में जो वस्तु बना रही हैं वे बिल्कुल समान तथा एक जैसी होती* हैं अर्थात वस्तु विभेद अनुपस्थित रहता है। दूसरे शब्दो मे विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित माल पूर्ण रूप से एक दूसरे के समान होता है। एक विक्रेता की वस्तु दूसरे विक्रेता की वस्तु की पूर्ण स्थानापन्न होती है। वस्तुओ मे भौतिक दृष्टि से ही समानता नही होती बल्कि वस्तुओ मे व्यापारिक चिन्ह, ब्राण्ड, नाम आदि का भी अन्तर नही होता है। इतना ही नही क्रेताओ के मन मे किसी विक्रेता विशेष की वस्तु के लिए लगाव नही होता है।

(3) **प्रचलित मूल्यो की पूर्ण जानकारी (Perfect Information about the Prevailing Prices)**—पूर्ण प्रतियोगिता की एक विशेषता यह होती है कि क्रेताओ तथा विक्रेताओ दोनो पक्षो को बाजार मे प्रचलित मूल्यो की पूर्ण जानकारी रहती है। जब सभी क्रेताओ को बाजार मे प्रचलित मूल्य का ज्ञान होता है तो कोई भी विक्रेता बाजार मे प्रचलित मूल्य से अधिक मूल्य वसूल नही कर सकता और यदि कोई विक्रेता अधिक मूल्य वसूल करने का प्रयत्न करता है तो क्रेता उस विक्रेता को छोड़कर अन्य विक्रेताओ से वस्तु क्रय कर लेते हैं। इसी तरह विक्रेता को प्रचलित मूल्य की जानकारी होने से वह उससे कम मूल्य पर वस्तु नही बेचता है क्योंकि प्रचलित मूल्य पर ही एक विक्रेता चाहे जितनी मात्रा मे वस्तु बेच सकता है।

(4) उद्योग में फर्मों का स्वतन्त्र प्रवेश एवं वहिर्गमन (Free Entry and Free Exit of Firms)—स्वतन्त्र प्रतियोगिता में एक उद्योग में दीर्घकाल में नई फर्में बगैर किसी बाधा के प्रवेश कर सकती हैं तथा पहले से काम कर रही फर्में उद्योग छोड़ सकती हैं। जब अल्पकाल में फर्मों को असामान्य लाभ प्राप्त होता है तो उद्योग में दीर्घकाल में नई फर्में प्रवेश करती हैं तथा अल्पकाल में हानि होने पर कुछ फर्में उद्योग छोड़ कर चली जाती हैं। परिणामस्वरूप दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता में फर्मों को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होता है।

(5) उत्पादन साधनों की पूर्ण गतिशीलता पूर्ण प्रतियोगिता में उत्पादन के साधनों मे पूर्ण गतिशीलता पाई जाती है। इस गतिशीलता के कारण उत्पादन के साधन एक फर्म को छोड़कर दूसरी फर्म तथा एक उद्योग को छोड़कर दूसरे उद्योग में जा सकते हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता की उपरोक्त विशेषताओं के कारण सम्पूर्ण बाजार में एक वस्तु का एक ही मूल्य प्रचलित रहता है। जो उद्योग की कुल मांग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रचलित मूल्य पर उद्योग में लगी प्रत्येक फर्म अपना समस्त उत्पादन वेच सकती है जबकि फर्म अपना मूल्य बहुत थोड़ा भी बढ़ा दे तो समस्त ग्राहक इस फर्म को छोड़ देंगे तथा फर्म वस्तु की एक भी इकाई नहीं बेच सकेगी। ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत फर्म का मांग वक्र (औसत आगम वक्र) एक क्षितिजीय वक्र होता है। फर्म को वस्तु का मूल्य कम करने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि फर्म प्रचलित मूल्य पर ही जितना चाहे उतना माल बेच सकती है। अतः फर्म इस दिये हुये मूल्य को मानकर इस पर उत्पादन की मात्रा इस प्रकार निश्चित करती है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। फर्म के मांग वक्र अथवा औसत आगम वक्र को रेखा चित्र 33·1 से देखा जा सकता है। इस रेखा चित्र में वस्तु का आधारभूत



रेखा चित्र सं. 33·1

(प्रारम्भिक) मांग वक्र DD है जो पूर्ति वक्र SS को E विन्दु पर काटता है जिससे OP मूल्य निर्धारित होता है। फर्म इस OP मूल्य को दिया हुआ मान लेती है जिससे फर्म का औसत आगम वक्र OP के स्तर पर OX के समानान्तर वक्र होगा। अब यदि माँग बढ़कर D_1D_1 हो जाता है तो SS पूर्ति वक्र के साम्य द्वारा OP_1 मूल्य निर्धारित हो जाता है तब फर्म का औसत आगम OP_1 के स्तर पर OX के समाना-

न्तर रेखा हो जाता है। इसी तरह माग घटकर D_2D_2 होने पर माग व पूर्ति के साम्य द्वारा मूल्य OP_2 होता है जिस पर फर्म का औसत आगम वक्र OP_2 स्तर पर OX के समानान्तर रेखा हो जाता है।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का साम्य
(Equilibrium of the Firm Under Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म के साम्य का अध्ययन दो कालो मे विभाजित करके किया जा सकता है—(i) अल्पकाल म फर्म का साम्य एव (ii) दीर्घकाल में फर्म का साम्य।

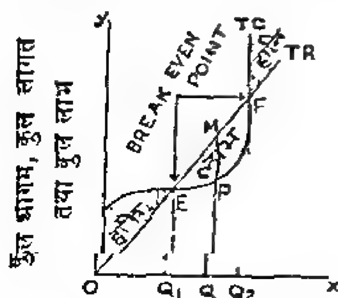
अल्पकाल मे फर्म का साम्य
(Short Run Equilibrium of the Firm)

अल्पकाल समय की वह अवधि होती है जिसमे एक फर्म उत्पादन की मात्रा मे परिवर्तन केवल उत्पादन के वर्तमान पैमाने का अधिक या कम प्रयोग करके ही बढा घटा सकती है अर्थात् अल्पकाल म उत्पादन मे वृद्धि या कमी केवल परिवर्तनशील साधनो की मात्रा को बदल कर ही की जा सकती है। स्थिर साधनो यथा प्लांट एव मशीनरी, भवन, पूजी उपकरण आदि म परिवर्तन नहीं किया जा सकता है जबकि कच्चे माल, श्रम आदि म परिवर्तन किया जा सकता है। अल्पकाल मे उद्योग मे नई फर्में प्रवेश नहीं कर सकती तथा पुरानी फर्में उद्योग नही छोड सकती हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता मे अल्पकाल मे फर्म के साम्य को ज्ञात करने की दो विधिया हैं—

(1) कुल आगम एव कुल लागत विधि तथा
(2) सीमान्त आगम एव सीमान्त लागत विधि।

(i) कुल आगम तथा कुल लागत वक्रों की विधि (Total Revenue and Total Cost Curves Method)—कुल आगम तथा कुल लागत विधि के अनुसार अल्पकाल म एक फर्म उस समय साम्य मे होती है जब फर्म के अल्पकालीन कुल आगम तथा कुल लागत के बीच अन्तर सर्वाधिक हो। इसे रेखा चित्र स 33·2 से देखा जा सकता है। इस चित्र मे TR तथा TC क्रमश कुल आगम तथा कुल लागत वक्र हैं। OQ उत्पादन पर फर्म को MP के बराबर अधिकतम लाभ प्राप्त होता है अत OQ उत्पादन फर्म का साम्य उत्पादन है। E तथा F बिन्दुओं को समस्थितिया (Break Even Points) कहा जाता है। इन बिन्दुओ पर कुल आगम तथा कुल



उत्पादन की मात्रा
रेखा चित्र स 33 2

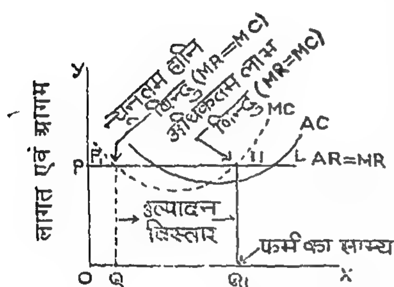
लागत बराबर होती हैं, अतः इन बिन्दुओं पर फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है।

(ii) सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत वक्रों की विधि (Marginal Revenue and Marginal Cost Curves Method)—फर्म के साम्य के लिए दो शर्तें पूरी होना आवश्यक है।

(i) साम्य बिन्दु वहां होगा जहां फर्म की सीमान्त आय एवं सीमान्त लागत दोनों एक दूसरे के बराबर हों।

(ii) साम्य बिन्दु पर सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आगम वक्र को नीचे की ओर से काटना चाहिये।

उपरोक्त दो शर्तों की पूर्ति के अनुसार पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म के साम्य को सीमान्त आगम एव लागत वक्रों की सहायता से रेखा चित्र सं. 33·3 से समझाया गया है। इस रेखा चित्र में PL वक्र फर्म का AR एवं MR वक्र है। MC फर्म का सीमान्त लागत वक्र तथा AC फर्म का औसत लागत वक्र है। इस रेखा चित्र में MC वक्र MR वक्र को R तथा M बिन्दुओं पर काटती है। फर्म का साम्य R बिन्दु पर न होकर M बिन्दु पर ही होगा क्योंकि R बिन्दु पर फर्म को न लाभ तथा न हानि होती है। परन्तु उत्पादन बढ़ाने से फर्म की सीमान्त लागत घटती है अतः उत्पादन बढ़ाने पर फर्म को लाभ होगा। फर्म लाभ अधिकतम प्राप्त करने का प्रयत्न करेगी। इसलिए फर्म उत्पादन बढ़ा कर M बिन्दु पर साम्य की अवस्था में है।



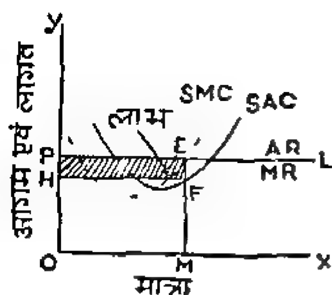
उत्पादन की मात्रा

रेखा चित्र सं. 33·3

इस बिन्दु पर MC वक्र MR वक्र को नीचे से काटता है। इसी बिन्दु पर फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त होता है अतः इस बिन्दु पर फर्म साम्य में है। M बिन्दु के बाद उत्पादन बढ़ाने पर फर्म की अतिरिक्त लागत अतिरिक्त आगम की तुलना में अधिक होगी अतः उसे हानि होगी।

अल्पकाल में फर्म को लाभ हो सकता है या न लाभ तथा न हानि हो सकती है या हानि हो सकती है। इन तीनों स्थितियों को रेखा चित्रों की सहायता से स्पष्ट कर सकते हैं।

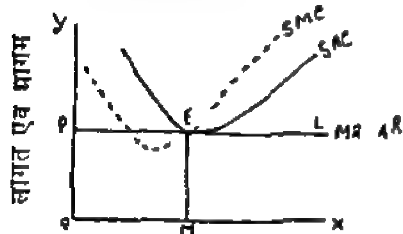
अल्पकाल में फर्म को लाभ—यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में फर्म मूल्य निर्धारक नहीं बल्कि मूल्य प्राप्त करने वाली होती है। यदि अल्पकाल में उद्योग की कुल मांग तथा पूर्ति के साम्य द्वारा निर्धारित मूल्य एक व्यक्तिगत फर्म के औसत लागत से अधिक है तो फर्म को असामान्य



उत्पादन की मात्रा
रेखा चित्र स 33·4

लाभ प्राप्त होगा। यह रेखा चित्र स 33 4 स देखा जा सकता है।फर्म का औसत एव सीमान्त आगमOP है जबकि फर्म के E साम्य बिन्दु पर OM उत्पादन की औसत लागत OH अथवा MF है अत फर्म को प्रति इकाई PH अथवा EF लाभ प्राप्त होताहै अर्थात फर्म को PE FHके बराबर अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है।

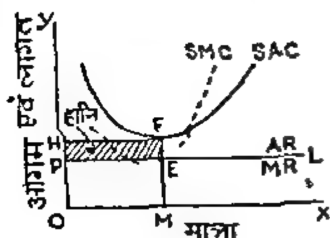
अल्पकाल मे फर्म को न लाभ तथा न हानि—अल्पकाल में फर्म को न किसी तरह का लाम न किसी तरह की हानि हो अर्थात् फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त हो सकता है। जब फर्म की औसत आगम तथा औसत लागत, सीमान्त लागत एव सीमान्त आगम चारों बराबर हो तब फर्म को न तो लाभ होता है न हानि। यह तथ्य रेखा चित्र 33 5 से देखा जा सकता है।



उत्पादन की मात्रा
रेखा चित्र स 33·5

इस रेखा चित्र म फर्म E बिन्दु पर साम्यावस्था मे है जहा फर्म के सीमान्त लागत वक्र ने फर्म के सीमान्त आगम वक्र को काटा है। इस साम्य बिन्दु पर फर्म वस्तु की OM मात्रा का उत्पादन करेगी जिसकी औसत आगम OP अथवा ME है तथा औसत लागत भी OP अथवा ME है अर्थात् फर्म को न लाभ होगा और न हानि।

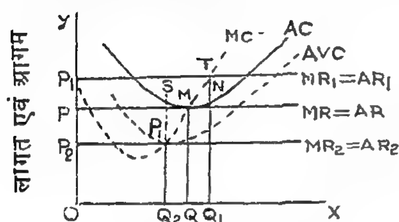
अल्पकाल मे फर्म को हानि—पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म को अल्पकाल मे हानि भी उठानी पड सकती है। यदि साम्य बिन्दु पर फर्म की औसत लागत फर्म की औसत आगम से अधिक है तो फर्म को हानि होगी। रेखा चित्र 33 6 पर फर्म को अल्पकाल मे हानि होती दिखायी है। इस चित्र मे फर्म के E साम्य बिन्दु पर OM उत्पादन की औसत आगम OP अथवा EM है जबकि औसत लागत OH अथवा MF है अत फर्म को HPEF के बराबर हानि होती है।



रेखा चित्र स 33 6

अल्पकाल मे हानि की स्थिति मे फर्म उत्पादन बन्द क्यो नहीं कर देती है?—अल्पकाल मे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे फर्म को हानि होती है तब वह उत्पादन क्यो बन्द नहीं कर देती है। वह हानि क्यो उठाती है? ये प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं। जैसा कि हम जानते

हैं फर्म अल्पकाल में उद्योग नहीं छोड़ सकती है। अत:अल्पकाल में वह केवल उत्पादन बन्द करने का निर्णय ले सकती है। परन्तु यह निर्णय लेते समय भी उसे बहुत सोच समझकर कार्य करना पड़ेगा क्योंकि अल्प काल में उत्पादन बन्द करने पर भी फर्म को स्थिर लागतों के बराबर हानि उठानी पड़ेगी। अत: अल्पकाल में यदि परिवर्तनशील साधनों के बराबर औसत आय प्राप्त हो जाती है तो वह हानि उठा कर भी उत्पादन चालू रख सकती है। इसे रेखा चित्र सं. 33·7 से समझाया गया है। फर्म उत्पादन बन्द करने का निर्णय लेती है अथवा चालू करने का यह जानने के लिए औसत एवं सीमान्त लागत एवं औसत एवं सीमान्त आगम के साथ परिवर्तनशील औसत लागत वक्र और खींचना आवश्यक होता है। इस रेखा चित्र में MC, AC, AVC क्रमश: फर्म के सीमान्त लागत, औसत लागत तथा परिवर्तनशील लागत वक्र हैं। फर्म का प्रारम्भिक औसत एवं सीमान्त आगम वक्र P है जिस पर M साम्य बिन्दु पर OQ उत्पादन पर फर्म को न लाभ न हानि होती है। अब यदि सीमान्त एवं औसत आगम वक्र गिर कर P_2 हो जाता है तब फर्म को हानि होने लगती है परन्तु साम्य R बिन्दु पर फर्म OQ_2 मात्रा का उत्पादन करती है। इस साम्य बिन्दु पर फर्म की औसत परिवर्तनशील लागत OP_2 है तथा फर्म का औसत आगम भी OP_2 है अर्थात फर्म को परिवर्तनशील लागतों के बराबर भुगतान प्राप्त हो जाता है अत: फर्म उत्पादन चालू रखती है। यदि फर्म का औसत एवं सीमान्त आगम वक्र OP_2 से भी नीचे गिर जाता है तो फर्म को परिवर्तन शील लागतों का भी भुगतान नहीं होगा अत: फर्म उत्पादन बन्द करने का निर्णय लेगी। अत: OP_2 उपरोक्त दी हुयी स्थिति में उत्पादन बन्द करने का निर्णय बिन्दु है। आगम इससे कम होने पर फर्म उत्पादन बन्द कर देती है, आगम इससे अधिक होने पर उत्पादन चालू रखती है, तथा इस बिन्दु पर वह उत्पादन बन्द करने या चालू रखने के बारे में उदासीन रहती है।

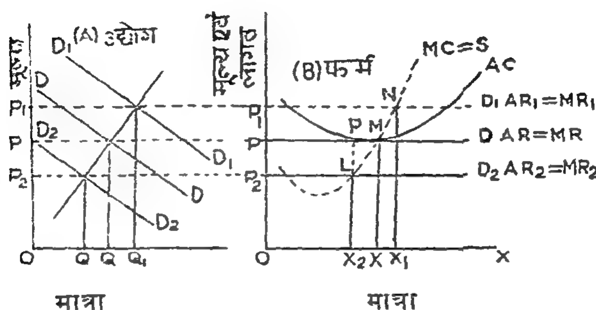


उत्पादन की मात्रा

रेखा चित्र सं. 33·7

फर्म के लाभ, न लाभ तथा न हानि एव हानि की स्थितियों को इसी एक ही रेखा चित्र से भी देखा जा सकता है। इसमें वस्तु का मूल्य OP होने पर फर्म को न लाभ तथा न हानि होती है क्योंकि साम्य बिन्दु पर फर्म की औसत लागत एवं औसत आगम दोनों बराबर हैं। मूल्य यदि OP_1 होता है तो फर्म को लाभ प्राप्त होता है क्योंकि साम्य बिन्दु पर फर्म की औसत लागत औसत आगम से कम है तथा OP_2 मूल्य पर फर्म को हानि होती है क्योंकि फर्म का औसत लागत फर्म के औसत आगम से अधिक है।

फर्में साम्य की स्थिति में होनी चाहिए । अर्थात् प्रत्येक फर्म का सीमान्त आगम (MR) सीमान्त लागत (MC) के बराबर हो । इस साम्य बिन्दु पर अल्पकाल में व्यक्तिगत फर्म लाभ कमाती हुयी हो सकती है, न लाभ तथा न हानि की स्थिति में हो सकती है अथवा हानि की स्थिति में हो सकती है । उद्योग के अल्पकालीन साम्य को रेखा चित्र 33.9 से स्पष्ट किया गया है ।



रेखा चित्र सं० 33.9

जब उद्योग में मांग वक्र D_1D_1 है तो उद्योग की मांग और कुल पूर्ति के साम्य द्वारा OP_1 मूल्य निर्धारित होता है और उत्पादन OQ_1 होता है । इस OP_1 मूल्य पर उद्योग में लगी एक प्रतिनिधि फर्म OX_1 उत्पादन करती है तथा अतिरिक्त लाभ कमाती है क्योंकि फर्म का औसत आगम फर्म के औसत लागत से अधिक है । जब उद्योग की मांग घट कर DD हो जाती है तब उद्योग की कुल मांग तथा कुल पूर्ति के साम्य द्वारा OP मूल्य निर्धारित होता है । इस मूल्य पर फर्म OX मात्रा का उत्पादन करेगी तथा फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होगा क्योंकि फर्म की औसत आगम तथा औसत लागत दोनों समान हैं । जब उद्योग की माँग और घट कर D_2D_2 हो जाती है तो उद्योग की कुल माँग तथा पूर्ति के साम्य द्वारा OP_2 मूल्य निर्धारित होगा । इस मूल्य पर फर्म OX_2 उत्पादन करती है तथा इस उत्पादन पर फर्म को हानि होगी क्योंकि फर्म की औसत लागत फर्म के औसत आगम से अधिक है ।

दीर्घकाल में उद्योग का साम्य (Long-Run Equilibrium of the Industry)—पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में उद्योग उस समय साम्य में होता है जब निम्न शर्तें पूरी हों :

(i) दीर्घकाल में उद्योग उस समय साम्य की स्थिति में होता है जब उद्योग में कुल उत्पादन स्थिर हो अर्थात् उद्योग की दीर्घकालीन मांग उद्योग की दीर्घकालीन पूर्ति के बराबर हो ।

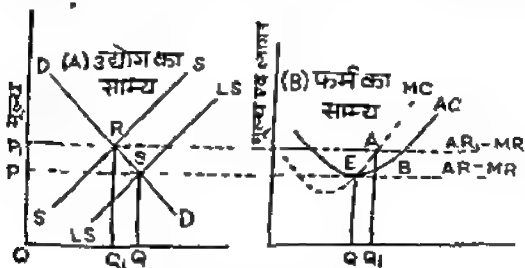
(ii) उद्योग में लगी सभी फर्में साम्य में हों तथा प्रत्येक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त हो । दीर्घकाल में यदि फर्मों को लाभ सामान्य लाभ से

अधिक प्राप्त होगा तो नई फर्में प्रवेश करेंगी परिणाम स्वरूप उत्पादन स्थिर नहीं रहेगा। इसी तरह दीर्घकाल में हानि होने पर फर्म उद्योग छोड़ देगी। अतः दीर्घकाल मे उद्योग की साम्य की स्थिति मे उद्योग मे नई फर्मों को प्रवेश की तथा चालू फर्मों को बहिर्गमन की प्रेरणा नहीं होती है। दीर्घकाल मे उद्योग उस समय साम्य म होगा जब

मूल्य = सीमान्त आय = सीमान्त लागत = औसत आय = औसत लागत

$$P = MR = MC = AR = AC$$

उद्योग के दीर्घकालीन साम्य को रेखा चित्र स० 33 10 से स्पष्ट किया गया है। इस रेखा चित्र मे DD फर्म का माग वक्र है तथा SS फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र है। उद्योग के अल्पकालीन साम्य द्वारा OP_1 मूल्य निर्धारित होता है जिस



रेखा चित्र 33 10

पर प्रतिनिधि फर्म OQ_1 मात्रा का उत्पादन करती है तथा अतिरिक्त लाभ कमाती है। अतिरिक्त लाभ की स्थिति के कारण दीर्घकाल मे उद्योग मे नई फर्में प्रवेश करेंगी जिससे पूर्ति बढ़ेगी। उपरोक्त चित्र मे DD उद्योग का माग वक्र तथा LS उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र है। DD वक्र तथा LS वक्र S बिन्दु पर एक दूसरे को काटते हैं अत. S बिन्दु पर उद्योग साम्य मे है। इस साम्य बिन्दु पर उद्योग मे लगी प्रत्येक फर्म केवल सामान्य लाभ कमाती हुयी होती है जैसा कि रेखा चित्र के फर्म का साम्य वाले भाग से ज्ञात होता है। E साम्य बिन्दु पर फर्म की सीमान्त आगम = सीमान्त लागत = औसत आगम = औसत लागत। अत दीर्घकाल मे उद्योग S बिन्दु पर साम्य मे है तथा उद्योग की प्रत्येक फर्म E बिन्दु पर साम्य म है।

प्रश्न एव संकेत

(1) पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म के साम्य की व्याख्या कीजिये।

(संकेत—पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन साम्य की रेखा चित्रो की सहायता स व्याख्या करें।)

(2) पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म एव उद्योग के साम्य मे आप क्या समझते हैं? रेखा चित्रों की सहायता से अल्पकालीन एव दीर्घकालीन साम्य की व्याख्या कीजिए।

34 एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य तथा उत्पादन निर्धारण (Price and Output Determination Under Monopoly)

एकाधिकार बाजार की वह स्थिति होती है जिसमें किसी वस्तु का बाजार में एक ही विक्रेता होता है तथा उसके द्वारा विक्रय की जाने वाली वस्तु के लिए बाजार में निकट प्रतिस्थापन्न वस्तुएं उपलब्ध नहीं होती हैं। चूंकि एकाधिकार की स्थिति में बाजार में एक ही उत्पादक या फर्म होती है इसलिए फर्म और उद्योग पर्यायवाची होते हैं। जिस प्रकार व्यावहारिक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति देखने को नहीं मिलती है, उसी प्रकार पूर्ण एकाधिकार की स्थिति भी बहुत कम दिखाई देती है। सार्वजनिक सेवाओं की पूर्ति यथा बिजली, पीने के पानी, टेलीफोन, रेल परिवहन आदि में एकाधिकार के निकट की स्थिति पाई जाती है।

अर्थ एवं परिभाषा—एकाधिकार की विभिन्न अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई परिभाषाओं में से कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं—

लर्नर के अनुसार—"एकाधिकार का तात्पर्य उस विक्रेता से है जिसकी वस्तु का माग वक्र गिरता हुआ होता है।"[1]

चैम्बरलिन के शब्दों में—"एकाधिकारी उसे समझना चाहिए जो किसी वस्तु की पूर्ति पर नियन्त्रण रखता हो।"

सुमनर के अनुसार—"विशुद्ध एकाधिकार से आशय माग की लोच शून्य होने से है, जबकि शुद्ध प्रतियोगिता में माग की लोच असीमित होती है।"[2]

बोल्डिंग के अनुसार—"शुद्ध एकाधिकारी वह फर्म है जो कि कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न कर रही है जिसका किसी अन्य फर्म की उत्पादित वस्तुओं में कोई प्रभावपूर्ण स्थानापन्न नहीं होता। 'प्रभावपूर्ण' से आशय यहां यह है कि यद्यपि एकाधिकारी असाधारण लाभ कमा रहा है, तथापि अन्य फर्म ऐसी स्थानापन्न वस्तुएं उत्पन्न करके,

---

1 "A Monopolist is any seller who is confronted with a falling demand curve for his product." —Lerner

2. "Pure monopoly implies zero elasticity of demand in contrast to the infinite elasticity of demand which is characteristic of pure competition." —John D. Sumner

जो कि खरीददारों को एकाधिकारी की वस्तु से दूर कर सकें, उक्त लाभों पर अतिक्रमण करने की स्थिति में नहीं है।"[3]

बेन्हम के शब्दों में—"एकाधिकारी शब्दशः एकमात्र विक्रेता होता है और एकाधिकारी शक्ति पूर्ति के सम्पूर्णतः नियंत्रण पर आधारित होती है।"

ट्रिफिन के अनुसार—"एकाधिकार ऐसी स्थिति का नाम है जिसमें कोई फर्म दूसरी फर्मों के मूल्यों की अवहेलना करके सफलतापूर्वक अपनी वस्तु का इच्छानुसार मूल्य निर्धारित कर सकती है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के अनुसार एकाधिकार बाजार की निम्नलिखित विशेषताएं ज्ञात होती हैं—

(1) एकाधिकारी वस्तु विशेष का एक ही उत्पादक अथवा विक्रेता होता है।

(2) एकाधिकारी द्वारा उत्पादित अथवा विक्रय की जाने वाली वस्तु के कोई प्रभावपूर्ण निकट प्रतिस्थापन्न वस्तुएं बाजार में उपलब्ध नहीं होती हैं।

(3) एकाधिकारी फर्म और एकाधिकारी उद्योग दोनों एक दूसरे के पर्यायवाची होते हैं अर्थात एकाधिकार एक फर्म वाला उद्योग होता है।

(4) एकाधिकार की स्थिति में उद्योग में नई फर्मों का प्रवेश वर्जित होता है।

(5) एकाधिकारी का अपनी वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियंत्रण होता है।

एकाधिकार का वर्गीकरण—एकाधिकार का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है जिनमें से कुछ प्रकार के वर्गों का अध्ययन यहां किया गया है—

स्वामित्व के आधार पर वर्गीकरण

(1) **निजी एकाधिकार (Private monopoly)**—निजी एकाधिकार में कुछ व्यक्तियों द्वारा व्यक्तिगत लाभ कमाने के उद्देश्य से एकाधिकारी संस्थाओं की स्थापना की जाती है। इन संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य वस्तु विशेष की क्षेत्र विशेष में विक्रय-सम्बन्धी नीति निर्धारित करके अधिकतम लाभ कमाना होता है।

(2) **सार्वजनिक एकाधिकार (Public monopoly)**—जब सरकार जन-कल्याण की दृष्टि से किसी आर्थिक क्षेत्र में एकाधिकार स्थापित कर लेती है तो इसे सार्वजनिक एकाधिकार कहते हैं। उदाहरणार्थ निजी यात्री परिवहन की अवांछित

---

3. "A pure monopolist therefore, is a firm producing a product which has no effective substitutes among the products of any other firm, 'effective' in the sense that even though the monopolist may be making abnormal profits other firms cannot encroach on these profits by producing substitutes commodities which might entice purchasers away from the product of the monopolist." —K. E. Boulding

प्रतिस्पर्धा को समाप्त कर समन्वित यात्री परिवहन सेवाएं प्रदान करने के लिए विभिन्न राज्यों में स्थापित परिवहन निगम सार्वजनिक एकाधिकार के उदाहरण हैं।

सामाजिक आधार पर एकाधिकार के वर्गीकरण

प्रो. चैम्बरलिन ने सामाजिक आधार पर एकाधिकार के चार प्रकार बताये हैं—

(1) प्राकृतिक या स्वाभाविक एकाधिकार (Natural monopoly)—कुछ प्राकृतिक या भौगोलिक कारणों से किसी वस्तु विशेष के उत्पादन का किसी क्षेत्र विशेष को एकाधिकार प्राप्त हो जाता है। जैसे भारत व बंगलादेश को जूट के उत्पादन का एकाधिकार प्राप्त है।

(2) कानूनी एकाधिकार (Statutory monopoly)—जब किसी व्यक्ति अथवा संस्था को किसी वस्तु के उत्पादन से सम्बन्धित वैधानिक अधिकार राज्य द्वारा प्रदान कर दिये जाते हैं तो इससे वैधानिक एकाधिकार स्थापित हो जाता है। उदाहरणार्थ कापी राइट या पेटेन्ट।

(3) सामाजिक एकाधिकार—जब सामाजिक कल्याण की दृष्टि से किसी स्थान या क्षेत्र विशेष में किसी वस्तु अथवा सेवा की पूर्ति का अधिकार सरकार द्वारा किसी व्यक्ति अथवा संस्था को दे दिया जाता है तो इसे सामाजिक एकाधिकार कहते हैं। उदाहरणार्थ जल एवं विद्युत आपूर्ति के क्षेत्र में सामाजिक एकाधिकार की स्थिति पाई जाती है।

(4) ऐच्छिक एकाधिकार—जब किसी वस्तु के उत्पादन तथा विक्रय में लगे व्यवसायी आपसी प्रतिस्पर्धा को दूर कर स्वेच्छा से मिलकर एकाधिकार की स्थापना करते हैं तो यह ऐच्छिक एकाधिकार कहलाता है। यह दो प्रकार का हो सकता है—

(अ) शीर्ष संयोग—जब किसी उत्पादन के क्षेत्र में कच्चे माल के उत्पादन से लेकर अन्तिम निर्मित वस्तु के निर्माण तक लगी संस्थाएं आपस में मिल जाती हैं तो यह शीर्ष संयोजन कहलाता है।

(ब) क्षैतिज संयोग—जब किसी एक ही व्यवसाय के भिन्न भिन्न स्थानों पर स्थित औद्योगिक इकाइयां एक ही नियंत्रण अथवा प्रबन्ध में आ जाती हैं तो यह क्षैतिज संयोजन कहलाता है।

कार्यात्मक आधार पर एकाधिकार का वर्गीकरण

(1) सामान्य एकाधिकार (Simple monopoly)—जब एक एकाधिकारी अपनी वस्तु को विभिन्न उपभोक्ताओं को एक ही मूल्य पर विक्रय करता है तो यह सामान्य एकाधिकार कहलाता है।

(2) विभेदात्मक एकाधिकार (Discriminating monopoly)—एक एकाधिकारी जब विभिन्न उपभोक्ताओं से अपनी वस्तु के अलग अलग (अर्थात् कुछ से अधिक तथा कुछ से कम) मूल्य प्राप्त करता है तो इसे विभेदात्मक एकाधिकार कहते हैं।

एकाधिकार उत्पन्न होने के कारण—अनेक कारणों के कारण एकाधिकार

की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मुख्य मुख्य कारणों का वर्णन आगे किया जा रहा है—

(1) **प्राकृतिक कारण**—कुछ प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जैसे पं. बंगाल व बंगला देश में प्राकृतिक परिस्थितियां जूट की कृषि की दृष्टि से उपयुक्त हैं अतः यहां जूट की कृषि में एकाधिकार की स्थिति उत्पन्न हो गई है। अभ्रक के उत्पादन पर भारत का एकाधिकार है।

(2) **वैधानिक कारण**—कापीराइट, ट्रेडमार्क आदि से सम्बन्धित एकाधिकार विधान द्वारा स्थापित किया जाता है।

(3) **सार्वजनिक सेवाओं से सम्बन्धित होने के कारण**—जल, विद्युत, रेल, वायुयान, डाक-तार आदि अनेक सेवाओं में एकाधिकार अधिकतम सामाजिक हित की दृष्टि से स्थापित किया जाता है।

(4) **आपसी प्रतिस्पर्धा को दूर करने के लिए**—एक जैसे स्वभाव के व्यवसाय में लगे व्यवसायी आपसी प्रतिस्पर्धा को समाप्त करके स्वेच्छा से मिलकर एकाधिकार की स्थापना कर लेते हैं। मुख्य उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है।

एकाधिकार में मूल्य निर्धारण
(Price Determination Under Monopoly)

एकाधिकार में मूल्य निर्धारण की व्याख्या करने से पूर्व यहां कुछ महत्वपूर्ण बातें स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

(1) **एकाधिकारी का उद्देश्य**—एकाधिकारी का उद्देश्य अन्य उत्पादकों की तरह से अपने 'लाभ' या 'एकाधिकारी आगम' को अधिकतम करना होता है। एकाधिकारी का उद्देश्य प्रति इकाई लाभ को अधिकतम करना नहीं होता है बल्कि कुल लाभ को अधिकतम करना होता है।

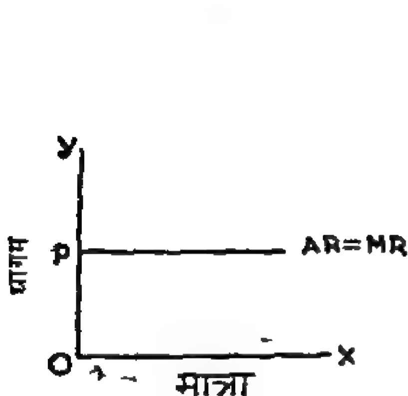
2. **एकाधिकारी एक साथ वस्तु का मूल्य और वस्तु की मात्रा दोनों निश्चित नहीं कर सकता है**—एक एकाधिकारी जिस वस्तु का उत्पादन कर रहा है वह उसकी पूर्ति की मात्रा निश्चित कर सकता है अथवा उसका मूल्य निश्चित कर सकता है। वह वस्तु की पूर्ति की मात्रा तथा वस्तु का मूल्य दोनों एक साथ निश्चित नहीं कर सकता है क्योंकि यदि वह वस्तु की पूर्ति की मात्रा निश्चित कर देता है तो उस पूर्ति तथा मांग की शक्तियों के अनुसार मूल्य निर्धारित हो जाता है और यदि वह वस्तु का मूल्य निर्धारित कर देता है तो उस मूल्य पर मांग के अनुसार पूर्ति की मात्रा निश्चित हो जाती है। व्यवहार में वह वस्तु की पूर्ति की अपेक्षा मूल्य को निर्धारित करना अधिक अच्छा समझता है क्योंकि एकाधिकारी अपने द्वारा निर्धारित निश्चित मूल्य पर अनुमानित मांग के अनुसार पूर्ति को इस प्रकार समायोजित करता है कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो।

3. **एकाधिकार के अन्तर्गत लागत एवं आगम**—एकाधिकार में मूल्य एवं

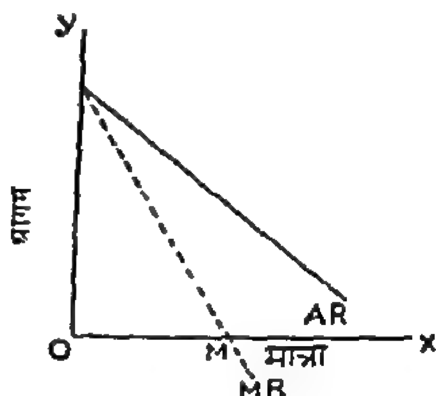
उत्पादन निर्धारण में लागत एवं आगम वक्रों की सहायता ली जाती है अतः एकाधिकारी की लागत एवं आगम की जानकारी आवश्यक है।

(अ) लागत—एकाधिकार तथा पूर्ण प्रतियोगिता में लागत वक्रों की रचना में किसी प्रकार का भेद नहीं होता है। एकाधिकारी की भी कुल लागतें तथा इकाई लागतें होती हैं जो उत्पादन के सामान्य नियमों से प्रभावित होती हैं।

(ब) आगम—वास्तव में देखा जाय तो पूर्ण प्रतियोगिता वाली फर्म तथा एकाधिकार वाली फर्म में मूल अन्तर बिक्री पक्ष की ओर से ही पाया जाता है। पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म प्रचलित मूल्य पर चाहे जितना माल बेच सकती है, अतः उसकी सीमान्त आय तथा मूल्य (औसत आगम) दोनों बराबर होते हैं। जबकि एक एकाधिकारी का अपना बायें से दायें ऊपर से नीचे को गिरता हुआ माग वक्र होता है अर्थात् एक एकाधिकारी किसी निश्चित समयावधि में अधिक माल कम मूल्य पर ही बेच सकता है अतः एकाधिकारी का सीमान्त आगम वक्र औसत



रेखा चित्र सं 34 1



रेखा चित्र 34 2

आगम अथवा मूल्य वक्र से भिन्न होता है। एक एकाधिकारी का माग वक्र (मूल्य रेखा अथवा औसत आगम वक्र) तथा सीमान्त आगम वक्र रेखा चित्र 34·2 से देखा जा सकता है। इस रेखा चित्र में औसत आगम तथा सीमान्त आगम दोनों एक ही बिन्दु से प्रारम्भ हुये हैं परन्तु M R वक्र तेजी से घटता हुआ है जबकि A R वक्र धीमे घटता हुआ है (A R जब घट कर आधा होता है तब M R घट कर शून्य हो जाता है।) जबकि रेखा चित्र 34 1 में पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का सीमान्त आगम (MR) तथा औसत आगम (AR) दोनों एक ही हैं तथा O X के समान्तर रहते हैं।

एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण की दो रीतियाँ
(Two Approaches of Determination of Price and Output Under Monopoly)

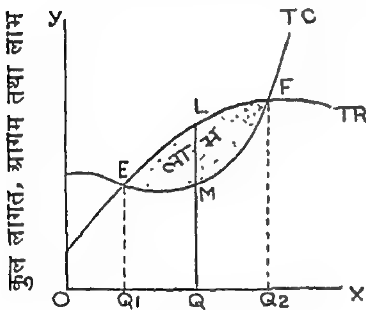
एकाधिकार में साम्य अथवा मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण की दो विधियां हैं—

(i) कुल आगम तथा कुल लागत रीति अथवा मार्शल की गलती एवं सुधार रीति।

(ii) सीमान्त आगम एवं सीमान्त लागत रीति अथवा आधुनिक रीति।

दोनों रीतियों का यहां संक्षिप्त अध्ययन किया गया है—

(i) **कुल आगम तथा कुल लागत रीति**—इस रीति को मार्शल की गलती तथा सुधार रीति के नाम से भी जाना जाता है। इस रीति के अनुसार एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य वहां निर्धारित करेगा जहां उसे अधिकतम कुल लाभ प्राप्त हो। इसे एकाधिकारी कुल लागत तथा कुल आगम वक्रों को खींच कर ज्ञात कर सकता है। एकाधिकारी को कुल लाभ अधिकतम वहां होगा जहां एकाधिकारी की कुल आगम तथा कुल लागत में अन्तर अधिकतम हो। इस विधि को रेखा चित्र 34·3 से समझाया गया है। इस रेखा चित्र में TC तथा TR एकाधिकारी की कुल लागत तथा कुल आगम वक्र हैं। एकाधिकारी को OQ_1 से कम उत्पादन तथा OQ_2 से अधिक उत्पादन पर हानि होती है जबकि OQ_1 से अधिक तथा OQ_2 से कम उत्पादन पर धनात्मक लाभ प्राप्त होता है। एकाधिकारी को OQ उत्पादन पर अधिकतम लाभ LM प्राप्त होता है। यही एकाधिकारी का साम्य है।

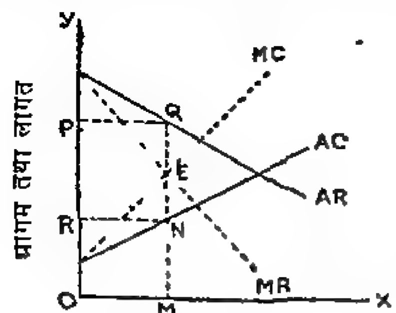


उत्पादन की मात्रा
रेखा चित्र सं० 34·3

दोष—कुल आगम तथा कुल लागत रीति एक भद्दी रीति है। इसमें निम्न दोष पाये जाते हैं : (i) कुल आगम वक्र तथा कुल लागत वक्रों के मध्य अधिकतम दूरी को ज्ञात करना कठिन होता है। (ii) इस विधि से प्रत्यक्षरूप से वस्तु की प्रति इकाई लागत एवं मूल्य को ज्ञात करना कठिन होता है।

(iii) **सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत रीति**—आधुनिक अर्थशास्त्री कुल आगम तथा कुल लागत रीति को दोषपूर्ण मानते हैं तथा इसके स्थान पर सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत रीति का प्रयोग अधिक अच्छा मानते हैं। इस विधि के अनुसार एक एकाधिकारी अधिकतम लाभ प्राप्ति के लिए अपनी वस्तु का मूल्य तथा उत्पादन की मात्रा वहां निर्धारित करेगा जहां सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत दोनों बराबर हों। इसी बिन्दु पर एकाधिकारी साम्य की स्थिति में होता है तथा इस साम्य बिन्दु पर अल्पकाल में अधिकतम लाभ कमाता हुआ न्यूनतम हानि उठाता हुआ अथवा न लाभ तथा न हानि उठाता हुआ होता है। जबकि दीर्घकाल में एकाधिकारी साम्य बिन्दु पर अधिकतम लाभ कमाता हुआ होता है। सीमान्त आगम

तथा लागत वक्रो की सहायता से मूल्य निर्धारण को रेखाचित्र स० 34 4 से समझाया गया है। इस रेखा चित्र मे MC तथा AC एकाधिकारी के सीमान्त एव औसत लागत वक्र तथा AR एव MR फर्म के औसत एव सीमान्त आगम वक्र हैं। एकाधिकारी का सीमान्त लागत तथा आगम वक्र E बिन्दु पर एक दूसरे को काटता है अत E एकाधिकारी का साम्य बिन्दु है जिस पर एकाधिकारी OM मात्रा का उत्पादन तथा विक्रय करेगा। इस OM उत्पादन को RO अथवा NM औसत लागत तथा OP अथवा QM औसत आगम है तथा फर्म को PR अथवा NQ के बराबर प्रति इकाई लाभ प्राप्त होता है अर्थात् फर्म को इस साम्य बिन्दु पर PRNQ के बराबर अधिकतम लाभ प्राप्त होता है।



रेखा चित्र स० 34 4

एकाधिकार मे कुल लागत तथा कुल आगम रीति एव सीमान्त आगम एव सीमान्त लागत वक्रों की रीति का सामान्य अध्ययन करने के बाद अल्पकाल एव दीर्घकाल मे एकाधिकार मे साम्य का अध्ययन किया जा सकता है।

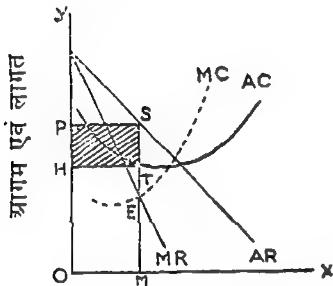
एकाधिकार मे अल्पकाल मे साम्य मूल्य एव उत्पादन
(Short Run Equilibrium Price and Output Under Monopoly)

एकाधिकारी के लिए अल्पकाल वह समय अवधि होती है जिसमे एकाधिकारी वस्तु की माग बढ़ने पर अपने वर्तमान उत्पादन के पैमाने के अधिकतम उपयोग द्वारा ही पूर्ति बढा सकता है। वह उत्पादन का पैमाना नहीं बदल सकता है अर्थात् अल्पकाल म एकाधिकारी परिवर्तनशील साधनो यथा कच्चा माल, श्रम, ईंधन आदि का अधिक प्रयोग करके उत्पादन मे वृद्धि कर सकता है। वह प्लाट एव मशीनरी तथा उत्पादन के पैमाने को नही बदल सकता है। इसी तरह माग कम होने पर वह उत्पत्ति के वर्तमान पैमाने का कम उपयोग करके ही पूर्ति घटा सकता है वह उत्पादन का पैमाना नही बदल सकता है। पीछे बताया जा चुका है कि एकाधिकारी फर्म एव उद्योग दोनो एक ही होते हैं। एकाधिकारी का मांग वक्र दायीं ओर नीचे को गिरता हुआ होता है क्योंकि एकाधिकारी एक निश्चित समयावधि में वस्तु की अधिक मात्रा कम मूल्य पर ही बेच सकता है। एकाधिकारी का औसत आगम वक्र तो मांग वक्र के बराबर ही होता है परन्तु सीमान्त आगम वक्र इससे कम होता है।

एकाधिकारी का अल्पकालीन साम्य वहा होता है जहा एकाधिकारी का सीमान्त लागत वक्र एकाधिकारी के सीमान्त आगम वक्र को नीचे से काटता है। इस साम्य बिन्दु पर एकाधिकारी वस्तु का उतना मूल्य वसूल करेगा जो साम्य बिन्दु से औसत आगम वक्र पर लम्ब डालने पर प्राप्त होता है तथा इस साम्य बिन्दु पर फर्म

को वस्तु के उत्पादन पर उतनी औसत लागत व्यय करनी पड़ती है जो इस साम्य बिन्दु से औसत लागत वक्र पर लम्ब डालने पर प्राप्त होती है। अल्पकाल में एकाधिकारी को अतिरिक्त लाभ प्राप्त हो सकता है, न लाभ तथा न हानि हो सकती है, अथवा हानि हो सकती है, परन्तु हानि की अधिकतम मात्रा स्थिर लागतों के बराबर हो सकती है। इससे अधिक हानि होने पर एकाधिकारी अल्पकाल में उत्पादन बन्द कर देता है।

एकाधिकारी के अल्पकालीन साम्य मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण को रेखाचित्र सं 34·5 से स्पष्ट किया गया है। इस चित्र में OX अक्ष पर वस्तु के उत्पादन तथा विक्रय की मात्रा तथा OY अक्ष पर आगम एवं लागत को व्यक्त किया किया गया है। AC तथा MC एकाधिकारी की औसत लागत एवं सीमान्त लागत वक्र हैं। AR तथा MR एकाधिकारी की औसत एवं सीमान्त आगम वक्र हैं। एकाधिकारी का सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आगम वक्र को E बिन्दु पर काटता है अतः यह एकाधिकारी का साम्य बिन्दु है जिस पर एकाधिकारी OM मात्रा के उत्पादन तथा विक्रय से अधिकतम लाभ की स्थिति में है। एकाधिकारी की OM मात्रा के उत्पादन की औसत लागत MT अथवा OH है तथा औसत आगम MS अथवा OP है अतः फर्म को TS अथवा PH के बराबर औसत लाभ प्राप्त होता है अर्थात PSTH के बराबर कुल अधिकतम लाभ प्राप्त होता है।



उत्पादन की मात्रा

रेखा चित्र 34·5

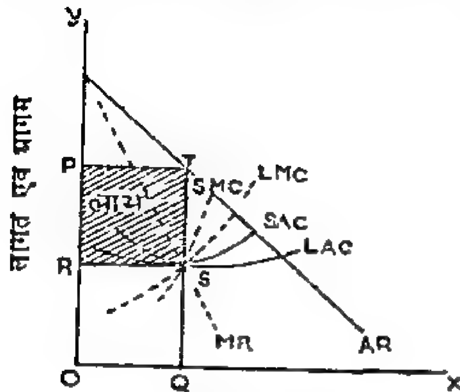
यहां यह मिथ्या धारणा दूर कर देना आवश्यक है कि एक एकाधिकारी सदैव अतिरिक्त लाभ कमाता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि अल्पकाल में एकाधिकारी साम्य की स्थिति में अतिरिक्त लाभ अर्जित करता हुआ या न लाभ तथा न हानि उठाता हुआ अथवा हानि उठाता हुआ हो सकता है।

एकाधिकार में दीर्घकाल में साम्य मूल्य एवं उत्पादन

(Lon-Run Equilibrium Price and Output Under Monopoly)

दीर्घकाल वह समय-अवधि होती है जिसमें वस्तु की मांग बढ़ने पर एकाधिकारी न केवल उत्पादन के वर्तमान पैमाने का अधिक प्रयोग करके उत्पादन बढ़ा सकता है अपितु वह उत्पादन के पैमाने को भी बदल सकता है। अतः दीर्घकालीन मूल्य निर्धारण में मांग की अपेक्षा पूर्ति का अधिक प्रभाव रहता है। एकाधिकारी का दीर्घकालीन साम्य वहां होता है जहां एकाधिकारी की दीर्घकालीन सीमान्त आगम तथा लागत दोनों बराबर हों। चूंकि एकाधिकार में एकाधिकारी को उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश का भय नहीं रहता है अतः वह अपनी उत्पादन क्षमता में, अधिकतम लाभ को ध्यान

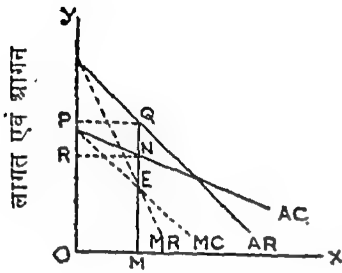
में रख कर, परिवर्तन करता है। एकाधिकारी दीर्घकाल में अतिरिक्त लाभ अर्जित करता है। एकाधिकारी दीर्घकाल मे बाजार तथा दीर्घकालीन औसत के सम्बन्धों को ध्यान मे रख कर एकाधिकारी अनुकूलतम आकार से कम, अनुकूलतम आकार अथवा अनुकूलतम से अधिक आकार के पैमाने का निर्माण कर सकता है। सामान्यतया एकाधिकारी इस बात का प्रयत्न करता है कि उसकी फर्म का आकार इतना बड़ा हो तो उसका दीर्घकालीन सीमान्त आगम वक्र उसके दीर्घकालीन औसत लागत वक्र को निम्नतम बिन्दु पर काटे। इस तथ्य को रेखा चित्र स. 35 6 पर दिखाया गया है। इस चित्र में LMC तथा LAC क्रमश: दीर्घकालीन सीमान्त लागत एव दीर्घकालीन औसत लागत हैं। SMC तथा SAC अल्पकालीन सीमान्त लागत एव अल्पकालीन औसत लगता हैं। MR तथा AR एकाधिकारी के सीमान्त एव औसत आगम वक्र हैं। एकाधिकारी के दीर्घकालीन सीमान्त आगम वक्र को दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र ने S बिन्दु पर काटा है अत यह एकाधिकारी का साम्य बिन्दु है जिस पर फर्म OQ मात्रा का उत्पादन एव विक्रय QT अथवा OP मूल्य पर करती है तथा इसकी औसत लागत QS अथवा OR है अर्थात् फर्म को ST अथवा RP प्रति इकाई अतिरिक्त लाभ अथवा RSTP कुल अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। इस चित्र मे न केवल एकाधिकारी का LMC = MR बल्कि MR = LMC = LAC = SAC = SMC सभी बराबर हैं अर्थात फर्म इस स्थिति मे अल्पकालीन एव दीर्घकालीन दोनो दशाओ मे सतुलन की स्थिति मे है। यह एकाधिकारी द्वारा अनुकूलतम आकार के उत्पादन के पैमाने की स्थिति को बताती है क्योंकि इसी उत्पादन बिन्दु पर फर्म का अल्पकालीन औसत लागत एव दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम है तथा यहा MR = LMC = LAC = SMC = SAC।



रेखा चित्र स. 35 6

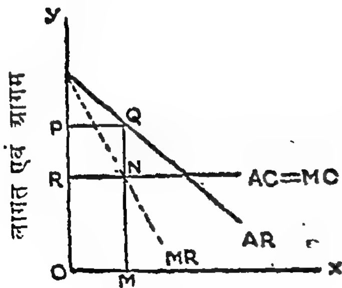
उत्पत्ति नियमो का एकाधिकारी के साम्य अथवा मूल्य एव उत्पादन निर्धारण पर प्रभाव—उत्पत्ति नियमो का एकाधिकारी के उत्पादन तथा मूल्यो पर प्रभाव पडता है। दीर्घकाल मे माग मे परिवर्तन के अनुसार एकाधिकारी द्वारा उत्पादन की मात्रा मे परिवर्तन करने पर उत्पत्ति के तीनों नियम कार्यशील होते हैं जिनका प्रभाव यहा नीचे अलग-अलग शीर्षको मे देखा गया है—

(i) उत्पत्ति वृद्धि नियम—जब उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है तब फर्म की औसत एवं सीमान्त लागत दोनों घटती हुयी होती हैं। उत्पत्ति वृद्धि नियम की क्रियाशीलता में एकाधिकारी का साम्य रेखा चित्र सं० 35·7 के द्वारा दिखाया गया है। इस रेखा चित्र में MC तथा AC एकाधिकारी के घटते लागत वक्र हैं तथा MR एवं AR एकाधिकारी के सीमान्त एवं औसत लागत वक्र हैं। फर्म के सीमान्त लागत वक्र ने फर्म के सीमान्त आगम वक्र को E बिन्दु पर काटा है। यह एकाधिकारी का साम्य विन्दु है जिस पर वस्तु की OM मात्रा का उत्पादन किया जाता है जिसकी औसत लागत OR अथवा MN है तथा औसत आगम MQ अथवा OP है अतः एकाधिकारी को PQNR के बराबर अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है। उत्पत्ति वृद्धि नियम की क्रियाशीलता के समय एकाधिकारी को उत्पादन बढ़ाना लाभ प्रद होता है।



उत्पादन की मात्रा
रेखा चित्र स. 35·7

(ii) उत्पत्ति स्थिरता नियम—जब उत्पत्ति स्थिरता नियम क्रियाशील होता है तब फर्म की सीमान्त लागत एवं औसत लागत दोनों समान होती हैं अतः उत्पादन बढ़ाने या घटाने का उसकी सीमान्त एवं औसत लागत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। उत्पत्ति स्थिरता नियम के समय एकाधिकारी के साम्य को रेखा चित्र सं. 35·8 पर दिखाया गया है। इस चित्र में एकाधिकारी के सीमान्त लागत वक्र ने सीमान्त आगम वक्र को N बिन्दु पर काटा हैं अतः यह एकाधिकारी का साम्य बिन्दु है जिस पर वह वस्तु की OM मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय करता है जिसकी MN अथवा OR औसत लागत है तथा MQ अथवा OP औसत आगम है। अर्थात् एकाधिकारी को PQNR अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है।



उत्पादन की मात्रा
रेखा चित्र सं. 35.8

(ii) उत्पत्ति ह्रास नियम—उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता के समय एकाधिकारी की औसत एवं सीमान्त लागत बढ़ती हुयी होती हैं। उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रिया-

शीलता के समय एकाधिकारी के साम्य को रेखा चित्र स 35 9 पर दिखाया गया है। इस चित्र म MC तथा AC एकाधिकारी की सीमान्त लागत एव औसत लागत वक्र हैं जो उत्पत्ति की वृद्धि के साथ बढती गई हैं। AR तथा MR उसके औसत आगम व सीमान्त आगम हैं। एकाधिकारी की सीमान्त लागत मे सीमान्त आगम को E बिन्दु पर काटा है अत यह एकाधिकारी का साम्य बिन्दु है जिस पर वह OM मात्रा का उत्पादन एव विक्रय करता है। इस साम्य उत्पादन की औसत लागत MN अथवा OR है तथा औसत आगम MQ अथवा OP है अर्थात फर्म को NQ अथवा RP प्रति इकाई औसत लाभ अथवा RNQP कुल अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता क समय फर्म के लिए उत्पादन घटाना लाभ प्रद होता है क्योंकि एसा करने से लागत कम होती है।

क्या एकाधिकारात्मक मूल्य सदैव प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य से अधिक होता है— सामान्यतया हमारे दिमाग मे यह एक मिथ्या धारणा रहती है कि एक एकाधिकारी सदैव पूर्ण *प्रतियोगिता की तुलना मे अधिक मूल्य वसूल करता है तथा उपभोक्ताओ* का शोषण करता है। परन्तु यह धारणा गलत है कि एकाधिकारी सदैव प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य से अधिक वसूल करता है बल्कि अनेक परिस्थितियो म एकाधिकारात्मक मूल्य प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य से कम होता है। एकाधिकारात्मक मूल्य निम्न परिस्थितियो म प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य से कम होता है—

(1) वस्तु की मांग अधिक लोचदार होने तथा लागत ह्रास नियम की क्रियाशीलता—जब एकाधिकारी लोचदार माग की वस्तु का उत्पादन, उत्पत्ति वृद्धि *नियम या लागत ह्रास नियम की* क्रियाशीलता के समय, करने पर एकाधिकारी कम लागत पर अधिक उत्पादन करके उसे नीचे मूल्य पर बेचकर अधिक लाभ अर्जित करता है।

(2) बडे पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताएं प्राप्त होने पर—एकाधिकारी सामान्यतया एक बडा उत्पादक होता है जिसे उत्पादन के क्षेत्र म बडे पैमाने के उत्पादन की आन्तरिक एव बाह्य बचतें प्राप्त होती हैं जिससे एकाधिकारी की प्रति इकाई लागत कम बैठती है और वस्तु का मूल्य भी अपेक्षाकृत कम होता है।

(3) विज्ञापन लागतो का बहुत कम होना—एकाधिकारी को अपने प्रतियोगियो का भय नही रहता है अत उसे प्रतिस्पर्धी फर्मों की तरह से विज्ञापन पर व्यय नही करना पडता है। इससे लागत कम रहती है तथा मूल्य भी अपेक्षाकृत कम होता है।

(4) एकाधिकारात्मक शक्ति को नियन्त्रित करने वाले कारक—एक एकाधिकारी की शक्ति अनेक कारको (तत्वो) से नियन्त्रित रहती है अत इन विभिन्न कारकों

की उपस्थिति के कारण एकाधिकारी अधिक मूल्य वसूल नहीं करता है। एकाधिकारात्मक शक्ति को नियंत्रित करने वाले प्रमुख कारक निम्न लिखित हैं—

(अ) सम्भावित प्रतियोगिता का भय—किसी एकाधिकारी के सामने वर्तमान में कोई प्रतियोगी नहीं होता है परन्तु उसे सदैव इस बात का भय बना रहता है कि निकट भविष्य में कोई प्रतिस्पर्धी उत्पन्न न हो जाय अतः वह मूल्य अपेक्षाकृत कम वसूल करता है जिससे नई फर्म को प्रोत्साहन न रहे।

(ब) विदेशी प्रतिस्पर्धा का भय—एक एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य विदेशी प्रतिस्पर्धा के भय से कम रखता क्योंकि ऊंचे मूल्य के लालच में विदेशी उत्पादक उसका एकाधिकार समाप्त कर सकते हैं।

(स) स्थानापन्न वस्तु का भय—व्यावहारिक जीवन में पूर्ण एकाधिकार की स्थिति नहीं पाई जाती है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के कुछ न कुछ स्थानापन्न उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ भारत में रेलवे परिवहन सरकारी एकाधिकार में है परन्तु वायु एवं सड़क परिवहन इसके स्थानापन्न का कार्य करते हैं। अतः एक एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य इसीलिए भी कम रखता है कि अन्य फर्में उसकी वस्तु के स्थानापन्न वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ न कर दें।

(द) सरकारी हस्तक्षेप का भय—एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य सरकारी हस्तक्षेप एवं नियंत्रण के भय से भी अधिक ऊंचा निर्धारित नहीं करता हैं क्योंकि अधिक ऊंचे मूल्य से उपभोक्ताओं का शोषण होता है तथा उनमें असंतोष बढ़ता है। इस असंतोष को दूर करने एवं उपभोक्ताओं को शोषण से बचाने के लिए सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है।

(य) उपभोक्ताओं द्वारा वहिष्कार का भय—एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य उपभोक्ताओं द्वारा उस वस्तु के वहिष्कार के भय से अधिक ऊंचा नहीं रखता है।

एकाधिकार का नियंत्रण (Control of Monopoly)—सामान्यतया एकाधिकार से आर्थिक शक्ति का संकेन्द्रण बढ़ता है तथा एकाधिकारी द्वारा वस्तुओं के अधिक मूल्य वसूल किये जाने के कारण उपभोक्ताओं एवं समाज का शोषण होता है। अतः जब एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए इतना आगे बढ़ जाय कि उससे राष्ट्र तथा जनता के हितों को क्षति पहुंचने लगे तब सरकार को एकाधिकारी का नियंत्रण करना चाहिए। एकाधिकार को नियंत्रित करने के लिए निम्न उपाय काम में लाये जाते हैं—

(1) एकाधिकार निषेध तथा एकाधिकार को नष्ट करना—सरकार विभिन्न प्रकार के एकाधिकार विरोधी अधिनियम पारित करके एकाधिकार संघों का गठन निषेध कर सकती है तथा भावी एकाधिकार की प्रवृतियों पर रोक लगा सकती है। अमेरिका में शर्मन एक्ट तथा क्लेटन एक्ट ट्रस्ट विरोधी अधिनियम थे जिनके द्वारा

ट्रस्टों द्वारा स्थापित एकाधिकार को समाप्त किया गया था। भारत का Monopolies and Restrictive Trade Practices Act भी इसी तरह का एकाधिकार विरोधी अधिनियम है।

(2) भावी प्रतिस्पर्धा को बनाये रखना—सरकार एकाधिकार स्थापित करने वाली फर्मों के विरुद्ध इन फर्मों को विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन दे सकती है जो एकाधिकारी फर्म के विरुद्ध प्रतिस्पर्धा कर सकती हैं। इस प्रकार भावी प्रतिस्पर्धा के भय द्वारा सरकार एकाधिकारी पर अंकुश रख सकती है।

(3) मूल्य तथा उत्पादन नियंत्रण—एकाधिकारी की शक्ति को सीमित करने के लिए सरकार एकाधिकारी की वस्तु के मूल्य तथा उत्पादन का नियन्त्रण कर सकती है अर्थात् एक तरफ सरकार एकाधिकारी की वस्तु का मूल्य नीचा निर्धारित कर सकती है तथा दूसरी तरफ उसके उत्पादन की मात्रा अधिक निर्धारित कर सकती है। परिणामस्वरूप एकाधिकारी के लाभ तथा एकाधिकार शक्ति कम हो जाती है।

(4) करारोपण—सरकार एकाधिकारी की वस्तु पर एक मुश्त ऊँचा कर लगा कर एकाधिकारी के लाभों को कम कर सकती है।

(5) सार्वजनिक स्वामित्व—एकाधिकार को समाप्त करने का सबसे शक्तिशाली तरीका उद्योग को सार्वजनिक स्वामित्व में ले लेना होता है। निजी एकाधिकारी के उद्योग का राष्ट्रीयकरण करके उसका सार्वजनिक हित में संचालन किया जा सकता है।

प्रश्न एवं संकेत

(1) एकाधिकार से क्या तात्पर्य है? एकाधिकार में मूल्य तथा उत्पादन का निर्धारण किस तरह होता है? रेखा चित्रों से स्पष्ट करें।

(संकेत—सर्वप्रथम एकाधिकार का अर्थ एवं विशेषताएं बतला दें। द्वितीय भाग में अल्पकाल एवं दीर्घकाल में एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण को बतावें तथा आवश्यक रेखा चित्र भी दे दें।)

(2) "एकाधिकारी वस्तु की पूर्ति निश्चित कर सकता है अथवा वस्तु का मूल्य वह दोनों को एक साथ निश्चित नहीं कर सकता है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिये और बताइये कि एकाधिकारी अपनी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निश्चित करता है?

(संकेत—सर्वप्रथम इस कथन को स्पष्ट करते हुए लिखें कि एकाधिकारी का वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है अतः वस्तु के मूल्य को प्रभावित कर सकता है। परन्तु वह एक साथ वस्तु की पूर्ति तथा मूल्य दोनों निर्धारित नहीं कर सकता है। यदि वह वस्तु की पूर्ति निर्धारित कर देता है तो माँग व पूर्ति के साम्य द्वारा मूल्य निर्धारित हो जाता है और यदि वह मूल्य निर्धारित कर देता है तो उस मूल्य पर माँग के अनुसार पूर्ति अपने आप निश्चित हो जाती है। साधारणतया एकाधिकारी मूल्य निर्धारण करना पसन्द करता

है। इसके बाद अल्पकाल एवं दीर्घकाल में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण को रेखा चित्रों से स्पष्ट कर दें।)

(3) क्या एकाधिकारी मूल्य प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य से सदैव अधिक होता है ? एकाधिकार को नियंत्रित करने वाले कारकों की विवेचना कीजिए।

(संकेत—प्रथम भाग में लिखें सदैव एकाधिकारी मूल्य प्रतिस्पर्धी मूल्य से अधिक नहीं होता है तथा वे परिस्थितियाँ बता दें जिनमें यह प्रतिस्पर्धी मूल्य से कम होता है। द्वितीय भाग में एकाधिकार को नियन्त्रित करने वाले कारकों का वर्णन कर दें।)

(4) एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ? क्या एकाधिकारी मूल्य सदैव स्पर्धात्मक मूल्य से ऊंचा होता है ?

(संकेत—प्रथम भाग में अल्पकाल एव दीर्घकाल में मूल्य निर्धारण बतावें तथा द्वितीय भाग में बतलावें कि एकाधिकारी मूल्य सदैव स्पर्धात्मक मूल्य से ऊंचा नहीं रहता है बल्कि अनेक परिस्थितियों में इससे कम भी होता है।)

(5) 'एकाधिकारी का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना है।' इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह उत्पत्ति के विभिन्न नियमों के लागू होने की स्थिति में किस प्रकार वस्तु का मूल्य निश्चित करता है ?

35 विभेदात्मक ऐकाधिकार (Discriminating Monopoly)*

एक एकाधिकारी वस्तु विशेष का अकेला उत्पादक एवं विक्रेता होता है। उसका अपनी वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है अतः वह अपनी वस्तु का मूल्य भिन्न भिन्न क्रेताओं से भिन्न भिन्न वसूल कर सकता है। एक एकाधिकारी द्वारा एक ही प्रकार की वस्तु के लिए विभिन्न ग्राहकों से अलग अलग मूल्य वसूल करने की प्रक्रिया को विभेदात्मक एकाधिकार के नाम से पुकारते हैं। उदाहरणार्थ राज्य विद्युत मण्डल घरेलू विद्युत उपभोक्ताओं से विद्युत का मूल्य प्रति यूनिट कृषि कार्यों के लिए विद्युत के उपभोग की तुलना में अधिक ऊंचा वसूल करते हैं। यह विभेदात्मक एकाधिकार का ही एक उदाहरण है। विभेदात्मक एकाधिकार को विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। यहाँ कुछ प्रमुख अर्थशास्त्रियों की परिभाषाएं दी गई हैं

श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार "एक ही नियन्त्रण के अन्तर्गत उत्पादित एक ही वस्तु को विभिन्न क्रेताओं को विभिन्न मूल्यों पर बेचने की क्रिया को मूल्य विभेद कहा जाता है।"[1]

स्टिगलर के शब्दों में "समान वस्तु के लिए दो या दो से अधिक मूल्य वसूल करने को मूल्य विभेद कहते हैं।"[2]

टॉमस के अनुसार "एकाधिकारी नीति की एक विशेषता यह है कि एक ही वस्तु या सेवा की पूर्ति के भिन्न भिन्न भागों का उपभोक्ताओं से भिन्न भिन्न मूल्य

---

*विभेदात्मक एकाधिकार के स्थान पर हिन्दी में विवेचनात्मक एकाधिकार, भेदपूर्ण एकाधिकार, विभेदीकरण एकाधिकार आदि शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है।

1. "The act of selling the same article, produced under single control at different prices to different buyers is known as price discrimination" —Mrs Joan Robinson

2. "Price Discrimination may be defined as the setting of two or more prices for an identical commodity" —Stigler

लिया जाता है। इस प्रकार का मूल्य-विभेद विभिन्न व्यक्तियों, विभिन्न व्यापारों, विभिन्न क्षेत्रों, अथवा एक समुदाय या विभिन्न समुदायों में हो सकता है।"[3]

बेन के शब्दों में : "मूल्य विभेद विशेषतया विक्रेता की उस क्रिया की ओर संकेत करता है जिसके द्वारा वह वस्तु का एक साथ ही विभिन्न क्रेताओं से भिन्न-भिन्न मूल्य वसूल करता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि मूल्य विभेद एक एकाधिकारी की उस क्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा वह अपने द्वारा उत्पादित समान वस्तु के विभिन्न क्रेताओं से विभिन्न मूल्य वसूल करता है।

मूल्य विभेद की शर्तें (Essential Conditions of Price Discrimination) एक एकाधिकारी मूल्य विभेद की नीति कब अपना सकता है? सफल मूल्य विभेद कब सम्भव होता? ये प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हैं। इनके उत्तर के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि एकाधिकारी कुछ विशेष आवश्यक शर्तें पूरा होने पर ही मूल्य विभेद की नीति सफलतापूर्वक अपना सकता है। यदि ये शर्तें पूरी नहीं हों तो मूल्य विभेद अपनाना सम्भव नहीं होता है। मूल्य विभेद की प्रमुख आवश्यक शर्तें निम्न लिखित हैं;

(1) **मांग की लोच की भिन्नता**—मूल्य विभेद के लिए सर्व प्रथम शर्त यह है कि एकाधिकारी द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग की लोच विभिन्न ग्राहकों अथवा उपभोक्ताओं के लिए भिन्न-भिन्न हो। एकाधिकारी बेलोचदार मांग वाले बाजार में ऊंचे मूल्य वसूल करता है तथा लोचदार मांग वाले बाजार में वह मूल्य कम रखता है।

(2) **बाजारों का पृथक्कीकरण**—मूल्य विभेद उसी समय सम्भव होता है जब वस्तु के दो या दो से अधिक बाजार हों तथा उनको पृथक पृथक करना संभव हो। बाजारों का पृथक्कीकरण तभी संभव होता है जब वे दूर-दूर स्थित हों तथा एक बाजार से दूसरे बाजार में वस्तु ले जाना संभव न हो। स्टोनियर एवं हेग के अनुसार : "यदि मूल्य विभेद को सफल बनाना है तो यह आवश्यक है कि एकाधिकारी के बाजार के विभिन्न खण्डों में ग्राहकों के बीच किसी भी प्रकार का संदेशवाहन सम्भव न हो अथवा बहुत कठिन हो। वैज्ञानिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि विभेदात्मक एकाधिकारी के विभिन्न बाजारों के बीच माल एक

---

3. "But a characteristic of monopolistic policy is that different prices are charged for different portions of the supply of the same commodity or service. Such price discrimination may be in respect of different persons, different trades or different areas in the same community or in different communities."
—Thomas

प्रयोजनों में लाते है तब भी मूल्य विभेद संभव होता है उदाहरणार्थ रेल्वे सेवाओं को विभिन्न वस्तुओं के परिवहन के लिए उपयोग में लाया जाता है। रेले विभिन्न वस्तुओं के परिवहन की विभिन्न दरें वसूल करती हैं। उदाहरण के लिए रेलें कोयले की ढुलाई का कम भाड़ा लेती हैं तथा कपास की गांठों का कोयले की तुलना में अधिक। परन्तु कपास की गांठों को कोयले में बदल कर कोयले के परिवहन की कम दरों का लाभ नहीं उठाया जा सकता है। अतः मूल्य विभेद संभव होता है।

(8) **परिवहन व्यय**—यदि दो क्षेत्रों मे मूल्य विभेद का अन्तर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को सामान ले जाने के परिवहन व्यय से कम होता है तो मूल्य विभेद संभव होता है।

(9) **आर्डर पर वस्तुओं का उत्पादन एवं विक्रय**—जब एक उत्पादक ग्राहकों को वस्तु का विक्रय आर्डर के अनुसार उत्पादन करके करता है तब मूल्य विभेद संभव होता है।

(10) **समय अन्तर**—एकाधिकारी समय में अन्तर के कारण भी अपनी वस्तु का मूल्य भिन्न भिन्न वसूल कर सकता है उदाहरणार्थ दिन में टेलीफोन शुल्क रात में शुल्क की अपेक्षा अधिक होता है। इसी तरह आवश्यक तार का साधारण तार की तुलना में शुल्क अधिक होता है।

मूल्य विभेद के रूप (Forms of Price Discrimination)—मूल्य विभेद के अनेक रूप देखने को मिलते हैं जिनमें से कुछ का वर्णन यहाँ किया गया है।

(1) **व्यक्तिगत मूल्य विभेद**—जब एक एकाधिकारी विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न मूल्य वसूल करता है उसे व्यक्तिगत मूल्य विभेद कहते हैं। इस तरह का मूल्य विभेद व्यक्तिगत सेवाओं (यथा डाक्टरी सेवाएं, वकील व अध्यापक की सेवाएं) के क्षेत्र में अधिक संभव होता है।

(2) **स्थानीय मूल्य विभेद**—जब एकाधिकारी विभिन्न स्थानों पर विभिन्न मूल्य वसूल करता है तो इसे स्थानीय मूल्य विभेद कहते हैं। जैसे घरेलू बाजार में वस्तुएं ऊंचे मूल्य पर तथा विदेशों मे नीचे मूल्यों पर वस्तुएं बेचना।

(3) **व्यावसायिक मूल्य विभेद**—जब एक धिकारी अपनी वस्तुओं का विभिन्न प्रयोगों अथवा व्यवसायों से पृथक-पृथक मूल्य लेता है तो यह व्यावसायिक मूल्य विभेद कहलाता है। बिजली बोर्ड द्वारा कृषि, उद्योग तथा घरेलु रोशनी सबमें अलग-अलग विद्युत दरें वसूल करना व्यावसायिक मूल्य विभेद है।

(4) **वर्गमूल्य विभेद**—एक एकाधिकारी जब अपनी वस्तु अथवा सेवा के वर्गों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर करके विभिन्न उपभोक्ताओं को विभिन्न मूल्यों पर वस्तुएं बेचता है तो यह वर्ग मूल्य विभेद कहलाता है। जैसे रेलें प्रथम श्रेणी एवं द्वितीय श्रेणी का किराया अलग-अलग वसूल करती हैं।

(5) **समय के अनुसार विभेद**—जब एकाधिकारी विभिन्न समयों पर भिन्न

भिन्न मूल्य वसूल करता है तो इसे समयानुसार मूल्य विभेद कहते हैं। उदाहरणार्थ रात में टेलीफोन शुल्क दिन की अपेक्षा कम वसूल करना।

पीगू का मूल्य विभेद का वर्गीकरण—पीगू ने मूल्य विभेद के तीन स्तर बनाये हैं —

(1) प्रथम श्रेणी का मूल्य विभेद—प्रथम श्रेणी के मूल्य विभेद में एकाधिकारी वस्तु की विभिन्न इकाइयों के लिए भिन्न भिन्न मूल्य इस प्रकार वसूल करता है कि वस्तु के बदले प्राप्त मूल्य वस्तु के माग मूल्य के समान होता है और क्रेताओ को उपभोक्ता की बचत प्राप्त नहीं होती है।

(2) द्वितीय श्रेणी का मूल्य विभेद—द्वितीय श्रेणी का मूल्य विभेद वह होता है जिसमे एकाधिकारी उपभोक्ताओ को उनकी माग के अनुसार विभाजित करके उनसे उनकी माग की तुलना मे कम मूल्य वसूल करता है जिससे उपभोक्ताओं को कुछ बचत प्राप्त होती है। रेल टिकट, सिनमा-टिकट आदि में इसी तरह का मूल्य विभेद किया जाता है

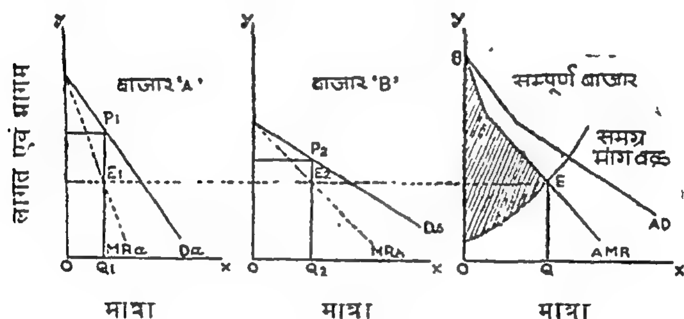
(3) तृतीय श्रेणी का मूल्य विभेद—इस तरह के मूल्य विभेद मे एकाधिकारी अपने क्रेताओ को विभिन्न श्रेणियो या बाजारो में बाट कर हर श्रेणी या बाजार की माग की लोच के अनुसार वस्तु का अलग अलग मूल्य वसूल करता है।

विभेदात्मक एकाधिकार मे वस्तु का मूल्य निर्धारण (Price Determination Under Discriminating Monopoly)—जैसा कि हम पहले अध्ययन कर चुके हैं कि साधारण एकाधिकार (Simple Monopoly) के अन्तर्गत वस्तु के सम्पूर्ण उत्पादन का केवल एक ही मूल्य वसूल किया जाता है जबकि विभेदात्मक एकाधिकार के अन्तर्गत एकाधिकारी अपनी वस्तु के विभिन्न उपभोक्ताओ से विभिन्न मूल्य वसूल करता है। परन्तु एकाधिकारी के उद्देश्य अथवा साम्य निर्धारण की प्रक्रिया म साधारण एकाधिकार तथा विभेदात्मक एकाधिकार म कोई सैद्धान्तिक अन्तर नही पाया जाता है। विभेदात्मक एकाधिकार म भी एकाधिकारी का उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना होता है। अत वह विभिन्न बाजारों म वस्तु का मूल्य तथा कुल उत्पादन की मात्रा इस प्रकार निर्धारित करता है जिसमे उसे अधिकतम एकाधिकारी लाभ या शुद्ध आगम प्राप्त हो। विभेदात्मक एकाधिकार में एकाधिकारी को उस समय अधिकतम लाभ प्राप्त होता है (अथवा एकाधिकारी उस समय साम्य म होता है) जब उसकी कुल सीमान्त लागत (Aggregate Marginal cost) उसकी कुल सीमान्त आगम (Aggregate Marginal Revenue) के बराबर हो तथा दोनों बाजारों से समान सीमान्त आगम प्राप्त हो जो कुल सीमान्त लागत के बराबर हो।

एकाधिकारी को साम्य की स्थिति प्राप्त करने के लिए तीन निर्णय लेने होते हैं—(1) वह वस्तु की कितनी मात्रा उत्पादित करे, (2) वस्तु के कुल उत्पादन को विभिन्न बाजारो में किस प्रकार बाटे तथा (3) विभिन्न बाजारों में कितना

कितना मूल्य वसूल करे। (एकाधिकारी अपनी वस्तु के बाजार को उतने ही विभिन्न भागों में बांट सकता है, जितने भागों में मांग की मूल्य-सापेक्षताओं (लोच) में अन्तर होता है परन्तु विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से बाजार को केवल दो भागों में बांट कर अध्ययन किया जाता है)

विभेदात्मक एकाधिकार में एक उत्पादक कुल उत्पादन की मात्रा का निर्धारण सीमान्त विश्लेषण के आधार पर करता है अर्थात् वह उतना उत्पादन एवं विक्रय करेगा जिसकी सीमान्त लागत एवं सीमान्त आगम दोनों बराबर हों। विभेदात्मक एकाधिकारी को सर्वप्रथम दोनों बाजारों को मिलाकर अपनी कुल सीमान्त आगम ज्ञात करनी होगी। कुल सीमान्त आगम ज्ञात होने पर इसकी तुलना कुल सीमान्त लागत से करके उसे कुल उत्पादन की मात्रा का निर्धारण करना होता है। एकाधिकारी की कुल सीमान्त आगम दोनों उप बाजारों की सीमान्त आगम वक्रों को साथ-साथ रखकर जोड़ने से प्राप्त होती है। रेखा चित्र 35·1 के देखने से ज्ञात होता है कि MRa बाजार 'A' का सीमान्त आगम वक्र है जो बाजार 'A'



रेखा चित्र 35·1

के मांग वक्र Da के अनुरूप है तथा बाजार 'B' का सीमान्त आगम वक्र MRb है जो बाजार 'B' के मांग वक्र Db के अनुसार है। इन दोनों उप बाजारों के सीमान्त आगम वक्रों के योग से कुल आगम वक्र AMR बना है जो सम्पूर्ण बाजार का आगम वक्र है। MC एकाधिकारी का कुल सीमान्त लागत वक्र है। एकाधिकारी का कुल आगम वक्र (AMR) तथा कुल सीमान्त लागत वक्र MC एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते है अत: E एकाधिकारी का साम्य बिन्दु हुआ जिस पर एकाधिकारी OQ साम्य मात्रा का उत्पादन करेगा।

विभेदात्मक एकाधिकारी को कुल उत्पादन की मात्रा का निर्धारण करने के बाद इस कुल उत्पादन को दोनों बाजारों में बांटना होता है। इस कुल उत्पादन को वह अपने दोनों बाजारों में इस प्रकार बांटेगा जिससे उसे दोनों बाजारों से समान सीमान्त आगम प्राप्त हो। अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि एकाधिकारी को दोनों बाजारों से समान सीमान्त आगम प्राप्त हो। यदि वह अपने

उत्पादन को इस प्रकार बाँटता है कि उसे दोनों बाजारों से समान सीमान्त आगम प्राप्त नहीं होती है तो उसे उस बाजार से जिसमें सीमान्त आगम कम प्राप्त होती है, वस्तु की कुछ इकाइयां निकालकर उस बाजार में बेचने से लाभ प्राप्त होगा जिसमें उसे अधिक सीमान्त आगम प्राप्त होती है। जब दोनों बाजारों से समान सीमान्त आगम प्राप्त होती है तब उसके लिए एक बाजार से वस्तु निकाल कर दूसरे बाजार में ले जाना लाभप्रद नहीं होता है। विभेदात्मक एकाधिकार के सन्तुलन के लिए केवल यह ही पर्याप्त नहीं है कि दोनों बाजारों से समान सीमान्त आगम प्राप्त हो बल्कि दोनों बाजारों की सीमान्त आयें कुल उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर भी हों। क्योंकि जब दोनों बाजारों की सीमान्त आगम उत्पादन की कुल सीमान्त लागत के बराबर होगी तब ही इन दोनों बाजारों में बेची जाने वाली वस्तु की मात्रा एकाधिकारी की कुल उत्पादन की मात्रा के बराबर होगी। रेखा चित्र 35 1 में कुल सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत के E साम्य बिन्दु द्वारा कुल उत्पादन की मात्रा OQ निर्धारित हुई। इस OQ उत्पादन की सीमान्त लागत EQ है अतः एकाधिकारी दोनों बाजारों में वस्तु की मात्रा का विभाजन इस तरह से करेगा कि उसे दोनों बाजारों से EQ के बराबर सीमान्त आगम प्राप्त हो। रेखा चित्र 35 1 में बाजार 'A' में वस्तु की OQ_1 मात्रा के विक्रय से E_1Q_1 सीमान्त आगम प्राप्त होती है जो EQ सीमान्त लागत के बराबर है। इसी तरह बाजार 'B' में वस्तु OQ_2 मात्रा बेचने पर प्राप्त सीमान्त आय E_2Q_2 कुल सीमान्त लागत EQ के बराबर है। अतः रेखा चित्र 35 1 के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि विभेदात्मक एकाधिकारी वस्तु की OQ मात्रा का उत्पादन करेगा जिसमें से OQ_1 मात्रा बाजार 'A' में तथा OQ_2 मात्रा बाजार 'B' में बेचेगा। (यहां $OQ = OQ_1 + OQ_2$)।

विभेदात्मक एकाधिकारी द्वारा कुल उत्पादन की मात्रा तथा इस मात्रा का दोनों बाजारों में विभाजन करने के बाद यह प्रश्न उठता है कि एकाधिकारी दोनों बाजारों में वस्तु का कितना कितना मूल्य वसूल करे। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इन बाजारों की माग की लोच के अनुसार मूल्य वसूल करेगा। जिस बाजार में वस्तु की माग बेलोचदार होती है उसमें मूल्य अधिक तथा जिसमें माग लोचदार होती है उसमें कम मूल्य वसूल करेगा। रेखा चित्र 35 1 के अनुसार एकाधिकारी बाजार 'A' में OQ_1 की मात्रा P_1Q_1 मूल्य पर बेचेगा तथा बाजार 'B' में वस्तु की OQ_2 मात्रा P_2Q_2 मूल्य पर बेचेगा। बाजार 'A' में माग बेलोचदार होने से मूल्य P_1Q_1 अधिक है जबकि बाजार 'B' में मांग लोचदार होने से मूल्य P_2Q_2 अपेक्षाकृत नीचा है।

मूल्य विभेद का औचित्य
(Justification for Price Discrimination)

क्या मूल्य विभेद की नीति समाज के लिए लाभप्रद है अथवा हानिकर? इस प्रश्न के उत्तर के सबंध में अर्थशास्त्रियों में मत भेद है कुछ अर्थशास्त्री मूल्य

विभेद को उचित मानते हैं जबकि अन्य इसे हानिप्रद या अनुचित। हम इस प्रश्न का उस समय तक स्पष्ट उत्तर नहीं दे सकते जब तक हमें यह मालुम न हो कि मूल्य विभेद का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है। जब समाज पर मूल्य विभेद के अच्छे प्रभाव पड़ते हैं तो यह उचित है अन्यथा नहीं। मूल्य विभेद निम्न परिस्थितियों में उचित कहलाता है—

(1) जब मूल्य विभेद नीति के अन्तर्गत निर्धन व्यक्तियों को धनवान व्यक्तियों की तुलना में सस्ती वस्तुएं अथवा सेवाएं बेची जाती है तो सामाजिक न्याय की दृष्टि से मूल्य विभेद उचित होता है।

(2) जब मूल्य विभेद नीति से देश का कुल उत्पादन बढ़ता है तो यह सामाजिक दृष्टि से ठीक होता है क्योंकि उत्पादन बढ़ने से आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है।

(3) जब देश के पास विदेशी विनिमय कोषों का अभाव हो उस समय वस्तु को घरेलू बाजार में ऊंचे मूल्य पर एवं विदेशी बाजार में कम मूल्य पर बेचने की मूल्य विभेद की नीति उचित कहलाती है।

(4) जनोपयोगी वस्तुओं में मूल्य विभेद की नीति से सामाजिक कल्याण में वृद्धि होने से यह उचित होती है।

इसके विपरीत कुछ परिस्थितियों में मूल्य विभेद की नीति अनुचित कही जाती है यदि :

(1) साधनों का प्रयोग अधिक न्याययुक्त न होकर दोषपूर्ण हो जावे—उदाहरणार्थ मूल्य विभेद की नीति से साधन सामान्य आवश्यकताओं के उत्पादन से निकल कर विलासिताओं की वस्तुओं के उत्पादन में अधिक लग जावें।

(2) एकाधिकारी वस्तुओं के उत्पादन को सीमित रख कर उपभोक्ताओं का शोषण करता है।

प्रश्न एवं संकेत

1. भेदपूर्ण अथवा विवेचनात्मक एकाधिकार क्या है ? इसके अन्तर्गत मूल्य कैसे निर्धारित किया जाता है ? समझाइये।

(संकेत—प्रथम भाग में विभेदात्मक एकाधिकार का अर्थ लिखें। द्वितीय भाग में रेखा चित्र की सहायता से विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य निर्धारण को समझावें।)

2. मूल्य-विभेद क्या है ? सफल मूल्य विभेद की शर्तें क्या हैं ? मूल्य-विभेद के अन्तर्गत मूल्य और उत्पादन सम्बंधी निर्णय किस प्रकार लिए जाते हैं ?

(संकेत—प्रथम भाग में मूल्य विभेद अथवा विभेदात्मक एकाधिकार का अर्थ लिखें। दूसरे भाग में मूल्य विभेद के लिए आवश्यक शर्तें लिखें तथा अन्तिम भाग में विभेदात्मक एकाधिकार में रेखा चित्र की सहायता से मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण की प्रक्रिया बतावें।)

———

36 एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण

(Price and Output Determination Under Monopolistic Competition)

मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में अभी तक हमने पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य निर्धारण तथा पूर्ण एकाधिकार में मूल्य निर्धारण का अध्ययन किया है। व्यावहारिक जगत में न तो पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति पाई जाती है और न ही पूर्ण एकाधिकार की स्थिति। व्यावहारिक जगत में इन दोनों स्थितियों के मध्य की स्थिति पाई जाती है जिसे एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के नाम से जाना जाता है। एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की धारणा का प्रतिपादन प्रोफेसर एडवर्ड एच चेम्बरलिन द्वारा सन् 1933 में किया गया था। एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता सही अर्थों में एक क्रान्तिकारी और महत्वपूर्ण धारणा है और पूर्ण प्रतियोगिता तथा पूर्ण एकाधिकार की तुलना में अधिक वास्तविक है। चेम्बरलिन से पहिले प्रतियोगिता तथा एकाधिकार एक दूसरे से विपरीत अर्थ वाले शब्द माने जाते थे। और यह समझा जाता था कि जहाँ प्रतियोगिता होती है वहाँ एकाधिकार नहीं हो सकता है तथा जहां एकाधिकार हो वहा प्रतियोगिता असम्भव होती है। परन्तु चेम्बरलिन ने बताया कि वास्तविक जगत में प्रतियोगिता तथा एकाधिकार दोनों के अंगों का मिश्रण पाया जाता है। प्रो चेम्बरलिन ने एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता को परम्परावादी विचारधारा को चुनौती मानते हुये लिखा है "एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की धारणा अर्थशास्त्र की परम्परागत विचारधारा को चुनौती है जिसमें कि प्रतियोगिता और एकाधिकार को दो विकल्प अवस्थाएं माना जाता है और व्यक्तिगत मूल्यों की या तो प्रतियोगिता के अन्तर्गत और या एकाधिकार के अन्तर्गत व्याख्या की जाती है। लेकिन इसके विपरीत मेरे विचार में अधिकांश आर्थिक अवस्थाएं प्रतियोगिता और एकाधिकार *का मिश्रण होती हैं।*"

अर्थ एवं परिभाषा—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता बाजार की वह अवस्था होती है जिसमें एक वस्तु के बहुत से विक्रेता होते हैं परन्तु उन सबकी वस्तुओं में एक दूसरे की वस्तुओं से इतना विभेद पाया जाता है कि वे एक दूसरे की वस्तुओं की अपूर्ण प्रतिस्थापन वस्तुएं सिद्ध होती है तथा उपभोक्ताओं के मस्तिष्क में वे एक दूसरे से भिन्न होती हैं। प्रत्येक विक्रेता का कुल बाजार की पूर्ति में इतना कम

भाग होता है कि उसके अकेले की क्रियाओं का प्रभाव अन्य विक्रेताओं पर बहुत कम या नहीं के बराबर पड़ता है। प्रो. रिचार्ड एच. लेपटविच के अनुसार "एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के बाजार में एक विशेष किस्म की वस्तु के अनेक विक्रेता होते हैं और प्रत्येक विक्रेता की वस्तु किसी न किसी रूप में दूसरे विक्रेता की वस्तु से भिन्न होती है।""जब विक्रेताओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि एक विक्रेता के कार्यों का दूसरे विक्रेताओं पर कोई स्पष्ट प्रभाव नही पड़ता है और उनके कार्यों का भी उस पर कोई स्पष्ट प्रभाव नही पड़ता है तो यह उद्योग एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का उद्योग बन जाता है।"[1] स्टोनियर एण्ड हेग के अनुसार "अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में अधिकांश उत्पादकों की वस्तुएं उनके प्रतिद्वन्द्वियों की वस्तुओं से बहुत मिलती-जुलती है। परिणामस्वरूप इन उत्पादकों को हमेशा इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि प्रतिद्वन्द्वियों की क्रियाएं उनके लाभ को कैसे प्रभावित करेंगी। आर्थिक सिद्धान्त में इस तरह की स्थिति का विश्लेषण एकाधिकृत प्रतियोगिता अथवा समूह संतुलन के अन्तर्गत किया जाता है। इनमें से एकसी वस्तुएं बनाने वाली अनेक फर्मों में प्रतियोगिता पूर्ण न होकर तीव्र होती है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर एकाधिकारात्मक प्रतियोगित की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित होती है :

(1) **क्रेताओं एवं विक्रेताओं की अधिक संख्या**—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में बाजार में वस्तु के विक्रेताओं तथा क्रेताओं की संख्या अधिक होती है। विक्रेताओं की संख्या अधिक होने से व्यक्तिगत विक्रेता अपनी क्रियाओं से बाजार के व्यवहार को प्रभावित नही कर सकता है तथा क्रेताओं की संख्या अधिक होने के कारण क्रेताओं द्वारा व्यक्तिगत रुचि के अनुसार वस्तुओं का क्रय किया जा सकता है। एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में क्रेताओं एवं विक्रेताओं की संख्या पूर्ण प्रतियोगिता से कम होती है।

(2) **विक्रेताओं द्वारा निकट स्थानापन्न तथा सदृश्य वस्तुओं का उत्पादन**—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में विभिन्न विक्रेताओं द्वारा निर्मित वस्तुएं बिलकुल एक जैसी नही होती है बल्कि उनमें कुछ अन्तर पाया जाता है। यह अन्तर किस्म, शक्ल, साइज, रंग, रूप, पैकिंग की सुन्दरता, ब्राण्ड, ट्रेडमार्क, विक्रेता के व्यवहार या दुकान की स्थिति का हो सकता है। ये अन्तर होते हुये भी एक विक्रेता की वस्तु अन्य विक्रेताओं की वस्तु की निकट-प्रतिस्थानापन्न वस्तु होती है।

(3) **विक्रेता की मांग-वक्र की लोचदार प्रकृति**—प्रत्येक फर्म का मांगवक्र पूर्ण लोचदार से कम होता है अर्थात वह दायी ओर नीचे को झुकता हुआ होता है।

---

1. आर. एच. लेपटविच "कीमत प्रणाली एवं साधन आवंटन" पृ. 270

(4) नई फर्मों को प्रवेश की स्वतन्त्रता—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में नई फर्में बगैर किसी बाधा के प्रवेश कर सकती हैं तथा कोई भी कार्यशील फर्म दीर्घकाल में उद्योग छोड़ कर जा सकती है।

(5) उपभोक्ताओं की रुचि में भिन्नता—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में बाजार में विक्रेताओं द्वारा विविध गुणों वाली भिन्न भिन्न वस्तुओं का विक्रय किया जाता है। विभिन्न क्रेताओं द्वारा विविध गुणों वाली विशिष्ट वस्तुओं का क्रय किया जाता है। उपभोक्ता अपनी रुचि, स्वभाव, आय की भिन्नता आदि के आधार पर वस्तु का चयन करते हैं। विक्रेता क्रेताओं को अपनी वस्तु के विशेषीकृत गुणों के आधार पर आकर्षित करता है।

(6) विक्रेताओं द्वारा क्रेताओं को प्रत्यक्ष सुविधाएं—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में विक्रेताओं द्वारा उपभोक्ताओं को प्रत्यक्ष सुविधाएं देकर व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करके विक्रय के प्रयत्न किये जाते हैं। विक्रेताओं द्वारा क्रेताओं को जीर्णोद्धार, नवीनीकरण, किराया क्रय पद्धति की सुविधा, गृह-सुपुर्दगी, साख सुविधा आदि विशिष्ट सुविधाएं प्रदान की जाती हैं जिनके परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं का विक्रेताओं से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसी कारण उपभोक्ता विशिष्ट विक्रेता से वस्तु खरीदना उचित समझता है।

(7) विक्रेता का बाजार के सीमित क्षेत्र पर एकाधिकार—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में सम्पूर्ण बाजार क्षेत्र अनेक उप क्षेत्रों में बटा हुआ होता है तथा प्रत्येक उपक्षेत्र पर एक विक्रेता का एकाधिकार होता है अत: उस सीमित क्षेत्र में उसे अल्पकाल में एकाधिकारी लाभ प्राप्त होते हैं। अर्थात यदि विक्रेता वस्तु का मूल्य कुछ बढ़ा भी देता है तो वह समस्त ग्राहक खो नहीं देता है परन्तु मूल्यों में थोड़ी कमी कर देता है तो उसकी बिक्री बढ़ जाती है।

(8) विज्ञापन विधियों के प्रयोग द्वारा विक्रय में वृद्धि—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में विक्रेताओं द्वारा विक्रय वृद्धि के लिए आधुनिक से आधुनिक विज्ञापन विधियों का प्रयोग किया जाता है। विज्ञापन का उद्देश्य प्रत्येक विक्रेता द्वारा अपनी वस्तु के गुणों तथा अन्य विक्रेताओं की वस्तुओं के दोषों को बताना होता है। विक्रेता विज्ञापन द्वारा अपनी बिक्री बढ़ाने में सामान्यतया सफल हो जाता है।

(9) वस्तु के आन्तरिक गुणों में परिवर्तन द्वारा बिक्री—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की प्रमुख विशेषता वस्तु विभेद का पाया जाना है। वस्तु विभेद को रखने के लिए विक्रेता अपनी वस्तु के आन्तरिक गुणों में परिवर्तन कर सतत बिक्री में वृद्धि का प्रयत्न करता है। वस्तु के आन्तरिक गुणों में परिवर्तन वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त कच्ची-सामग्री में सुधार कर अथवा वस्तु के बाह्य स्वरूप में परिमार्जन कर उसे उपभोक्ता की रुचि के अधिक अनुकूल बनाया जा सकता है। इस

प्रकार वस्तु के गुणों में परिवर्तन कर वस्तु को उपभोक्ता की रुचि के अधिक अनुकूल बनाकर बिक्री बढ़ा दी जाती है।

(10) आपसी समझौते का अभाव—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में विक्रेताओं में किसी भी प्रकार का पारस्परिक समझौता मूल्य अथवा ग्राहकों को प्रदान सुविधाओं के सम्बन्ध में नहीं होता है अत: उनमें अधिक प्रतिस्पर्धा पायी जाती है।

(11) व्यक्तिगत विक्रेता स्वयं की विक्रय नीति से सम्पूर्ण बाजार को प्रभावित नहीं कर सकता है—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में कोई भी व्यक्तिगत फर्म या विक्रेता अपनी स्वयं की मूल्य नीति से बाजार की कुल पूर्ति को प्रभावित नहीं कर सकता है।

(12) एकाधिकार तथा प्रतियोगिता दोनों की विद्यमानता—एकाधिकृत प्रतियोगिता में एकाधिकार तथा प्रतियोगिता दोनों के तत्व विद्यमान रहते हैं। अनेक क्रेता तथा अनेक विक्रेताओं का होना तथा निकट स्थानापन्न वस्तु का उत्पादन प्रतियोगिता के तत्व हैं जबकि वस्तु विभेद एकाधिकार का तत्व है।

(13) समूह साम्य—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में उद्योग का साम्य नहीं होता है बल्कि समूह का साम्य होता है।

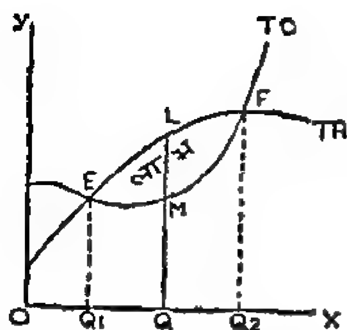
एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण अथवा फर्म का साम्य

(Price Determination or Equilibrium of the Firm Under Monopolistic Competition)

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्म के साम्य का तात्पर्य फर्म की उस स्थिति से होता है जहां फर्म को उत्पादन में परिवर्तन करने की प्रेरणा न हो तथा फर्म अधिकतम लाभ अर्जित कर रही हो। दूसरे शब्दों में एक फर्म उत्पादन की वह मात्रा एवं मूल्य निर्धारित करती है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो।

फर्म के साम्य को ज्ञात करने की दो विधियां हैं—(i) कुल आगम एवं कुल लागत रेखाओं की विधि एवं (ii) सीमान्त आगम एवं सीमान्त लागत रेखाओं की विधि।

(i) कुल आगम एवं कुल लागत रेखाओं की विधि—इस विधि के अनुसार एक एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता वाली फर्म उस समय साम्य की अवस्था में होती है जब उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। लाभ कुल आगम तथा कुल लागत का अन्तर



वस्तु के उत्पादन की मात्रा

रेखाचित्र 36 1

होता है अत फर्म उस बिन्दु पर अधिकतम लाभ कमाती हुयी होती है जहां फर्म की कुल आगम तथा कुल लागत वक्रो का अन्तर सर्वाधिक होता है। इसे रेखाचित्र 36 1 से स्पष्ट किया गया है। इस रेखाचित्र मे OX अक्ष पर वस्तु का उत्पादन तथा विक्रय तथा OY अक्ष पर कुल लागत तथा कुल आगम को दिखाया गया है। TC तथा TR क्रमश कुल लागत वक्र एव कुल आगम वक्र हैं। फर्म के कुल आगम तथा कुल लागत में सर्वाधिक अन्तर वस्तु की OQ मात्रा के उत्पादन तथा विक्रय पर होता है अत *फर्म का साम्य उत्पादन OQ है जिसके उत्पादन तथा विक्रय से LM के बराबर* लाभ प्राप्त होता है।

E तथा F बिन्दुओं पर फर्म की कुल आगम तथा कुल लागत दोनों बराबर है अत: ये फर्म के उत्पादन की समस्थिति बिन्दु (Break Even Points) हैं जहां फर्म को न लाभ तथा न हानि होती है। इन समस्थिति बिन्दुओ के पहले एव बाद में फर्म को हानि होती है।

(ii) सीमान्त आगम एव सीमान्त लागत रेखाओं की विधि—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता मे भी अन्य बाजार स्थितियों की तरह से फर्म का उद्देश्य अधिकतम *लाभ कमाना होता है अत फर्म ऐसा मूल्य एव उत्पादन निर्धारित करती है जो उसे* अधिकतम लाभ प्रदान करें। एक फर्म उस समय साम्य की स्थिति मे होती है जब फर्म की सीमान्त लागत फर्म की सीमान्त आगम के बराबर हो। फर्म के साम्य को ज्ञात करने के लिए यह आवश्यक है कि हमे फर्म की आगम एव लागत रेखाओं का ज्ञान हो। यहा सक्षेप म एकाधिकारात्मक फर्म की आगम एव लागत रेखाओं का वर्णन करके उसके साम्य को रेखा चित्रों की सहायता से समझाया गया है।

एकाधिकारात्मक फर्म का आगम—एकाधिकारात्मक फर्म का औसत आगम वक्र (मांग वक्र) बायें से दायें नीचे को झुकता हुआ होता है। इसका तात्पर्य यह है *कि फर्म अधिक मात्रा मे वस्तु मूल्य कम करके ही बेच सकती है तथा फर्म का सीमान्त आगम औसत आगम से कम होता है।* परन्तु फर्म का मांग वक्र एकाधिकारी की तरह बेलोचदार नहीं बल्कि बहुत लोचदार होता है।

एकाधिकारात्मक फर्म की लागत—एकाधिकारात्मक फर्म का अपना लागत वक्र होता है जो प्रतिद्वन्दियो के लागत वक्रों से स्वतन्त्र नहीं होता है क्योंकि उत्पादन व्यय के अतिरिक्त उत्पादन लागतों म विक्रय लागतें भी होती हैं जो अन्य विक्रेताओं की

क्रियाओं पर भी निर्भर करती है। विश्लेषण की सुविधा के लिए यह मान लिया जाता है कि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्मों के एक समूह की सभी फर्मों की लागत रेखाएं बिल्कुल एक स्तर होती हैं और ये एक ही स्तर पर रहती हैं चाहे समूह के फर्मों की संख्या कुछ भी हो।

फर्म का अल्पकालीन संतुलन—अल्पकाल में एक एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता वाली फर्म उस समय साम्य की अवस्था में होती है जब फर्म की अल्पकालीन सीमांत लागत फर्म के अल्पकालीन आगम के बराबर हो। रेखाचित्र 36.2 पर एकाधिकारात्मक प्रतियोगी फर्म का साम्य दिखाया गया है।

व्यक्तिगत फर्म का संतुलन

लागत एवं आगम

उत्पादन की मात्रा

रेखा चित्र 36.2

इस रेखा चित्र में OX अक्ष पर फर्म का उत्पादन एवं विक्रय तथा OY अक्ष पर फर्म का आगम एवं लागत दिखायी गयी है। DD फर्म का मांग वक्र अथवा औसत आगम वक्र है जिसके अनुरूप ही MR फर्म का सीमान्त आगम वक्र है। MC तथा AC फर्म के सीमान्त लागत एवं औसत लागत वक्र हैं। फर्म के सीमान्त लागत वक्र ने सीमान्त आगम वक्र को E बिन्दु पर काटा है अतः यह फर्म के साम्य का बिन्दु है जिस पर फर्म OQ मात्रा का उत्पादन करती है। इस उत्पादन की औसत लागत QS अथवा OR है तथा इसकी औसत आगम QT या OP है अर्थात फर्म को ST या RP प्रति इकाई औसत लाभ अथवा PTSR कुल अधिकतम लाभ प्राप्त होता है।

अल्पकाल में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में एक फर्म अतिरिक्त लाभ अर्जित कर सकती है, हानि उठा सकती है अथवा न लाभ तथा न हानि की स्थिति में हो सकती है।

अल्पकाल में यदि मूल्य फर्म के अनुकूल हैं और साम्य उत्पादन की औसत आगम औसत लागत से अधिक है तो अल्पकाल में फर्म को असामान्य लाभ प्राप्त होगा।

अल्पकाल में यदि मूल्य न तो फर्म के प्रतिकूल हैं और न अनुकूल तथा साम्य उत्पादन की औसत आगम तथा औसत लागत दोनों बराबर है तो फर्म न लाभ तथा न हानि की स्थिति में होगी।

यदि अल्पकाल में मूल्य फर्म के प्रतिकूल है तथा फर्म की औसत लागत फर्म की औसत आगम से अधिक है तो फर्म को हानि होगी।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्म का दीर्घकालीन संतुलन—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में दीर्घकाल में भी फर्म का मांग वक्र अधिक लोचदार होता

है। दीर्घकाल में एक फर्म अपने उत्पादन का पैमाना बदल सकती है। वस्तु के उत्पादन में नई फर्में प्रवेश कर सकती हैं, पुरानी फर्में उत्पादन बन्द कर सकती हैं तथा प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा अधिक निकट स्थानापन्न वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है। अतः दीर्घकाल में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में अल्पकालीन अतिरिक्त लाभ समाप्त हो जाते हैं तथा फर्मों को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है।

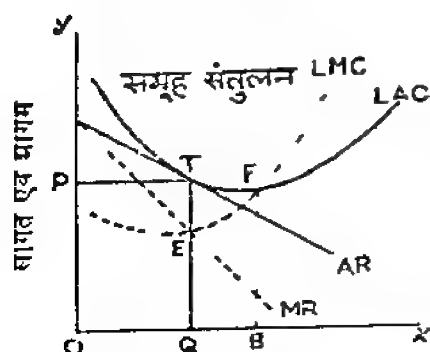
समूह सतुलन या समूह साम्य (Group Equilibrium)—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में सभी फर्में बिलकुल समान वस्तुओं का उत्पादन नहीं करती हैं बल्कि वस्तु विभेद पाया जाता है अतः ऐसी स्थिति में उद्योग शब्द का प्रयोग उचित नहीं होता है बल्कि समूह शब्द का प्रयोग किया जाता है। एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में वे सभी फर्में जो एक दूसरे की बहुत निकटतम प्रतिस्थापन वस्तुएं उत्पन्न करती हैं उन्हें एक समूह के रूप में जाना जा सकता है।

समूह विश्लेषण में भी वस्तुओं में भिन्नता, उत्पादन लागतों में भिन्नता, मूल्य विभिन्नता तथा क्रेताओं की माग में विभिन्नता के कारण कठिनाई उपस्थित होती है परन्तु प्रो चेम्बरलिन प्रत्येक फर्म की इन विभिन्न दशाओं में अन्तरों को ध्यान में नहीं लाते और सभी को एक दशाओं में कार्य करते हुए मान लेते हैं।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में समूह सतुलन की स्थिति वह स्थिति है जिसमें फर्मों की सख्या में परिवर्तन न हो तथा फर्मों को केवल सामान्य लाभ प्राप्त हो रहा हो। समूह सतुलन के लिए निम्न शर्तें पूरी होनी चाहिए

(1) समूह में फर्मों की सख्या निश्चित हो,
(2) मूल्य औसत लागत के बराबर हो तथा
(3) प्रत्येक फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त हो।

समूह सतुलन को रेखा चित्र 36 3 से स्पष्ट किया गया है।



उत्पादन की मात्रा
रेखा चित्र 36 3

इस रेखा चित्र में समूह के प्रत्येक फर्म का औसत आगम या माग वक्र AR है तथा फर्म का सीमान्त आगम वक्र MR है। LMC तथा LAC प्रत्येक फर्म के दीर्घकालीन सीमान्त लागत एवं दीर्घकालीन औसत लागत वक्र हैं। दीर्घकालीन सीमान्त वक्र LMC ने सीमान्त आगम वक्र MR को E बिन्दु पर काटा है अतः यह साम्य बिन्दु है। जिस पर फर्म OQ मात्रा में वस्तु का उत्पादन करती है जिसकी औसत उत्पादन लागत QT अथवा OP है तथा औसत आगम भी

QT अथवा OP ही है अतः समूह की प्रत्येक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है।

परन्तु उपर्युक्त साम्य पूर्ण प्रतियोगिता के साम्य से भिन्न है क्योंकि :

(i) पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक फर्म दीर्घकाल में अनुकूलतम आकार की होती है तथा प्रत्येक फर्म न्यूनतम लागत पर उत्पादन करती है। परन्तु एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्म न्यूनतम उत्पादन लागत बिन्दु पर पहुँचने से पूर्व ही सन्तुलन की स्थिति में हो जाती है। उपरोक्त रेखाचित्र सं. 36.3 के सन्दर्भ में देखें तो पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में फर्म F न्यूनतम उत्पादन लागत बिन्दु पर OB मात्रा के उत्पादन पर साम्य में होती जबकि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की स्थिति में फर्म न्यूनतम प्रतिइकाई उत्पादन लागत से पूर्व ही OQ मात्रा के उत्पादन पर साम्य में हो जाती है।

(ii) क्रेताओं के लिए पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति लाभ प्रद होती है क्योंकि उन्हें न्यूनतम-उत्पादन-लागत के बराबर मूल्य देना पड़ता है जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता में अधिक मूल्य देना पड़ता है। चित्र सं. 3 को देखें तो पूर्ण प्रतियोगिता में उन्हें TQ मूल्य देना पड़ता है जो FB मूल्य से अधिक है।

(iii) पूर्ण प्रतियोगिता में फर्मों को विक्रय लागतें (Selling Costs) वहन नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि क्रेताओं को विक्रेताओं की वस्तुओं की किस्म एवं मूल्य की पूर्ण जानकारी होती है जबकि एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में विक्रय लागतें अधिक होती हैं जो उपभोक्ताओं से ऊँचे मूल्यों के रूप में वसूल की जाती है।

विक्रय लागतें (Selling Costs)—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में विक्रय लागतें उन समस्त व्ययों को कहते हैं जो क्रेताओं को आकर्षित करने के लिए एक फर्म द्वारा किये जाते हैं। विक्रय लागतों पर किये गये व्यय से उपभोक्ताओं के मन में यह बात बैठायी जाती है कि फर्म विशेष की वस्तु अन्य फर्मों की वस्तुओं से श्रेष्ठ है। विक्रय लागतों में सभी प्रकार के विज्ञापन व्यय, विक्रेता का वेतन, विक्रय विभाग सम्बन्धी व्यय, फुटकर एवं थोक विक्रेताओं को प्रदान किये गये उपहार, नयी वस्तुओं का प्रदर्शन व्यय आदि सम्मिलित होते हैं।

प्रश्न एवं संकेत

1. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का क्या अर्थ है ? इसके अन्तर्गत मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ?

(संकेत—प्रथम भाग में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का अर्थ एवं विशेषताएं लिखें द्वितीय भाग में अल्पकाल एवं दीर्घकाल में एकाधिकृत प्रतियोगिता में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण का रेखा चित्रों की सहायता से वर्णन करें।)

2 एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की विशेषताओं की व्याख्या कीजिए।

(संकेत—एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का अर्थ लिख कर विशेषताओं का वर्णन करें।)

3 एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्म के अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन साम्य का विश्लेषण कीजिए।

(संकेत—एकाधिकृत प्रतियोगिता का अर्थ लिख कर रेखा चित्रों की सहायता से फर्म के अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन संतुलन को स्पष्ट करें।)

भाग—5

वितरण
(DISTRIBUTION)

37 राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक कल्याण
(National Income and Economic Welfare)

राष्ट्रीय आय की धारणा अर्थशास्त्र में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण धारणा है जो सभी बड़ी आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण में सहायक होती है। राष्ट्रीय आय का विचार यद्यपि एक नवीन विचार नहीं है परन्तु इसके अध्ययन का महत्व जितना अधिक बीसवीं शताब्दी में बढ़ा है उतना महत्व पहले कभी नहीं रहा। राष्ट्रीय आय पर विचार एडम स्मिथ से लेकर आज तक किसी न किसी रूप में अवश्य होता रहा है। राष्ट्रीय आय का विचार बीसवीं शताब्दी से पूर्व अस्पष्ट रहा है परन्तु आज यह विचार बहुत अधिक स्पष्ट एवं वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया जा चुका है। राष्ट्रीय आय की धारणा के सम्बन्ध में दो तरह की परिभाषाएं प्रचलित हैं जिनका यहाँ संक्षिप्त अध्ययन किया गया है।

राष्ट्रीय आय की कुछ प्रारम्भिक परिभाषाएं—राष्ट्रीय आय की प्रारम्भिक परिभाषाओं में प्रो० मार्शल, प्रो० पीगू तथा प्रो० फिशर के नाम उल्लेखनीय हैं। यहाँ तीनों परिभाषाओं पर विचार किया गया है।

मार्शल की परिभाषा—राष्ट्रीय आय के लिए मार्शल ने राष्ट्रीय लाभांश शब्द का प्रयोग किया है। *मार्शल ने राष्ट्रीय लाभांश की परिभाषा निम्न शब्दों में की है*—"किसी देश का श्रम एवं पूंजी उसके प्राकृतिक साधनों पर क्रियाशील होकर प्रतिवर्ष भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं और सभी प्रकार की सेवाओं का एक निश्चित विशुद्ध योग उत्पन्न करते हैं। *यह किसी देश की वास्तविक विशुद्ध वार्षिक आय या आगम या राष्ट्रीय लाभांश है।*"[1]

मार्शल ने राष्ट्रीय आय की उपरोक्त परिभाषा देने के साथ अपनी पुस्तक में राष्ट्रीय आय की गणना के सम्बन्ध में निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए को भी बताया है। (1) सामा-

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक कल्याण

अर्थ–'देश की उत्पादन व्यवस्था से वर्ष भर में प्रवाहित होकर अन्तिम उपभोक्ताओं के हाथ में पहुंचने तथा

1 "The labour and capital of a country acting on the national resources, produce annually a certain net aggregate of commodities material and immaterial, including services of all kinds This is the true national income or revenue of the country or the national dividend." —Marshall

I राष्ट्रीय आय के आकार में परिवर्तन व आर्थिक कल्याण,
II राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन एवं आर्थिक कल्याण।

पीगू की परिभाषा—पीगू ने राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में मौद्रिक दृष्टिकोण अपनाया है। पीगू के अनुसार लाभांश किसी समुदाय की वास्तविक आय जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी शामिल है, का वह भाग है जिसे मुद्रा के रूप में मापा जा सकता है।"[2] प्रो० पीगू की परिभाषा का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि उन्हीं वस्तुओं को शामिल किया जाता है जिनका मूल्य मुद्रा में मापा जा सकता है। राष्ट्रीय आय में विदेशों में विनियोजित पूंजी तथा सम्पत्ति की आय भी शामिल की जानी चाहिए।

पीगू की परिभाषा की आलोचनाएं—प्रो० पीगू की परिभाषा की भी अनेक आलोचनाएं हुयी हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं— (i) यह परिभाषा केवल मौद्रिक व्यवस्था वाली अर्थ-व्यवस्था में ही लागू हो सकती है तथा जहां बहुत बड़ा गैर मौद्रिक क्षेत्र हो वहां राष्ट्रीय आय की गणना इसके अनुसार नहीं की जा सकती है। (ii) पीगू ने मुद्रा के मापन तक राष्ट्रीय आय के विचार को सीमित कर इसे संकीर्ण तथा विरोधाभासों से युक्त बना दिया है। एक नरस जो किसी हास्पीटल में बच्चों की देख-रेख का कार्य करती है तो उसके कार्यों का मूल्य राष्ट्रीय आय में शामिल होगा और यदि वह घर में अपने बच्चों का कार्य करती है तो यह राष्ट्रीय आय के उत्पादन में शामिल नहीं किया जाता है।

प्रो. फिशर की परिभाषा—प्रो. फिशर की परिभाषा मार्शल तथा पीगू की परिभाषा से भिन्न है। जहाँ मार्शल एवं पीगू की परिभाषाएं उत्पादन पर आधारित है वहा फिशर की परिभाषा उपभोग पर आधारित है। फिशर के अनुसार "राष्ट्रीय लाभांश अथवा राष्ट्रीय आय में केवल वे सेवाएं जो अन्तिम रूप में उपभोक्ताओं को उपभोग के लिए प्राप्त होती हैं चाहे वे भौतिक वातावरण से प्राप्त हुई हों अथवा मानवीय वातावरण से, शामिल किया जाता है। इस प्रकार एक पियानों अथवा ओवरकोट जो कि मेरे लिए इस वर्ष बनाया गया है वह इस वर्ष की आय का भाग नहीं है, बल्कि वह पूंजी में वृद्धि मात्र है। केवल वे ही सेवाएं, जो इन वस्तुओं के प्रयोग से मुझे इस वर्ष मिलेंगी आय है।"[3]

फिशर की परिभाषा अधिक तार्किक है। उन्होंने राष्ट्रीय आय का आधार उत्पादन न मान कर उपभोग को माना है। फिशर के अनुसार राष्ट्रीय आय एक

---

2. "National Dividend is that part of objetive income of the community, including, of course, income derived from abroad, which can be measured in money." —Pigou

वर्ष का कुल उत्पादन नहीं है बल्कि इस उत्पादन का केवल वही भाग राष्ट्रीय आय है जो वास्तव में उस वर्ष में उपभोग किया जाता है।

फिशर की परिभाषा की आलोचना—इस परिभाषा की प्रमुख आलोचनाएं निम्न लिखित हैं :

(i) राष्ट्रीय आय की गणना बहुत कठिन है क्योंकि वर्ष में उपभोग में आने वाली वस्तुओं एवं सेवाओं की सूची तैयार करना बहुत कठिन होता है।

(ii) टिकाऊ उपभोग वस्तुओं के जीवन काल का सही अनुमान कठिन होता है परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय की गणना कठिन होती है। (उदाहरण के तौर पर एक 10,000 रुपये मूल्य की टिकाऊ वस्तु का जीवन 10 साल हो तो प्रति वर्ष की आय में केवल 1000 रुपये शामिल होंगे जबकि वास्तविक जीवन 15 साल निकलता है तो प्रति वर्ष की आय में केवल 666 67 रुपये ही शामिल होंगे।

(iii) राष्ट्रीय आय की इस विधि से गणना करने में समय एवं धन का बहुत अधिक अपव्यय होगा।

राष्ट्रीय आय की नवीन परिभाषा

राष्ट्रीय आय की आधुनिक परिभाषाओं में प्रो. साइमन कुजनेट्स की परिभाषा बहुत उपयुक्त है।

प्रो. साइमन कुजनेट्स ने, जिन्हें अर्थशास्त्र में तृतीय नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ था, राष्ट्रीय आय की इस प्रकार परिभाषा दी है—"देश की उत्पादन व्यवस्था से वर्ष भर में प्रवाहित होकर अन्तिम उपभोक्ताओं के हाथों में पहुँचने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं अथवा देश के 'पूंजीगत वस्तुओं' के स्टाक में शुद्ध वृद्धि को राष्ट्रीय आय कहते हैं।"[4] भारत की राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार "राष्ट्रीय आय अनुमान एक निश्चित समय में वस्तुओं एवं सेवाओं की बगैर दोहरी गणना किये हुए माप है।" राष्ट्रीय आय की इन परिभाषाओं से राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं :

(1) राष्ट्रीय आय का सम्बन्ध किसी राष्ट्र से होता है, जैसे भारत, बंगला देश, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा आदि।

(2) राष्ट्रीय आय एक निरन्तर चालू रहने वाला प्रवाह है अतः इसके माप के लिए समय की अवधि को लेना आवश्यक होता है। राष्ट्रीय आय की गणना के लिये एक वर्ष का समय उपयुक्त होता है, क्योंकि एक वर्ष की अवधि में देश की सभी वस्तुओं का समावेश हो जाता है।

---

4. 'National income is the net output of commodities and services flowing during the year from the country's productive system into the hands of the ultimate consumers or into net additions to the country's stock of capital goods.'
—Simon Kuznets

(3) राष्ट्रीय आय मे उन सभी वस्तुओ और सेवाओं को सम्मिलित करते हैं जिनका विनिमय मूल्य होता है।

(4) राष्ट्रीय आय की गणना मे प्रत्येक वस्तु का मूल्य केवल एक ही बार सम्मिलित किया जाता है अर्थात दोहरी गणना से बचा जाता है।

राष्ट्रीय आय के घटक
(Components of National Income)

राष्ट्रीय आय के प्रमुख घटक या धारणाए निम्नलिखित हैं

(1) कुल राष्ट्रीय उत्पादन (Gross National Product or G N P)—कुल राष्ट्रीय उत्पादन किसी देश में एक वर्ष की अवधि में उत्पन्न हुई अन्तिम वस्तुओ एव सेवाओं का बाजार मूल्य होता है। कुल राष्ट्रीय उत्पादन की गणना के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातें महत्त्वपूर्ण होती हैं

(i) कुल राष्ट्रीय उत्पादन की गणना मे केवल अन्तिम वस्तुए एव सेवायें ली जाती हैं। गणना में मध्यवर्ती वस्तुओ एव सेवाओ को सम्मिलित नहीं किया जाता है।

(ii) कुल राष्ट्रीय उत्पादन की गणना बाजार मूल्य पर मुद्रा में की जाती है।

(iii) कुल राष्ट्रीय उत्पादन की गणना करते समय वस्तुओ एव सेवाओं का मूल्य केवल एक ही बार लिया जाता है।

(iv) कुल राष्ट्रीय उत्पादन की गणना में अनुत्पादक व्यवहारों (unproductive transactions) को सम्मिलित नहीं किया जाता है। वित्तीय व्यवहारों में स्टॉक्स एव शेयर्स के क्रय-विक्रय, पुरानी वस्तुओ के क्रय-विक्रय के व्यवहार, हस्तान्तरण भुगतान इत्यादि को कुल राष्ट्रीय उत्पादन म नहीं जोड़ते हैं।

(2) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (Net National Product or N N P)—कुल राष्ट्रीय उत्पादन (G N P) उपभोग अथवा पूजी में शुद्ध वृद्धि के लिए उपलब्ध नही होता है, क्योंकि उत्पादन काय म प्रयुक्त मशीनें, भवन तथा अन्य यन्त्र साधन आदि पर ह्रास होता है तथा बहुत सी मशीनें जो कि भौतिक दशा में अच्छी होती हैं परन्तु नवीन आविष्कारों के कारण वे बेकार (obsolete) हो जाती हैं तथा फर्म को प्रतिस्पर्धा में टिकने के लिए उनकी प्रतिस्थापना करना आवश्यक होता है। इस प्रकार शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन ज्ञात करने के लिये इनको कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे से घटाना आवश्यक होता है।

N N P. = G N P—Depreciation and Obsolescence of Capital Assets or Gross National Product – Depreciation

(3) साधन लागत पर राष्ट्रीय आय (National Income at Factor Cost)—शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (N N P) में से उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को प्राप्त लगान, ब्याज मजदूरी तथा लाभ के रूप में प्राप्त आय के कुल

जोड़ में से सरकार को दिये गये परोक्ष करों को घटाने एवं सरकार द्वारा दिया गया अनुदान या सहायता (Subsidy) जोड़ने पर साधन लागत पर राष्ट्रीय आय प्राप्त होती है।

National Income at Factor Cost = N. N. P—Indirect Taxes + Susidies by the Government

(4) वैयक्तिक आय (Personal Income)—राष्ट्रीय आय में से विभिन्न कटौतियां घटाने के बाद व्यक्तियों एवं परिवारों को जितनी आय प्राप्त होती है उसे वैयक्तिक आय कहते हैं। वैयक्तिक आय का अनुमान लगाते समय प्रोविडेन्ट फन्ड अंशदान तथा अन्य कटौतियों को वेतन भोगियों की आय में से घटा दिये जाते हैं तथा सरकार से प्राप्त भत्ते एवं हस्तांतरण भुगतान जोड़ दिये जाते हैं।

Personal Income = National Income—Social Security contributions + Transfer Payments.

(5) उपभोग्य आय (Disposable Income)—व्यक्तिगत आय में से वैयक्तिक प्रत्यक्ष करों को घटा देने पर जो आय बचती है उसे उपभोग्य आय कहते हैं, क्योंकि यह उपभोग के लिए व्यय की जा सकती है। व्यक्तिगत आय की तुलना में व्यक्ति के लिए उपभोग्य आय का अधिक महत्व होता है क्योंकि इसी को वह व्यय करने की स्थिति में होता है।

Disposable Income = Personal Income—Personal Taxes

राष्ट्रीय आय को मापने की विधियां

6.13

राष्ट्रीय आय को मापने की अनेक विधियां खोज निकाली गई हैं जिनमें से दो विधियां प्रमुख हैं :

(1) उपज विधि (The Product Approach Method)—इस विधि के अन्दर राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन को बाजार मूल्य से साधन मूल्य पर परिवर्तित कर लिया जाता है। शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की गणना देश में उत्पन्न अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार मूल्य की गणना द्वारा ज्ञात कर लिया जाता है। शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन को साधन लागत पर परिवर्तित करने के लिये कम से कम चार समायोजन किये जाते हैं। ये समायोजन निम्न हैं—

(i) अप्रत्यक्ष व्यापारिक करों यथा बिक्री कर, निर्यात कर, उत्पादन कर आदि को घटाया जाता है।

(ii) सरकारी सहायता (subsidy) को जोड़ा जाता है तथा सरकारी उद्योगों का आधिक्य घटाया जाता है।

(iii) व्यापारिक हस्तान्तरण भुगतानों को घटाया जाता है।

(iv) सांख्यिकीय समायोजन किया जाता है। यह ऋणात्मक या धनात्मक हो सकता है।

National Income = N. N. P—Business Taxes + Govt. subsidy—Surplus from public enterprises—Business Transfer Payments—Bad Debts—Statistical discrepancy.

(2) आय विधि (The Income Approach Method) इस विधि में समाज के सभी सदस्यों की आय को जोड़ लिया जाता है। इनसे हमें भूमि स्वामी का लगान, कर्मचारियों के वेतन एवं मजदूरी, पूंजी पर ब्याज तथा साहसियों के लाभ का सकल योग प्राप्त होता है। इस विधि के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिए :

(i) ऐसे भुगतानों को आय में शामिल नहीं करना चाहिए जिनसे किसी प्रकार की आय प्राप्त नहीं होती है अर्थात हस्तांतरण भुगतानों को सम्मिलित नहीं किया जाता है।

(ii) जिन वस्तुओं एवं सेवाओं के लिए कोई द्राव्यिक भुगतान नहीं किया जाता उन्हें राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जाता है जैसे गृहस्वामियों की सेवाएं।

(iii) उत्पादक स्वामी के स्वयं के साधनों का पुरस्कार राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाता है यदि उन साधनों ने उत्पादन कार्य में सहायता पहुँचाई है।

(iv) अवितरित लाभ या रिजर्व फण्ड में डाले गये लाभांश को भी राष्ट्रीय आय में सम्मिलित करना चाहिए।

National Income = Wages and employee supplements + Net Interest + Rent income of persons + Corporate profits before tax + Income from unincorporated enterprises.

राष्ट्रीय आय की गणना का महत्व

राष्ट्रीय आय की गणना का उपयोग तथा महत्व बहुत अधिक है तथा आर्थिक विकास के साथ-साथ बढ़ता जा रहा है. राष्ट्रीय आय समंक निम्न कारणों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं :

(1) विकास अर्थशास्त्र के लिए आवश्यक सामग्री—राष्ट्रीय आय के अनुमान विकास अर्थशास्त्र (Economics of Growth) के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। आर्थिक विकास का अर्थ राष्ट्रीय आय में वृद्धि करना होता है जो कि बचत विनियोग तथा उपभोग पर निर्भर रहती हैं। राष्ट्रीय आय के अनुमान बचत, विनियोग तथा उपभोग के मध्य आधारभूत सम्बन्धों तथा उत्पादन की वृद्धि को बताते हैं।

(2) आर्थिक नियोजन में सहायक—आज अधिकांश देश आर्थिक नियोजन को अपना कर आर्थिक विकास की ओर आगे बढ़ रहे हैं. ऐसे देशों में योजनाओं के निर्माण तथा योजनाओं की सफलता के मूल्यांकन के लिए राष्ट्रीय आय

के वास्तविक भार का अध्ययन कर लगाने से हुए राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों के आधार पर किया जा सकता है। करों के कारण राष्ट्रीय आय के वितरण मे आवश्यक परिवर्तन नहीं हो पाये हैं तो सरकार अपनी नीतियों मे परिवर्तन कर सकती है।

(8) भविष्य का अनुमान—राष्ट्रीय आय की प्रवृत्ति का अध्ययन करके भविष्य का अनुमान लगाया जा सकता है। यदि राष्ट्रीय आय मे लगातार वृद्धि की प्रवृत्ति है तो भविष्य में रोजगार तथा उत्पादन बढने की अधिक संभावना है अन्यथा नहीं।

राष्ट्रीय आय की गणना की कठिनाइयां—राष्ट्रीय आय समक आर्थिक विश्लेषण मे अत्यधिक महत्वपूर्ण होते हैं परन्तु इनकी गणना मे बहुत अधिक कठिनाइयां होती हैं तथा ये कठिनाइयां भारत जैसे विकासशील देशों में अधिक आती हैं। राष्ट्रीय आय की गणना की प्रमुख कठिनाइयां निम्नलिखित हैं—

(1) विस्तृत अमौद्रिक क्षेत्र—सामान्यतया राष्ट्रीय आय की गणना मुद्रा मे की जाती है तथा यह माना जाता है कि उत्पादित वस्तुओं तथा सेवाओं का मुद्रा से विनिमय होता है। परन्तु भारत जैसे विकासशील देशों मे जहां जीवन निर्वाह के लिए कृषि की जाती है वहा बहुत से कृषक अपना उत्पादन बाजार मे नहीं बेचते हैं बल्कि अपने उपभोग के लिए रख लेते हैं या अन्य वस्तुओं के विनिमय में प्रयोग करते हैं। राष्ट्रीय उत्पादन की गणना मे यदि इस उत्पादन को सम्मिलित नहीं किया जाता तो राष्ट्रीय उत्पादन मे बहुत कमी हो जावेगी और यदि इसे शामिल किया जाता है तब इसके मूल्य को ज्ञात करना कठिन होता है।

(2) सही हिसाब किताब का अभाव—भारत जैसे विकासशील देशों मे छोटे-छोटे औद्योगिक प्रतिष्ठानों की संख्या बहुत अधिक होती है तथा इनकी आय कम होती है। ये औद्योगिक इकाइयां तथा घरों मे कार्य करने वाले छोटे छोटे कारीगर अशिक्षा एवं अज्ञानता के कारण अपनी आय का सही हिसाब नहीं रखते हैं तथा जब उनसे सूचना मांगी भी जाती हैं तब वे सही सूचना नहीं देते हैं परिणामस्वरूप इस क्षेत्र के राष्ट्रीय उत्पादन की सही गणना नहीं होती है केवल अनुमानों का आश्रय लेना होता है।

(3) आर्थिक क्रियाओं मे पूर्ण वर्गीकरण का अभाव—राष्ट्रीय उत्पादन की गणना के लिए आर्थिक क्रियाओं को उद्योगानुसार विभिन्न वर्गों मे बांटना होता है। हमारे जैसे विकासशील देश में कृषि की मौसमी प्रवृत्ति के कारण एक व्यक्ति कुछ समय कृषि क्षेत्र में कार्य करता है तथा वही व्यक्ति कुछ समय शहर में उद्योगों में कार्य करता है। अत उसकी आय को कृषि आय तथा औद्योगिक आय में बांटना कठिन होता है। यह कार्य उस समय और भी कठिन होता है जब एक व्यक्ति एक वर्ष की अवधि मे अनेक प्रकार के व्यवसायों में आंशिक तथा पूर्ण समय के लिए काम करता है।

(4) विश्वसनीय आंकड़ों के संग्रहण का अभाव—भारत जैसे विकासशील देशों में राष्ट्रीय आय के आंकड़े एकत्र करने में अनेक दोष पाये हैं अतः आंकड़े पूर्ण विश्वसनीय नहीं होते हैं। उदाहरणार्थ भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में आंकड़े एकत्र करने वाला मुख्य व्यक्ति पटवारी या ग्रामसेवक होता है। पटवारी एवं ग्राम सेवक दोनों ही आंकड़े एकत्र करने के लिए प्रशिक्षित नहीं होते हैं तथा यह उनका प्रधान कार्य भी नहीं होता है। उन पर अन्य कार्यों का भार अधिक होता है अतः वे आंकड़े संग्रहण को पर्याप्त समय नहीं देते हैं।

(5) गणना सम्बन्धी अशुद्धियां - सामान्यतया राष्ट्रीय उत्पादन की गणना चालू कीमतों पर की जाती है तथा तुलना के लिए इसे किसी स्थिर मूल्य पर परिवर्तित करना होता है। इस कार्य के लिए सूचकांकों का निर्माण करना होता है तथा सूचकांकों के लिए आधार वर्ष, भार तथा सामग्री का निर्धारण करके उनका संग्रहण करना होता है। इन कार्यों के लिए विकासशील देशों में पाश्चात्य विकसित देशों की तरह से पूर्ण विकसित तरीके तथा सामग्री उपलब्ध नहीं है अतः गणना में अनेक अशुद्धियां रह जाती हैं।

राष्ट्रीय आय की गणना के दोषों को दूर करने के उपाय—राष्ट्रीय आय की गणना की कठिनाइयों को दूर करने तथा विश्वसनीय समंक एकत्र करने के लिए निम्न सुझाव दिये जा सकते हैं।

(1) कृषि क्षेत्र के सही समंक एकत्र करने के लिए कृषि क्षेत्र के विस्तृत सर्वेक्षण किये जावें तथा कृषि उत्पादन के समंक फसल कटाई प्रयोगों के आधार पर एकत्र किये जावें। कृषि वस्तुओं के बाजारों का वर्गीकरण किया जाय एवं कृषि पदार्थों के मूल्य सम्बन्धित बाजारों से लिये जावें।

(2) प्रति वर्ष प्रत्येक राज्य में कुछ लघु एवं वृहत उद्योगों के अलग-अलग विस्तृत सर्वेक्षण करवाये जावें। इस कार्य के लिए शिक्षण एवं शोध संस्थाओं का सहारा लिया जावे। खनन उद्योग के समंक श्रम संस्थान (Labour Bureau) द्वारा एकत्र किए जावें।

(3) भारत में प्रति 5 वर्ष में पशु गणना करवाई जाती है जिसमें पशु उपज के सही समंक एकत्र नहीं हो पाते हैं। अतः प्रतिवर्ष 20 प्रतिशत क्षेत्र की पशु गणना करवाई जाए। पशु उपज के आंकड़ों की गणना पशुओं की संख्या व औसत उत्पादन के आधार पर होनी चाहिए।

(4) व्यापार समंकों का संग्रहण बिक्री कर विभाग द्वारा किया जावे तथा उनमें आवश्यक संशोधन किया जाय।

(5) आयकर विभाग को आयकर देने वालों के साथ-साथ आयकर न देने वालों का भी सर्वेक्षण करवाना चाहिए।

(6) यातायात समंकों के एकत्र करने के वास्ते केन्द्रीय परिवहन मंत्रालय द्वारा समंक राज्य परिवहन निगमों की सहायता से एकत्र किये जाय।

(7) भवन निर्माण के समक नगरपालिकाओ एव पचायतों द्वारा एकत्र करवाए जा सकते हैं।

(8) केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन को सरकारी तथा अर्द्ध सरकारी सस्थानों का प्रगति विवरण प्रकाशित करना चाहिए।

(9) राष्ट्रीय आय इकाई को केन्द्रीय सांख्यिकी सगठन को हस्तांतरित कर दिया जाय एव इसे राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित शोध का कार्य भी सौंपा जाय।

(10) समको को तुलनात्मक बनाने के लिए प्रत्येक व्यवसाय मे काम करने वाले व्यक्तियो के भत्ते, ब्याज, लाभाश आदि के समक पृथक-पृथक सग्रह किये जाय।

राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक कल्याण मे सम्बन्ध

राष्ट्रीय आय एव आर्थिक कल्याण दोनों म घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय के अर्थ के साथ आर्थिक कल्याण का भी अर्थ जान लिया जाय। प्रो० पीगू के अनुसार—"आर्थिक कल्याण कुल कल्याण का वह भाग है जिसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जाता है।" विद्यमान साधनो से मिलने वाली सभी प्रकार की सन्तुष्टियो एव असन्तुष्टियो को कुल कल्याण मे शामिल किया जाता है अत जिन सन्तुष्टियों एव असन्तुष्टियों को मुद्रा के मापदण्ड से मापा जा सकता है वे आर्थिक कल्याण मे शामिल करली जाती हैं।

राष्ट्रीय आय के परिवर्तन एव उनका आर्थिक कल्याण से सम्बन्ध—राष्ट्रीय आय एव आर्थिक कल्याण मे घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण राष्ट्रीय आय के परिवर्तन आर्थिक कल्याण को भी प्रभावित करते हैं। राष्ट्रीय आय के परिवर्तनों का आर्थिक कल्याण पर प्रभाव का अध्ययन दो शीर्षकों मे कर सकते हैं—

(i) राष्ट्रीय आय के आकार या परिमाण मे परिवर्तन तथा आर्थिक कल्याण।

(ii) राष्ट्रीय आय के वितरण मे परिवर्तन और आर्थिक कल्याण।

(i) राष्ट्रीय आय के आकार मे परिवर्तन के आर्थिक कल्याण पर प्रभाव—राष्ट्रीय आय मे परिवर्तन दो तरह से हो सकते हैं—1 राष्ट्रीय आय म वृद्धि हो सकती है अथवा 2 राष्ट्रीय आय म कमी। सामान्यतया राष्ट्रीय आय म वृद्धि होने से आर्थिक कल्याण म वृद्धि होती है तथा राष्ट्रीय आय मे कमी होने स आर्थिक कल्याण मे कमी होती है। राष्ट्रीय आय की वृद्धि स समाज में रोजगार, उत्पादन तथा आय म वृद्धि होती है। रोजगार, उत्पादन तथा आय बढ़ने स लोगों का जीवन स्तर ऊंचा उठता है तथा आर्थिक कल्याण भी बढ़ता है। इसके विपरीत राष्ट्रीय आय मे कमी होने पर देश मे रोजगार, उत्पादन तथा आय म कमी होने से लोगों के जीवन स्तर तथा आर्थिक कल्याण मे कमी होती है।

राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण में प्रत्यक्ष सम्बन्ध देखने को मिलता है परन्तु यह सदैव सही नहीं होता है। इसके कुछ प्रमुख अपवाद निम्नलिखित हैं—

(1) **राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ निर्धनों को मिलने वाली आय में कमी होने पर**—यदि राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ-साथ निर्धनों को मिलने वाली आय में कमी हो जाती है तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि के स्थान पर कमी हो सकती है। क्योंकि धनी लोगों की आय बढ़ने से कल्याण में धीमी गति से वृद्धि होगी जबकि निर्धनों की आय में कमी होने से आर्थिक कल्याण में तेजी से कमी होगी। परिणाम स्वरूप देशवासियों के कुल आर्थिक कल्याण में वृद्धि के स्थान पर गिरावट हो जावेगी।

(2) **आय में वृद्धि के फलस्वरूप लोगों की रुचियों में परिवर्तन अच्छाई की जगह बुराई की तरफ होने पर**—यदि राष्ट्रीय आय की वृद्धि के साथ-साथ लोगों के उपभोग अथवा रुचियों में परिवर्तन बुराइयों की तरफ होते हैं तो आर्थिक कल्याण में कमी होती है। उदाहरण के तौर पर श्रमिक आय बढ़ने पर अधिक शराब पीने लगे तो आर्थिक कल्याण में कमी होगी। इसके विपरीत राष्ट्रीय आय बढ़ने पर लोग अथवा सरकार यदि पुस्तकालयों, अच्छे भोजन, अच्छे निवास आदि पर व्यय बढ़ाते हैं तो आर्थिक कल्याण बढ़ता है।

(3) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि के ढंग**—राष्ट्रीय आय में वृद्धि यदि लोगों के आराम को कम करके, अधिक घन्टे काम करके, खराब कार्य दशाओं के अन्तर्गत कार्य करके अथवा स्त्री बच्चों के शोषण से होती है तो इससे कल्याण में कमी हो जावेगी क्योंकि आय से प्राप्त सन्तोष आय प्राप्त करने के लिए किए गए त्याग से कम होगा।

(4) **जनसंख्या वृद्धि की दर राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर से अधिक हो**—यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि जनसंख्या वृद्धि से कम होती है तो प्रति व्यक्ति आय कम होने से आर्थिक कल्याण में भी कमी हो जावेगी।

(5) **गैर-उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि**—यदि समाज में गैर-उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होती है तथा उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में कमी होती है तो आर्थिक कल्याण बढ़ने के स्थान पर घट जाता है।

(ii) **राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन के आर्थिक कल्याण पर प्रभाव**—यदि राष्ट्रीय आय का वितरण अधिक समान होता जाता है तो इससे आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है तथा इसके विपरीत राष्ट्रीय आय के वितरण की विषमताएं बढ़ने पर आर्थिक कल्याण में कमी होती है। आय निर्धनों से धनीमानी व्यक्तियों को हस्तांतरित होने पर आर्थिक कल्याण में कमी होती है तथा आय धनी व्यक्तियों से निर्धनों को हस्तांतरित होने पर आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है।

प्रश्न एवं संकेत

(1) राष्ट्रीय लाभांश किसे कहते हैं ? इसके सन्दर्भ में मार्शल, पीगू तथा फिशर के विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

(संकेत—सर्वप्रथम राष्ट्रीय लाभांश या राष्ट्रीय आय का अर्थ बता कर, राष्ट्रीय लाभांश की मार्शल, पीगू तथा फिशर की परिभाषाएं देते हुए उनकी आलोचनात्मक व्याख्या करें।)

(2) राष्ट्रीय आय को परिभाषित कीजिए और वर्तमान दैनिक जीवन में इसके अध्ययन के महत्व को बताइए।

(संकेत—पहले भाग में राष्ट्रीय आय की कुछ परिभाषाएं देकर अर्थ लिख दें तथा द्वितीय भाग में राष्ट्रीय आय के अध्ययन के विभिन्न उपयोग अथवा महत्व बतला दें।

3 स्पष्ट रूप से समझाइये कि राष्ट्रीय लाभांश के आकार तथा वितरण में परिवर्तन आर्थिक कल्याण को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ?

(संकेत—राष्ट्रीय आय में दो तरह से परिवर्तन हो सकते हैं—(i) राष्ट्रीय आय के आकार में परिवर्तन तथा (ii) राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन। इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों को समझाकर आर्थिक कल्याण पर इनका प्रभाव बतला दें।)

4 *आर्थिक कल्याण की व्याख्या कीजिए। राष्ट्रीय आय के साथ इसका* सम्बन्ध बताइए।

(संकेत—सर्वप्रथम आर्थिक कल्याण का अर्थ स्पष्ट करें तथा इसके बाद राष्ट्रीय आय एवं आर्थिक कल्याण में घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए यह बताएं कि राष्ट्रीय आय के परिवर्तन किस तरह से आर्थिक कल्याण को प्रभावित करते हैं।)

5 राष्ट्रीय आय को परिभाषित कीजिए। इसके मापने में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने के उपाय बतलाइये।

(संकेत—पहले भाग में राष्ट्रीय आय का अर्थ लिख दें। द्वितीय भाग में राष्ट्रीय आय को मापने की कठिनाइयाँ बतलाकर इन्हें दूर करने के उपाय बतला दें।)

38

वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त

(The Marginal Productivity Theory of Distribution)

हम यह जानते हैं कि बड़े पैमाने के उत्पादन की अर्थव्यवस्था में उत्पादन कार्य में अनेक साधन सहायता पहुंचाते, जिन्हें हम भूमि, श्रम, पूंजी, प्रबन्ध तथा साहस, पांच वर्गों में बांट सकते हैं। यह साहसी का उत्तर दायित्व होता है कि उत्पादन में सहायक अन्य साधनों को वह उत्पादन में उनके योगदान के अनुसार पारिश्रमिक दे। उत्पत्ति में से उत्पादन के विभिन्न साधनों को, उत्पादन में उनके योगदान के अनुसार एक अंश देने की क्रिया ही वितरण कहलाती है। सैलिगमैन के अनुसार, "सम्पूर्ण सम्पत्ति जिसका उत्पादन समाज में होता है, अन्तत: आय के स्रोतों के माध्यम में व्यक्तियों में वितरित हो जाती है। यह प्रक्रिया वितरण कहलाती है।"[1] चैपमैन ने भी लगभग इसी भावार्थ में कहा है कि, "वितरण के क्षेत्र में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि समाज में उत्पादन के विभिन्न साधनों के सहयोग से जिस सम्पत्ति का उत्पादन होता है उसका वितरण पुनः उनके बीच किस प्रकार किया जाता है।" इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राष्ट्रीय आय के उत्पादन में जो-जो साधन योगदान देते हैं, उन्हीं के मध्य, उनके योगदान के अनुसार, उस राष्ट्रीय आय को बांटने की क्रिया को वितरण कहते हैं।

वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त

अर्थ-उत्पादन के प्रत्येक साधन को पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में पुरस्कार उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार प्राप्त होता है।

सीमान्त उत्पादकता का तात्पर्य किसी परिवर्तनशील साधन की एक और इकाई लगाने से कुल उत्पादन में हुयी वृद्धि से होता है।

सीमान्त उत्पादकता के प्रकार—तीन प्रकार होते हैं :

(1) सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP)

(2) सीमान्त मूल्य उत्पादकता (MVP)

(3) सीमान्त आय उत्पादकता (MRP)

1. 'All wealth that is created in society finds its way to the final disposition of the individual through certain channels or sources of income. This process is called Distribution."
—Seligman

मान्यताएं—अनेक मान्यताएं हैं जैसे—(i) साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता, (ii) वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता, (iii) साधन की समस्त इकाइयां समरूप, (iv) साधन की पूर्ण गतिशीलता, (v) साधन की परिवर्तनशीलता, (vi) साधन की उत्पादकता की गणना सम्भव, (vii) फर्म का उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना, (viii) पूर्ण रोजगार की स्थिति, (ix) उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता, (x) दीर्घकाल, (xi) उत्पादन तकनीक स्थिर।

आलोचनाएं—अनेक आलोचनाएं की गई हैं जैसे—(1) साधन की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात करना कठिन, (2) अन्य साधनों की उत्पादकता का प्रभाव, (3) साधनों की मात्रा में इच्छित परिवर्तन सम्भव नहीं, (4) पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता अवास्तविक, (6) साधनों की अगतिशीलता, (5) पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता, (8) साधन इकाइयों की समरूपता न होना, (8) एक पक्षीय, (9) दीर्घकाल, विश्लेषण, (10) धन के असमान वितरण का समर्थन, (11) अन्य।

वितरण की आवश्यकता—वितरण क्यों आवश्यक है ? इस प्रश्न के उत्तर के लिये हमें यह देखना पड़ेगा कि वितरण की समस्या क्यों आती है अर्थात् वितरण कितनी सम्पत्ति का किया जाय, वितरण किन किन में किया जाय या वितरण के भागीदार कौन कौन हैं तथा वितरण किस हिसाब से अर्थात् किस सिद्धान्त के आधार पर किया जाय ? प्रथम दोनों समस्याओं के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि विभिन्न तत्वों के मिले जुले प्रयास से राष्ट्रीय सम्पत्ति का उत्पादन होता है उत्पत्ति के साधनों के स्वामियों ने अपने साधनों का स्वयं प्रयोग न करके इनके प्रयोग का अधिकार उत्पादक को सौंप कर कुछ न कुछ त्याग अवश्य किया है। अतः ये अपने त्याग का कुछ न कुछ पारिश्रमिक आवश्यक चाहेंगे। इस प्रकार इनके द्वारा उत्पादित राष्ट्रीय सम्पत्ति को इनमें वितरित करना आवश्यक होता है अन्यथा ये उत्पादन में अपना-अपना सहयोग देना बन्द कर देंगे। अगर भू-स्वामी को लगान, श्रमिक को मजदूरी, पूंजी के स्वामी को ब्याज व प्रबन्धक को वेतन नहीं मिले तो यह उत्पादन में सहयोग क्यों देगा ? इसी प्रकार अगर साहसी को लाभ न मिले तो वह उत्पादन में जोखिम उठाने सम्बन्धी सहयोग क्यों देगा ? दूसरे, पारिश्रमिक के अभाव में उत्पादन साधन की कार्यक्षमता भी मारी जाती है, जिसका सीधा प्रभाव राष्ट्रीय सम्पत्ति के उत्पादन पर पड़ता है। इस प्रकार उत्पत्ति में सहायक प्रत्येक साधन को राष्ट्रीय आय में से उचित अंश देना आवश्यक होता है।

वितरण का सिद्धान्त—वितरण की तीसरी तथा अति महत्वपूर्ण समस्या है कि सम्पत्ति का वितरण कैसे किया जाय ? अर्थात् वितरण का आधार क्या हो और वितरण करते समय किन सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाय ? दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि उत्पादन के प्रत्येक साधन का मूल्य कैसे निर्धारित हो ? उत्पादन

प्रत्येक साधन का स्वभाव एक वस्तु के समान होता है अतः वस्तु के मूल्य की ह से साधन का मूल्य भी माँग तथा पूर्ति के मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त आधार पर किया जा सकता है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसमें कठिनाई आती क्योंकि उत्पादन साधन साधारण वस्तु से थोड़ा भिन्न होता है। किसी वस्तु की मांग उसकी उपयोगिता के कारण की जाती है जबकि उत्पादन के साधन की मांग उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग के अनुसार निर्धारित होती है। दूसरे, उत्पादन के साधन की लागत उसकी अवसर लागत के बराबर होती है जबकि किसी वस्तु की लागत उसकी उत्पादन लागत के बराबर होती है। तीसरे, मानव साधनों, अर्थात् श्रम के सम्बन्ध में मानवीय व सामाजिक पहलुओं की अवहेलना नहीं की जा सकती है। इन तथ्यों का पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है। उत्पादन साधनों के मूल्य निर्धारण के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं—(i) वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productvity Theory of Distribution), तथा (ii) वितरण का मांग व पूर्ति का सिद्धान्त (Demand and Supply Theory of Distribution)। इस अध्याय में वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का अध्ययन किया जा रहा है।

वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त—यह वितरण का केन्द्रीय सिद्धान्त (Central Doctrine of Distribution) भी कहलाता है। इस सिद्धान्त में इस बात की सामान्य व्याख्या की जाती है कि उत्पत्ति के साधनों का मूल्य उनकी सीमान्त उत्पादकताओं के आधार पर निर्धारित होता है अर्थात् प्रत्येक साधन को उत्पादन में उसके सहयोग के लिये उतना पारिश्रमिक मिलता है जितनी उसकी सीमान्त इकाई की उत्पादकता होती है। प्रारम्भ में सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की व्याख्या मजदूरी के निर्धारण की दृष्टि से की गई थी परन्तु बाद में अन्य साधनों यथा भूमि, पूंजी प्रबन्ध तथा साहस के पारिश्रमिक के निर्धारण की व्याख्या में भी इसका प्रयोग किया जाने लगा। क्लार्क, जेवन्स, विकस्टीड, वलरास, मार्शल, आदि अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बाद में श्रीमती जोन रोबिन्सन तथा हिक्स ने इस सिद्धान्त का विकास किया।

सिद्धान्त की व्याख्या—उत्पादन के किसी साधन का मूल्य उसकी उत्पादकता पर निर्भर करता है और इसका निर्धारण उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार होता है। स्टोनियर एवं हेग के अनुसार, 'उत्पादन के साधनों के मूल्य निर्धारण की कुंजी सीमान्त उत्पादकता के पास है, अर्थात् उत्पादन के किसी साधन का पुरस्कार अन्ततः उसकी उत्पत्ति पर निर्भर करता है।' इस प्रकार हम अनुभव करते हैं कि उद्यमी द्वारा, उत्पादन के प्रत्येक साधन को, उसकी उत्पादकता के अनुसार पुरस्कार दिया जाता है।

इस प्रश्न की विवेचना करना आवश्यक है कि साधन का मूल्य उसकी उत्पादकता पर क्यों निर्भर करता है। जे. बी. क्लार्क ने इसकी व्याख्या करते समय

यह मान लिया कि जनसंख्या, पूंजी की उपलब्ध मात्रा, उत्पादन की तकनीक आदि स्थिर रहते हैं। उन्होंने यह भी मान लिया कि श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता तथा श्रम एवं पूंजी में पूर्ण गतिशीलता रहती है।

प्रत्येक उद्यमी को उत्पादन के किसी साधन की माग अप्रत्यक्ष रूप से उसकी उपयोगिता के कारण होती है अर्थात् वह साधन उत्पादन में सहयोग प्रदान करता है इसीलिये उद्यमी को इस साधन की आवश्यकता पड़ती है। उत्पादन में साधन के सहयोग को उसकी उत्पादकता कहा जाता है। उत्पादकता जितनी अधिक होगी साधन के लिये मूल्य उतना ही अधिक दिया जायगा।

अब प्रश्न उठता है कि साधन की उत्पादकता की माप कैसे की जाय अर्थात् साधन का मूल्य निर्धारित करते समय औसत उत्पादकता को ध्यान में न रखकर उसकी सीमान्त उत्पादकता को ही ध्यान में क्यों रखा जाता है? इसका कारण यही है कि एक उत्पादक अथवा फर्म का अधिकतम लाभ साधन की सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित होता है। इसे समझने के लिये हम एक उद्यमी का उदाहरण ले सकते हैं। प्रत्येक विवेकशील उद्यमी अपनी पूंजी, मशीन, यन्त्र, उपकरण आदि का प्रयोग इस प्रकार करेगा कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। अत. पूंजी की उस उपलब्ध मात्रा का अधिकतम लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से उतने श्रमिक काम पर लगायेगा जितने उसके लिये लाभकर होंगे। वह जानता है कि ज्यों-ज्यों पूंजी की किसी स्थिर मात्रा के साथ वह श्रमिकों को काम पर लगाता जाता है, श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है। इस स्थिति में सीमान्त उत्पादकता का अर्थ उस वृद्धि से है जो एक अतिरिक्त श्रमिक को काम पर लगाने से कुल उत्पादन में होती है अर्थात् उत्पादन के अन्य साधनों को स्थिर रख कर परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल उत्पादन में जो वृद्धि होती है वह उस साधन की सीमान्त उत्पादकता कहलाती है। उद्यमी श्रमिकों को तब तक काम पर लगाता जायगा जब तक कि उनकी सीमान्त उत्पादकता मजदूरी की प्रचलित दर से अधिक है। वह अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये साधन की सीमान्त उत्पादकता (MP) तथा साधन की सीमान्त लागत Marginal Factor Cost या MFC अथवा MW को बराबर करता है। 'साधन की सीमान्त लागत' तथा 'साधन की सीमान्त आय' एक ही बात के दो पहलू हैं। उत्पादक द्वारा साधन को दिये जाने वाला मूल्य उत्पादक की दृष्टि से साधन की लागत तथा साधन की दृष्टि से उसकी आय या पुरस्कार है।

सीमान्त उत्पादकता की माप (Measurement of the Marginal Productivity)—हम पीछे पढ़ चुके हैं कि उत्पादन के अन्य साधनों को स्थिर रख कर परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल उत्पादन में जो वृद्धि होती है, वह उस साधन की सीमान्त उत्पादकता कहलाती है। अब प्रश्न

यह उठता है कि सीमान्त उत्पादकता को मापा कैसे जाय ? इसे आगे समझाया जा रहा है।

सीमान्त उत्पादकता की माप तीन प्रकार से की जा सकती है :—

(1) सीमान्त भौतिक उत्पादकता (Marginal Physical Productivity–MPP),

(2) सीमान्त मूल्य उत्पादकता (Marginal Value Productivity–MVP) तथा

(3) सीमान्त आगम उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity–MRP)।

1. सीमान्त भौतिक उत्पादकता—परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई लगाने से कुल उत्पादन में जो भौतिक वृद्धि होती है वह साधन की सीमान्त भौतिक उत्पादकता कहलाती है। सीमान्त भौतिक उत्पादकता की माप करते समय यह मान लिया जाता है कि अन्य साधन स्थिर रखे जाते हैं।

2. सीमान्त मूल्य उत्पादकता—इसका दूसरा नाम सीमान्त उत्पादकता मूल्य भी है। सीमान्त भौतिक उत्पादकता को वस्तु अर्थात् उत्पादन के मूल्य से गुणा कर दिया जाय तो गुणनफल साधन की सीमान्त मूल्य उत्पादकता के बराबर होता है। अर्थात् MVP = MPP × Price

3. सीमान्त आगम उत्पादकता—उत्पादक या फर्म के लिये यह महत्वहीन है कि सीमान्त भौतिक उत्पादकता की मात्रा क्या है। उसके लिये इसका महत्व अधिक है कि सीमान्त भौतिक उत्पादकता के बेचने से कितनी आय होती है अर्थात् उसके कुल आगम में कितनी वृद्धि होती है। इस प्रकार अन्य साधनों को स्थिर रखते हुए जब परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई का प्रयोग किया जाता है तब उससे जो भौतिक उत्पादकता प्राप्त होती है उसके बेचने से कुल आय में जो वृद्धि होती है वह साधन की सीमान्त आगम उत्पादकता कहलाती है। MRP = MPP × MR अर्थात् सीमान्त भौतिक उत्पादकता को सीमान्त आगम से गुणा करने पर गुणनफल सीमान्त आगम उत्पादकता के बराबर होता है।

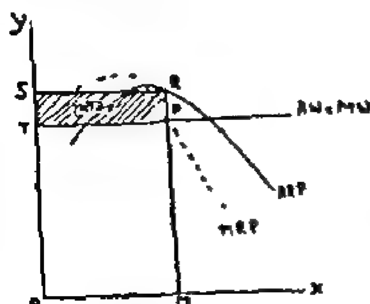
तीनों प्रकार की सीमान्त उत्पादकताओं को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। माना कोई फर्म पूंजी तथा भूमि की इकाइयों को स्थिर रखकर श्रम की 40 इकाइयां लगाती है जिनसे 400 इकाइयों का कुल भौतिक उत्पादन प्राप्त होता है। श्रम की एक और इकाई बढ़ाने पर कुल भौतिक उत्पादन की मात्रा 410 इकाइयां हो जाती है। इस स्थिति में सीमान्त उत्पादकताओं की जो स्थिति होगी उसे नीचे की तालिका में दिया जा रहा है।

साधन की इकाइयाँ	कुल भौतिक उत्पादन (इकाइयाँ)	उत्पत्ति का मूल्य (प्रति इ० रु०)	कुल आगम रु०	सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP)	सीमान्त मूल्य उत्पादकता (MVP) रु०	सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) रु०
40	400	2	400 × 2 = 800	—	—	—
41	410	2	410 × 2 = 820	410 – 400 = 10 इकाइयाँ	10 × 2 = 20	820 – 800 = 20

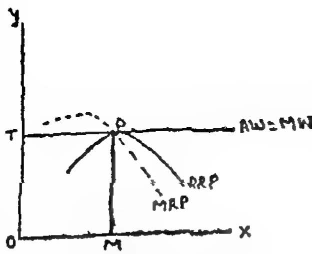
सीमान्त उत्पादकता में परिवर्तन—सीमान्त उत्पादकता में उत्पत्ति के नियमों के अनुसार परिवर्तन होते हैं। यह प्रारम्भ में उत्पत्ति वृद्धि नियम के कार्यशील होने के कारण बढ़ती है, अनुकूलतम बिन्दु पर अधिकतम हो जाती है और बाद में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने पर घटने लगती है। सीमान्त भौतिक उत्पादकता वक्र उत्पत्ति नियमों के वक्र के समान उल्टे चाप (Inverted arc) के आकार की होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता में उद्योग के लिये साधन का मूल्य या साधन लागत—पूर्ण प्रतियोगिता में किसी उद्योग के लिये साधन का मूल्य उद्योग की उस साधन की कुल माँग तथा साधन की कुल पूर्ति के साम्य द्वारा निर्धारित होगा। अगर यह मान लिया जाय कि साधन बाजार (Factor Market) में पूर्ण प्रतियोगिता है तथा साधन पूर्ण रूप से गतिशील है (Perfect Factor Mobility) तो साधन का मूल्य सभी उद्योगों में समान होगा और यह साधन की अन्तिम इकाई की उत्पादकता (MPP) के बराबर होगा। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता में साधन की अतिरिक्त इकाइयों का एक ही मूल्य होता है।

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का साम्य—उत्पादन के साधन को दिया गया मूल्य फर्म की दृष्टि से रेखा चित्र 38 1 से अल्पकाल में साधन का पुरस्कार तथा फर्म का साम्य देखा जा सकता है। अल्पकाल में फर्म OM मात्रा में साधन लगायेगी जिसे PM अथवा TO मूल्य या पुरस्कार दिया जावेगा जबकि साधन से RM अथवा SO उत्पादकता प्राप्त होगी अर्थात् फर्म SRPT के बराबर अतिरिक्त लाभ अर्जित करेगी।



साधन की मात्रा
रेखा चित्र 38 1

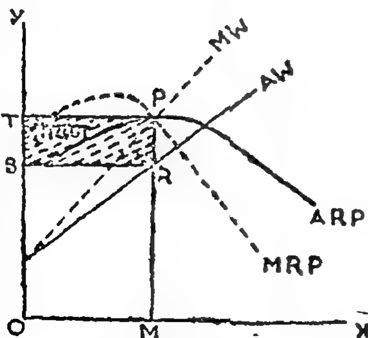


स धन की मात्रा
रेखा चित्र 38.2

रेखा चित्र 38·2 से दीर्घकाल में साधन का पुरस्कार तथा फर्म का साम्य देखा जा सकता है। इस रेखा चित्र से ज्ञात होता है कि दीर्घकाल में फर्म साधन की OM मात्रा लगावेगी जिसे *PM मूल्य या पुरस्कार* देगी तथा PM ही साधन की उत्पादकता है अर्थात् साधन का पुरस्कार तथा साधन की उत्पादकता दोनों बराबर होंगे। अतः फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होगा।

साधन लागत साधन की दृष्टि से उसकी आय या पारिश्रमिक होती है। फर्म अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये किसी साधन की उतनी इकाइयां लगावेगी जितनी इकाइयों से उसको अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। यह तभी संभव है जब फर्म उत्पादन के साधन की इकाइयां तब तक लगाती जाय जब तक साधन की सीमान्त आगम उत्पादकता साधन के पारिश्रमिक के बराबर न हो जाय। अर्थात् जब सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) तथा साधन की सीमान्त लागत (MFC or MW) बराबर हो जांयये तो इस स्थिति में फर्म का लाभ अधिकतम होगा। अगर साधन की सीमान्त आगम साधन की सीमान्त लागत से अधिक है तो फर्म को साधन की अतिरिक्त इकाई लगाने से लाभ-प्राप्त होता है और अगर साधन की सीमान्त आगम साधन की सीमान्त लागत से कम होगी तो साधन की अतिरिक्त इकाइयाँ लगाने से फर्म की हानि होती है।

इस प्रकार अल्पकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में एक फर्म किसी साधन को उत्पादन कार्य में लगाने पर असामान्य लाभ प्राप्त कर सकती है अथवा हानि उठा सकती है अथवा वह न लाभ तथा न हानि की स्थिति में रह सकती है। परन्तु दीर्घकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में फर्म केवल सामान्य लाभ प्राप्त करेगी।



साधन की मात्रा
रेखा चित्र 38·3

अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का साम्य—अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्म साधन को औसत मजदूरी के बराबर भुगतान करती है। औसत मजदूरी सीमान्त मजदूरी से कम होती है। दूसरी ओर उत्पत्ति का मूल्य औसत आगम के बराबर प्राप्त किया जाता है। औसत आगम सीमान्त आगम से अधिक होती है। इस प्रकार फर्म एकाधिकारात्मक शोषण का लाभ प्राप्त करती है, क्योंकि इस

स्थिति मे साधन की सीमान्त आगम उत्पादकता मजदूरी से अधिक होती है। इसे रेखा चित्र 38 3 पर दिखाया गया है।

औसत आगम उत्पादकता की धारणा (Concept of Average Revenue Productivity)—किसी साधन के कुल आगम म साधन की इकाइयो का भाग दें तो भाज्यफल उस साधन की औसत आगम उत्पादकता के बराबर होगा। औसत आगम उत्पादकता दो प्रकार की होती है—औसत कुल आगम उत्पादकता (Average Gross Revenue Productivity—AGRP) तथा औसत शुद्ध आगम उत्पादकता (Average Net Revenue Productivity—ANRP)।

औसत कुल आगम उत्पादकता—किसी साधन की औसत कुल आगम उत्पादकता अर्थात् कुल आगम म साधन की कुल इकाइयो से भाग दने पर जो भाज्यफल आता है वह औसत कुल आगम उत्पादकता के बराबर होता है। किसी

$$\text{साधन 'अ' की औसत कुल आगम उत्पादकता} = \frac{\text{कुल आगम}}{\text{साधन की इकाइयाँ}}$$

औसत शुद्ध या वास्तविक आगम उत्पादकता—किसी फर्म का उत्पादन केवल किसी एक परिवर्तनशील साधन (श्रम) द्वारा ही नही चलाया जाता है वरन् फर्म का उत्पादन अन्य परिवर्तनशील साधनो यथा भूमि, पूँजी, प्रबन्ध तथा उद्यम के साथ मिलकर ही चलाया जा सकता है। इस प्रकार किसी साधन 'अ' की मात्रा बढ़ाने पर जो कुल आगम प्राप्त होगा उसका कुछ अंश अन्य साधनो की उत्पादकता का भी परिणाम है। अत कुल आगम म से यदि इन अन्य साधनो के आगम का अंश निकाल दिया जाय तो शेष परिवर्तनशील साधन 'अ' का 'कुल शुद्ध या वास्तविक आगम' होगा। इस कुल शुद्ध आगम में साधन की इकाइयो का भाग देने पर भाज्यफल उस साधन 'अ' की 'औसत शुद्ध आगम उत्पादकता' के बराबर होगा।

$$\text{साधन 'अ' की औसत शुद्ध आगम उत्पादकता} = \frac{\text{साधन 'अ' का कुल शुद्ध आगम}}{\text{साधन 'अ' की कुल इकाइयाँ}}$$

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की मान्यतायें (Assumptions of the Marginal Productivity Theory)—क्लार्क, वलरास, मार्शल आदि अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की रचना करते समय कुछ मान्यताओं को इस नियम का आधार माना है। इन मान्यताओं का वर्णन आगे किया जा रहा है—

(1) साधन जैसे श्रम के बाजार म पूर्ण प्रतियोगिता होती है। इसके क्रेता-विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है। कोई भी एक क्रेता या विक्रेता सम्बन्धित साधन के बाजार को प्रभावित नही कर सकता है।

(2) साधन द्वारा उत्पादित वस्तु के बाजार मे भी पूर्ण प्रतिस्पर्धा होती है। इसके क्रेता विक्रेताओं की संख्या भी बड़ी होती है।

(3) साधन की समस्त इकाइयाँ समरूप हैं, ये समान रूप से कुशल हैं तथा ये एक दूसरे की पूर्ण रूप से स्थानापन्न हैं।

(4) साधन की प्रत्येक इकाई पूर्णत गतिशील होती है।

(5) विचाराधीन साधन परिवर्तनशील रहता है अर्थात् इसके अनुपात में परिवर्तन किया जा सकता है परन्तु अन्य साधन स्थिर रहते हैं।

(6) एक उत्पादक उत्पादन साधनों की उत्पादकता का अनुमान लगा सकता है तथा इसका माप कर सकता है।

(7) प्रत्येक उत्पादक अथवा फर्म अपने लाभ को अधिकतम करना चाहता है।

(8) यह मान लिया जाता है कि अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति है।

(9) उत्पादन क्रिया में 'परिवर्तनशील अनुपातों का नियम' अथवा ह्रासमान प्रतिफल नियम (Law of Variable Proportions or Law of Diminishing Returns) लागू होता है।

(10) यह सिद्धान्त पूर्ण रूप से दीर्घकाल में लागू होता है।

(11) उत्पादन तकनीक स्थिर रहती है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनायें—सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की अनेक आलोचनायें हुई हैं। उनमें से प्रमुख का विश्लेषण आगे किया जा रहा है :—

(i) किसी एक साधन की सीमान्त उत्पादकता को ज्ञात करना कठिन है—उत्पादन विभिन्न साधनों के संयोग अर्थात् मिले-जुले प्रयासों का परिणाम होता है। अतः संयुक्त उत्पत्ति में किसी एक साधन की प्रत्येक इकाई की सीमान्त उत्पादकता को अलग से ज्ञात करना अत्यन्त कठिन है। इस सम्बन्ध में कारवर, प्रो. टाजिग, डेवन पोर्ट आदि अर्थशास्त्रियों का कहना है कि किसी साधन की सीमान्त उत्पत्ति अकेले उस साधन के प्रयासों का ही परिणाम नहीं है वरन् उसके उत्पादन में अन्य साधनों ने भी सहयोग दिया है। इस प्रकार उस अकेले साधन को इस सीमान्त उत्पत्ति का स्वामी मानना भ्रम पूर्ण है। अतः उस साधन को इस सीमान्त उत्पत्ति के बराबर पारिश्रमिक देना भूल होगी।

परन्तु इस सिद्धान्त के समर्थकों विशेषतः रिचार्ड जी. लिप्से आदि का कहना है कि जब कभी कोई भी फर्म अपने लाभ को अधिकतम करना चाहता है तो साधनों को किया जाने वाला भुगतान स्वतः ही सीमान्त आगम उत्पादकता के बराबर हो जाता है। दूसरे, सीमान्त विश्लेषण की सहायता से प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता को ज्ञात किया जा सकता है।

(2) सीमान्त विश्लेषण द्वारा साधन की सीमान्त उत्पादकता की ठीक गणना करना कठिन है—वीजर, हाब्सन आदि अर्थशास्त्रियों ने इस मत से सहमति प्रकट की है। इनके मत में विभिन्न साधनों के सम्मिश्रण का अनुपात तकनीकी कारणों से स्थिर होता है। किसी एक साधन में परिवर्तन का प्रभाव अन्य साधनों पर भी पड़ता है। उत्पादन कार्य अस्तव्यस्त हो जाता है तथा अन्य साधनों की उत्पादन क्षमता कम हो जाती है। इस प्रकार सीमान्त उत्पत्ति द्वारा किसी साधन

की सेवाओं का ठीक-ठीक माप नहीं किया जा सकता। परन्तु इस सिद्धान्त के समर्थकों का मत है कि उत्पादन कार्य तभी अस्तव्यस्त हो सकता है जब साधन इकाइयाँ बड़ी हों और उत्पादन इकाइयाँ छोटी-छोटी। परन्तु वास्तव में उत्पादन साधन इकाइयों की तुलना में इतनी बड़ी होती हैं कि किसी साधन की सीमान्त इकाई में कमी का अन्य साधनों की उत्पादक शक्ति पर कोई उलटा प्रभाव नहीं पड़ता। और अगर पड़ता भी है तो वह तुच्छतम होता है। उसका ध्यान ही नहीं दिया जाता। दूसरे हर स्थिति में साधनों के सम्मिश्रण अनुपात सदैव स्थिर नहीं होते। उन्हें दीर्घकाल में बदला जा सकता है।

(3) साधनों की मात्रा में इच्छित परिवर्तन सम्भव नहीं—इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि साधन परिवर्तनशील होते हैं। उन्हें इच्छित मात्रा में घटाया बढ़ाया जा सकता है। पर व्यवहार में यह सम्भव नहीं। साधनों के संयोग अक्सर स्थिर होते हैं। जैसे टाइपराइटर तथा टाइपिस्ट। ये साधन अविभाज्य हैं। इन्हें इच्छित मात्रा में परिवर्तित करना सम्भव नहीं। इस प्रकार यह नियम सत्य सिद्ध नहीं होता है।

(4) इस सिद्धान्त की पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता अवास्तविक है—यह सिद्धान्त अवास्तविक तथा अव्यावहारिक है क्योंकि किसी भी अर्थव्यवस्था में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति नहीं पाई जाती है। परन्तु चैम्बरलिन के अनुसार "अपूर्ण प्रतियोगिता में साधन की कीमत साधन की सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) के बराबर होती है न कि सीमान्त उत्पादकता के मूल्य (VMP) के बराबर।" इस प्रकार अपूर्ण प्रतियोगिता की वास्तविक स्थिति में भी इस नियम का प्रयोग किया जा सकता है।

(5) पूर्ण रोजगार की मान्यता सही नहीं है—किसी साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर पूर्ण रोजगार की स्थिति के कारण ही होता है, परन्तु व्यवहार में पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं पाई जाती है। अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार से कम रोजगार की स्थिति अक्सर बनी रहती है। अतः साधन (श्रम या पूँजी या अन्य) अपनी सीमान्त उत्पादकता से कम पारिश्रमिक भी प्राप्त करने को तैयार होता है।

(6) उत्पादन साधनों की पूर्ण गतिशीलता की मान्यता भ्रामक है—व्यावहारिक जीवन में उत्पादन साधनों की विभिन्न इकाइयाँ विभिन्न फर्मों, उपयोगों तथा स्थानों आदि में पूर्ण गतिशील नहीं होतीं। *विशिष्टीकरण की वर्तमान अर्थव्यवस्था में साधनों की गतिशीलता सीमित हो जाती है। श्रम की गतिशीलता पर तो अनेक गैर आर्थिक तत्वों यथा जाति, धर्म, घर का मोह, व्यावसायिक लगाव, जलवायु आदि का भी प्रभाव पड़ता है।*

(7) साधन की सभी इकाइयों की समरूपता की मान्यता गलत है—व्यावहारिक जीवन में किसी भी साधन की विभिन्न इकाइयाँ पूर्ण रूप से एक-दूसरे

की स्थानापन्न नहीं होती हैं क्योंकि वे समरूप नहीं होतीं। उनमें थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य पाया जाता है।

(8) यह सिद्धान्त एक पक्षीय है—फ्रीडमैन, सैम्युअल्सन आदि अर्थशास्त्रियों ने मत व्यक्त किया है कि यह सिद्धान्त मांग पक्ष को ही अधिक महत्व देता है और पूर्ति पक्ष की अवहेलना करता है। किसी साधन का मूल्य मांग तथा पूर्ति दोनों के द्वारा तय होता है।

(9) यह सिद्धान्त अल्पकाल में साधन के पुरस्कार की व्याख्या नहीं करता—इस सिद्धान्त के अन्तर्गत इस बात की व्याख्या की जाती है कि साधन का पुरस्कार दीर्घकाल में उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा। परन्तु व्यावहारिक जीवन में अधिकांश समस्यायें अल्पकाल में साधन के मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में होती हैं जिनकी व्याख्या इस नियम में नहीं की जाती।

(10) यह सिद्धान्त धन के असमान वितरण का समर्थन करता है—इस नियम के अन्तर्गत धनवान व्यक्तियों की आय इसलिए अधिक मानी गई है कि उनकी सिमान्त उत्पादकता अधिक है अर्थात् वे अधिक उत्पादन करते हैं तथा निर्धन व्यक्तियों की आय के कम होने का कारण यह बताया जाता है कि उनकी सीमान्त उत्पादकता कम होती है अर्थात् वे कम धन का उत्पादन करते हैं। परन्तु यह तर्क ठीक नहीं है। इस सिद्धान्त का सहारा लेकर समाज में धन के असमान वितरण का समर्थन किया जाता है।

(11) स्थिर उत्पादन की दशा में लागू होना—यह नियम स्थिर उत्पादकता की स्थिति में ही लागू होता है। इसे उत्पत्ति वृद्धि नियम अथवा उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने पर प्रयोग करना ठीक नहीं है।

(12) मजदूरी की दर रोजगार की मात्रा को निर्धारित करती हैं ठीक नहीं—इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी की दर रोजगार के अनुसार तय होती है। मजदूरी कम करने से रोजगार की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। यह विचार ठीक नहीं है। कीन्स के अनुसार अर्थव्यवस्था में कुल रोजगार की मात्रा मजदूरी की दर के द्वारा नहीं, वरन् कुल प्रभावपूर्ण मांग के द्वारा निर्धारित होती है। अतः मजदूरी की दर कम करने पर सभी क्षेत्रों में आय कम होगी। फलस्वरूप श्रमिकों की क्रय-शक्ति गिर जायगी, माल का क्रय कम होगा अतः रोजगार में कमी हो जायगी। दूसरे मंदी के समय मजदूरी भी गिर जाती है तथा बेरोजगारी भी बढ़ जाती है।

निष्कर्ष—उपरोक्त आलोचनाओं को अगर ध्यान से देखें तो यही कहना पड़ता है कि अधिकांश आलोचनाएं ठीक नहीं हैं। सिद्धान्त का विश्लेषण अगर ठीक-ठीक किया जाय तो इसकी उपयोगिता का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। प्रो. आर. एच. लेफ्टविच के मत में, "यदि ये आलोचक सही हों और अपनी आलोचनाओं की पुष्टि में प्रमाण उपस्थित कर सकें, तो सीमान्त उत्पादकता विश्लेषण उसी प्रकार

से व्यर्थ हो जाएगा जिस प्रकार मांगिक क्रिया के सीमान्त सिद्धान्त विश्लेषण का अधिकांश शेष भाग हो जाता है। आज तक तो आवश्यक प्रमाण सामने नहीं आया है और यही कारण है कि सीमान्त उत्पादकता का वितरण सिद्धान्त में केन्द्रीय स्थान बना हुआ है।"

प्रश्न एवं संकेत

(1) वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

(संकेत—सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का अर्थ लिखकर इसे उदाहरण एवं रेखाचित्र से स्पष्ट कर दें तथा इसके बाद इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएं लिख दें।)



39

लगान
(Rent)

साइकिल, मकान, खेत, खान अथवा यंत्र आदि के प्रयोग के बदले में उसके मालिक को जिस राशि का भुगतान किया जाता है, साधारण बोल-चाल की भाषा में उसे लगान कहते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र में लगान शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया जाता है। अर्थशास्त्र में लगान का आशय उस राशि से है, जिसका भुगतान भूमि के स्वामी को, उत्पादन में भूमि के सहयोग के बदले में, किया जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते है कि राष्ट्रीय आय का वह भाग जो केवल भूमि के प्रयोग के बदले में, भूमि के स्वामी को दिया जाता है लगान कहलाता है।

लगान

अर्थ—रिकार्डो के अनुसार—"लगान भूमि की उपज का वह भाग है, जो भूमि के स्वामी को भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों के उपयोग के बदले में दिया जाता है।"

श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार—"किसी साधन को किसी कार्य में बनाये रखने के लिये दिये गये मूल्य से जो अधिक मूल्य प्राप्त होता है वह लगान होता है।"

लगान के प्रकार—(i) कुल लगान (ii) आर्थिक लगान तथा (iii) ठेका लगान।

रिकार्डो के अनुसार—"लगान भूमि की उपज का वह भाग है, जो भूमि के स्वामी को भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों के उपयोग के बदले में दिया जाता है।"[1]

प्रो. मार्शल के अनुसार—"भूमि तथा अन्य प्रकृति–प्रदत्त निःशुल्क देन के स्वामित्व से जो आय प्राप्त होती है सामान्यतः उसे लगान कहते हैं।"[2]

टॉमस के शब्दों में "लगान भूमि तथा अन्य प्रकृति-प्रदत्त निःशुल्क देन के स्वामित्व

1. "Rent is that portion of the produce of the earth which is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil." —David Ricardo.
2. "The income derived from the ownership of the land and other free gifts of nature is commonly called rent." —Marshall.

लगान के सिद्धान्त–(1) रिकार्डो का लगान सिद्धान्त, व (2) आधुनिक लगान सिद्धान्त।

(1) रिकार्डो का लगान सिद्धान्त–अर्थ एवं परिभाषा, व्याख्या मान्यतायें एवं आलोचनायें।

(2) आधुनिक लगान सिद्धान्त–सिद्धान्त का आधार, परिभाषा एव व्याख्या, लगान उत्पन्न होने के कारण रिकार्डो के सिद्धान्त से तुलना।

से प्राप्त होने वाली आय के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है।"[3]

कार्वर के अनुसार–"भूमि के प्रयोग के बदले मे जो मूल्य उसके मालिक को दिया जाता है उसे लगान कहते हैं।"[4]

उपरोक्त सभी परिभाषाओं मे लगान को भूमि के साथ सम्बन्धित किया गया है। इसीलिये लगान को 'भूमि के प्रयोग का प्रतिफल' अथवा 'भूमि के स्वामित्व का प्रतिफल' बताया गया है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने सीमितता का विशेष गुण भूमि के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधनो मे भी बताया है। इस प्रकार उत्पादन के अन्य साधन भी लगान प्राप्त कर सकते हैं। नवीन विचारकों के अनुसार–लगान का तात्पर्य उस आधिक्य से है जो उत्पादन के किसी भी साधन को वर्तमान उपयोग मे बनाये रखने के लिये न्यूनतम पूर्ति से अधिक प्राप्त किया जाता है। लगान के सम्बन्ध मे श्रीमती जोन रोबिन्सन (Joan Robinson) ने मत व्यक्त किया है कि, "लगान की धारणा का सार उत्पादन के किसी साधन के एक निश्चित भाग द्वारा अर्जित उस आधिक्य के विचार से है, जो वह उस साधन को अपना कार्य करने की प्रेरणा देने के वास्ते न्यूनतम आय से अधिक अर्जित करता है।"[5]

बोल्डिग के मत मे "आर्थिक लगान का तात्पर्य उस भुगतान से है, जो किसी सन्तुलन की स्थिति मे किसी उद्योग मे लगे उत्पत्ति के किसी साधन की एक इकाई को दिया जाता है, और यह उस न्यूनतम राशि से अधिक होता है जो उस साधन को अपने वर्तमान व्यवसाय मे बनाये रखने के लिये आवश्यक होता है।"[6]

---

3 "Rent may be defined as the income which accrues from the ownership of land and other free gifts of nature" —Thomas.

4 "Rent is the price paid for the use of land to its owner" —Carver

5 "The essence of the conception of rent is the conception of a surplus earned by a particular part of a factor of production on and above the minimum earnings necessary to induce it to do its work" —Mrs Joan Robinson

6. "Economic rent may be defined as any payment to a unit of a factor of production, in an industry in equilibrium which is in excess of the minimum amount necessary to keep that factor in its present occupation." —Boulding.

कुल लगान, आर्थिक लगान एवं ठेका लगान—लगान शब्द का प्रयोग तीन प्रकार से किया जाता है—

(1) **कुल लगान (Gross Rent)**—सामान्य भाषा में लगान का तात्पर्य कुल लगान से है जो कोई किरायेदार अथवा कृषक मकान अथवा भूमि के मालिक को इनके उपयोग के बदले में देता है। आर्थिक लगान इसका एक अंश होता है और इसी में शामिल होता है। कुल लगान में आर्थिक लगान अथवा भूमि के पुरुस्कार के अतिरिक्त निम्न तत्व भी सम्मिलित होते हैं :

(i) **भूमि के सुधार हेतु विनियोजन पूंजी का ब्याज**—कुंआ, पक्की नालियां, पक्की मेंड आदि बनाने पर व्यय की गई पूंजी का ब्याज कुल लगान का एक भाग होता है।

(ii) **जोखिम का पुरुस्कार**—यह जोखिम भू-स्वामी द्वारा भूमि सुधार तथा उन्नति के लिये किये गये व्यय से सम्बन्धित होती है।

(iii) **भूमि की देख-रेख तथा प्रबन्ध का पुरुस्कार**—भू-स्वामी द्वारा भूमि की देख-रेख पर तथा प्रबन्ध पर जो व्यय किया जाता है वह भी कुल लगान का एक भाग होता है।

(2) **आर्थिक लगान (Economic Rent)**—केवल 'भूमि के उपयोग का पुरुस्कार' आर्थिक लगान होता है। यह भू-स्वामी को भूमि के उपयोग के बदले में दिया जाता है। रिकार्डो ने श्रेष्ठ तथा सीमांत भूमि की उत्पत्तियों के अन्तर को आर्थिक लगान कहा है। अर्थात् भूमि के प्रयोग से प्राप्त कुल आय में से उत्पादन लागत (सामान्य लाभ सहित) घटा देने के पश्चात् जो कुछ शेष बच रहता है वह आर्थिक लगान होता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत में आर्थिक लगान उत्पादन के प्रत्येक साधन की अवसर लागत के ऊपर बचत है, अर्थात् आर्थिक लगान, वह अतिरिक्त लगान होता है जो भूमि के अतिरिक्त उत्पादन के उन साधनों को भी, जिनकी पूर्ति पूर्णतः लोचदार नहीं होती, प्राप्त होता है।

(3) **ठेका या संविदा लगान (Contract Rent)**—ठेका लगान भूमि, मकान, अथवा अन्य किसी सम्पत्ति के स्वामी तथा किरायेदार के बीच हुए प्रसंविदे अथवा पारस्परिक समझौते के आधार पर तय किया जाता है। यह आर्थिक लगान से कम या अधिक या इसके बराबर हो सकता है। यह भूमि की मांग अधिक होने पर अधिक और कम होने पर कम हो सकता है। कभी-कभी भूमि बहुत अधिक होने के कारण यह कुल लगान से भी अधिक होता है। इसे 'अत्यधिक लगान' (Reck Renting) की स्थिति कहते है। इस प्रकार 'ठेका लगान' भूमि की मांग और पूर्ति की शक्तियों के अनुसार निर्धारित होता है।

आर्थिक तथा ठेका लगान में अन्तर—आर्थिक तथा ठेका लगान के अन्तर को आगे स्पष्ट किया गया है :

आर्थिक तथा ठेका लगान में अन्तर

आर्थिक लगान (Economic Rent)	ठेका लगान (Contract Rent)
1 यह अधिसीमान्त तथा सीमान्त भूमि के अन्तर द्वारा निर्धारित होता है।	यह कृषक तथा भू-स्वामी के मध्य प्रसंविदे द्वारा निर्धारित होता है।
2 सीमान्त भूमि की उपज बढ़ जाने पर आर्थिक लगान कम तथा घट जाने पर अधिक हो जाता है।	सीमान्त भूमि की उपज के घटने बढ़ने का ठेका लगान पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।
3 आर्थिक लगान में 'अत्यधिक लगान' की स्थिति नहीं आती। अत: इसमें कृषक का शोषण नहीं होता। इस कारण यह न्यायोचित होता है।	भूमि की माँग अधिक होने के कारण ठेका लगान प्राय अधिक होता है। इस प्रकार कृषकों के शोषण के कारण इसे न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।
4 आर्थिक लगान में ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं पाई जाती।	ठेका लगान आर्थिक लगान से कम, बराबर या अधिक हो सकता है।
5. आर्थिक लगान भूमि के दो टुकड़ों की उर्वरा शक्ति पर निर्भर होने के कारण पूर्व निर्धारित नहीं होता।	ठेका लगान भू स्वामी तथा कृषक के बीच परस्पर समझौते द्वारा निर्धारित होने के कारण पहले से ही तय कर लिया जाता है।

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त
(Ricardian Theory of Rent)

अठारहवीं सदी में फ्रांस के निसर्गवादियों (Physiocrats) फ्रांकोइस क्वेस्ने (Francois Quesnay–1694-1774) तथा उसके अनुयाइयों, ने यह विचार रखा कि समाज निसर्ग द्वारा संचालित होना चाहिए तथा भूमि और उससे प्राप्त उत्पत्ति सम्पत्ति का एक मात्र सच्चा साधन तथा भूमि पर प्रत्यक्ष कर ही आगम (revenue) का एक मात्र सही साधन होता है। परन्तु डेविड रिकार्डो(1773-1823) ही प्रथम अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने लगान सिद्धान्त के बारे में विस्तृत तथा व्यवस्थित विचार रखे, हालांकि रिकार्डो से पूर्व एडम स्मिथ ने लगान को ईश्वरीय देन माना तथा माल्थस ने बताया कि लगान प्रकृति की उदारता का परिणाम है, जिसके लिये प्रकृति को कुछ भी पारितोषिक नहीं दिया जाता।

लगान सम्बन्धी रिकार्डो की परिभाषा—"लगान भूमि की उपज का वह भाग है, जो भूमि के स्वामी को भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों के उपयोग के बदले में दिया जाता है।" रिकार्डो ने आगे कहा है कि "ऊंचे लगान प्रकृति की उदारता की करामात नहीं होते, इसके विपरीत वे प्रकृति की कृपणता का सूचक होते हैं।"[1]

1 'High rents are not a sign of the bounty of Nature On the Contrary they are an indication of the niggardliness of Nature"

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की व्याख्या—रिकार्डो के समय में इंगलैण्ड में जनसंख्या बढ़ रही थी। विदेशों से खाद्यान्नों के आयात पर प्रतिबन्धों के परिणाम स्वरूप इनके मूल्य बढ़ने लगे तो बढ़ी हुई मांग की पूर्ति के लिये अपेक्षाकृत कम अच्छे भू-खण्डों पर भी कृषि की जाने लगी, जिससे अच्छे भू-खण्डों पर आधिक्य प्राप्त होने लगा। इस आधिक्य को रिकार्डो ने आर्थिक लगान की संज्ञा दी। इस प्रकार आर्थिक लगान की धारणा का जन्म हुआ।

अच्छे और कम अच्छे भूमि के टुकड़े से रिकार्डो का आशय था कि अच्छे भूमि के टुकड़े में मौलिक तथा अविनाशी शक्तियाँ कम अच्छे टुकडे की तुलना में अधिक होती हैं। इस अन्तर के परिणाम स्वरूप अच्छे टुकड़ों पर उत्पादन अधिक तथा कम अच्छे टुकड़ों पर उत्पादन कम होता है।

बसे हुए क्षेत्रों के पास वाले भू खण्ड अच्छे होते हैं। उन पर पहले खेती की जाती है और कम अच्छे भू-खण्ड घने-बसे क्षेत्रों से दूर होने के कारण उनका प्रयोग मांग बढ़ने पर ही बाद में किया जाता है। इस प्रकार लगान भू-खण्डों की स्थिति के कारण भी उत्पन्न होता है।

रिकार्डो ने मत व्यक्त किया कि कम अच्छा भूमि-खण्ड सीमान्त भूमि होता है तथा इस पर व्यय की गई लागत उत्पत्ति के मूल्य के बराबर होती है। दूसरे शब्दों में सीमान्त भूमि की लागत के अनुसार ही उत्पत्ति का मूल्य निर्धारित होता है। इस प्रकार सीमान्त भूमि लगान-रहित भूमि होती है।

कृषि जन्य पदार्थों की कमी के कारण उनका मूल्य ऊंचा होता है। ऊंचे मूल्यों के कारण कम अच्छे खेतों पर भी खेती की जाती है। इस प्रकार लगान ऊंचे मूल्यों का परिणाम होता है और लगान का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये रिकार्डो ने कहा कि, "अनाज का मूल्य इसलिये ऊंचा नहीं होता कि लगान दिया जाता है वरन् अनाज का मूल्य अधिक होने के कारण लगान अधिक होता है।"[1]

निष्कर्ष—रिकार्डो के लगान सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या करने पर ज्ञात होता है कि इस सिद्धान्त की मुख्य मुख्य बातें निम्न लिखित हैं :

(1) भूमि के प्रत्येक टुकड़े को प्रकृति से कुछ न कुछ उर्वरा शक्ति अवश्य प्राप्त होती है;

(2) यह उर्वरा शक्ति मौलिक तथा अविनाशी होती है;

(3) भूमि के कुछ टुकडों की उर्वरा शक्ति दूसरों की अपेक्षा अधिक होती है। अधिक उर्वरा शक्ति वाले अच्छे टुकड़े तथा कम उर्वरा शक्ति वाले कम अच्छे टुकड़े होते हैं;

---

1. "Corn is high not because rent is paid but rent is high because corn is high."-
—Ricardo

(4) अच्छे तथा कम अच्छे टुकडो की उपज का अन्तर आर्थिक लगान होता है,

(6) लगान भूमि की स्थिति के अन्तर से भी उत्पन्न होता है,

(7) सीमान्त-भूमि उत्पत्ति का मूल्य निर्धारित करती है और यह लगान-रहित भूमि होती है,

(8) लगान उत्पत्ति के मूल्य में शामिल नहीं होता अत यह मूल्य को प्रभावित नहीं करता उलटे कृषि-उपज के मूल्यो मे उतार-चढ़ाव का लगान पर प्रभाव पड़ता है।

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की मान्यता है कि लगान 'विभेदात्मक बचत' (Differential Gain or Surplus) का परिणाम होता है। भूमि की उर्वरा शक्ति तथा स्थिति की भिन्नताओ के कारण लगान उत्पन्न होता है। ये भिन्नतायें विस्तृत खेती, गहरी खेती तथा भूमि की स्थिति मे अलग-अलग प्रकार की होने के कारण लगान को अलग-अलग उदाहरणों द्वारा समझाया जा रहा है।

विस्तृत खेती मे लगान—रिकार्डो की यह मान्यता थी कि सर्वप्रथम भूमि के सबसे अच्छे टुकडे पर खेती की जाती है। जनसख्या में वृद्धि के फलस्वरूप मांग बढने पर क्रमश कम अच्छे भू-खडो का प्रयोग होने लगता है। माना A, B, C तथा D चार भू-खड हैं, जिनके समान क्षेत्रफल हैं और जिन पर पूजी तथा श्रम की एक-एक हजार रु० की समान राशि की इकाइयाँ लगाई जाती हैं। A, B, C तथा D भू-खडो पर खेती करने से क्रमश 10, 8, 6 तथा 4 क्विटल चावल का उत्पादन होता है। माना A भू-खड पर ही कृषि की जाती है। इस स्थिति मे चावल का प्रति क्विन्टल मूल्य $\frac{1000}{10} = 100$ रु० होगा। इस स्थिति मे यही सीमान्त भूमि है। आय तथा व्यय दोनो बराबर होने के कारण इस भू-खड पर कोई लगान प्राप्त नहीं होता है।

माना जनसख्या मे वृद्धि होने से मांग बढ गई और B भू-खड पर भी कृषि की जाने लगी। इस स्थिति में चावल का बाजार भाव सीमान्त भू-खड B की उत्पत्ति के अनुसार $\frac{1000}{8} = 125$ रु० होगा। B भू खड सीमान्त भू-खड होने के कारण लगान रहित है। परन्तु A अच्छा तथा अधिसीमान्त भू-खड (Super-marginal Land) है अत इस पर लगान होगा, जो $10 - 8 = 2 \times 125 = 250$ रु० होगा।

जनसख्या में और वृद्धि होने पर माग म वृद्धि होने के कारण C भू-खड को प्रयोग किया जाने लगेगा तो A व B दोनो अधिसीमान्त भू-खड होगे। C भू-खड सीमान्त भू-खड होने के कारण लगान रहित होगा तथा चावल का बाजार भाव

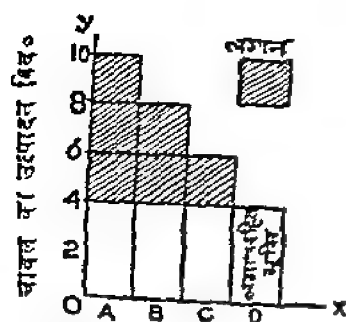
$\frac{1000}{6} = \frac{500}{3} = 166\frac{2}{3}$ रु० प्रति क्विन्टल होगा। A व B भू-खंडों का लगान क्रमश: $10 - 6 = 4 \times \frac{1000}{6} = \frac{2000}{3} = 666\frac{2}{3}$ रु० तथा $8 - 6 = 2 \times \frac{1000}{6} = \frac{1000}{3} = 333\frac{1}{3}$ रु० होगा। जनसंख्या में और अधिक वृद्धि होने से मांग बढ़ने पर D भू-खंड पर भी कृषि की जाने लगेगी तथा C भू-खंड अधिसीमान्त भू खंड होने के कारण इस पर भी लगान मिलने लगेगा। A, B व C भू-खंडों का लगान क्रमश: $10 - 4 = 6 \times \frac{1000}{4} = 1500$ रु०, $8 - 4 = 4 \times \frac{1000}{4} = 1000$ रु० तथा $6 - 4 = 2 \times \frac{1000}{4} = 500$ रु० होगा।

जनसंख्या में और अधिक वृद्धि होने से मांग बढ़ने पर D भू-खंड पर भी कृषि की जाने लगेगी तथा C भू-खंड अधिसीमान्त भू-खंड होने के कारण इस पर भी लगान मिलने लगेगा। A, B व C भू-खंडों का लगान कमश:

$10 - 4 = 6 \times \frac{1000}{4} = 1500$ रु० $8 - 4 = 4 \times \frac{1000}{4} = 1000$ रु० तथा $6 - 4 = 2 \times \frac{1000}{4} = 500$ रु० होगा।

उपरोक्त उदाहरण को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

भूमि की श्रेणी	चावल का कुल उत्पादन (क्विं.)	उपज में लगान (क्विं.)	बाजार भाव प्रति क्विं. रु०	कुल लागत रु०	लगान रु० में
A	10	✓ 6	250	1000	$10 \times 250 - 1000 = 1500$
B	8	✓ 4	250	1000	$8 \times 250 - 1000 = 1000$
C	6	✓ 2	250	1000	$6 \times 250 - 1000 = 500$
D	4	✓ 0	255	1000	$4 \times 250 - 1000 = 0$



विभिन्न श्रेणियों की भूमि
रेखा चित्र 39 I

इस उदाहरण को बराबर के रेखा चित्र द्वारा भी समझाया जा सकता है। A, B, C तथा D भू खंडो को OX अक्ष पर तथा चावल का उत्पादन OY अक्ष पर व्यक्त किया गया है। चारो श्रेणियों के भू खंडो पर क्रमश 10, 8, 6 तथा 4 क्वि चावल का उत्पादन होता है। D भू खंड लगान रहित है। A, B व C भू खंड अधिसीमान्त भू-खंड हैं और इन पर प्राप्त लगान को छायांकित भाग द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

गहरी खेती मे लगान—बढती हुयी खाद्यान्न की माग की पूर्ति करने के लिये भू-खडो की सख्या बढाने की बजाय उसी भू-खड पर श्रम तथा पूंजी की इकाइयों की मात्रा बढाकर उत्पादन बढाया जा सकता है। भूमि पर उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील होने के कारण श्रम तथा पूजी की अतिरिक्त इकाइयों में वृद्धि के साथ सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है। अन्तत एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि व्यय की सीमान्त इकाई से उसके मूल्य के बराबर ही आय प्राप्त होती है। व्यय की यह सीमान्त इकाई विस्तृत खेती में सीमान्त भू-खड के समान गहरी खेती मे लगान रहित इकाई होती है।

माना A भूखड पर लगाई गई श्रम तथा पूजी की एक इकाई की लागत 1000 रु० है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ इकाइयों के प्रयोग से क्रमश 10, 8, 6 व 4 क्वि० चावल का उत्पादन होता है। अत इनसे क्रमश लगान 6, 4, 2 व 0 क्वि० प्राप्त होता है। गहरी खेती में लगान को नीचे के उदाहरण तथा तालिका से समझाया जा सकता है।

गहरी खेती में लगान

श्रम व पूजी की इकाइयां	कुल उपज (क्वि० मे)	उपज में लगान	चावल का बाजार भाव क्वि (रु)	कुल लागत रु	लगान रु में
1	10	6	250	1000	2500 – 1000 = 1500
2	8	4	250	1000	2000 – 1000 = 1000
3	6	2	250	1000	1500 – 1000 = 500
4	4	0	250	1000	1000 – 1000 = 0

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि गहरी खेती म लगान श्रम व पूजी की अधिसीमान्त इकाई तथा सीमान्त इकाई की उपजो का अन्तर होता है।

स्थिति तथा लगान—रिकार्डो ने लगान की व्याख्या करते समय भूखंडों की उर्वरता में भिन्नता के साथ-साथ भूखंडों की स्थिति के महत्व को भी पहिचाना था। उन्हीं के शब्दों में, "सर्वाधिक उपजाऊ तथा सर्वाधिक अनुकूल स्थिति की भूमि पर सर्वप्रथम खेती की जावेगी। यदि सभी भूमि समान रूप से उपजाऊ है तो किसी भूमि पर लगान तब तक उत्पन्न नहीं होगा जब तक कि किसी विशिष्ट भूमि को स्थिति का लाभ प्राप्त न हो।"[1] इस प्रकार रिकार्डो के मत में लगान स्थिति की भिन्नता के कारण भी उत्पन्न होता है। मंडी, बाजार, नगर, रेल्वे स्टेशन आदि से दूर स्थित भूमि लगान रहित होती हैं। भूमि इनके जितने पास स्थित होती है उस पर लगान उतना ही अधिक होने की संभावना होती है क्योंकि इसकी यातयात लागत, अर्थात् उत्पत्ति को खेत से मंडी तक पहुँचाने का व्यय, न्यूनतम होता है। मंडी के पास स्थित भूमि को अधि-सीमांत भूमि होने के कारण सीमांत भूमि, जो मंडी आदि से दूर स्थित है, की तुलना में अधिक आय प्राप्त होती है। यह विभेदात्मक-बचत ही लगान है।

रिकार्डो के लगान सिद्धांत की मान्यतायें—इस सिद्धांत की मान्यतायें निम्नलिखित हैं—

(1) लगान का निर्धारण दीर्घकाल में होता है।

(2) इस सिद्धांत की मान्यता है कि प्रत्येक देश में लगान रहित भूमि होती है जिसके आधिक्य के रूप में लगान की माप की जाती है।

(3) भूमि की मात्रा तथा गुण दोनों सीमित होते हैं।

(4) भूमि में 'मौलिक तथा अविनाशी' शक्तियां होती हैं।

(5) भूमि से ही लगान उत्पन्न होता है अन्य साधनों से नहीं।

(6) भूमि का प्रयोग उसकी श्रेष्ठता के अवरोही (Descending) क्रम में किया जाता है।

(7) लगान भूमि की उर्वरता तथा स्थिति की भिन्नता के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होता है।

(8) भूमि में उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

रिकार्डो के लगान सिद्धांत की आलोचना (Criticism of the Ricardian Theory of Rent)—रिकार्डो का लगान सिद्धांत जिन मान्यताओं पर आधारित है उन्हें कुछ लोग सही नहीं मानते हैं तथा जो आलोचनायें प्रस्तुत करते हैं उनमें से मुख्य आलोचनायें निम्नलिखित हैं—

(1) भूमि की शक्तियां न तो मौलिक होती हैं और न अविनाशी ही—रिकार्डो का यह कथन कि भूमि की शक्तियां–उर्वरा शक्ति, मौलिक तथा अविनाशी

---

1. "The most fertile and the most favourably situated land will be cultivated first. If all lands are equally fertile, rent will not arise unless a particular land enjoys the advantage of situation."
—David Ricardo.

होती है, मवास्तव है। भूमि को प्रकृति से कुछ उर्वरा शक्ति अवश्य प्राप्त होती है जो लगातार कृषि करने से घटती जाती है तथा पूंजी व श्रम के प्रयोग द्वारा इसमें वृद्धि होती है। वैज्ञानिक विधियों द्वारा भी भूमि की उर्वरा शक्ति में वृद्धि होती है। गावों, नगरों, मंडियों आदि के विस्तार के साथ-साथ भूमि की स्थिति अनुकूलतम होती जाती है। इस प्रकार यह निश्चित करना कठिन है कि भूमि की उपज का कितना भाग भूमि की मौलिक शक्तियों का परिणाम है और कितना भाग अर्जित शक्ति का परिणाम है। दूसरे आज के अणु युग में अणुशक्ति का प्रयोग रचनात्मक शान्तिपूर्ण कार्यों अथवा विनाशकारी कार्यों में किया जा सकता है तो कैसे कहा जा सकता है कि भूमि की शक्तियां अविनाशी होती हैं। अत भूमि की शक्तियों को मौलिक तथा अविनाशी नहीं कहा जा सकता है।

(2) रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत भूमि के प्रयोग का ऐतिहासिक क्रम सत्य नहीं है—रिकार्डो का यह कहना कि कृषि का क्रम "सबसे अधिक उपजाऊ भूमि से सबसे कम उपजाऊ भूमि की ओर" सत्य नहीं है। लोग सबसे पहिले उस भूमि को जोतेंगे जो आबादी वाले क्षेत्रों के सबसे पास होगी। पर्याप्त सर्वेक्षण के अभाव में यह जानना सम्भव नहीं कि सर्वोत्तम भूमि का टुकड़ा कौनसा है, दूसरे प्रारम्भिक युग में सर्वेक्षण की क्रिया वैज्ञानिक भी न थी। वैसे भी व्यावहारिक जीवन में ऐसा होता नहीं है। अमरीकी अर्थशास्त्री हैनरी कैरे ने रिकार्डो द्वारा प्रस्तुत भूमि के प्रयोग के ऐतिहासिक क्रम के बारे में कहा है कि यह क्रम सत्य सिद्ध नहीं है। रोशर का भी यही मत है कि यह क्रम सत्य नहीं है।

परन्तु वाकर तथा रिकार्डो के अन्य समर्थकों का कहना है कि रिकार्डो के मत में सर्वश्रेष्ठ भूमि का तात्पर्य भूमि की उर्वरता तथा स्थिति दोनों की श्रेष्ठता से है। वैसे भी महत्व तो इस बात का है कि अलग अलग भू-खण्डों की उपज में अन्तर होता है।

(3) "लगान रहित भूमि" सभी देशों में नहीं पाई जाती है—रिकार्डो की लगानरहित भूमि की मान्यता ठीक नहीं है। घने बसे हुए देशों में घटिया से घटिया भूखण्डों पर लगान उत्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में रिकार्डो के समर्थकों का तर्क है कि कृषि उपज का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होता है अत किसी देश की लगान रहित भूमि अन्य किसी ऐसे देश में हो सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय बाजार का सदस्य हो। दूसरे उत्पत्ति ह्रास नियम के कारण लागत (श्रम तथा पूंजी) की लगान रहित इकाई का होना अवश्यम्भावी है।

(4) रिकार्डो का सिद्धान्त यह नहीं बताता कि लगान क्यों उत्पन्न होता है—रिकार्डो का सिद्धान्त तो यही बताता है कि अच्छी भूमि का लगान कम अच्छी भूमि की तुलना में अधिक होता है। ग्रिग तथा कोर्डन ने भी यही मत व्यक्त किया है कि रिकार्डो के सिद्धान्त द्वारा एक सर्व सामान्य सत्य बताया गया है कि श्रेष्ठ

वस्तु के लिए सर्वदा ऊँचा मूल्य ही प्राप्त होगा। इस प्रकार रिकार्डो ने यह नहीं बताया है कि लगान की उत्पत्ति क्यों होती है।

(5) लगान भूमि की दुर्लभता (Scarcity) का परिणाम होता है—प्रो० मार्शल ने यह मत व्यक्त किया है कि लगान की उत्पत्ति के लिए भूमि की उर्वरताओं अथवा स्थितियों की भिन्नताओं का होना आवश्यक नहीं, लगान की उत्पत्ति के लिए भूमि की पूर्ति का सीमित होना पर्याप्त है। भूमि की पूर्ति स्थिर तथा सीमित होती है इसीलिए भूमि के प्रयोग के लिए कुछ न कुछ कीमत अवश्य देनी पड़ती है। इसी को दुर्लभता का लगान कहते हैं।

(6) सिद्धान्त की 'पूर्ण प्रतियोगिता' तथा 'दीर्घकाल' सम्बन्धी मान्यताएं अवास्तविक हैं—यह सिद्धान्त सत्य नहीं है क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता अवास्तविक होती है। दूसरे मानवीय रुचि, फैशन आदि में परिवर्तन अल्पकाल में होते रहते हैं इस प्रकार दीर्घकाल में लगान का विश्लेषण खरा नहीं उतरता है।

(7) लगान मूल्य को भी प्रभावित करता है—रिकार्डो का यह कथन कि लगान मूल्य को प्रभावित नहीं करता पूर्णतः सत्य नहीं है क्योंकि व्यक्तिगत दृष्टि से कृषक के लिए लगान लागत का ही एक अंश होता है। जे. एस. मिल तथा अन्य विचारकों के मत मे व्यक्तिगत दृष्टि से लगान लागत का ही एक भाग होने के कारण मूल्य को प्रभावित करता है।

(8) उत्पत्ति का प्रत्येक साधन लगान प्राप्त कर सकता है—रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की यह मान्यता कि लगान केवल भूमि को ही प्राप्त हो सकता है ठीक नहीं है। आधुनिक अर्थशास्त्री 'अवसर लागत' के ऊपर की बचत को लगान मानते है। दूसरे वे यह भी मानते हैं कि "सीमितता का गुण" भूमि के अतिरिक्त अन्य साधनों में भी पाया जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति का प्रत्येक साधन लगान प्राप्त कर सकता है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि रिकार्डो के लगान सम्बन्धी सिद्धान्त की उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद इस सिद्धान्त का अर्थशास्त्र में पर्याप्त महत्व है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भी इसे आदर प्रदान किया है और इसीलिए "सीमितता के गुण" के लिए 'भूमि-पक्ष' या 'भूमि-तत्व' शब्दों का प्रयोग किया है। इनके अनुसार 'भूमि-तत्व' उत्पादन के प्रत्येक साधन में होता है अतः प्रत्येक साधन लगान प्राप्त कर सकता है। सिडनी वेब के मत में समूहवादी अर्थशास्त्र की आधार-शिला रिकार्डो का लगान सिद्धान्त ही है।

लगान का आधुनिक सिद्धान्त
(Modern Theory of Rent)

लगान के सम्बन्ध मे आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत रिकार्डो से भिन्न है। रिकार्डो के अनुसार केवल भूमि ही लगान प्राप्त कर सकती हैं। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत में भूमि की तरह उत्पादन के अन्य सभी साधन भी लगान प्राप्त

कर सकते हैं। इन्होंने मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त के आधार पर ही लगान के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

(1) आधुनिक सिद्धान्त का आधार—उत्पत्ति के साधनों को आस्ट्रियन अर्थशास्त्री वॉन वीजर (Van Wiser) ने दो श्रेणियों में रखा है (1) पूर्णतया विशिष्ट साधन (Perfectly Specific Factors) तथा (2) पूर्णतया अविशिष्ट साधन (Perfectly Non Specific Factors)। पूर्णतया विशिष्ट साधन अगतिशील (immobile) होते हैं। इनका प्रयोग केवल एक ही कार्य में किया जा सकता है। पूर्णतया अविशिष्ट साधन पूर्णतः गतिशील होने के कारण अनेक प्रयोगों में प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

श्रीमती जोन रॉबिन्सन जे के मेन्ना तथा अन्य अर्थशास्त्रियों के अनुसार लगान विशिष्टता का परिणाम या भुगतान होता है। विशिष्टता तथा अविशिष्टता स्थायी तत्व नहीं हैं। अल्पकाल में कोई भी साधन विशिष्ट या अविशिष्ट हो सकता है। आज जो साधन विशिष्ट है कल वह अविशिष्ट हो सकता है। माना भूमि के किसी टुकड़े पर अगर बाजरा उगा दिया जाता है तो वह टुकड़ा बाजरे की फसल के लिये विशिष्ट होगा लेकिन बाजरा कटने के उपरान्त हम उस पर चना, मटर, गेहूँ, जौ या अन्य कोई भी फसल उगा सकते हैं। ऐसी स्थिति में वह अविशिष्ट हो जायगा।

उत्पत्ति के साधनों में पाये जाने वाले 'विशिष्टता' के गुण को आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने 'भूमि तत्व' कहा है। 'भूमि तत्व' कुछ न कुछ मात्रा में उत्पत्ति के प्रत्येक साधन में विद्यमान रहता है। इस प्रकार जिस सीमा तक किसी साधन में 'भूमि तत्व' निहित होता है उस सीमा तक वह साधन लगान प्राप्त करता है। इस प्रकार लगान एक प्रकार की बचत है जो उत्पत्ति के साधनों की प्रत्येक इकाई को उसकी अवसर लागत (Opportunity cost) अथवा न्यूनतम पूर्ति मूल्य (Minimum supply price) के ऊपर प्राप्त होती है।

2 लगान की परिभाषा एवं व्याख्या—श्रीमती जोन रॉबिन्सन के अनुसार, "किसी साधन को किसी कार्य में बनाये रखने के लिये दिये गये मूल्य से, जो अधिक मूल्य प्राप्त होता है वह लगान होता है।"

श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार लगान किसी साधन की वास्तविक आय का हस्तांतरण आय पर आधिक्य होता है। अतः आधुनिक विचारधारा के अनुसार लगान = साधन की वास्तविक आय – साधन की हस्तान्तरण आय। लगान की गणना करने के लिए साधन की वास्तविक आय तथा हस्तान्तरण आय का अर्थ जानना आवश्यक है।

वास्तविक आय (Real Income)—साधन की वास्तविक आय का तात्पर्य उस आय से होता है जो समय विशेष पर उत्पादन के किसी साधन द्वारा अपने वर्तमान प्रयोग से वास्तव में प्राप्त की जा रही है। उदाहरणार्थ राम प्रबन्धक के पद

पर इस समय सेन्चयूरी मिल में 1000 रुपये मासिक वेतन प्राप्त करता है तो यह साधन की वास्तविक आय हुयी।

हस्तान्तरण आय (Transfer Earning or Opportunity Cost)—किसी साधन की हस्तांतरण आय वह न्यूनतम भुगतान है जो किसी उत्पादन के साधन को उसे अपने वर्तमान प्रयोग में बनाये रखने के लिए देना आवश्यक होता है अर्थात् किसी साधन को दिये जाना वाला वह न्यूनतम भुगतान जिससे कम देने पर साधन अपने वर्तमान कार्य को छोडकर अन्य वैकल्पिक श्रेष्ठ प्रयोग में चला जावेगा। दूसरे शब्दों में किसी साधन की हस्तांतरण आय वह भुगतान होता है जो साधन द्वारा अपने किसी श्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग से प्राप्त की जाती है। माना कि उपरोक्त राम नामक प्रबन्धक यदि 800 रुपये महिने से कम प्राप्त होने पर सेन्चयूरी मिल में कार्य करना बन्द कर दे तो राम की हस्तांतरण आय 800 रुपये है।

अत: इस उदाहरण में लगान की गणना निम्न प्रकार होगी—

लगान = वास्तविक आय – हस्तांतरण आय

लगान = 1000 रु. – 800 रु.

लगान = 200 रु. अर्थात् राम अपने वर्तमान प्रयोग में 200 रु. लगान प्राप्त करता है।

3. आधुनिक लगान सिद्धांत के अनुसार लगान की गणना-एक विस्तृत उदाहरण—माना 15000 रु. की लागत से हमने एक टेम्पो खरीदा और इसमें स्कूल के बच्चों को लाने ले जाने से हमें वर्तमान में 5,000 रु. वार्षिक आय होती है। माना हम इससे नगर में सवारियां लाने का कार्य करना चाहते हैं और इससे भी हमें 5,000 वार्षिक आय मिलने की संभावना हैं। इस स्थिति में यह टेम्पो स्कूलों के बच्चों को लाने और ले जाने के काम में अविशिष्ट है क्योंकि वर्तमान वास्तविक आय तथा हस्तांतरण आय (या अवसर लागत) समान हैं। इस स्थिति में टेम्पों को कोई लगान प्राप्त नहीं होगा क्योंकि लगान = वास्तविक आय – हस्तांतरण आय लगान = 5,000 रु – 5000 रु. = 0,

माना इस टेम्पो से हम नगर के बाहर की सवारियों को लाने–ले जाने का परमिट लेना चाहते हैं मगर यह परमिट मिलने की कोई संभावना नहीं है तथा ऐसी स्थिति में हमारे वर्तमान परमिट के अन्तर्गत हम टेम्पों को केवल स्कूल से बच्चों को लाने ले जाने का काम ही ले सकते हैं तो इस प्रकार टेम्पो की अवसर लागत शून्य है परिणामस्वरूप इस स्थिति में टेम्पो एक विशिष्ट साधन है और इसकी समस्त वर्तमान आय इसकी अवसर लागत के ऊपर बचत होने के कारण लगान कहलावेगी। लगान = वास्तविक आय – हस्तांतरण आय अथवा 5000 रु. – 0 = 5000 रु.

माना इस टेम्पो से हम नगर मे माल ढोना चाहते हैं और माल ढोने की संभावित आय 3,000 रु. वार्षिक हो तो इस स्थिति में लगान की मात्रा वर्तमान

आय-अवसर लागत के बराबर होने के कारण 5,000 रु − 3,000 = 2,000 रु होगी। इस प्रकार टैम्पो आंशिक रूप से विशिष्ट तथा आंशिक रूप से अविशिष्ट है।

और मानाकि टैम्पो को राजस्थान विश्वविद्यालय अपने काम के लिये 6,000 रु वार्षिक किराये पर लेना चाहता है तो इस स्थिति में 5,000 रु की वर्तमान आय 6,000 रु की अवसर लागत से कम होने के कारण लगान नकारात्मक होगा और लगान कभी नकारात्मक नहीं होता। अतः हम स्कूल के बच्चों को लाने-ले जाने के लिये टैम्पो का प्रयोग बन्द करके इसे विश्व विद्यालय को 6,000 रु वार्षिक पर दे देंगे। यह 6,000 रु इसकी वर्तमान आय तथा पहिले की 5,000 रु की आय अवसर लागत होने से लगान 6,000 − 5,000 = 1000 रु होगा।

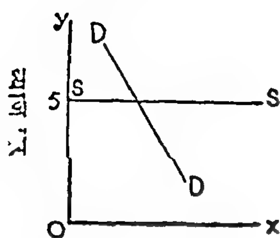
(4) लगान उत्पन्न होने के कारण— जैसाकि हम जानते हैं लगान विशिष्टता' का परिणाम है। पूर्णतः अविशिष्ट साधनों को कोई लगान प्राप्त नहीं होता है। किसी साधन में 'विशिष्टता' का गुण तभी आता है जब वह साधन 'दुर्लभ' या मात्रा में 'सीमित' हो। इस प्रकार किसी साधन की मात्रा सीमित या बेलोचदार होने पर ही उसे लगान प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार से कम होने पर ही साधन में दुर्लभता अथवा सीमितता का गुण आता है। पूर्णतया लोचदार पूर्ति वाले साधनों में विशिष्टता का गुण नहीं होता क्योंकि किसी निश्चित मूल्य पर उनकी मनचाही इकाइयां प्राप्त की जा सकती हैं। इस मूल्य से कम मूल्य पर उसकी पूर्ति शून्य होती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि लगान विशिष्टता का परिणाम है अथवा लगान किसी साधन की बेलोचदार पूर्ति का परिणाम है।

(अ) साधन की पूर्ति पूर्ण लोचदार होने पर सम्पूर्ण आय हस्तान्तरण आय एवं लगान शून्य होता है—साधन की पूर्ति पूर्ण लोचदार होने पर साधन को कोई लगान प्राप्त नहीं होता है क्योंकि एक निश्चित मूल्य पर साधन की असीमित मात्रा प्राप्त की जा सकती है तथा उससे तनिक भी कम मूल्य पर उसकी पूर्ति शून्य होती है। ऐसी स्थिति में साधन की वर्तमान आय तथा हस्तान्तरण आय दोनों समान होती हैं तथा लगान शून्य होता है। उदाहरण के तौर पर 5% ब्याज दर पर पूंजी की पूर्ति पूर्ण लोचदार है तो पूंजी को किसी प्रकार का लगान प्राप्त नहीं होगा क्योंकि

लगान = वर्तमान आय—हस्तान्तरण आय

लगान = 5—5 = 0

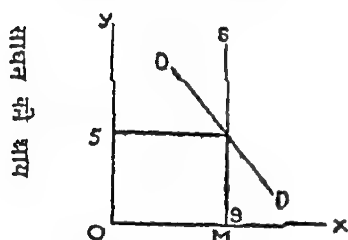
इसे रेखा चित्र सं. 39·2 से देखा जा सकता है। इस रेखा चित्र में OX अक्ष पर साधन की मांग व पूर्ति की मात्रा तथा OY अक्ष पर साधन का मूल्य दिखाया गया है। इस रेखा चित्र से ज्ञात होता है कि साधन की S S पूर्ति वक्र 5 रु० सैकड़ा पर पूर्ण लोचदार है। अर्थात् 5% ब्याज पर पूंजी की असीमित मात्रा प्राप्त की जा सकती है जबकि 5% से कम पर पूर्ति शून्य होती है अतः साधन की सम्पूर्ण आय हस्तान्तरण आय होने के कारण लगान शून्य है।



रेखा चित्र सं. 39 2

(ब) साधन की पूर्ति पूर्ण बेलोचदार होने पर हस्तान्तरण आय शून्य तथा सम्पूर्ण आय लगान होती है—यदि उत्पादन के किसी साधन की पूर्ति पूर्ण बेलोचदार है अर्थात् साधन पूर्ण रूप से विशिष्ट है जिसका अन्य कोई प्रयोग नहीं हो सकता तो उस साधन की हस्तांतरण आय शून्य होगी। अतः वह वर्तमान प्रयोग में जो कुछ आय प्राप्त करता है वह लगान होगी। माना कि किसी निजी फर्म से अवकाश प्राप्त एक मुनीम है जो इस फर्म के अतिरिक्त अन्य कहीं काम प्राप्त नहीं कर सकता है तथा फर्म उसे 5 रुपये प्रति दिन के हिसाब से भुगतान कर रही है तो यह मुनीम 5 रुपये प्रति दिन लगान प्राप्त कर रहा है क्योंकि लगान = वर्तमान आय—हस्तान्तरण आय अथवा लगान = 5—0 = 5 रुपये प्रति दिन।

इसे रेखा चित्र सं. 39·3 से देखा जा सकता है। इस रेखा चित्र में साधन की S S पूर्ति वक्र एक सीधी खड़ी रेखा है जो इसकी पूर्ति की बेलोचदार प्रकृति को बताती है। इस साधन की S S पूर्ति शून्य मूल्य तथा असीमित मूल्य पर सीमित रहती है अतः साधन की हस्तान्तरण आय शून्य होने से 5 रुपये प्रति दिन की आय लगान होगी।



साधन की मात्रा
रेखा चित्र सं. 39·3

(स) साधन की पूर्ति पूर्ण लोचदार से कम होने पर साधन को प्राप्त आय में से एक अंश लगान तथा एक अंश हस्तांतरण आय होती है—जिस साधन की पूर्ति न तो पूर्ण लोचदार होती है तथा न पूर्ण बेलोचदार, उस साधन की आय का एक भाग लगान तथा शेष भाग हस्तान्तरण आय होता है। साधारणतया अधिकांश साधनों की पूर्ति अल्पकाल में पूर्ण लोचदार से कम होती है। अतः उत्पादन के सभी साधन लगान प्राप्त कर सकते हैं। पूर्ति पूर्ण लोचदार से कम होने पर लगान की प्राप्ति को रेखा चित्र 39·4 से देखा जा सकता है।

साधन की मात्रा
रेखा चित्र स 39 4

इस रेखा चित्र मे S S साधन की पूर्ति वक्र तथा D D मांग वक्र है। साधन की पूर्ति O P मूल्य से कम मूल्य पर शून्य है तथा जैसे जैसे मूल्य बढ़ता है वैसे वैसे साधन की पूर्ति बढ़ती जाती है। साधन का मूल्य साधन की मांग तथा पूर्ति के T साम्य बिन्दु पर R T अथवा O P_4 निर्धारित हुआ है। इस R T मूल्य पर साधन की O R मात्रा क्रय की जावेगी। साधन को कुल O R T P_4 आय प्राप्त होगी। इस आय मे से O R T P तो साधन की हस्तान्तरण आय होगी क्योंकि इससे कम मूल्य पर साधन की पूर्ति नहीं होती। अतः साधन को O R T P_4—O R T P=P T P_4 के बराबर लगान प्राप्त होगा।

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत में उत्पादन का प्रत्येक साधन लगान प्राप्त कर सकता है। लगान को ज्ञात कराने के लिए साधन की वास्तविक आय मे से उसकी अवसर लागत या हस्तांतरण आय को घटाना आवश्यक होता है। लगान साधन की विशिष्टता के कारण उत्पन्न होता है अर्थात् लगान तभी उत्पन्न होता है जब साधन की पूर्ति बेलोचदार हो अथवा पूर्णतया लोचदार से कम हो।

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त तथा आधुनिक लगान सिद्धान्त की तुलना—लगान के दोनों ही सिद्धान्त सामान्य सिद्धान्त हैं और दोनों ही का आधार पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता है। इनकी तुलना अलग अलग शीर्षकों मे आगे की गई है—

(1) लगान का अर्थ—रिकार्डो के अनुसार लगान भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियो के लिए भुगतान है जबकि आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार लगान किसी साधन की अवसर लागत के ऊपर आधिक्य है। इस प्रकार दोनों ही सिद्धान्तों के अनुसार लगान एक प्रकार की बचत या आधिक्य है। रिकार्डो के अनुसार यह सीमान्त भूमि की लागत पर और आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार अवसर लागत पर बचत है।

(2) लगान उत्पत्ति के कारण रिकार्डो के मतानुसार लगान भू-खण्डों की उर्वरा शक्तियों अथवा स्थितियों की भिन्नता के कारण उत्पन्न होता है इस प्रकार लगान एक 'भेदात्मक बचत' (Differential gain) है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत में लगान विशिष्टता का परिणाम है। इनके अनुसार लगान साधन की सीमितता अथवा बेलोचदार पूर्ति के कारण उत्पन्न होता है।

(3) लगान की माप – रिकार्डो के अनुसार लगान की माप सीमान्त भूमि के अनुसार की जाती है। सीमान्त भूमि लगान रहित होती है। अतः सीमान्त भूमि की लागत तथा अधि-सीमान्त भूमि की कुल उत्पत्ति के मूल्य का अन्तर लगान होता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत में साधन के वास्तविक मूल्य में से अवसर लागत को घटाकर लगान की माप की जाती है।

(4) लगान तथा मूल्य—रिकार्डो के अनुसार उत्पत्ति का मूल्य सीमान्त भूमि की लागत के बराबर तय होता है, और सीमान्त भूमि लगान रहित होती है। इस प्रकार लगान मूल्य को प्रभावित नहीं करता वरन् मूल्यों के उतार चढ़ाव के कारण लगान स्वयं बढ़ता-घटता रहता है।

दूसरी ओर आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत में व्यक्तिगत दृष्टि से भूमि की लागत होती है। व्यक्तिगत उत्पादक या फर्म को भूमि का मूल्य चुकाना पड़ता है। इस प्रकार समस्त लगान लागत का ही एक अंग होने के कारण मूल्य को प्रभावित करता है।

(5) अवधि—रिकार्डो का सिद्धान्त दीर्घकाल की मान्यताओं पर आधारित है, परन्तु आधुनिक सिद्धान्त अल्पकाल में ही सत्य सिद्ध होता है क्योंकि "अवसर लागत" अल्पकालिक होती है।

आभास या अर्द्ध लगान (Quasi Rent)—रिकार्डो के मतानुसार लगान भूमि से ही प्राप्त होता है क्योंकि भूमि मात्रा में सीमित तथा स्थिर होती है। भूमि के अतिरिक्त अन्य साधनों यथा श्रम तथा पूंजी में दीर्घकाल में सीमितता एवं स्थिरता का यह गुण न होने के कारण इनसे उपलब्ध आमदनियों को लगान नहीं कहा जाता, परन्तु अल्पकाल में इनकी पूर्ति बेलोचदार एवं अपरिवर्तनशील होती है। अल्पकाल में इनमें 'भूमि-तत्व' या 'सीमितता का गुण' पाया जाता है। इसीलिये इनकी अल्पकालीन आय को लगान कहते हैं। सर्वप्रथम प्रो. मार्शल ने ही 'आभास लगान' की धारणा का प्रतिपादन किया। उन्होंने इसे 'आभास या अर्द्ध लगान' कहा है। उनके शब्दों में, "आभास लगान का तात्पर्य उस आय से है जो भूमि के अतिरिक्त उत्पादन के अन्य साधनों से प्राप्त होती है और जिसकी प्रकृति लगान से मिलती-जुलती होती है। यह इन साधनों की अल्पकाल में पूर्ति के सीमित होने के कारण होती है।" इस प्रकार मानव निर्मित साधनों की अल्पकालिक आय में से उनकी प्रतिस्थापन तथा देखभाल सम्बन्धी अल्पकालिक व्यय को घटा देने पर जो शेष बचता है उसे 'आभास' या 'अर्द्ध लगान' कहते हैं।

उदाहरणार्थ मेले-ठेले, रेलवे हड़ताल या सरकारी बस सेवा की हड़ताल के समय यातायात की मांग की पूर्ति के लिए निजी बस मालिकों को भी बसें चलाने की छूट दे दी जाती है। नई बसों का उत्पादन तुरन्त ही नहीं किया जा सकता है अतः वे अपनी नई-पुरानी सभी प्रकार की बसों को चलाना प्रारम्भ कर देते हैं। किराए भाड़े में भी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार इन बस स्वामियों की यह अल्पकालिक आय 'आभास लगान' है। दीर्घकाल में यह समाप्त हो जाएगी क्योंकि दीर्घकाल में यह असाधारण स्थिति समाप्त हो जायगी। नई नई बसों का निर्माण भी होने लगेगा तथा नये नये प्रतिस्पर्धी भी इस क्षेत्र में पैदा हो जायगे। द्वितीय महायुद्ध के समय जहाजरानी तथा देश विभाजन के समय आवासीय मकानों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के 'आभास-लगान' की आय सम्बन्धित स्वामियों को हुई थी।

इस प्रकार 'आभास लगान' एक अस्थायी आय है। यह मानव निर्मित साधन की अस्थायी पूर्ति की कमी के कारण उत्पन्न होती है, और दीर्घकाल में जैसे ही पूर्ति बढ़ी हुई मांग के अनुसार समायोजित हो जाती है, यह आय भी समाप्त हो जाती है।

आभास लगान के सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत—आभास लगान के सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों में मत भिन्नता है। प्रो० लेफ्टविच तो 'आभास लगान' शब्द का प्रयोग ही नहीं करना चाहते। उनके अनुसार "आभास लगान शब्द आर्थिक साहित्य में इतने अस्पष्ट रूप में प्रयुक्त किया गया है कि हम पूर्ण रूप से इसका परित्याग ही करना चाहेंगे।" आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत का विश्लेषण आगे किया जा रहा है —

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत में 'आभास-लगान कुल आगम तथा कुल परिवर्तनशील लागत के बीच का अन्तर है।"[1] उत्पादन लागतों को दो भागों में बांटा जा सकता है। कुछ लागतें उत्पादन के साथ कम अधिक नहीं होतीं वरन् स्थिर रहती हैं। इन्हें स्थिर या निश्चित (Fixed) लागतें कहा जाता है। उत्पादन कार्य बन्द होने पर भी ये लागतें समाप्त नहीं होतीं जैसे भवन का किराया, मशीन आदि स्थायी सम्पत्ति का ब्याज आदि। कुछ लागतें उत्पादन की मात्रा के साथ-साथ घटती बढ़ती रहती हैं। इन्हें परिवर्तनशील या मूल (Variable or prime) लागतें कहते हैं, जैसे श्रम, कच्चा माल, मशीन तथा यन्त्रों का ह्रास आदि। यदि उत्पादक को अल्पकाल में उत्पत्ति के बेचने से परिवर्तनशील लागत के बराबर भी मूल्य मिल जाता है तो भी वह उत्पादन को चलाता रहता है क्योंकि उत्पादन को बन्द रखने पर भी उसे स्थिर या निश्चित लागत का भार तो वहन करना ही पड़ता है। इस प्रकार अल्पकाल में उत्पादक को परिवर्तनशील लागत से जो अधिक आय प्राप्त होती है

1 "Quasi Rent is the difference between total revenue and total variable Cost"

उसी को आभास लगान कहते हैं, क्योंकि यह अतिरिक्त आय स्थिर तथा निश्चित अथवा स्थायी साधनों का प्रतिफल है। दूसरे शब्दों में अल्पकाल में उत्पत्ति के मूल्य का परिवर्तनशील लागत अथवा मूल लागत के ऊपर जो आधिक्य होता है वही आभास लगान होता है। (आभास लगान = मूल्य — मूल या परिवर्तनशील लागत)।

दीर्घकाल में, आभास लगान समाप्त हो जाता है क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में सभी लागतें परिवर्तनशील हो जाती हैं तथा कुल आगम व कुल परिवर्तनशील लागतें बराबर हो जाती हैं। अन्यथा उत्पादक को हानि होने पर उत्पादन कार्य बन्द कर दिया जायगा। कुछ कार्यकुशल फर्मों की उत्पादन लागत उद्योग की लागत से कम भी बैठ सकती है। फलस्वरूप ये कुछ लाभ अर्जित कर सकती है। यह इनका आभास लगान है परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रह सकती। नई-नई फर्मों के आने से पूर्ति के बढ़ने पर मूल्य उत्पादन लागत के बराबर हो जायेंगे और इन फर्मों का यह अतिरिक्त लाभ अपने आप समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार किसी भी स्थिति में दीर्घकाल में कोई आभास लगान प्राप्त नहीं होता है।

लगान तथा मूल्य (Rent and Price)—यह प्रश्न मन में उठना स्वाभाविक है कि क्या लगान का मूल्य पर प्रभाव पड़ता है? इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के दो मत हैं :

रिकार्डो का मत तथा आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत—रिकार्डो का मत था कि किसी वस्तु के मूल्य पर लगान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता'। रिकार्डो ने कहा भी है कि "अनाज का मूल्य इसलिये ऊंचा नहीं होता कि लगान दिया जाता है वरन् लगान इसलिये दिया जाता है क्योंकि अनाज का मूल्य ऊंचा होता है" अर्थात् लगान का मूल्य पर प्रभाव नहीं पड़ता, उल्टे मूल्य ही लगान को प्रभावित करता है।

लगान मूल्य को प्रभावित नहीं करता है : इस सम्बन्ध में रिकार्डो का कहना है कि मूल्य सीमान्त भूमि की लागत के बराबर होता है। सीमान्त भूमि से कोई बचत नहीं होती है। यह लगान रहित होती है। इस प्रकार लगान का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

मूल्य लगान को प्रभावित करता है : इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि मूल्य सीमान्त भूमि की लागत के बराबर होता है। मूल्यों में वृद्धि होने का अर्थ है मांग का बढ़ना। मांग बढ़ने पर कम अच्छे भूखंडों पर भी कृषि की जाने लगती है। इस स्थिति में कम अच्छी भूमि सीमान्त भूमि हो गई तथा पहिले की सीमान्त भूमि अधिसीमान्त भूमि। इस प्रकार पहिले की सीमान्त भूमि से भी लगान प्राप्त होने लगा। दूसरे अन्य अच्छे भूखंडों तथा सीमान्त भूमि की उत्पत्ति के अन्तर में और अधिक वृद्धि होने से लगान की मात्रा पहिले से अधिक बढ़ जायगी।

माना मूल्य गिर गये। मूल्य कम होते ही सीमान्त भूमि के कृषकों को हानि होने से वे इन पर कृषि कार्य करना बन्द कर देंगे। इस प्रकार पहिले की अधिसीमान्त भूमि अब सीमान्त भूमि बन गई। इस प्रकार अच्छे तथा सीमान्त भूखंड की उत्पत्ति का अन्तर कम हो जायगा और लगान की मात्रा भी कम हो जायगी।

गहरी खेती के अन्तर्गत भी यही तथ्य सत्य सिद्ध होता है। मूल्यों के बढ़ने पर लागत की वर्तमान सीमान्त इकाई से भी लाभ होने लगता है तथा इन से पूर्व की इकाइयों से बढ़ी हुई मात्रा में लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार लगान की मात्रा बढ़ जाती है। मूल्यों के गिरने पर लागत की सीमान्त इकाई का प्रयोग बन्द कर दिया जाता है क्योंकि अन्तिम इकाई का प्रतिफल लागत से भी कम है। दूसरे अब लागत की अधिसीमान्त इकाई सीमान्त इकाई बन गई जिससे अब कोई लगान प्राप्त नहीं होता। पूर्व की इकाइयों से प्राप्त लाभ की मात्रा में भी पहिले की अपेक्षा कमी आ गई। इस प्रकार मूल्यों के गिरने पर लगान कम हो गया।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि रिकार्डो का यह मत ठीक नहीं है कि लगान मूल्य को कभी भी प्रभावित नहीं करता। इनके विचारों का विश्लेषण आगे किया जा रहा है

(1) सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से तो लगान का प्रभाव मूल्य पर नहीं पड़ता है क्योंकि समाज के लिए भूमि प्रकृति की निःशुल्क देन है, जिसका समाज के लिए कोई लागत मूल्य नहीं। अतः भूमि की सम्पूर्ण आय समाज के लिए बचत के रूप में लगान होती है। इस प्रकार लगान का मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(2) परन्तु एक व्यक्ति के लिए भूमि भी उत्पादन के अन्य साधनों के समान धन व्यय करके प्राप्त की जाती है। इस लागत को वह उत्पत्ति से ही वसूल करना चाहेगा। इस दृष्टि से वह मूल्यों में यथानुसार वृद्धि कर देता है। परिणामस्वरूप लगान मूल्यों को प्रभावित करता है। अगर वह अन्य साधनों की तरह भूमि का उचित लागत मूल्य नहीं देगा तो भूमि भी अन्य साधनों की भांति उत्पादन के अन्य कार्यों में हस्तान्तरित कर दी जाएगी। इस प्रकार एक व्यक्तिगत उत्पादक की दृष्टि से लगान लागत का एक अंश होने के कारण मूल्यों को प्रभावित करता है।

(3) कभी-कभी उत्पत्ति के मूल्यों के अनावश्यक रूप से बढ़ने के कारण उत्पत्ति में प्रयुक्त सभी साधनों के लागत मूल्य से अधिक आय प्राप्त होने लगती है। यह अतिरिक्त लाभ फर्म का स्वयं का लगान है। इस प्रकार के अतिरिक्त लाभों का फर्म की उत्पत्ति के मूल्यों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता उल्टे ये लाभ इन बढ़े हुए मूल्यों के परिणाम होते हैं। इस अवसर लागत के ऊपर आधिक्य अर्थात् लगान कहा जाता है। ऐसा अल्पकाल ही में सम्भव हो सकता है। दीर्घकाल में अन्य फर्मों के प्रतिस्पर्धा में आने के कारण पूर्ति के बढ़ने पर बढ़े हुए मूल्य गिर जायेंगे और इस फर्म को अतिरिक्त लाभ मिलना बन्द हो जाएगा।

प्रश्न एवं संकेत

(1) "लगान उत्पादन के एक साधन, जिनकी पूर्ति निश्चित है, की अतिरिक्त आय है।" समझाइये। क्या भूमि के अतिरिक्त अन्य साधनों को भी लगान प्राप्त होता है?

(संकेत—लगान की परिभाषा को समझाना ही उपरोक्त कथन को समझाना है। बाद में आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत को व्यक्त करते हुए यह बतावें कि भूमि के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी लगान प्राप्त होता है।)

(2) आर्थिक व ठेका लगान के अन्तर को समझाइए। समझाइये कि आर्थिक लगान कैसे निर्धारित होता है?

(संकेत—प्रारम्भ में आर्थिक तथा ठेका लगान की परिभाषाओं को समझाकर इन दोनों के बीच अन्तर को समझाना है। प्रश्न के दूसरे भाग में आर्थिक लगान के निर्धारण को रिकार्डो के सिद्धान्त या आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार समझाइए।)

(3) रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

(4) "लगान भूमि की मूल तथा अविनाशी शक्तियों के लिए भुगतान है।" विवेचना कीजिए।

(संकेत—प्रश्न 3 व 4 के उत्तर समान होंगे। रिकार्डो के इस कथन को स्पष्ट करके उदाहरण तथा रेखा चित्रों से रिकार्डो का लगान सिद्धान्त समझा कर इसकी आलोचना करनी है।)

(5) "एक प्रकार से सभी लगान दुर्लभता का लगान है और सभी लगान भेदात्मक लगान हैं।" समझाइये।

(संकेत—रिकार्डो तथा आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत के सन्दर्भ में समझाना है कि लगान क्यों उत्पन्न होता है?)

(6) "लगान विशिष्टता का पारितोषिक होता है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।

(7) "लगान भूमि के लिए भुगतान नहीं है वरन् वह साधनों में भूमि-तत्व के लिए भुगतान है।" विवेचना कीजिए।

(8) "लगान एक बचत या अतिरेक है जो कोई उत्पत्ति का साधन किसी उद्योग में अपनी अवसर लागत के ऊपर प्राप्त करता है।" स्पष्ट कीजिए।

(9) "लगान तब उत्पन्न होता है जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार से कम होती है।" विवेचना कीजिए।

(संकेत—प्रश्न 6, 7, 8 व 9 के अन्दर लगान के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या करनी है।)

(10) "लगान मूल्य को निर्धारित नहीं करता वरन् मूल्य द्वारा निर्धारित होता है।" विवेचना कीजिए।

(11) "अनाज का मूल्य इसलिए ऊंचा नहीं होता है क्योंकि लगान दिया जाता है, बल्कि लगान इसलिए ऊंचा होता है कि अनाज का मूल्य ऊंचा होता है।" विवेचना कीजिए।

(संकेत—प्रश्न 10 व 11 के उत्तर में यह समझाने का प्रयास करें कि मूल्य का लगान पर प्रभाव पड़ता है न कि मूल्य लगान द्वारा प्रभावित होता है।)

12. 'आभास लगान' की व्याख्या कीजिए। यह आर्थिक लगान से किस प्रकार भिन्न होता है ?

(13) आभास लगान के विचार को समझाइए। क्या लगान मूल्य में प्रवेश करता है ?

40 मजदूरी
(Wages)

श्रम उत्पादन का एक अपरिहार्य साधन है। श्रमिक अपनी सेवाओं को उत्पादन कार्य के लिये अर्पित करता है, जिनके बदले में उसे उत्पत्ति का जो अंश प्राप्त होता है वह मजदूरी कहलाता है। प्रत्येक देश के आर्थिक जीवन में इस अंश का अत्यधिक महत्व होता है। मजदूरी के घटने-बढ़ने से जीवन स्तर प्रभावित होता है।[1] इस प्रकार मजदूरी का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादन पर भारी प्रभाव पड़ता है।

मजदूरी

अर्थ-मानव के शारीरिक व मानसिक श्रम का पारिश्रमिक मजदूरी होता है।

नकद व असल मजदूरी

असल मजदूरी को प्रभावित करने वाले तत्व :

(1) मुद्रा की क्रय शक्ति,
(2 अतिरिक्त लाभ,
(3) आय के अन्य स्रोत,
(4) कार्य की नियमितता,
(5) कार्य के घंटे,
(6) कार्य का स्वभाव,
(7) कार्य की दशायें,
(8) भविष्य में उन्नति की आशा,

मजदूरी का अर्थ—प्रत्येक प्रकार का शारीरिक तथा मानसिक प्रयास जो धनोपार्जन की दृष्टि से किया जाता है। 'श्रम' कहलाता है। इस प्रयास के प्रतिफल को मजदूरी कहते हैं। इस प्रकार शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार के प्रयास का पारिश्रमिक मजदूरी होता है। यह मजदूरी दैनिक, साप्ताहिक, मासिक अथवा वार्षिक हो सकती है। कल कारखानों, खेतों, घरों कार्यालयों, विद्यालयों, रेल्वे स्टेशनों, न्यायालयों आदि सभी स्थानों पर कम आय प्राप्त करने वालों से लेकर उच्चतम आय प्राप्त करने वाले सभी व्यक्तियों को काम करने पर मिलने वाला पारिश्रमिक मजदूरी कहलाता है। इस प्रकार मजदूरी

1. When the price of coffee or type-writer ribbons changes, it is easy to remain calm and dispassionate; the effects on our welfare are relatively minor. But let my wage be cut by 5 per cent and I change from an affable philosopher into a raging mal-content." Paul A. Samuelson.

(9) प्रशिक्षण की लागत व समय,
(10) व्यावसायिक व्यय,
(11) आश्रितों को रोजगार,
(12) आश्रितों को शिक्षा,
(13) बेगार की मात्रा,
(14) सामाजिक प्रतिष्ठा।

मजदूरी भुगतान रीतियां

(1) समयानुसार—इनके गुण व दोष
(2) कार्यानुसार—इनके गुण व दोष

शब्द का प्रयोग संकुचित तथा विस्तृत दोनों ही अर्थों में किया जाता है।

प्रो बेनहम के अनुसार, "मजदूरी मुद्रा के रूप में वह भुगतान है जो समझौते के अनुसार एक स्वामी अपने सेवक को उसकी सेवाओं के बदले में देता है।'[2] जीड ने "साहसी द्वारा भाड़े पर प्राप्त किये गये श्रम के मूल्य' को मजदूरी कहा है। इस प्रकार संकुचित अर्थ में मजदूरी का अर्थ केवल मुद्रा के रूप में चुकाये गये उस पारिश्रमिक से है जो केवल भाड़े के मजदूर को दी जाती है।

परन्तु मजदूरी का भुगतान वस्तुओं तथा द्रव्य दोनों ही के माध्यम से किया जा सकता है। दूसरे स्वतन्त्र व्यवसाय चलाने वाले व्यक्ति जैसे डाक्टर, वकील, व्यापारी, कृषक आदि जो आय प्राप्त करते हैं वह भी मजदूरी कहलाती है। अत मार्शल ने मत व्यक्त किया है कि, 'श्रम की सेवा के लिये दिया गया मूल्य मजदूरी है।' सैलिगमैन ने 'श्रम के वेतन" को मजदूरी कहा है।

इस प्रकार विस्तृत अर्थ में मानव के शारीरिक तथा मानसिक हर प्रकार के प्रयास का पारिश्रमिक, भले ही मुद्रा में भुगताया जाय या अन्य प्रकार से चुकाया जाय, भले ही भाड़े के मजदूर को चुकाया जाय अथवा डाक्टर वकील व्यवसायी आदि स्वतन्त्र व्यवसाइयों द्वारा कमाया जाय, मजदूरी कहलाता है। अर्थात् हर प्रकार के श्रम के लिये भुगताया गया मूल्य मजदूरी होता है।

नकद मजदूरी तथा असल मजदूरी (Nominal and Real Wages)—श्रमिक को पारिश्रमिक का भुगतान नकद मुद्रा के रूप में अथवा वस्तुओं के रूप में अथवा दोनों के माध्यम से किया जा सकता है। रेल्वे विभाग में काम करने वाले कर्मचारियों को नकद पारिश्रमिक के अतिरिक्त नि शुल्क यात्रा की सुविधा, पहिनने की वर्दी, नि शुल्क चिकित्सा, बाल बच्चों को नि शुल्क शिक्षा-दीक्षा तथा अन्य ऐसी ही सुविधायें मिलती रहती हैं। इन सबसे उसकी आय की मात्रा में वृद्धि होती है और उसका जीवन स्तर उन्नत होता है।

मजदूर को नकद मुद्रा के रूप में जो कुछ प्राप्त होता है वह नकद मजदूरी होती है। उदाहरणार्थ किसी मजदूर को 7 रु० दैनिक मजदूरी का मिलना। वह नकद

2 "A wage may be defined as a sum of money paid under contract by an employer to a worker for services rendered.
—Benham

मजदूरी इसलिये प्राप्त करना चाहता है कि वह खुले बाजार में आवश्यकता की किसी भी वस्तु या सेवा को खरीद सके।

नकद मजदूरी की क्रय शक्ति को असल मजदूरी कहते हैं अर्थात् वस्तुओं तथा सेवाओं की वह मात्रा जो प्राप्य नकद मजदूरी से खरीदी जा सकती है असल मजदूरी कहलाती है। इस मात्रा में वस्तुओं तथा सेवाओं की उस मात्रा को भी सम्मिलित कर लिया जाता है जो मजदूर को उस मजदूरी विशेष के कारण नकद मजदूरी के अतिरिक्त उपलब्ध होती है जैसे निःशुल्क आवास, चिकित्सा, वर्दी, बच्चों की शिक्षा-दीक्षा, मनोरंजन आदि। इनसे वास्तविक मजदूरी में वृद्धि हो जाती है। इस वास्तविक मूल्य पर ही श्रमिक की आर्थिक समृद्धि निर्भर करती है क्योंकि वह जीवनोपयोगी वस्तुएं, मुद्रा के रूप में प्राप्य मजदूरी तथा उस काम के कारण अन्य निःशुल्क प्राप्तियों के कारण प्राप्त करता है।

एडमस्मिथ, मार्शल तथा टॉमस ने असल मजदूरी की मिलती-जुलती परिभाषा दी है। प्रो. मार्शल के अनुसार, "वास्तविक मजदूरी में केवल उन्हीं सुविधाओं तथा सेवाओं को सम्मिलित नहीं करना चाहिए जो नियोक्ता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से श्रम के बदले में दी जाती हैं, बल्कि उसके अन्तर्गत उन प्राप्तियों को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए जो कार्य-विशेष से सम्बन्धित होती हैं तथा उनके लिये नियोक्ता को अलग से व्यय नहीं करना पड़ता।"

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि श्रमिक के लिये वास्तविक या असल मजदूरी का अधिक महत्व है न कि नकद मजदूरी का। सामान्य मूल्य स्तर बढ़ने पर मुद्रा की क्रय शक्ति गिर जाती है अतः मजदूर नकद मजदूरी से कम मात्रा में ही वस्तुएं तथा सेवाएं क्रय कर सकता है।

असल मजदूरी को निर्धारित करने वाले तत्व (Factors Determining Real Wages)—श्रमिक के रहन-सहन के स्तर पर मुख्य रूप से वास्तविक मजदूरी का प्रभाव पड़ता है। मौद्रिक मजदूरी से उसकी आर्थिक स्थिति का सही-सही ज्ञान नहीं हो सकता। अतः उन सभी बातों को जान लेना आवश्यक है जो वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करती है और उसका निर्धारण करती हैं। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है :

(1) मुद्रा की क्रय-शक्ति (Purchasing Power of Money)—मुद्रा की क्रय शक्ति अगर अधिक है अर्थात् वस्तुओं के दाम कम हैं तो श्रमिक अपनी निश्चित मौद्रिक आय से वस्तुएं तथा सेवाएं अधिक मात्रा में क्रय कर सकता है। मूल्य अधिक होने पर मुद्रा की क्रय-शक्ति गिर जाती है। अतः सामान्य मूल्य स्तर ऊंचा होने पर वास्तविक मजदूरी कम तथा मूल्य स्तर कम होने पर वास्तविक मजदूरी अधिक होती है।

(2) मजदूरी के अतिरिक्त प्राप्य आय, सुविधाएं तथा लाभ जिन व्यवसायों में नकद मजदूरी के अतिरिक्त अन्य सुविधाएं तथा निःशुल्क वर्दी, आवास,

शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, सस्ता राशन आदि मजदूर को उपलब्ध होती हैं तो उसकी वास्तविक मजदूरी बढ़ जाती है। घरेलू नौकर या महतरानी को आये दिन वस्त्र, भोजन, बख्शीश आदि मिलते रहने से उनकी वास्तविक मजदूरी में वृद्धि होती है।

(3) आय प्राप्त करने के अतिरिक्त स्रोत—जिन कार्यों में श्रमिकों को अपने नियमित कार्य के अतिरिक्त अधिक या अन्य कार्य करके अधिक आय प्राप्त करने की सुविधा रहती है उनमें श्रमिको की वास्तविक मजदूरी की मात्रा अधिक होती है। उदाहरणार्थ बैंक कर्मचारियों को 'ओवर-टाइम', अध्यापकों को ट्यूशन तथा पुस्तकों की रॉयल्टी आदि उनकी वास्तविक आय में वृद्धि लाती हैं।

(4) कार्य की नियमितता—चीनी के कारखानों में श्रमिकों को केवल गन्ना पेलने के मौसम में ही 5-6 महीने को काम मिलता है। इस प्रकार ऐसे कामो में श्रमिक की वास्तविक मजदूरी कम होती है। रोजनदारी पर काम करने वाले श्रमिकों को कभी काम मिलता है कभी-कभी नहीं। अतः उनकी वास्तविक मजदूरी कम होती है।

(5) कार्य के घण्टे—ऐसे काम जिनमें श्रमिकों को अधिक समय तक काम करना पड़ता है तो उन कार्यों में वास्तविक मजदूरी कम होती है। उदाहरणार्थ कॉलेज में पढ़ाने वाले प्राध्यापक तथा प्रशासनिक सेवाओं में लगे एक व्यक्ति के वेतन अगर समान हैं तो प्राध्यापक की वास्तविक मजदूरी की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है क्योंकि उसे प्रशासनिक सेवारत व्यक्ति से कम घंटे काम करना पड़ता है।

(6) कार्य का स्वभाव—ऐसे कार्य जिनमें जोखिम या उत्तरदायित्व अधिक होता है अथवा ये अरुचिकर, थकान वाले अथवा आयु घटाने वाले होते हैं उनमें नकद मजदूरी अधिक होने पर भी असल मजदूरी कम होती है। रेलवे ड्राइवर खानों में कार्य करने वाले, वायुयानों के पायलट, कांच अथवा लोहा पिघलाने की भट्टियों पर काम करने वाले, दस्यु ग्रस्त क्षेत्रों में काम करने वाले पुलिस कर्मचारी, मैला उठाने वाले मेहतर, कसाई, फांसी देने वाला चांडाल आदि के कार्य इस प्रकार के कार्यों के उदाहरण हैं। अध्यापक का कार्य कुछ समय पूर्व सम्मानदायक व रुचिकर था। परन्तु भारत में छात्र आन्दोलनों के कारण प्राध्यापकों का सम्मान खतरे में पड़ने के कारण अध्यापन कार्य के प्रति लोगों की अरुचि बढ़ती जा रही है। यह एक अति गम्भीर बात है।

(7) कार्य करने की दशाएं—ऐसे कार्य जिनमें कार्य करने की दशाएं यथा काम करने के घण्टे व उनका वितरण, छुट्टियों की संख्या, मिल-कारखाने का स्वच्छ व स्वास्थ्यप्रद वातावरण, मालिक का मजदूरों के प्रति सहृदय तथा उदार व्यवहार आदि अच्छी होती हैं तो ऐसे कार्यों में वास्तविक मजदूरी अधिक होती है।

(8) भविष्य में उन्नति की आशा—ऐसे कार्य जिनमें पदोन्नति की आशा अधिक रहती है तो श्रमिकों को सन्तोष तथा मानसिक सन्तुष्टि बनी रहती है कि

वर्तमान में कम पारिश्रमिक ही नहीं भविष्य में उनकी पदोन्नति हो जाएगी। इस सम्बन्ध में बैंक कर्मचारी, ए. जी. ऑफिस, राजकीय शिक्षण संस्थाओं में काम करने वाले प्राध्यापक आदि के उदाहरण दिए जा सकते हैं।

(9) प्रशिक्षण का समय तथा लागत—डाक्टरी, इन्जीनियरिंग, सी. ए., वकालत आदि से सम्बन्धित प्रशिक्षण में समय तथा धन दोनों ही अधिक मात्रा में व्यय होते हैं। अतः इन कार्यों में वास्तविक मजदूरी अपेक्षाकृत कम होगी अगर इनमें नकद पारिश्रमिक उतना ही प्राप्त हो जितना अन्य कार्यों में, जिनमें प्रशिक्षण का समय व लागत कम होते हैं।

(10) व्यावसायिक व्यय—ऐसे व्यवसाय जिनमें कर्मचारियों को अपना कार्य कुशलता-पूर्वक चलाने के लिए कुछ व्यय करना पड़े तो ऐसे कार्यों में वास्तविक मजदूरी की मात्रा कम होती है। एक प्राध्यापक को विभिन्न पुस्तकों, समाचार पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन करना पड़ता है। इसी प्रकार एक वकील को भी कानून सम्बन्धी अनेक पुस्तकों तथा पत्रिकाओं को पढ़ना पड़ता है। परन्तु एक प्राथमिक पाठशाला के अध्यापक अथवा साधारण मजदूर को इस प्रकार का कोई व्यय नहीं करना पड़ता है। अतः प्राध्यापक या वकील की वास्तविक मजदूरी ज्ञात करते समय उनके व्यावसायिक व्यय भी घटाना आवश्यक है।

(11) आश्रितों को रोजगार सुविधाएं—ऐसे काम जिनमें आश्रितों को रोजगार मिल जाता है, जैसे वस्त्र मिल में श्रमिक के बीबी-बच्चों को काम मिल जाता है, बैंकों में सन्तान को पार्ट-टाइम या पूरे समय काम मिल जाता है, तो इनमें वास्तविक मजदूरी अधिक होती है।

(12) आश्रितों के शिक्षण तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था—कुछ ऐसे कार्य होते हैं जिनमें श्रमिकों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण होता रहता है, जैसे सेना, पुलिस रेलवे या अन्य राजकीय सेवा आदि। ऐसे कार्यों में वास्तविक मजदूरी कम होती है क्योंकि समय-समय पर स्थानान्तरण होते रहने के कारण बाल-बच्चों की शिक्षा-दीक्षा में विघ्न पड़ता है अतः इनमें वास्तविक मजदूरी कम होती है। इन लोगों को बच्चों की शिक्षा-दीक्षा पर काफी धन अतिरिक्त मात्रा में व्यय करना पड़ता है।

(13) बेगार की मात्रा—भारत में चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों को साधारणतः अपने नियत कार्य समय के अतिरिक्त अफसरों के घर पर एकाध घण्टे बेगार में काम करना पड़ता है। अतः इनकी वास्तविक मजदूरी की मात्रा कम हो जाती है।

(14) सामाजिक प्रतिष्ठा—लोग चपरासी, मुंशी अथवा कचहरी में क्लर्क बनने की बजाय पुलिस में थानेदारी, सेना में कमीशन्ड अफसर अथवा प्रशासनिक सेवाओं आदि में जाना अधिक पसन्द करते हैं क्योंकि इनमें सामाजिक प्रतिष्ठा अधिक होती है। इसी प्रकार आजकल एम. एल. ए. अथवा एम. पी. की राजनीतिक प्रतिष्ठा समाज में अधिक होने से लोग इनकी ओर अधिक दौड़ रहे हैं।

मजदूरी के भुगतान की रीतियाँ
(Methods of Wage Payment)

श्रमिकों को साधारणत मजदूरी का भुगतान दो प्रकार से किया जाता है— (1) समयानुसार मजदूरी (Time wages) तथा (2) कार्यानुसार मजदूरी (Piece wages)। समयानुसार अथवा कार्यानुसार मजदूरी का भुगतान, प्रचलित मुद्रा द्वारा द्राव्यिक मजदूरी (Cash wages) के रूप में अथवा जिन्स द्वारा वस्तु मजदूरी (Wages in kind) के रूप में किया जा सकता है। समयानुसार तथा कार्यानुसार मजदूरी भुगतान पद्धतियों का वर्णन आगे किया जा रहा है—

(1) **समयानुसार मजदूरी**—जब श्रमिकों को मजदूरी का भुगतान उनके द्वारा किये गए कार्य की अवधि के आधार पर प्रति घण्टा, प्रतिदिन, प्रति सप्ताह, प्रति मास, प्रति छमाही अथवा प्रति वर्ष के हिसाब से किया जाता है तो इसे 'समयानुसार मजदूरी' कहते हैं। जिन कार्यों में मजदूरी की माप कठिन होती है उनमें मजदूरी भुगतान का आधार समयावधि होती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत समान कार्यों में लगे सभी श्रमिकों को एक समान मजदूरी का भुगतान किया जाता है, उनके द्वारा किये गए कार्य की मात्रा व किस्म का कोई ध्यान नहीं रखा जाता है।

समयानुसार मजदूरी भुगतान पद्धति के गुण—अधिकांश कार्यों में मजदूरी की समयानुसार मजदूरी भुगतान पद्धति ही प्रचलित है क्योंकि इसके निम्नलिखित गुण हैं.—

(i) **मजदूरी की गणना सम्बन्धी सुविधा**—श्रमिक को भुगतान किये जाने वाले पारिश्रमिक की गणना करना मालिक तथा श्रमिक दोनों के लिये सरल होता है।

(ii) **मजदूरों के स्वास्थ्य की रक्षा**—समयानुसार मजदूरी मिलने के कारण श्रमिक को काम करने की 'हाय' (burden) नहीं रहती। वह अपनी क्षमता तथा सुविधानुसार कार्य करता है। इस प्रकार उसे अनावश्यक रूप से औद्योगिक थकान नहीं होती और उसके स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता।

(iii) **जिन कार्यों में काम की मात्रा का मापना कठिन होता है**—उनमें समयानुसार मजदूरी का भुगतान उपयुक्त रहता है। डाक्टर, अध्यापक तथा प्रबन्धक आदि के कार्य इसी श्रेणी में आते हैं।

(iv) **बारीक कार्य व अधिक सावधानी तथा व्यक्तिगत देख रेख चाहने वाले** कार्यों में उत्पत्ति की श्रेष्ठता बनाये रखने की दृष्टि से समयानुसार मजदूरी अधिक ठीक रहती है।

(v) **आय तथा रोजगार की निश्चितता, नियमितता तथा स्थायित्व**—इस पद्धति के अन्तर्गत श्रमिक की आय व रोजगार निश्चित, नियमित तथा स्थायी बने रहते हैं। श्रमिक की हानि बीमारी, हड़ताल, तालाबन्दी आदि बाधाओं के कारण उसकी आय व रोजगार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(vi) कार्य में निश्चितता तथा उत्पादन में नियमितता—इस पद्धति के अन्तर्गत मालिक को समय-समय पर मजदूरों की तलाश नहीं करनी पड़ती, कार्य में स्थायित्व, तथा नियमितता बनी रहती है। इस प्रकार उत्पत्ति की मात्रा तथा किस्म भी निश्चित रहती हैं। श्रमिक को भी समय-समय पर कार्य की तलाश में मारा-मारा फिरना नहीं पड़ता।

(vii) मशीनों की टूट-फूट तथा उत्पादन में अपव्यय व बर्बादी की संभावना कम रहती है—समय मजदूरी का आधार होता है अतः मजदूर का व्यवहार जल्दबाजी तथा लापरवाही का नहीं होता। इस प्रकार यंत्र व मशीन आदि की टूट-फूट तथा माल की बर्बादी कम होती है।

समयानुसार मजदूरी भुगतान पद्धति की कमियाँ या दोष—समयानुसार मजदूरी भुगतान पद्धति की निम्नलिखित कमियाँ हैं:—

(i) श्रमिक की कार्यकुशलता की उपेक्षा—समयानुसार मजदूरी में कुशल तथा अकुशल दोनों प्रकार के श्रमिकों को एक समान मजदूरी दी जाती है। इस प्रकार श्रमिकों को उनके कार्य के अनुसार मजदूरी न दिये जाने के कारण उनकी कार्यकुशलता की उपेक्षा की जाती है।

(ii) कर्त्तव्य हीनता की भावना का जन्म—श्रमिक जानते हैं कि निश्चित मजदूरी तो मिलेगी ही अतः वे अपने कार्य में लापरवाह तथा कामचोर बन जाते हैं।

(iii) उत्पत्ति का ह्रास—श्रमिक के लापरवाह तथा कामचोर होने के कारण उत्पत्ति की मात्रा तथा किस्म दोनों का ह्रास होता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से मालिक को मजदूरी का अधिक मात्रा में भुगतान करना पड़ता है।

(iv) लागत का ऊंचा होना—उत्पत्ति की मात्रा व किस्म का ह्रास होने के कारण उत्पादन लागत प्रति इकाई बढ़ जाती है जिसका परिणाम उपभोक्ताओं को भुगतना पड़ता है।

(v) निरीक्षण व्यय में वृद्धि—श्रमिकों के कार्य की देख-रेख द्वारा एक निश्चित प्रमाप तथा मात्रा में उत्पत्ति प्राप्त करने के लिए मालिक को सुपरवाइजर या निरीक्षकों की नियुक्ति करना आवश्यक होता है। इस प्रकार व्यय बढ़ जाता है।

(vi) मालिक-मजदूरों में संघर्ष—मालिक उसी समय में मजदूरों से अधिकाधिक कार्य प्राप्त करने की दृष्टि से उनका शोषण करना चाहता है। दूसरी ओर श्रमिक आराम पूर्वक कम से कम काम करना चाहते हैं। इस प्रकार दोनों के स्वार्थों में टकराहट होने से आये दिन आपसी संघर्ष होते रहते हैं।

(vii) कार्य कुशलता का ह्रास—जैसा कि हम ऊपर पढ़ चुके हैं कि श्रमिक की कार्य कुशलता की उपेक्षा की जाती है अतः उसकी कार्य कुशलता का कम होना स्वाभाविक है। उन्हें अच्छा कार्य करने की कोई प्रेरणा नहीं मिलती।

(viii) अपर्याप्त पारिश्रमिक—कुशल श्रमिकों को मिलने वाला पारिश्रमिक भी अकुशल श्रमिकों के समान होता है। जो उनकी कुशलता के अनुसार अपर्याप्त होता है।

(2) कार्यानुसार मजदूरी—जब श्रमिकों को उनके द्वारा किये गये कार्य की मात्रा के अनुसार मजदूरी का भुगतान किया जाता है तो इसे कार्यानुसार मजदूरी भुगतान पद्धति कहते हैं। इस पद्धति के अन्तर्गत श्रमिक द्वारा किये गये कार्य की मात्रा व किस्म तथा पारिश्रमिक में सीधा सम्बन्ध होता है। इस पद्धति को 'ठेके पर कार्य कराने की पद्धति' भी कहते हैं।

कार्यानुसार मजदूरी भुगतान पद्धति के गुण—इस पद्धति के गुणों का वर्णन आगे किया जा रहा है—

(i) न्यायोचित पारिश्रमिक—मजदूरी का भुगतान कार्य की मात्रा व किस्म के अनुसार किया जाने के कारण प्रत्येक श्रमिक को उसकी कार्यक्षमता तथा योग्यता के अनुरूप पारिश्रमिक मिलता है। इस प्रकार किसी भी श्रमिक के साथ अन्याय नहीं हो पाता।

(ii) श्रमिकों की कार्यक्षमता का ह्रास नहीं होता—कार्यानुसार मजदूरी मिलने के कारण श्रमिक को अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य करने की प्रेरणा रहती है। इस प्रकार वह अपनी कार्य क्षमता का ह्रास नहीं होने देता वरन् अधिक मजदूरी के लालच में अपनी कार्य क्षमता में और अधिक वृद्धि करने का प्रयास करता है तथा अधिक मजदूरी मिलने से जीवन स्तर उन्नत होता है तथा कार्यक्षमता भी बढ़ती है।

(iii) उत्पादन की मात्रा में वृद्धि व किस्म में सुधार होता है—श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ने तथा कार्य की मात्रा व किस्म का मजदूरी के साथ सीधा सम्बन्ध होने के कारण उत्पादन की मात्रा में वृद्धि तथा किस्म में सुधार होता है।

(iv) लागत का कम होना—कार्य की मात्रा व किस्म में सुधार होने के कारण उत्पादन लागत प्रति इकाई कम बैठती है।

(v) राष्ट्रीय आय में वृद्धि—अधिक उत्पादन, अधिक मजदूरी तथा उत्पादन साधनों का अधिकाधिक प्रयोग होना आदि के कारण राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है।

(vi) समाज के प्रत्येक वर्ग को लाभप्रद—इस पद्धति के अन्तर्गत श्रमिकों को अधिक पारिश्रमिक, उत्पादकों को अधिक व बढ़िया किस्म की उत्पत्ति तथा उपभोक्ताओं को सस्ती एवं अच्छी उपभोग सामग्री मिलने से समाज के प्रत्येक वर्ग को लाभ प्राप्त होता है।

(vii) निरीक्षण व्यय में कमी—कार्यानुसार पारिश्रमिक मिलने के कारण श्रमिक स्वयं पूर्ण तत्परता के साथ काम करता है। अतः निरीक्षकों के रखने की आवश्यकता नहीं होती है।

(viii) मशीनों तथा यन्त्रों की टूट-फूट का कम होना—एक ओर कार्य का यन्त्र व मशीनों की कार्य कुशलता से सीधा सम्बन्ध होता है तो दूसरी ओर कार्य का पारिश्रमिक के साथ भी सीधा सम्बन्ध होता है। अतः श्रमिक अधिक पारिश्रमिक के लालच में यन्त्र व मशीनों की पूरी-पूरी देखभाल रखता है।

(ix) मालिक व मजदूरों में मधुर सम्बन्ध—'जितना कार्य उतनी मजदूरी' सिद्धान्त के लागू होने से मालिक तथा मजदूर दोनों के स्वार्थों में टकराहट का प्रश्न ही नहीं उठ पाता है।

कार्यानुसार मजदूरी भुगतान पद्धति के दोष या कमियां—इस पद्धति की निम्नलिखित कमियां हैं:—

(i) श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव—अधिक पारिश्रमिक के लालच में श्रमिक को कार्य की 'हाय' रहती है। वह आवश्यक आराम लिए बिना ही निरंतर काम में जुटा रहता है। हारी-बीमारी में भी वह काम करता रहता है। इन सब बातों के कारण उसका स्वास्थ्य खराब हो जाता है।

(ii) उत्पत्ति की किस्म का ह्रास—श्रमिक का लक्ष्य उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर अधिक आय प्राप्त करना होता है। अतः वह उत्पत्ति की किस्म की उपेक्षा करता है। परिणाम स्वरूप उत्पत्ति की किस्म गिर जाती है।

(iii) व्यक्तिगत रुचि, बारीक तथा कलात्मक कार्यों के लिए अनुपयुक्त—ऐसे कार्य ठेके पर नहीं कराये जा सकते क्योंकि इन कार्यों में समय अधिक लगने से श्रमिक अधिक रुचि नहीं लेता।

(iv) ईर्ष्या तथा द्वेष की भावना का पनपना—कुशल श्रमिकों को अधिक पारिश्रमिक मिलने के कारण उनके प्रति अकुशल श्रमिकों तथा मालिकों के मन में ईर्ष्या तथा द्वेष की भावना जाग्रत हो जाती है। अतः श्रमिकों में वर्गभेद उत्पन्न होने से उनकी सौदा करने की क्षमता गिर जाती है।

(v) आय तथा कार्य की नियमितता, निरन्तरता तथा निश्चितता का अभाव—हारी-बीमारी तथा आकस्मिक दुर्घटनाओं, राजनैतिक उथल पुथल, बन्द तथा आन्दोलनों, अधिक उत्पादन (Over-production) आदि के कारण श्रमिक को काम मिलना बन्द हो जाता है। इस प्रकार उसकी आय का स्रोत सूख जाता है।

(vi) मालिकों द्वारा शोषण—ठेके पर काम करने वाले श्रमिकों के न तो आपसी श्रम संघ होते हैं और न इनकी सौदा करने की क्षमता ही अधिक होती है। फलस्वरूप मालिक उनका डटकर शोषण करता है।

(vii) कार्यकुशलता का ह्रास—यह आवश्यक नहीं कि श्रमिक को एक ही किस्म के कार्य में निरन्तर रोजगार मिलता रहे। समय-कुसमय उसे काम बदलना भी पड़ता है। अतः उसकी कार्यक्षमता का ह्रास होता है।

(viii) माल व सामान की चोरी—बीड़ी बनाना, साड़ियों तथा जूतों पर कढ़ाई करना, हीरे जवाहरात की 'खरड़' की कटाई तथा पालिश करना, सिलाई तथा आभूषण निर्माण आदि किस्म के कार्य साधारणतः श्रमिक को अपने कार्यस्थल पर ही करने को सौंपे जाते हैं, जहां से कच्चा माल तथा अन्य सामान की चोरी की सम्भावना बढ़ जाती है।

(ix) ऐसे कार्यों के लिये उपयुक्त नहीं जिनमें कार्य की ठीक-ठीक माप नहीं की जा सकती है।

समयानुसार तथा कार्यानुसार मजदूरी भुगतान पद्धतियों में कौन सी श्रेष्ठ है?—ऊपर दोनों ही पद्धतियों के गुण व दोषों का विश्लेषण किया गया है अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि दोनों में से कौनसी पद्धति अधिक श्रेष्ठ है? इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि दोनों में से किसी एक पद्धति को ही श्रेष्ठ सदा उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। दोनों के अपने-अपने गुण व दोष हैं। ऐसे कार्य जिनमें कार्य की माप सही-सही नहीं की जा सकती है तथा जहां व्यक्ति रुचि के अनुसार या कलात्मक वस्तुओं का उत्पादन करना हो वहां समयानुसार मजदूरी ठीक रहती है। परन्तु कम कार्यकुशलता वाले कार्यों के लिये कार्यानुसार मजदूरी ही ठीक रहती है। कल कारखानों में दोनों पद्धतियों का मिश्रण ठीक रहता है। समयानुसार न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करके कार्यानुसार मजदूरी पद्धति के आधार पर भी मजदूरी का भुगतान किया जा सकता है। उदाहरणार्थ हाल्जे प्रीमियम प्रणाली, रोवन, टेलर, गैण्ट आदि प्रेरणात्मक प्रीमियम या अधिलाभांश पद्धतियों (Incentive, Premium or Bonus System) में से किसी भी पद्धति को अपनाया जा सकता है। (इन पद्धतियों का विस्तृत अध्ययन लागत लेखा में किया जाता है।)

मजदूरी निर्धारण के सिद्धांत
(Theories of Wages)

श्रम उत्पादन का एक अपरिहार्य तथा सक्रिय साधन है। श्रमिक की उत्पादकता का पूरी पूरी मात्रा में प्रयोग करने के लिये उसे पर्याप्त मात्रा में पारिश्रमिक देना आवश्यक होता है। परन्तु इस सम्बन्ध में प्रमुख समस्या इस बात की बनी रहती है कि श्रमिक के पारिश्रमिक का निर्धारण किस आधार पर किया जाय। समय-समय पर प्राचीन तथा आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी निर्धारण के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। कुछ श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता को मजदूरी का आधार मानते हैं तो कुछ मजदूरी का सम्बन्ध जीवन निर्वाह तथा जीवनस्तर से स्थापित करते हैं। कुछ अर्थशास्त्री मजदूरी को एक अवशेष अधिकार बताते हैं तथा इसे एक निश्चित कोष में से प्रदान किये जाने वाला पुरस्कार मानते हैं। इस प्रकार मजदूरी निर्धारण के प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित हैं—

(1) जीवन निर्वाह, जीवनरक्षा अथवा मजदूरी का लौह या अचल सिद्धान्त,

(2) मजदूरी का जीवनस्तर सिद्धान्त,

(3) मजदूरी-कोष-सिद्धान्त,

(4) मजदूरी का सीमान्त-उत्पादकता सिद्धान्त,

(5) मजदूरी का अवशेषाधिकार सिद्धान्त,

(6) मजदूरी का सीमान्त-बट्टा-उपज सिद्धान्त तथा

(7) मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त।

(1) मजदूरी का जीवन निर्वाह सिद्धांत (The Subsistence Theory of Wages)

इस सिद्धांत को जीवन-रक्षा सिद्धात मजदूरी, का लौह-सिद्धांत (Iron Law of Wages) अथवा मजदूरी का अक्खड़ सिद्धाँत, (Brazen Law of Wages) भी कहते हैं। 18 वीं शताब्दी में प्रकृतिवादियों ने इस नियम का प्रतिपादन किया था। प्रो० मार्शल तथा प्रो० रिकार्डो ने इस नियम का समर्थन किया है। कार्ल-मार्क्स ने इसे श्रमिकों के शोषण से सम्बन्धित सिद्धांत कहा है।

इस सिद्धांत के अनुसार श्रम की उत्पादन लागत श्रमिक के जीवन निर्वाह स्तर के आधार पर आंकी जाती है। जीवन निर्वाह स्तर का तात्पर्य उन न्यूनतम आवश्यकताओं से है जो श्रमिक तथा उसके परिवार के सदस्यों को जीवित रखने के लिये आवश्यक हैं। नियोक्ता द्वारा श्रमिक को इतनी मजदूरी अवश्य दी जानी चाहिये कि वह अपनी तथा अपने परिवार के सदस्यों की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। अगर किसी समय मजदूरी 'जीवन निर्वाह मजदूरी' से अधिक दी जाने लगे तो श्रमिक अधिक शादी व्याह करने लगेंगे तथा अधिक सन्तानें उत्पन्न करने लगेंगे। इस प्रकार जनसंख्या बढ़ जायगी। फलस्वरूप श्रम की पूर्ति भी बढ़ जायगी। श्रम की पूर्ति बढ़ने से श्रमिक कम मजदूरी पर कार्य करने लगेगे, मजदूरी की दरें कम हो जायेगी। शनैः-शनैः ये जीवन-निर्वाह-मजदूरी के बराबर हो जांयगी। इसके विपरीत अगर मजदूरी 'जीवन निर्वाह मजदूरी' से कम दी जाने लगे तो श्रमिक को अपने तथा अपने परिवार के भरण-पोषण में कठिनाई होने लगेगी। कुपोषण व चिकित्सा के अभाव आदि के कारण मृत्यु दर बढ़ जयगी। अभावपूर्ण स्थिति के कारण शादी व्याह भी कम होंगे। इस प्रकार जनसंख्या की वृद्धि भी कम होगी। इन सब बातों के कारण श्रम की पूर्ति घट जायगी। श्रमिकों की मांग अधिक होने से वे अधिक मजदूरी मांगने लगेंगे। धीरे-धीरे मजदूरी की दरें बढ़कर 'जीवन-निर्वाह-मजदूरी' के बराबर हो जांयगी। इसप्रकार मजदूरी की प्रवृत्ति 'जीवन निर्वाह मजदूरी' के बराबर होने की होती है। इसी कारण जर्मन अर्थशास्त्री लैसली (Lassalee) आदि ने इसे 'मजदूरी का लौह सिद्धांत' अथवा 'मजदूरी का धातु सिद्धांत' की संज्ञा दी है। यह सिद्धांत दो मान्यताओं पर आधारित है—(1) जनसंख्या में वृद्धि की प्रवृत्ति बनी रहती है, तथा (2) कृषि में क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

सिद्धांत की आलोचनायें—आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धाँत की जो आलोचनाये की हैं उनका वर्णन आगे किया जा रहा है :

(1) यह सिद्धांत एक पक्षीय है क्योंकि इसमें पूर्ति पक्ष का ही विचार किया जाता है और मांग पक्ष का कोई ध्यान नहीं रखा जाता जब कि मजदूरी श्रम की मांग-पूर्ति के सिद्धांत के आधार पर निर्धारित होती है।

(2) इस सिद्धांत में श्रमिक की कार्यक्षमता की उपेक्षा की जाती है जबकि श्रमिक की उत्पादकता उसकी कार्यक्षमता पर निर्भर करती है। मजदूरी में वृद्धि होने से कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। अतः कार्यक्षमता में वृद्धि होने से मजदूरी में वृद्धि होनी चाहिए।

(3) इस सिद्धान्त मे मजदूरी की न्यूनतम दर को मजदूरी की वास्तविक दर मान लिया गया है जो ठीक नही है।

(4) जीवन-निर्वाह-स्तर का माप करना कठिन है क्योंकि अलग-अलग श्रमिकों के परिवार के सदस्यो की सख्या, स्वभाव तथा रुचि आदि भिन्न होने से उनकी आवश्यकतायें भी भिन्न होती हैं।

(5) इस सिद्धान्त के अनुसार सभी श्रमिकों की मजदूरी की दर एक होगी। यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या नहीं करता है कि सभी स्थानों पर तथा सभी व्यवसायो मे मज्दूरी की दरो म भिन्नता क्यो होती है।

(6) इस सिद्धान्त की यह मान्यता ठीक नही कि मजदूरी बढ़ने पर श्रमिक अधिक शादी व्याह करके अधिक सन्तानें उत्पन्न करेंगे और जनसख्या भी बढ जायगी क्योंकि यह आवश्यक नही कि श्रमिक मजदूरी बढने पर वह अधिक शादी ब्याह करे। इससे वह अपने जीवन-स्तर को भी उन्नत कर सकता है। जीवन स्तर उन्नत होने पर सन्तानें कम पैदा करना अधिक ठीक समझा जाता है।

(7) इस सिद्धान्त में इस बात का उल्लेख नही किया गया है कि श्रमिको के पारिश्रमिक पर उन्नत उत्पादन विधियो, नये नये आविष्कारो तथा श्रम सघो का क्या प्रभाव पडता है। ये तत्व श्रमिको के पारिश्रमिक को बढ़ाने म सहायक होते हैं।

(8) यह सिद्धान्त श्रमिकों के शोषण को बढ़ावा देता है। यह उचित नहीं कि श्रमिको को उनके जीवन निर्वाह के अनुकूल ही मजदूरी दी जाय। उनकी कार्य क्षमता तथा उत्पादकता बढाने के वास्ते ऊ ची मजदूरी आवश्यक है। कार्ल मार्क्स ने इसे बेकारों की सुरक्षित सेना बढ़ाने म सहायक बता कर श्रमिको के शोषण को प्रोत्साहित करने वाला बताया है। अतः इसे न्याय सगत नहीं कहा जा सकता है।

(9) श्रमिको की वास्तविक स्थिति मे परिवर्तन करने के लिये इस सिद्धान्त में कोई गु जाइश नहीं है। यह तो केवल एक बात की कल्पना करता है कि श्रमिक को अपनी न्यूनतम अनिवार्य आवश्यकताओ की पूर्तिभर की दृष्टि से ही पारिश्रमिक की आवश्यकता पडती है।

उपरोक्त आलोचनायें काफी उचित हैं क्योंकि श्रमिक कोई बेजानदार साधारण वस्तु तो है नही कि वह हर समय, हर क्षेत्र मे तथा हर प्रकार के कार्यों में इकसार होगा। श्रमिक के स्वभाव, रुचि आदि की भिन्नताओं के कारण उसकी आवश्यकताओ की मात्रा आदि में भिन्नता होने से अलग अलग श्रमिको के जीवन निर्वाह स्तरो का अलग-अलग होना स्वाभाविक है। इस प्रकार यह सिद्धान्त ठीक नही। परन्तु यह महत्वपूर्ण बात है कि पिछडी हुई अर्थव्यवस्था वाले देशो मे यह नियम अब भी लागू होता है। इस नियम मे इस तथ्य को भी बताया गया है कि मजदूरी की न्यूनतम सीमा श्रमिक का जीवन निर्वाह स्तर होती है इससे कम दरो पर मजदूरी नहीं दी जा सकती है।

(2) मजदूरी का जीवन स्तर सिद्धान्त (The Standard of Living Theory of Wages)—मजदूरी का जीवन स्तर सिद्धान्त मज्दूरी के जीवन निर्वाह सिद्धान्त का ही एक सुधरा हुआ रूप है। 19 वीं शताब्दी में जीवन निर्वाह के स्थान पर 'जीवन स्तर' को मजदूरी भुगतान का आधार मान लिया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार मज्दूरी की दर श्रमिक की न्यूनतम आवश्यकताओं के आधार पर निर्धारित न होकर उसकी समस्त आवश्यकताओं अर्थात् अनिवार्य आवश्यकताओं, आरामदायक आवश्यकताओं तथा विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताओं, जिनसे उसका रहन सहन का स्तर बनता है, के आधार पर निर्धारित होती है। इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि मज्दूरी की दर उतनी रहती है जितनी श्रमिक के जीवन-स्तर को बनाये रखने के लिये आवश्यक है। उसे कम से कम इतनी मजदूरी अवश्य मिलनी चाहिए जिससे वह अपने रहन-सहन के उस स्तर को बनाये रखे जिसका वह अभ्यस्त हो गया है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी की दर में सदैव स्थिरता नहीं रहती तथा मजदूरी की दर को श्रमिक की कार्यक्षमता से असम्बद्ध भी नहीं किया जा सकता।

मज्दूरी की दरें जीवन-स्तर की दृष्टि से कम होने पर श्रमिक शादी-विवाह नहीं करेंगे तथा कम सन्तानें पैदा करना चाहेंगे। इस प्रकार श्रमिकों की संख्या कम होने से श्रम पूर्ति कम हो जायेगी। फलस्वरूप मजदूरी की दर बढ़ जायेगी। मजदूरी की दरें जीवन स्तर से अधिक होने पर श्रम पूर्ति बढ़ जायगी तथा मजदूरी घट कर जीवन-स्तर के समरूप रह जायगी। इस प्रकार मजदूरी की प्रवृत्ति जीवन-स्तर के अनुकूल बनी रहने की होती है।

इस सिद्धान्त को 'मजदूरी का स्वर्ण सिद्धान्त' (Golden Law of Wages) भी कहा जाता है क्योंकि श्रमिकों को जीवन-स्तर से अधिक मज्दूरी मिलने पर वह इसे बचाकर रख सकता है तथा इसका उपयोग हड़तालों, हारी-बीमारी, बेकारी, वृद्धावस्था आदि अनिश्चितताओं की स्थिति में प्रयोग करके इनसे अपनी रक्षा कर सकता है।

इस सिद्धान्त की आलोचनायें—'मजदूरी का स्वर्ण सिद्धान्त' होने पर भी इस सिद्धान्त की आलोचनायें की जाती हैं। इनका वर्णन आगे दिया जा रहा है—

(1) इस सिद्धान्त में भी श्रम के पूर्ति पक्ष की ही व्याख्या की जाती है इसमें श्रम के मांग पक्ष की उपेक्षा की गई है।

(2) जीवन स्तर मजदूर की मजदूरी अर्थात् उसकी आय से प्रभावित होता है न कि जीवन स्तर मजदूरी की दर को निर्धारित करता हो। अतः इस सिद्धान्त की यह मान्यता ठीक नहीं कि मजदूरी जीवन स्तर द्वारा निर्धारित होती है। मजदूर को जितनी मजदूरी दी जाती है उसी के अनुसार उसका जीवन स्तर निर्धारित होता है।

(3) मजदूर की मजदूरी को उसकी उत्पादकता से नहीं वरन् उसकी

आवश्यकताओं के योग से सम्बन्धित किया गया है, अर्थात् श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि, उनकी आवश्यकताओं में वृद्धि करके की जा सकती है। परन्तु व्यावहारिक जीवन में ऐसा होता नहीं है।

(4) श्रमिक एक ही प्रकार के जीवनस्तर का आदी नहीं होता है, उसका जीवन-स्तर समय के साथ बदलता रहता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी की दर भी बदलती रहनी चाहिए परन्तु व्यवहार में ऐसा होता नहीं है।

3 मजदूरी कोष सिद्धान्त (The Wage Fund Theory)—एडम-स्मिथ, प्रो डेविड रिकार्डो, प्रो नासो सीनियर आदि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त का थोड़ा बहुत उल्लेख किया था परन्तु इस सिद्धान्त को अंतिम रूप देने का श्रेय अंग्रेज अर्थशास्त्री जे एस मिल को है। इन्हें 'मजदूरी कोष सिद्धान्त' का जनक माना जाता है। जे एस मिल के अनुसार मजदूरी जनसंख्या तथा पूंजी के अनुपात पर निर्भर करती है। जनसंख्या का तात्पर्य कार्य चाहने वाले श्रमिकों की संख्या से है तथा पूंजी का तात्पर्य पूंजी के उस भाग से है जो उत्पादकों द्वारा श्रमिकों की मजदूरी के भुगतान के लिये एक कोष के रूप में अलग रख दिया जाता है। प्रो. मिल के अनुसार उत्पादकों द्वारा पूंजी का एक अंश मजदूरी के भुगतान के लिये अलग से एक कोष में रख दिया जाता है जिसमें से श्रमिकों की जनसंख्या के अनुसार मजदूरी का भुगतान किया जाता है। यह कोष स्थिर रहता है क्योंकि इसका निर्माण पिछली बचतों के आधार पर किया जाता है। अगर श्रमिकों की संख्या बढ़ जाती है तो स्थिर कोष में से समस्त श्रमिकों को भुगतान किये जाने के परिणामस्वरूप प्रति श्रमिक मजदूरी पहले की तुलना में कम प्राप्त होती है। इसके विपरीत श्रमिकों की संख्या कम होने पर प्रति श्रमिक मजदूरी बढ़ जाती है। इस प्रकार मजदूरी की दर दो बातों द्वारा निर्धारित होती है।

(1) मजदूरी कोष तथा (2) श्रमिकों की संख्या। इसे हम निम्न सूत्र द्वारा व्यक्त कर सकते हैं :

$$\text{मजदूरी की सामान्य दर} = \frac{\text{मजदूरी कोष}}{\text{श्रमिकों की संख्या}}$$

इस प्रकार मजदूरी कोष में श्रमिकों की संख्या का भाग देने पर सामान्य मजदूरी दर के बराबर आता है। मजदूरी कोष में वृद्धि करके अथवा श्रमिकों की संख्या कम करके मजदूरी की सामान्य दर में वृद्धि की जा सकती है। मजदूरी कोष पिछली बचतों का परिणाम होने के कारण लगभग स्थिर रहता है, अतः श्रमिकों की संख्या कम होने पर ही मजदूरी की सामान्य दर में वृद्धि सम्भव है। अतः जनसंख्या को कम करना आवश्यक है। अगर किसी उद्योग में मजदूरी की दरें अधिक हैं तो दूसरे उद्योग में मजदूरी की दरें कम होंगी क्योंकि सम्पूर्ण समाज का 'मजदूरी कोष तो सीमित या स्थिर है।

सिद्धांत की आलोचना—व्यावहारिक दृष्टि से यह सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है। इसकी आलोचनाओं के कारण इसे स्वयं इसके जनक प्रो. मिल ने त्याग दिया था। इसकी आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(1) व्यावहारिक जीवन में उत्पादकों द्वारा मजदूरी कोष जैसे किसी भी कोष का निर्माण नहीं किया जाता है।

(2) इस सिद्धान्त द्वारा यह नहीं बताया जाता है कि मजदूरी कोष का निर्माण कैसे किया जाय।

(3) यह सिद्धान्त श्रमिक की कार्यक्षमता का ध्यान नहीं रखता। इसके अनुसार सभी श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी एक समान आती है। अतः श्रमिकों की मजदूरी में अन्तर की व्याख्या नहीं की गई है।

(4) मजदूरी कोष सिद्धान्त की मान्यता है कि श्रमिकों की मांग मजदूरी कोष पर निर्भर करती है। यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि श्रमिकों की मांग तो उनके द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग पर निर्भर करती है।

(5) इस सिद्धान्त की यह मान्यता भी ठीक नहीं कि मजदूरी पूंजी की कुल उपलब्ध मात्रा पर निर्भर करती है। नये तथा विकासशील देशों में पूंजी की मात्रा प्रायः कम होती है। परन्तु मजदूरी की दरें, श्रमिकों की सख्या के मांग की तुलना में कम होने के कारण, ऊंची होती हैं।

(6) इस सिद्धान्त की यह मान्यता भी ठीक नहीं कि श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि उद्यमकर्ताओं के लाभ में कमी लाने वाली होती है अर्थात् लाभ कम-होने पर ही मजदूरी बढ़ती है। मजदूरी में वृद्धि तो श्रमिकों की उत्पादकता तथा उद्योगों में बढ़ते हुए प्रतिफल के नियम के लागू होने के कारण होती है।

(7) मजदूरी कोष सिद्धान्त अवैज्ञानिक है। यह पहिले मजदूरी कोष की बात कहता है और बाद में मजदूरी निर्धारण की बात कहता है। व्यावहारिक दृष्टि से मजदूरी की दरें पहिले निर्धारित की जाती हैं। मजदूरी कोष के निर्माण का प्रश्न तो बाद में उठता है।

(8) इस सिद्धान्त में हड़तालों तथा श्रम संघों के कारण मजदूरी की दरों में होने वाली वृद्धि की कोई चर्चा नहीं की जाती है।

(9) इस सिद्धान्त की यह मान्यता ठीक नहीं कि मजदूरी कोष में वृद्धि के कारण श्रम की मांग बढ़ने से जनसंख्या में वृद्धि होती है। परन्तु मजदूरी में वृद्धि के कारण जीवन-स्तर उन्नत होने पर जनसंख्या में कमी होती है।

(4) मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory of Wages)—

पीछे हम यह पढ़ चुके हैं कि उत्पादन के साधनों का पारिश्रमिक, साधन की सीमान्त उत्पादकता के द्वारा निर्धारित होता है। वितरण के इसी सिद्धान्त के आधार पर श्रमिक का पारिश्रमिक भी निर्धारित होता है। यह सिद्धान्त सर्व प्रथम

प्रो० जेवन्स द्वारा प्रतिपादित किया गया था। प्रो टॉमस के अनुसार, "उत्पादक द्वारा श्रम की माग, श्रम की अन्तिम या सीमान्त उपयोगिता के आधार पर निर्धारित की जाती है।"[3] अर्थात् मजदूरी की दर श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर होने की प्रवृत्ति रखती है। श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता श्रम की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल उत्पादन मे जो वृद्धि होती है, उसके बराबर होती है।

श्रम की माग श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग द्वारा निर्धारित होती है। अर्थात् श्रम की माग श्रम की सीमान्त उत्पादकता के कारण होती है। अगर उत्पादन के अन्य साधनो को स्थिर रखकर जब उत्पादक श्रम की अतिरिक्त इकाइयां लगाकर उत्पादन बढाता है तो उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने के कारण उत्पत्ति में गिरती हुई दर पर वृद्धि होती है। इस प्रकार श्रम की सीमान्त उत्पादकता गिर जाती है। उद्यमी श्रमिक का तब तक प्रयोग करता रहता है जब तक श्रम की अन्तिम इकाई का उत्पादक मूल्य उसके लिये दी जाने वाली मजदूरी के बराबर नहीं हो जाता। अगर मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से अधिक है तो उद्यमी को हानि होने के कारण वह श्रमिको की मांग कम कर देगा, और अगर मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से कम है तो उद्यमियो को लाभ होने के कारण वे श्रम की माग अधिक करेंगे। यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक श्रम की सीमान्त उत्पादकता तथा मजदूरी बराबर नहीं हो जाते। इस बिन्दु को सीमान्त उत्पादकता तथा मजदूरी का सन्तुलन बिन्दु कहते हैं। इस बिन्दु पर प्राप्त सीमान्त आय तथा उस पर किया गया व्यय बराबर होता है।

यह नियम यह मानकर चलता है कि श्रमिकों मे पूर्ण गतिशीलता है, श्रम की प्रत्येक इकाई समान है तथा समाज मे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति है।

सिद्धांत की आलोचनायें—इस सिद्धान्त की आलोचनायें भी उसी आधार पर की जाती हैं जिस आधार पर वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनायें की जाती हैं। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है—

(1) यह सिद्धान्त केवल श्रम के माग पक्ष की व्याख्या करता है और इसमें, पूर्ति-पक्ष की उपेक्षा की गई है। अत यह एक पक्षीय है।

(2) श्रम की पूर्ण गतिशीलता की बात कहना ठीक नहीं। श्रम की गतिशीलता पर उन सभी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक तथा प्राकृतिक बातो का प्रभाव पड़ता है जो स्वयं श्रमिक को प्रभावित करती हैं। अत श्रम की गतिशीलता में अनेक बाधायें आती हैं।

(3) श्रम की सभी इकाइयां एक समान नहीं होती हैं।

---

3 "Demand for labour according to this theory is based on final or marginal utility of labour to the entrepreneur"
—S E. Thomas

(4) पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता अवास्तविक है। व्यवहार में कहीं भी पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान नहीं होती।

(5) श्रम की सीमान्त उत्पादकता की गणना करना कठिन कार्य है। उत्पत्ति तो उत्पादन के विभिन्न साधनों के मिले-जुले प्रयास का परिणाम है। अतः पृथक से श्रम की सीमान्त उत्पादकता को ज्ञात करना बड़ा कठिन है।

(6) श्रम संघों की क्रियाओं का मजदूरी पर जो प्रभाव पड़ता है उसका इस सिद्धान्त में कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है।

(7) हाब्सन आदि अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन में उत्पादन के साधनों का सम्मिश्रण-अनुपात प्राविधिक बातों के कारण स्थिर माना है। उसे बदला नहीं जा सकता। परिणामस्वरूप अकेले श्रम की मात्रा मे परिवर्तन करके उसकी सीमान्त उत्पादकता की माप नहीं की जा सकती।

(5) मजदूरी का सीमान्त बट्टा उपज सिद्धांत (The Discounted Marginal Productivity Theory of Wages)—

इसे मजदूरी का सीमान्त उत्पत्ति भृत्ति-अपहरित सिद्धान्त भी कहते हैं। इसका प्रतिपादन प्रो. टाजिग ने किया है। उनका मत है कि उत्पादन कार्य के साथ साथ मजदूरी का भुगतान आवश्यक हो जाता है। उत्पत्ति की बिक्री की बाट नहीं देखी जाती है। परन्तु श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता उत्पादन कार्य के पूरा हो जाने पर ही ज्ञात की जाती है। इस प्रकार उद्यमी द्वारा श्रमिक को जो अग्रिम पारिश्रमिक भुगतान करना पड़ता है उसकी ब्याज की हानि को वह स्वयं बर्दाश्त नहीं करता है वरन् उसे श्रमिकों के पारिश्रमिक में से मजदूरी भुगतान के समय बट्टे के रूप में काट लेता है अर्थात् समायोजित करके प्राप्त कर लेता है। अतः मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से कम दी जाती है। सीमान्त उत्पादकता में से मजदूरी के रूप में भुगतान की गई राशि का ब्याज काटने के उपरान्त ही मजदूरी दी जाती है। टाजिग ने इसे इस प्रकार व्यक्त किया है, "भृति भुगतान के सामान्य सिद्धान्त को सुगमता पूर्वक इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि मजदूरी श्रम की अपहरित या बट्टा की गई सीमान्त उत्पत्ति द्वारा निर्धारित होती है"[4]

सिद्धांत की आलोचनायें—

(1) व्यावहारिक रूप से ऐसा कहीं भी नहीं होता। लगान, ब्याज आदि का भी भुगतान उत्पादन के साथ साथ या प्रारम्भ में ही किया जाता है। जब उनके लिये बट्टा राशि नहीं काटी जाती तो मजदूरी के लिये यह कैसे सम्भव हो सकता है।

(2) यह सिद्धान्त मजदूरी की सीमान्त उत्पादकता से सम्बन्धित होने के कारण सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की सभी कमियां इसमें भी हैं।

---

4. "The simplest and the clearest mode of stating the theory of general wages is to say that the wages are determined by the discounted marginal product of labour."

—F. W. Taussig

(6) मजदूरी का अवशेषाधिकार सिद्धान्त (The Residual Claimant Theory of Wages)—सर्वप्रथम अमरीकी अर्थशास्त्री प्रो. वाकर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उनके मतानुसार, "श्रमिक द्वारा उत्पादित कुल उत्पत्ति के मूल्य में से लगान, ब्याज तथा लाभ को घटाने के पश्चात् जो अवशिष्ट राशि शेष बचती है, वही श्रमिकों को मजदूरी के रूप में प्रदान की जाती है।"[5] इस प्रकार वाकर ने कुल उत्पत्ति को लगान, ब्याज, लाभ तथा मजदूरी चार भागों में बांटा है। लगान, ब्याज तथा लाभ का निर्धारण अन्य आर्थिक कारणों द्वारा होता है। अत कुल उत्पादन में से इन तीनों के भुगतान को घटाने के उपरान्त जो शेष बच रहता है वह श्रम की मजदूरी होती है। इस प्रकार श्रम उत्पादन के शेष बचे हुए भाग का अधिकारी होता है।

प्रो० वाकर के अनुसार मजदूरी की दरों में तभी वृद्धि होती है जब श्रमिक अधिक परिश्रम द्वारा अधिक उत्पादन करने लगें। वे जितना अधिक उत्पादन करेंगे उनके लिए उतनी ही अधिक मजदूरी बच रहेगी। इस प्रकार श्रमिकों की कार्यक्षमता में तथा उनकी मजदूरी में घनिष्ट सम्बन्ध है। इस सिद्धान्त में श्रम की उत्पादकता को अधिक महत्व दिया गया है।

सिद्धान्त की आलोचनाएं—इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएं हैं—

(1) अन्य सिद्धान्तों की भांति इस सिद्धान्त में भी श्रम के पूर्ति पक्ष की उपेक्षा की गई है।

(2) इस सिद्धान्त की यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है कि सकल उत्पादन में वृद्धि होने पर ब्याज, लगान तथा लाभ की मात्रा पूर्ववत् रहती है और केवल मजदूरी की दर में वृद्धि होती है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता है कि लगान, ब्याज तथा लाभ के साथ साथ ही मजदूरी की मात्रा में भी वृद्धि होती है।

(3) अवशिष्ट भाग का सारे का सारा अंश मजदूर को नहीं मिलता है। इसका कुछ अंश साहसी के पुरस्कार के रूप में मिलता है।

(4) श्रम संघों की क्रियाओं का मजदूरी की दर पर जो प्रभाव पड़ता है उसका इसमें उल्लेख नहीं किया गया है। इस प्रकार यह श्रम संघों के प्रभाव की उपेक्षा करता है।

(7) मजदूरी का आधुनिक सिद्धांत (Modern Theory of Wages) अथवा मजदूरी की माग और पूर्ति का सिद्धांत—

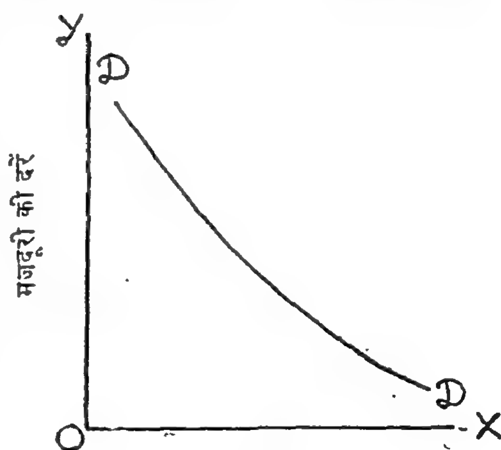
मजदूरी श्रम की सेवाओं का पुरस्कार है। अत आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत से श्रमिक की सेवाओं का पुरस्कार अर्थात् मजदूरी भी मूल्य निर्धारण के मांग और पूर्ति के सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित होती है। श्रम की अपनी कुछ

5. "Wages are equal to the whole products minus rent, interest and profits" —F A. Walker

विशेषताएं हैं इसी कारण मजदूरी के लिए अलग से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। (श्रम की विशेषताओं का वर्णन पहले ही किया जा चुका है।)

सिद्धांत की व्याख्या—किसी उद्योग में मजदूरी का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है जिस बिन्दु पर श्रम का कुल मांग वक्र उसके कुल पूर्ति वक्र को काटता है।

श्रम की मांग— किसी उद्यम में श्रम की मांग किसी वस्तु के उत्पादन के लिए उद्यमियों अथवा उत्पादकों द्वारा निर्धारित की जाती है। श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग जितनी अधिक होगी, उत्पादक द्वारा श्रम की मांग उतनी ही अधिक की जायगी। श्रम की मांग पर उत्पादन की तकनीक तथा उत्पादन के अन्य साधनों के मूल्य का भी प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों के कारण श्रम की मांग को व्युत्पन्न मांग (derived demand) कहा जाता है। एक फर्म द्वारा एक निश्चित समय में एक निश्चित मूल्य पर श्रम की मांगी गई मात्रा फर्म की श्रम की मांग कहलाती है, तथा अनेक फर्मों द्वारा श्रम-विशेष की मांगी गई मात्राओं का योग श्रम की बाजार माग कहलाता है। एक उत्पादक श्रमिकों को कार्य पर उस सीमा तक लगाता जाता है जब तक उनकी मजदूरी उनकी सीमान्त उत्पादकता के मूल्य के बराबर न हो जाय। उत्पादक श्रमिक को उसकी सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) से अधिक मूल्य नहीं देगा। अतः श्रम की सीमान्त उत्पादकता का मौद्रिक मूल्य (VMP) मजदूरी की अधिकतम सीमा होती है। जैसा कि बराबर के रेखाचित्र सं० 40.1 से विदित होता है कि श्रम का मांग वक्र बायें से दायें नीचे की ओर गिरता हुआ होता है। यह इस तथ्य को प्रकट करता है कि अगर मजदूरी की दर कम होती है तो श्रम की मांग अधिक होती है और मजदूरी की दर अधिक होने पर श्रम की मांग गिर जाती है।



श्रम की मांग
रेखाचित्र सं० 40·1

श्रम की मांग को प्रभावित करने वाली बातें—(i) श्रम की मांग पर उस वस्तु की मांग का प्रभाव पड़ता है जिसका उत्पादन श्रम विशेष द्वारा किया जाता है। उत्पादित वस्तु की मांग जितनी अधिक होगी श्रम की मांग भी उतनी ही अधिक होगी।

(ii) श्रम की मांग पर उत्पादन के अन्य साधनों के मूल्य का भी प्रभाव पड़ता है। अगर अन्य साधनों का मूल्य बढ़ जाता है तो उनके बदले में श्रम की मांग अधिक की जाने लगती है।

(iii) श्रम की माग तकनीकी दशाओं पर भी निर्भर करती है। अगर किसी उत्पादन प्रक्रिया में विभिन्न साधनों के सम्मिश्रण का अनुपात स्थिर होता है तो श्रम की सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) वक्र तेजी से गिरती है, और अगर साधनों का सम्मिश्रण अनुपात परिवर्तनशील है तो यह धीरे-धीरे गिरेगा। अर्थात् अधिक संख्या में श्रमिक लगाने की दृष्टि से मजदूरी की दरों मे मामूली कमी करनी पड़ेगी।

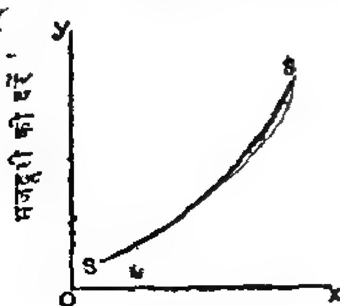
(iv) श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धि का भी श्रम की माग पर प्रभाव पड़ता है। अगर स्थानापन्न वस्तुएं सस्ती दरों पर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं तो उत्पादन विशेष में श्रम की माग कम हो जाएगी।

इस प्रकार श्रम की माग पर उत्पादित वस्तु की मांग, सहयोगी साधनों का मूल्य, तकनीकी बातें तथा उत्पादित वस्तु की स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धि का प्रभाव पड़ता है।

श्रम की पूर्ति—किसी उद्योग के लिए श्रम की पूर्ति का तात्पर्य एक विशेष प्रकार के श्रमिकों की उस संख्या से है जो विभिन्न मजदूरी दरों पर अपनी सेवाओं को अर्पित करने को तत्पर हैं। श्रमिकों द्वारा श्रम के उन घंटों या दिनों से, जिन्हें वे मजदूरी की विभिन्न दरों पर कार्य करने के लिए प्रस्तुत करते हैं, श्रम की पूर्ति का पूरा ज्ञान होता है। श्रम की पूर्ति तथा मजदूरी की दरों में सीधा सम्बन्ध होता है अर्थात् मजदूरी की दरों के बढ़ने पर श्रम की पूर्ति बढ़ जाती है और मजदूरी की दरों के गिरने पर श्रम की पूर्ति भी घट जाती है। जिस प्रकार वस्तुओं की पूर्ति पर उनकी लागत का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार श्रम की पूर्ति पर भी श्रम की लागत का प्रभाव पड़ता है।

प्रत्येक श्रमिक अपने श्रम के बदले में कम से कम इतनी मजदूरी अवश्य लेना चाहेगा कि वह अपना तथा अपने परिवार के सदस्यों का जीवन निर्वाह कर सके तथा उस जीवन स्तर को बनाये रखे जिसका कि वह अभ्यस्त हो गया है। अगर उसे इससे कम मजदूरी मिलती है तो वह काम करने को तैयार नहीं होता है। श्रम पक्ष की ओर से श्रमिक का जीवन स्तर श्रम की लागत होती है।

श्रम की पूर्ति पर जन संख्या, जनसंख्या में कार्यशील जनसंख्या का अनुपात, श्रमिकों की कार्यक्षमता कार्य के औसत घण्टे, श्रमिकों के आवास प्रवास श्रम की प्रशिक्षण सुविधायें, श्रम की गतिशीलता आदि आर्थिक बातों के अतिरिक्त अकर्मण्यता (inertia), वर्तमान वातावरण तथा काम के प्रति स्नेह सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियां आदि अनार्थिक बातों का भी प्रभाव पड़ता है। इनके कारण यह भी सम्भव है कि अधिक पारिश्रमिक ऊंचे होने पर भी श्रमिक काम पर न जावे। परन्तु साधारणतः किसी उद्योग में मजदूरी की



श्रम की पूर्ति
रेखा चित्र संख्या 40.2

दरें ऊंची होने पर अनेक श्रमिक इस उद्योग की ओर आकर्षित होंगे। फलस्वरूप श्रम पूर्ति बढ़ेगी। पारिश्रमिक कम होने पर कुछ श्रमिक इस उद्योग को छोड़कर भी जा सकते हैं अतः पूर्ति कम हो जायगी। श्रम पूर्ति की इस प्रवृत्ति के कारण श्रम-पूर्तिवक्र बायें से दायें ऊपर की ओर उठता हुआ होता है जैसे कि पिछले पृष्ठ के चित्र सं० 40 2 से स्पष्ट होता है।

श्रम की पूर्ति को प्रभावित करने वाली अन्य बातों में 'कार्य-आराम-अनुपात' (Work-leisure ratio) का महत्वपूर्ण स्थान है। मजदूरी में परिवर्तन दो प्रकार के प्रभावों को पैदा करते हैं—(i) प्रतिस्थापन प्रभाव (Substitution effect) : प्रतिस्थापन प्रभाव सदैव धनात्मक होता है। मजदूरी में वृद्धि होने से श्रमिक आराम के स्थान पर कार्य का प्रतिस्थापन करेंगे। (ii) आय प्रभाव (Income effect) : यह ऋणात्मक होता है। मजदूरी बढ़ने पर श्रमिकों की आय बढ़ती है अतः वे अधिक आराम चाहते हैं। इन दोनों प्रभावों के कारण मजदूरी के परिवर्तनों का श्रम की पूर्ति पर सही-सही प्रभाव का अन्दाज लगाना कठिन है।

मजदूरी का निर्धारण—आधुनिक सिद्धांत के अनुसार मजदूरी की दर का निर्धारण पूर्ण एवं अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत विभिन्न विधियों के अनुसार होता है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है :

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी का निर्धारण—पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत :

(1) बाजार में पर्याप्त मात्रा में श्रमिक तथा उत्पादक विद्यमान हैं,

(2) श्रमिकों में पूर्ण गतिशीलता तथा व्यावसायिक स्वतन्त्रता विद्यमान है,

(3) श्रमिक का व्यवहार तथा कार्यक्षमता सभी क्षेत्रों तथा कार्यों में समान है,

(4) श्रमिकों में संगठन का अभाव होने के कारण वे अपनी सेवायें व्यक्तिगत रूप से प्रस्तुत करते हैं,

(5) उत्पादित वस्तु के बाजार में भी पूर्ण प्रतिस्पर्धा है, तथा

(6) प्रत्येक उत्पादक द्वारा श्रमिकों की कम मात्रा ही काम में लायी जाती है। अतएव फर्म के लिये पूर्ति रेखा' अथवा मजदूरी रेखा पूर्णतया लोचदार होती है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक फर्म को श्रम की एक अतिरिक्त इकाई काम पर लगाने के लिये जो मजदूरी (सीमान्त मजदूरी के बराबर) देनी पड़ेगी वह औसत मजदूरी के बराबर होगी। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में एक फर्म के लिये औसत मजदूरी (AW) तथा सीमान्त मजदूरी (MW) बराबर होती हैं। इसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक फर्म के लिये मजदूरी रेखा एक पड़ी रेखा (Horizontal straight line) होती है। फर्म सन्तुलन की स्थिति में तब होती

है जब श्रमिकों की सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) श्रमिकों की सीमान्त मजदूरी (MW) के बराबर हो। अगर MRP>MW से अधिक है तो इसका अर्थ यही है कि एक अतिरिक्त श्रमिक के प्रयोग से कुल आगम कुल मजदूरी की तुलना में अधिक है अर्थात् फर्म को लाभ हो रहा है। फर्म श्रमिकों की अतिरिक्त इकाइयां तब तक लगाती जायगी जब तक MRP और MW बराबर नहीं हो जाते।

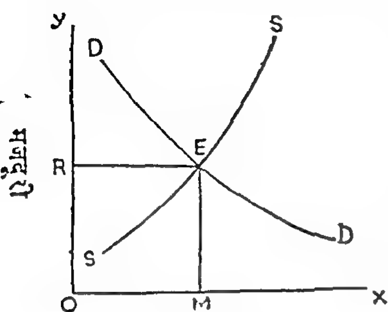
यदि MRP<MW से कम है तो फर्म कुल आगम की तुलना में कुल मजदूरी अधिक दे रही है। एक अतिरिक्त श्रमिक के प्रयोग से फर्म को हानि हो रही है। अतः फर्म श्रमिकों की संख्या तब तक घटाती जायगी जब तक MRP और MW बराबर नहीं हो जाते। इस प्रकार फर्म MRP तथा MW के साम्य की स्थिति तक ही श्रमिकों का प्रयोग करेगी।

एक उद्योग में मजदूरी वहां निर्धारित होती है जहां श्रम की मांग तथा पूर्ति सन्तुलित होती हैं। श्रम की मांग पक्ष की ओर से श्रम की सीमान्त उत्पादकता मजदूरी की अधिकतम सीमा होती है तथा श्रम की पूर्ति पक्ष की ओर से श्रमिक का जीवन स्तर व्यय न्यूनतम सीमा होती है। मजदूरी का निर्धारण इन अधिकतम तथा न्यूनतम सीमाओं के मध्य श्रमिकों तथा नियोजकों की सौदा करने की शक्ति द्वारा निर्धारित होता है। अगर श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति अधिक है तो मजदूरी की दर अधिकतम सीमा के पास निर्धारित होगी और अगर नियोजकों की सौदा करने की शक्ति अधिक है तो मजदूरी की दर न्यूनतम सीमा के पास निर्धारित होगी।

अगर श्रमिकों की मजदूरी कम है तो श्रम की मांग अधिक होगी परन्तु श्रम की पूर्ति कम होगी। उत्पादकों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा होने के कारण मजदूरी की दर में वृद्धि हो जायगी। इसी प्रकार अगर मजदूरी अधिक है तो मांग की तुलना में श्रम की पूर्ति अधिक होने के कारण प्रत्येक श्रमिक अपने श्रम को बेचने को लालायित होगा परन्तु दूसरी ओर नियोजक इस सम्बन्ध में उदासीन होंगे। अतः मजदूरी की दर कम हो जायगी।

इस तथ्य को रेखा चित्र सं. 40.3 के द्वारा समझा जा सकता है। OX अक्ष पर श्रम की मात्रा तथा OY अक्ष पर मजदूरी दर्शायी गई हैं। DD मांग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र है। ये दोनों एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं। यह इस बात को प्रकट करती है कि OR मजदूरी पर श्रम की मांग भी OM है तथा पूर्ति भी OM है। यदि मजदूरी

की दर बढ़ कर OR से अधिक हो तो पूर्ति बढ़ कर OM से अधिक तथा मांग घट कर OM से कम रह जायगी। और अगर मजदूरी घट कर OR से कम हो जाती है तो मांग OM से अधिक हो जायगी परन्तु पूर्ति घट कर OM से कम रह जायगी। इन दोनों परिस्थितियों में मांग तथा पूर्ति दोनों में अन्तर होने के कारण मजदूरी की दर निर्धारित नहीं हो पावेगी। प्रथम स्थिति में पूर्ति अधिक होने के कारण मजदूरी की दर कम होगी और दूसरी स्थिति में मांग अधिक होने के



श्रम की मात्रा
रेखा चित्र स. 40 3

कारण मजदूरी की दर बढ़ेगी। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक मजदूरी की दर OR के बराबर नहीं हो जाती है क्योंकि इस स्थिति मे E ही एक ऐसा साम्य बिन्दु है जहां श्रम की मांग तथा पूर्ति का सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

एक व्यक्तिगत फर्म की दृष्टि से मजदूरी का निर्धारण– पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में वस्तु बाजार तथा श्रम बाजार दोनों में पूर्ण प्रतियोगता होती है। अर्थात् उत्पादकों तथा श्रमिकों की सख्या बहुत अधिक होती है। एकाधिकार कहीं भी दिखायी नहीं देता। फर्मों अथवा श्रमिकों के कोई भी सघ नहीं होते हैं। सभी श्रमिक समान रूप से कुशल होते हैं। इसलिये मजदूरी की दर एक ही होती है। श्रम की मांग करने वाली फर्मों तथा श्रमिकों की संख्या इतनी अधिक होती है कि फर्म या श्रमिक अपनी मांग या पूर्ति को घटा बढ़ा कर मजदूरी की दर को प्रभावित नहीं कर सकते हैं। परिणाम स्वरूप मजदूरी सम्पूर्ण उद्योग द्वारा निर्धारित की जाती है और फर्म को उसे स्वीकार करना पड़ता है। फर्म इस दर पर जितनी चाहे उतनी श्रम की मात्रा प्राप्त कर सकती है।

अल्पकाल में एक फर्म को श्रमिकों के प्रयोग की दृष्टि से लाभ, सामान्य लाभ तथा हानि तीनों ही स्थितियां संभव हैं। इनको रेखा चित्रों द्वारा समझाया गया है। परन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि फर्म श्रमिकों की उस मात्रा को प्रयोग मे लायगी जिस पर MRP = MW के हो। श्रमिकों के प्रयोग करने की दृष्टि से फर्म की लाभ तथा हानि की स्थिति को ज्ञात करने के लिये (ARP या Average Revenue Productivity) अर्थात् औसत आगम उत्पादकता तथा औसत मजदूरी (AW या Average Wages) रेखाओं को ध्यान मे रखना पड़ता है। ARP तथा AW का अन्तर लाभ अथवा हानि की स्थिति को बताता है। अगर ARP > AW से अधिक है तो फर्म को लाभ होगा और अगर ARP < AW से

(1) विक्रेता एकाधिकार की स्थिति में मजदूरी का निर्धारण—जब बाजार में सशक्त श्रम संघ या अन्य कोई व्यक्ति श्रम पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रखता हो, परन्तु दूसरी ओर श्रम का क्रय करने वाले अनेक असंगठित उत्पादक हों तो इस स्थिति को एकाधिकार की स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में श्रम की पूर्ति नियन्त्रित रहने के कारण मजदूरी की दर पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक होती है।

(2) क्रेता एकाधिकार की स्थिति में मजदूरी का निर्धारण—माना बाजार में श्रमिकों में संगठन का अभाव है। दूसरी ओर बाजार में श्रम का क्रेता एक ही व्यक्ति होने के कारण वह एकाधिकार की स्थिति में है; और अगर श्रम के अनेक क्रेता बाजार में हैं तो उनमें अत्यधिक घनिष्ठ संगठन होने के कारण वे एकाधिकार की स्थिति में हैं। इस स्थिति में नियोक्ता अपनी इच्छानुसार मजदूरी देगा। श्रमिकों को या तो उसी मजदूरी पर काम करना पड़ेगा या उन्हें बेकार बैठना पड़ेगा या अन्यत्र जाना पड़ेगा।

(3) द्विपक्षीय एकाधिकार की स्थिति में मजदूरी का निर्धारण—जब बाजार में श्रम का केवल एक ही विक्रेता तथा एक ही क्रेता होता है तो इस स्थिति को द्विपक्षीय एकाधिकार कहते हैं। एकाधिकारी विक्रेता श्रम की अधिक से अधिक मजदूरी चाहेगा तो दूसरी ओर एकाधिकारी क्रेता कम से कम मजदूरी देना चाहेगा। दोनों ही श्रम की पूर्ति तथा श्रम की मांग को नियन्त्रित रख कर अपनी इच्छानुसार मजदूरी निर्धारित करना चाहेंगे। इस स्थिति में मजदूरी विक्रेता एकाधिकारी दर से नीची तथा क्रेता एकाधिकारी दर से ऊंची, इन दोनों सीमाओं के बीच कहीं भी निर्धारित हो सकती है। जो पक्ष सौदा करने में कुशल तथा साधन को बिना बेचे या क्रय किए काम चलाने में क्षम्य होगा वही अपनी इच्छानुसार मजदूरी की दर को नियन्त्रित करने में समर्थ होगा।

ऊंची मजदूरी सस्ती तथा नीची मजदूरी महंगी होती है—आम भारतीय नियोक्ताओं में यह धारणा घर की हुई है कि मजदूरी की नीची दरें सस्ती होती हैं। परन्तु उनकी यह धारणा ठीक नहीं है, क्योंकि श्रमिक को नीची दरों पर मजदूरी देने से उसका जीवनस्तर गिर जाता है तथा उसकी कार्यकुशलता भी गिर जाती है। परिणामस्वरूप उत्पादन लागत ऊंची बैठती है। अर्थात् मजदूरी लागत ऊंची बैठती है। अतः नीची मजदूरी वास्तव में महंगी पड़ती है।

दूसरी ओर ऊंची दरों पर मजदूरी देने के कारण श्रमिक का जीवन-स्तर उन्नत होता है; उसकी कार्य क्षमता बढ़ जाती है। ऊंची मजदूरी पर नियोक्ता को बाजार में भी कुशल मजदूर मिलते हैं। ऊंची मजदूरी के कारण मालिक-मजदूर के सम्बन्ध अच्छे बने रहते हैं। श्रमिक पूरी तन्मयता के साथ काम करते हैं। आये दिन की हड़तालें, तोड़-फोड़, नियमानुसार कार्य करना आदि स्थितियां उत्पन्न नहीं होतीं। परिणामस्वरूप श्रम की उत्पादकता बढ़ जाती है और उत्पादन लागत कम पड़ती है। दूसरे शब्दों में 'मजदूरी लागत' नीची बैठती है।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं ऊंची 'मजदूरी सस्ती तथा नीची मजदूरी महंगी पड़ती है।

श्रम संघ तथा मजदूरी (Trade Unions and Wages)—क्या श्रम संघ भी मजदूरी की दर को प्रभावित कर सकते हैं ? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। कुछ लोगों का विचार है कि श्रम संघ मजदूरी को प्रभावित नहीं कर सकते। क्योंकि मजदूरी तो सीमान्त उत्पादकता से अधिक हो ही नहीं सकती। अगर श्रम संघ मजदूरी में, सीमान्त उत्पादकता से, अधिक वृद्धि कराने में सफल हो जाते हैं तो इस प्रभाव के दो परिणाम होंगे—(1) या तो उत्पादक को अपना लाभ कम करना पड़ेगा (2) या वस्तु का विक्रय मूल्य बढ़ाना पड़ेगा। अगर उत्पादक अपना लाभ कम करने को विवश होगा तो उसका लाभ कम हो जायगा या उसको हानि हो सकती है। अतः वह या तो उत्पादन को कम करने या बन्द करने को विवश होगा। फलस्वरूप श्रमिकों में बेकारी फैल जायगी।

माना वह अपना लाभ कम न करके वस्तु का विक्रय मूल्य बढ़ा देता है तो वस्तु की माँग में ह्रास हो जायगा। परिणामस्वरूप उत्पादन का ह्रास होगा और मजदूरों में बेकारी फैल जायगी। इस प्रकार श्रम संघ अपनी कार्यवाहियों से मजदूरी की दरों को बढ़ाने में सफल नहीं हो सकते। परन्तु यह विचारधारा ठीक नहीं है। मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त तो एक पक्षीय है। इसमें केवल श्रमिकों के माँग पक्ष की ओर ध्यान दिया जाता है और पूर्ति पक्ष की उपेक्षा की जाती है। श्रम संघ श्रमिकों की माँग तथा पूर्ति को प्रभावित करके मजदूरी की दर में वृद्धि कराने में सफल हो सकते हैं।

निम्न परिस्थितियों में श्रम संघ मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं—

(1) अपूर्ण प्रतिस्पर्धा या एकाधिकार की स्थिति—अपूर्ण प्रतिस्पर्धा, अथवा एकाधिकार की स्थिति में मालिक श्रमिकों का शोषण करते हैं तथा मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से कम देते हैं। श्रम संघ अपनी सामूहिक शक्ति के बल पर मालिक को श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता के बराबर मजदूरी देने को विवश कर सकते हैं।

(2) श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ाकर—श्रम संघ प्रशिक्षण, शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन, उन्नत जीवन स्तर द्वारा तथा कार्य तथा मालिक के प्रति निष्ठा तथा ईमानदारी की भावना पैदा करके श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता बढ़ा सकते हैं। दूसरे, काम करने की परिस्थितियों में सुधार करने तथा उत्पादन की नवीनतम वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करने के लिए श्रम संघ मालिक को विवश कर सकते हैं। इनसे मजदूरों की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जायगी। परिणाम स्वरूप मालिक को मजदूरी भी बढ़ानी पड़ेगी।

(3) वर्ग विशेष की मजदूरी में वृद्धि सम्भव होना—निम्न दशाओं में श्रम संघ मजदूरी में वृद्धि करा सकते हैं—

(i) बेलोचदार माँग वाली वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि कराकर इनके उत्पादन करने वालों की मजदूरी दरों में वृद्धि कराई जा सकती है क्योंकि इस स्थिति में मूल्य के बढ़ने पर भी माँग में कोई अन्तर नहीं आयेगा। (ii) श्रमिकों के वर्ग विशेष की माँग

अगर बेलोचदार है अर्थात् उनके बिना उत्पादन चलाया ही नहीं जा सकता तो उनकी मजदूरी में वृद्धि कराई जा सकती है। मजदूरी के बढ़ने पर भी मालिक उनका प्रयोग करेगा ही। (iii) परन्तु मजदूरी सीमान्त उत्पादकता से अधिक नहीं दी जायगी। अगर एक वर्ग को सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी दी जायगी तो दूसरे वर्ग की मजदूरी कम होना स्वाभाविक है। (iv) या अगर श्रमिकों के वर्ग विशेष, जिसकी मजदूरी में वृद्धि की जानी है, की मजदूरी का बिल कुल मजदूरी-बिल का एक मामूली सा भाग है तो श्रम संघों के आग्रह पर मालिक उनकी मजदूरी बढ़ा सकता है।

श्रम संघों की मजदूरी-वृद्धि कराने तथा सौदाबाजी की शक्ति की सीमायें—श्रम संघ अपने सदस्यों की मजदूरी चाहे जिस सीमा तक बढ़वा लें यह संभव नहीं। श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी में वृद्धि कराने में वे सफल नहीं हो सकते। निम्नलिखित बातें श्रम संघों की सौदा करने की शक्ति को सीमित कर देती हैं :—

(1) समाज में बेकारी की सीमा—अगर समाज में बड़े पैमाने पर बेकारी की समस्या बनी हुई है अर्थात् श्रम पूर्ति श्रम की मांग से अधिक है तो मजदूरी की दरें बढ़ने की बजाय घटेंगी। भारत में अभी हाल की (अप्रेल/मई, 1974) रेलवे हड़ताल की असफलता का यही मुख्य कारण था।

(2) श्रमिकों के प्रतिस्थापन की लोच—श्रमिकों के स्थान पर अगर मशीन तथा यंत्रों के प्रयोग द्वारा उत्पादन चलाया जा सकता है तो ऊंची मजदूरी की मांग होने पर मालिक मजदूरों के स्थान पर मशीन आदि का प्रयोग करना प्रारम्भ कर देगा। श्रमिकों में बेकारी फैलेगी अतः उन्हें कम मजदूरी पर ही काम करने को विवश होना पड़ेगा।

(3) उत्पादित वस्तु की मांग की लोच—श्रमिकों द्वारा उत्पादित वस्तु की मांग अगर लोचदार है तो ऊंची मजदूरी संभव नहीं। मजदूरी बढ़ने पर विक्रय मूल्य बढ़ेगा अतः मांग कम हो जायगी तथा उत्पादन की मात्रा भी कम हो जायगी। मजदूरों में बेकारी फैलेगी। हां! अगर उत्पादित वस्तु की मांग बेलोचदार है तो मूल्य बढ़ने का प्रभाव मांग पर न पड़ने के कारण उत्पादन की मात्रा को घटाने का भय न होगा और मालिक मजदूरी बढ़ा सकेगा।

(4) श्रम प्रतिस्थापन साधनों की पूर्ति लोच—मशीन, यंत्र आदि श्रम-प्रतिस्थापन के साधनों की पूर्ति अगर बेलोचदार है अर्थात् चाहे जिस मात्रा में उनका प्रयोग संभव नहीं तो मालिक मजदूरों का मनमाना प्रतिस्थापन करने में सफल न हो पायगा। इस स्थिति में श्रम संघ मजदूरी की दर बढ़ाने में सफल हो सकते हैं।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि श्रम संघ चाहे जितने सबल क्यों न हों, वे मनमानी मात्रा में मजदूरी में वृद्धि कराने में सफल

नहीं हो सकते। दूसरे श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता से अधिक मजदूरी की दरें स्थायी तौर पर बढ़वाना सम्भव नहीं।

न्यूनतम मजदूरी (Minimum wages)—पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में श्रमिक की कमजोरियों का अनुचित लाभ उठाकर मालिक मनमाना शोषण करता है। इस शोषण के कारण वर्ग संघर्ष तथा हड़तालें, तालाबन्दी, घेराव, तोड़-फोड़ आदि की दुर्घटनायें होती रहती हैं। इन दुर्घटनाओं को कम से कम करने के लिए सरकारें श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने का प्रयास करती हैं। औद्योगिक दृष्टि से सभी उन्नत देशों में न्यूनतम मजदूरी सिद्धान्त का पालन होने लग गया है।

न्यूनतम मजदूरी से क्या अभिप्राय है?—न्यूनतम मजदूरी मजदूर के जीवन निर्वाह भर के लिए पर्याप्त मजदूरी ही नहीं होती वरन् न्यूनतम मजदूरी का आशय उस मजदूरी से है जो श्रमिक को एक न्यूनतम जीवन स्तर बनाये रखने की दृष्टि से पर्याप्त हो अर्थात् वह समाज में एक सम्मान पूर्ण जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सके तथा उसके नैतिक स्तर की उन्नति हो इतनी मजदूरी उसे अवश्य मिलनी चाहिये।

भारत सरकार की उचित मजदूरी समिति (Fair Wages Committee) के अनुसार "न्यूनतम मजदूरी को श्रमिक के जीवन के भरण-पोषण मात्र की व्यवस्था ही नहीं वरन् श्रमिक की कार्य क्षमता को बनाये रखने की व्यवस्था भी करनी चाहिए।" इस उद्देश्य के लिए न्यूनतम मजदूरी को थोड़ी सी शिक्षा, थोड़ी सी चिकित्सा सम्बन्धी तथा अन्य सुविधाओं की पूर्ति करनी चाहिए इस प्रकार न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण एक निश्चित जीवन-स्तर की दृष्टि से होना है। यह समय-समय पर प्रचलित मूल्यों में उतार चढ़ाव के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।

न्यूनतम मजदूरी का उद्देश्य—न्यूनतम मजदूरी का उद्देश्य श्रमिक के शोषण को रोकना है। किसी भी श्रमिक को, उस मजदूरी से कम मजदूरी पर प्रयोग न करने देने का प्रयास किया जाता है, जो उसके न्यूनतम जीवन स्तर की दृष्टि से आवश्यक होती है। अर्थात्—(1) श्रमिकों के शोषण को रोकना (2) नीची मजदूरी वाले उद्योगों में मजदूरी बढ़वाना, (3) मजदूरों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कराना तथा (4) औद्योगिक शान्ति बनाये रखना।

न्यूनतम मजदूरी के परिणाम—न्यूनतम मजदूरी निर्धारण के निम्नलिखित परिणाम हो सकते हैं—

(1) श्रमिकों के शोषण पर रोक।
(2) श्रमिकों के रहन-सहन स्तर में उन्नति।
(3) श्रमिकों की कार्य कुशलता में वृद्धि।
(4) धन के समान वितरण में सहायक।
(5) श्रमिकों में कार्य तथा मालिक के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने में सहायक।
(6) उत्पादन की मात्रा तथा श्रेष्ठता में वृद्धि।

(7) वर्ग संघर्षों की समाप्ति ।

(8) समाज में आर्थिक समृद्धिशीलता का बढ़ना ।

(9) वस्तुओं के मूल्यों का कम होना ।

इस प्रकार न्यूनतम मजदूरी हर स्थिति में श्रमिक ही नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से लाभदायक होती है ।

प्रश्न एवं संकेत

1. मजदूरी से आप क्या समझते हो ? नगद एवं असल मजदूरी का अर्थ समझाइये । असल, मजदूरी या वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करने वाली बातों को समझाइये ।

(संकेत–प्रारम्भ में मजदूरी शब्द का अर्थ समझावें । नगद एवं असल मजदूरी का अर्थ समझाकर उन बातों की व्याख्या करें जो असल मजदूरी को प्रभावित करती है ।)

2. मजदूरी भुगतान की विभिन्न पद्धतियों के गुण एवं दोषों की व्याख्या कीजिए ।

(संकेत–मजदूरी भुगतान की समयानुसार एवं कार्यानुसार दोनों पद्धतियों का अर्थ समझाकर इनके गुण एवं दोषों की व्याख्या करें ।)

3. मजदूरी कैसे निर्धारित होती है ?

(संकेत–मजदूरी निर्धारण के विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख करके किन्हीं दो-एक सिद्धान्तों का विस्तार पूर्वक वर्णन करें ।)

4. आप मजदूरी निर्धारण के किस सिद्धान्त को सबसे अच्छा समझते हो ? उसकी व्याख्या कीजिये और बताइये कि आप इसे क्यों अच्छा समझते हो ?

(संकेत–मजदूरी निर्धारण के मांग और पूर्ति के आधुनिक सिद्धान्त को अच्छा बताते हुए इसकी व्याख्या कीजिये ।)

5. मजदूरी निर्धारण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।

6. मजदूरी किस प्रकार निर्धारित होती है ? श्रम संघ तथा आविष्कार मजदूरी की दर को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ?

7. न्यूनतम मजदूरी का क्या अर्थ है ? एक उद्योग विशेष या कुछ उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी निर्धारण के प्रभावों की विवेचना कीजिए ।

8. क्या मजदूरी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर करती है ? न्यूनतम मजदूरी के व्यावहारिक महत्व की व्याख्या कीजिये ।

---

41 ब्याज (Interest)

ब्याज का अर्थ—वर्तमान अर्थव्यवस्था में पूंजी का सर्वाधिक महत्व है। बड़े पैमाने की अर्थव्यवस्था का पूंजी के अभाव में टिक पाना असम्भव है। पूंजी के उपयोग के प्रतिफल को ब्याज कहते हैं। भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियों ने इस भाव को भिन्न भिन्न शब्दों में व्यक्त किया है। मार्शल ने ब्याज को "किसी बाजार में पूंजी के प्रयोग का मूल्य" बताया है। मेयर्स के अनुसार "ब्याज वह मूल्य है जो ऋण-योग्य कोषों के प्रयोग के लिए दिया जाता है।" कार्वर के मत में, "ब्याज वह आय है जो पूंजी के स्वामी को प्राप्त होती है।" कीन्स के अनुसार "ब्याज पूंजी की तरलता के त्याग का पुरस्कार है।" केयरनक्रास के शब्दों में, 'ब्याज वह मूल्य है जो ऋण के बदले में चुकाया जाता है।" सैम्युअल्सन के अनुसार, "प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति (asset) प्रति वर्ष किसी प्रतिशत दर पर प्रतिफल देती है। प्रतिफल की इस प्रकार की प्रतिशत दर ऐसी प्रकृति की होती है जिसे हम वार्षिक ब्याज दर कहते हैं।'[1]

ब्याज

अर्थ—पूंजी के उपयोग के बदले में जो मूल्य दिया जाता है वह ब्याज होता है।

प्रकार—

(1) कुल ब्याज एवं (2) शुद्ध ब्याज।

कुल ब्याज के अंग

(1) शुद्ध ब्याज,
(2) जोखिम का भुगतान,
(3) त्याग का पुरस्कार,
(4) असुविधाओं का पुरस्कार, तथा

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि ब्याज पूंजी के उपयोग का भुगतान है तथा *वार्षिक दर प्रतिशत के रूप में व्यक्त की जाती है।*

शुद्ध तथा कुल ब्याज (Net and Gross Interest)—ऋणी ऋणदाता को मूलधन के अतिरिक्त जो राशि ब्याज के रूप में देता है वह सारी की सारी राशि शुद्ध ब्याज नहीं होती है। वास्तव में यह कुल ब्याज होती है। शुद्ध ब्याज तो इसका एक भाग होता है। शुद्ध ब्याज तो केवल

1 "Consequently each type of asset tends to yield a certain percentage rate of return per year. Such a percentage rate of return is in the nature of what we call an interest rate per year."

—Paul A. Samuelson

(5) प्रबन्ध का पुरस्कार,

ब्याज की दरों में भिन्नता के कारण

(1) जोखिम की भिन्नता,
(2) असुविधाओं में भिन्नता,
(3) प्रबन्ध में भिन्नता,
(4) प्रवृत्ति में भिन्नता,
(5) जमानत का स्वभाव,
(6) ऋण का उद्देश्य,
(7) पूंजी की गतिशीलता,
(8) पूंजी की उत्पादकता,
(9) बैंकों का विकास,
(10) पूंजी निर्माण की दर,
(11) पूंजी की मांग,
(12) सहायता स्रोत, तथा
(13) नगरी प्रथा

ब्याज के सिद्धान्त—

(1) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त ।
(2) प्रतीक्षा एवं त्याग का सिद्धान्त ।
(3) ऑस्ट्रियन सिद्धान्त ।
(4) फिशर का सिद्धान्त ।
(5) प्रतिष्ठित सिद्धान्त ।
(6) तरलता पसन्दगी सिद्धान्त ।
(7) नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त ।

क्या ब्याज की दर शून्य या ऋणात्मक हो सकती है ?

सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्याज दर शून्य नहीं हो सकती। पूंजी के प्रयोग का प्रतिफल होता है। चैपमैन के अनुसार "शुद्ध ब्याज पूंजी के ऋण के लिए किया जाने वाला भुगतान है जब कि ऋणदाता को कोई जोखिम या असुविधा नहीं होती या कोई अन्य काम नहीं करना पड़ता है। इस भुगतान को शुद्ध ब्याज या आर्थिक ब्याज कहा जाता है।"[2] ऋणदाता अपनी पूंजी के प्रयोग को स्वयं त्याग कर दूसरों को इसके प्रयोग का अधिकार देता है जिसके लिए उसे जो कुछ मिलता है वह शुद्ध ब्याज होती है। इस प्रकार शुद्ध ब्याज जोखिम व त्याग का पुरस्कार होती है।

कुल ब्याज के अंग (Constituents of Gross Interest)—कुल ब्याज के निम्नलिखित अंग होते हैं—

(1) **शुद्ध ब्याज**—यह पूंजी के प्रयोग का प्रतिफल होता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शुद्ध ब्याज पूंजी या ऋण का पुरस्कार होता है।

(2) **जोखिम का भुगतान**—ऋणदाता ऋण देने के कार्य में जोखिम उठाता है। ये जोखिमें ऋण उधार लेने वाले के व्यवसाय तथा व्यक्तिगत ईमानदारी से सम्बन्धित होती हैं। अगर ऋणी कुशल तथा ईमानदार साख वाला व्यक्ति है तो ऋण मारे जाने की जोखिम कम होगी। इसी प्रकार ऋणी का व्यवसाय इस प्रकार का है कि उसके असफल या समाप्त होने की सम्भावना कम है तो ऋणदाता के रुपये के डूबने की जोखिम बहुत कम हो जाती है। इस

2. "Net interest is payment for the loan of capital, when no risk or inconvenience (apart from that involved in saving) involved for the creditor or no other work had to be done. This payment is termed as pure interest, net interest or economic interest." —Chapman.

प्रकार ऋणदाता को इन जोखिमों को वहन करने के लिए जोखिम के पुरस्कार के रूप में कुछ न कुछ भुगतान अवश्य मिलना चाहिए।

(3) त्याग का पुरस्कार—ऋणदाता पूंजी का उपयोग स्वयं नहीं करता है वरन् इसके प्रयोग का अधिकार वह दूसरों को सौंपता है। इस प्रकार वह जो त्याग करता है उस त्याग के लिए भी कुछ न कुछ प्रतिफल चाहता है। यह प्रतिफल या त्याग का पुरस्कार भी कुल ब्याज का ही एक भाग होता है।

(4) असुविधाओं का पुरस्कार—ऋणदाता को ऋण वसूल करने, आवश्यकता के समय ऋण के वापस न मिलने अथवा थोड़ा थोड़ा करके मिलने आदि बातों के कारण असुविधाएं होती हैं। इन असुविधाओं के लिए उसे पुरस्कार मिलना आवश्यक है।

(5) प्रबन्ध का पुरस्कार—ऋणदाता ऋण के लेन देन के प्रबन्ध पर कुछ रकम एकाउंटेंट, हिसाब किताब रखने, ऋण वसूली का तकाजा करने, ऋण समय पर वापस न मिलने अथवा भुगतान डूबने पर वैधानिक कार्यवाही करने आदि पर व्यय करता है। इन प्रबन्ध कार्यों के व्यय की राशि भी ऋणदाता को प्राप्त होना आवश्यक है।

इस प्रकार कुल ब्याज में शुद्ध ब्याज के अतिरिक्त जोखिम, असुविधाओं तथा प्रबन्ध का पुरस्कार भी सम्मिलित रहता है।

ब्याज की दरों में भिन्नता—यह देखने में आता है कि ब्याज की दर में स्थान स्थान पर, समय समय पर तथा व्यक्ति से व्यक्ति में भिन्नता पाई जाती है। इस भिन्नता का कारण क्या है? यह प्रश्न मन में उठना स्वाभाविक है।

शुद्ध ब्याज तो सभी समय, सभी स्थानों, सभी व्यवसायों तथा सभी व्यक्तियों से एक ही प्राप्त होता है। केवल कुल ब्याज में भिन्नताएं पाई जाती हैं। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(1) जोखिम में भिन्नता—ऋण से सम्बन्धित जोखिम जितनी अधिक होती है ब्याज की दर उतनी ही ऊंची होती है। सटोरियों से इसी कारण ऊंची दरों पर ब्याज वसूल की जाती है।

(2) असुविधा में भिन्नता—भारत में कृषकों से ऊंची दरों पर ब्याज इसी कारण वसूल की जाती है कि साहूकारों को कृषकों से मूलधन तथा ब्याज वसूल करने में बड़ी असुविधाएं होती हैं। कृषक से थोड़े-थोड़े ही किश्तों में अनेक बार तकाजा करने पर रु० वसूल हो पाता है। नगरों में यही स्थिति मजदूरों, खोमचे वालों तथा छोटे व्यापारियों की होती है।

(3) प्रबन्ध व्यय में भिन्नता—छोटे-छोटे व्यापारी, मजदूर, कृषक आदि लोग ऋण लेते हैं थोड़ी थोड़ी मात्रा में व भुगतान करते हैं छोटी छोटी किश्तों में। कभी-कभी रु० वसूल करने के लिए इनके विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही भी करनी पड़ती है। ऋण का तकाजा करने तथा ऋण का हिसाब किताब रखने पर भी काफी राशि

दूसरों से विशेषत पठान या अन्य सूदखोरों से अत्यधिक ऊंची दरों पर रुपया उधार लेने को विवश होते हैं। कहीं कहीं तो 7–8 दिनों के लिये उधार ली गई राशि को सवाया करके चुकाना पड़ता है।

13 सगरी या बेगार प्रथा—राजस्थान, मध्य प्रदेश, बिहार आदि के वनजातियों वाले क्षेत्रों में साहूकार लोगों की आर्थिक विवशता, आय स्रोतों के अभाव, अज्ञानता तथा अशिक्षा आदि का इतना लाभ उठाता है कि वह ऋण लेने वालों से, बिना कुछ मजदूरी दिये, गुलामों की तरह बेगार में काम लेता है।

ब्याज के सिद्धान्त
(Theories of Interest)

ब्याज दर के निर्धारण के लिए अर्थशास्त्रियों ने अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। ब्याज दर के निर्धारण के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(1) ब्याज का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त,
(2) ब्याज का प्रतीक्षा एवं त्याग का सिद्धान्त,
(3) ब्याज का एजियों या आस्ट्रियन सिद्धान्त,
(4) फिशर का ब्याज का समय अधिमान सिद्धान्त,
(5) ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त,
(6) ब्याज का तरलता पसन्दगी सिद्धान्त, तथा
(7) ब्याज का नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त।

ब्याज का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त
(Marginal Productivity Theory of Interest)

ब्याज दर का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पूंजी की उत्पादकता के विचार पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार पूंजी में उत्पादकता होती है और इसी के कारण उत्पादक पूंजी की मांग करता है। पूंजी की पूर्ति करने वाले को पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के अनुसार ब्याज का भुगतान किया जाता है। यदि ब्याज दर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता से कम है तो उत्पादक उत्पादन कार्य में उत्पादन के अन्य साधनों के स्थान पर पूंजी की अधिक मांग करता है। पूंजी के अधिक प्रयोग से सीमान्त उत्पादकता गिरकर ब्याज दर के बराबर हो जाती। यदि ब्याज दर सीमान्त उत्पादकता से अधिक है तो पूंजी की कम मांग की जावेगी जिससे सीमान्त उत्पादकता बढ़कर ब्याज दर के बराबर हो जावेगी। इस तरह दीर्घकाल में ब्याज दर उसी बिन्दु पर स्थिर होगी जहां यह पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो।

सिद्धान्त की आलोचनाएं—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं—

(1) इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज पूंजी की उत्पादकता के लिए दिया जाता है परन्तु पूंजी सदैव उत्पादन कार्यों में ही नहीं लगाई जाती है बल्कि अनेक

व्यक्ति-उपभोग कार्यों के लिए भी पूंजी उधार लेते हैं उसकी कोई उत्पादकता नहीं होती। ऐसे ऋणों पर ब्याज की यह सिद्धान्त व्याख्या नहीं करता है।

(2) यह सिद्धान्त एक पक्षीय है क्योंकि यह केवल पूंजी की मांग की व्याख्या करता है जबकि यह पूंजी की पूर्ति पक्ष की उपेक्षा करता है।

(3) ब्याज दर के इस सिद्धान्त में वे सभी आलोचनाएं लागू होती हैं जो वितरण के सामान्य सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के बारे में की जाती हैं।

ब्याज का प्रतीक्षा या त्याग का सिद्धान्त
(Abstinence or Waiting Theory of Interest)

ब्याज के प्रतीक्षा सिद्धान्त का प्रतिपादन सीनियर द्वारा किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार पूंजी की बचत करने के लिए लोगों को कष्ट या त्याग करना पड़ता है तथा कोई भी व्यक्ति उस समय तक त्याग नही करना चाहेगा जब तक उसे इस त्याग के लिए कुछ पुरस्कार न मिले।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने सीनियर के त्याग एवं कष्ट शब्दों के प्रयोग पर आपत्ति की तथा उनका कहना था कि धनवान व्यक्तियों को पूंजी की बचत करने में किसी प्रकार का त्याग या कष्ट नहीं उठाना पड़ता है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए मार्शल ने त्याग के स्थान पर प्रतीक्षा शब्द का प्रयोग किया। मार्शल के अनुसार बचत करने के लिए एक व्यक्ति को अपने वर्तमान उपभोग को स्थगित करके भविष्य के उपभोग के लिए वर्तमान में प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इस प्रतीक्षा के लिए व्यक्तियों को पुरस्कार अथवा ब्याज देने की आवश्यकता होती है।

सिद्धान्त की आलोचनाएं— इस सिद्धान्त की आलोचनाएं निम्नलिखित हैं—

(1) इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज त्याग के कारण उत्पन्न होता है, परन्तु वास्तविकता यह है कि ब्याज का जन्म केवल त्याग द्वारा ही सभव नही हो सकता। ब्याज की प्राप्ति के लिए बचाये हुये धन को दूसरों को सौंपना पडता है।

(2) यह सिद्धान्त एक पक्षीय है क्योंकि यह केवल पूंजी की पूर्ति पक्ष का अध्ययन करता है तथा मांग पक्ष की उपेक्षा करता है।

(3) बचत करने के लिए त्याग एवं कष्ट सभी व्यक्तियों को नहीं उठाना पड़ता है अतः इस त्याग एवं कष्ट का पुरस्कार कहना गलत है।

ब्याज का एजियो या आस्ट्रियन सिद्धांत
(The Agio or The Austrian Theory of Interest)

ब्याज का यह सिद्धांत मनोवैज्ञानिक सिद्धांत के नाम से भी जाना जाता है। इस सिद्धांत का सबसे पहले प्रतिपादन जान रे ने सन् 1834 में किया था। इसमें बाम बावर्क तथा इरविंग फिशर ने संशोधन किये। बाम बावर्क आस्ट्रिया का रहने वाला था इसीलिए इस सिद्धांत को आस्ट्रियन सिद्धांत के नाम से पुकारा जाता है। इस सिद्धांत के अनुसार जनता अपनी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति को भविष्य की आवश्यकताओं से अधिक महत्वपूर्ण समझती है अर्थात वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि से जो सुख मिलता है वह भविष्य में प्राप्त होने वाली आवश्यकताओं की संतुष्टि से अधिक होता है। ऐसी स्थिति मे एक व्यक्ति जब उधार देता है तब उसे अपने

वर्तमान सुख का त्याग करके भविष्य के सुख को अपनाना पड़ता है जो वर्तमान में प्राप्त होने वाले सुख से कम होता है अतः ब्याज वर्तमान सुख के त्याग का परिणाम है। लोग भविष्य के सुख की अपेक्षा वर्तमान सुख को निम्न कारणों से अधिक महत्व देते हैं

(1) वर्तमान की आवश्यकताएं भविष्य की आवश्यकताओं से अधिक तीव्र होती हैं अतः उनकी तुरन्त सन्तुष्टि आवश्यक होती है।

(2) वर्तमान की अपेक्षा भविष्य अनिश्चित तथा दूर होता है। भविष्य अनिश्चित तथा दूर होने के कारण भविष्य के सुख का मूल्य व्यक्ति वर्तमान की अपेक्षा कम आंकता है।

(3) व्यक्ति को भविष्य की वस्तुओं की अपेक्षा वर्तमान की वस्तुओं से अधिक उपयोगिता मिलती है क्योंकि वर्तमान वस्तुओं को भविष्य की वस्तुओं की अपेक्षा एक प्रकार की तकनीकी श्रेष्ठता प्राप्त होती है। उपयोगिता ह्रास नियम भी यही बताता है कि एक व्यक्ति के पास भविष्य में किसी वस्तु के स्टाक में वृद्धि होती जाती है वैसे वैसे ही उपयोगिता घटती जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यक्ति भविष्य के सुख की अपेक्षा वर्तमान सुख को अधिक महत्व देता है तथा इस वर्तमान सुख का व्यक्ति त्याग उसी समय करना चाहेगा जब उसे वर्तमान वस्तु से विनिमय करने में प्रीमियम या एजियो प्राप्त हो। यह प्रीमियम या एजियो ही उसके वर्तमान धन या पूंजी के त्याग का ब्याज कहलाता है।

सिद्धांत की आलोचनाएं—इस सिद्धांत की कुछ आलोचनाएं निम्नलिखित हैं

(1) एक पक्षीय विश्लेषण है क्योंकि यह केवल पूंजी के पूर्ति पक्ष का अध्ययन करता है।

(2) व्यक्ति बचत स्वेच्छा से करता है अतः बचत के लिए प्रतिफल की आवश्यकता नहीं होती है।

फिशर का समय अधिमान सिद्धांत
(Fisher's Time Preference Theory)

प्रो० इरविंग फिशर ब्याज के समय अधिमान सिद्धांत के प्रतिपादक हैं। वास्तव में यह ब्याज के बाम बावर्क सिद्धांत का ही सुधार है। इस सिद्धांत का आधार यह है कि मनुष्य वर्तमान के संतोषों को उतने ही भावी संतोषों से अधिक पसन्द करते हैं। अतः यदि लोग बचत करते हैं तो उन्हें वर्तमान सुख या आनन्द या संतुष्टि का त्याग करना पड़ेगा जो भविष्य की अपेक्षा अधिक होगा। ऐसा करने के लिए कुछ पुरस्कार या ब्याज चाहिए। इस प्रकार ब्याज समय अधिमान की क्षति पूर्ति है। बचत करने वालों में वर्तमान संतुष्टि के लिए जितना अधिक समय अधिमान होगा ब्याज की दर भी उतनी ही ऊंची होगी तथा इसके विपरीत लोगों में वर्तमान संतुष्टि के लिए समय अधिमान कम होने पर ब्याज की दर भी कम होती है। फिशर

के अनुसार लोग अपनी आय की वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए व्यय करने को आतुर या तत्पर रहते हैं। उनकी यह आतुरता निम्नलिखित चार तत्वों पर निर्भर करती है :

(1) आय का आकार—जितनी व्यक्ति की आय कम होगी वह वर्तमान सुख या संतुष्टि को भविष्य के सुख या संतुष्टि से उतना अधिक महत्व देगा। आय की न्यूनता अधिक समय-अधिमान उत्पन्न करती है तथा धन की प्रचुरता कम। अतः निर्धन लोगों का समय-अधिमान वर्तमान आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए भविष्य की तुलना में धनी लोगों की तुलना में अधिक होता है।

(2) आय का समयावधि में वितरण—एक व्यक्ति को विभिन्न समयावधियों में आय किस प्रकार प्राप्त होगी यह भी समय-अधिमान को प्रभावित करता है। उदाहरणार्थ व्यक्ति की उम्र बढ़ने के साथ-साथ यदि आय बढ़ती जावेगी तो व्यक्ति को वर्तमान में व्यय करने की आतुरता वर्तमान में कम आय के कारण अधिक होगी। इसके विपरीत यदि आयु बढ़ने के साथ-साथ आय कम होती जावेगी तो वर्तमान में व्यय की आतुरता कम रहती है।

(3) भविष्य में आय प्राप्ति तथा व्यय की निश्चितता—एक व्यक्ति की अपनी आय की भविष्य में प्राप्ति तथा व्यय की जितनी अधिक निश्चितता होगी वर्तमान अधिमान उतना ही कम होगा।

(4) व्यक्ति का स्वभाव—एक व्यक्ति का स्वभाव भी समय अधिमान को प्रभावित करता है। यदि व्यक्ति अधिक दूरदर्शी है तो उसका वर्तमान में समय अधिमान कम होता है। इसके विपरीत व्यक्ति के अदूरदर्शी अथवा लापरवाह होने पर समय अधिमान कम होता है।

सिद्धांत की आलोचनाएं—इस सिद्धांत की प्रमुख आलोचनाएं निम्न हैं :

(1) यह सिद्धान्त एक पक्षीय है क्योंकि यह केवल पूंजी की पूर्ति पक्ष का अध्ययन करता है तथा मांग पक्ष की उपेक्षा करता है।

(2) यह सिद्धान्त दो मान्यताओं पर आधारित है और ये दोनों मान्यताएं अवास्तविक हैं। पहली मान्यता यह है कि द्रव्य (मुद्रा) की वर्तमान एवं भविष्य की क्रय शक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता है जबकि वास्तविक जगत में द्रव्य की क्रय शक्ति में अवश्य परिवर्तन होते हैं। दूसरी मान्यता यह है कि बचत कर्ता की वर्तमान तथा भावी स्थिति एवं उनका आचरण समान रहते हैं। यह मान्यता भी सत्य नहीं है क्योंकि व्यक्ति की स्थिति, स्वभाव तथा रुचि में परिवर्तन होते रहते हैं।

ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त
(Classical Theory of Interest)

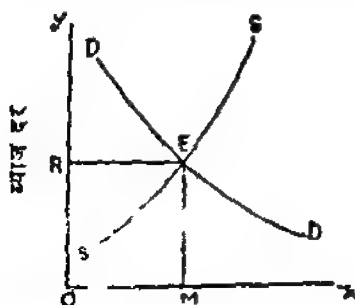
ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त का प्रतिपादन मार्शल, पीगू, वालरस, नाइट आदि अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया है। इस सिद्धान्त को बचत की मांग एवं पूर्ति सिद्धान्त भी कहते हैं। यह सिद्धान्त पूंजी की उत्पादकता तथा बचत दोनों तत्वों

को ध्यान में रखता है अत इसे ब्याज का वास्तविक सिद्धान्त भी कहते है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर वहां निर्धारित होती है जहा पूंजी की मांग तथा पूजी की पूर्ति दोनों बराबर होती हैं। पूजी की माग विनियोगो के लिए की जाती है तथा पूजी की पूर्ति बचतो से होती है। अत ब्याज दर बचत एव विनियोगो मे सतुलन स्थापित करती है।

पूजी की मांग—पूजी की मांग उत्पादकों द्वारा इसकी उत्पादकता के कारण की जाती है। एक उत्पादक जैसे-जैसे पूंजी का अधिक प्रयोग करता जाता है वैसे वैसे उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता के कारण पूंजी की सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है। अत उत्पादक पूजी की माग उस बिन्दु तक करता रहेगा जहां ब्याज की दर पूजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी। ब्याज की दर नीची होने पर पूंजी की अधिक मांग की जाती है तथा ब्याज दर अधिक होने पर पूजी की कम माग की जाती है। पूंजी का मांग वक्र बायें से दाये ऊपर से नीचे को गिरता हुआ होता है।

पूंजी की पूर्ति—पूजी की पूर्ति बचतों पर निर्भर करती है। व्यक्ति अथवा समाज को बचत करने मे त्याग एव प्रतीक्षा करनी होती है। अत बचत कर्ता उस समय तक बचत करने को तैयार नही होगा जब तक उस त्याग एव प्रतीक्षा की हानि पूर्ति प्राप्त न हो जाय अर्थात् बचतकर्ता ब्याज के लिए बचत करते है। सामान्यतया ब्याज दर ऊची होने पर बचतें अधिक की जाती हैं तथा ब्याज दर कम होने पर बचतें भी कम की जाती हैं। एक बचत कर्ता का पूर्ति वक्र बायें से दायें नीचे से ऊपर को उठता हुआ होता है।

ब्याज दर का निर्धारण—ब्याज के मांग एव पूर्ति सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर वहा निर्धारित होती है जहा कुल बचत एव कुल विनियोग बराबर हो अर्थात् जहा पूजी का माग वक्र पूजी के पूर्ति वक्र को काटता है वहा ब्याज दर का निर्धारण हो जाता है। इस तथ्य को रेखाचित्र 41·1 पर स्पष्ट किया गया है। इस रेखा चित्र मे OX अक्ष पर पूंजी की मात्रा तथा OY अक्ष पर ब्याज दर प्रदर्शित की गई है। SS पूजी की पूर्ति वक्र अथवा बचतों की रेखा है तथा DD पूजी का माग वक्र अथवा विनियोग वक्र है। पूजी की माग तथा पूर्ति दोनों E बिन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं अतः E साम्य बिन्दु हुआ जिस पर पूजी की OM मात्रा की माग तथा OM मात्रा की ही पूर्ति की जाती है। पूजी की माग एव पूर्ति के साम्य द्वारा EM अथवा RO ब्याज दर का निर्धारण हुआ है।



पूजी की मात्रा
रेखा चित्र 41.1

सिद्धान्त की आलोचनाएं—इस सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएं की गई हैं जिनमें से प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं :

(1) इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि बचत एवं विनियोग में संतुलन ब्याज दर के कारण होता है जिसे कीन्स ने गलत माना है, कीन्स के अनुसार बचत एवं विनियोग में संतुलन आय स्तर के परिवर्तनों के कारण होता है।

(2) इस सिद्धान्त के अनुसार बचत एवं विनियोग दोनों ब्याज से प्रभावित होते हैं गलत है। विनियोग ब्याज दर से नहीं बल्कि पूंजी की सीमान्त कुशलता से प्रभावित होती हैं। एक उत्पादक पूंजी की सीमान्त कुशलता नीची होने पर ब्याज दर कम होने पर भी अधिक विनियोग नहीं करेगा परन्तु पूंजी की सीमान्त कुशलता ऊंची होने पर वह ब्याज दर अधिक होने पर भी अधिक विनियोग करेगा। इसी तरह बचत भी ब्याज से नही बल्कि आय स्तर से अधिक प्रभावित होती है।

(3) यह सिद्धान्त मुद्रा तथा साख मुद्रा की पूर्ति का ब्याज दरों पर पड़ने वाले प्रभावों की उपेक्षा करता है।

(4) यह सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है।

(5) इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर अनिर्धारणीय है क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर बचतों पर निर्भर करती है तथा बचतें स्वयं ब्याज दर पर। अतः ब्याज दर अनिर्धारणीय है।

कीन्स का ब्याज का तरलता पसन्दगी सिद्धान्त
(Keynes' Liquidity Preference Theory of Interest)

ब्याज के तरलता पसन्दगी सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे. एम. कीन्स द्वारा किया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज एक मौद्रिक तत्व है। अतः कीन्स के सिद्धान्त को ब्याज का मौद्रिक सिद्धान्त कहा जा सकता है परन्तु यह तरलता पसन्दगी सिद्धान्त के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

कीन्स के अनुसार "ब्याज निश्चित समय के लिए तरलता के परित्याग का पुरस्कार है।" अर्थात् किसी व्यक्ति को ब्याज इसलिए दिया जाता है कि वह व्यक्ति निश्चित अवधि के लिए तरलता का त्याग करता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार, "ब्याज की दर वह होगी जो मुद्रा की तरल उद्देश्यों के लिए मांग को मुद्रा की उपलब्ध पूर्ति के बराबर कर देगी।" अर्थात् इस सिद्धान्त के अनुमार ब्याज दर का निर्धारण वहां होता है जहां तरलता की माँग तथा तरलता की पूर्ति दोनों बराबर हों। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर के निर्धारण को निम्न शीर्षकों में अध्ययन किया जा सकता है।

1. मुद्रा की मांग अथवा तरलता पसन्दगी (Demand for Money or Liquidity Preference)—कीन्स के अनुसार मुद्रा की मांग अथवा तरलता पसन्दगी का अर्थ अपने पास नगद कोषों अथवा तरल कोषों को रखना होता है। व्यक्ति कुछ कारणों से अपनी आय को सदैव मुद्रा के रूप में तरल रखना चाहते हैं जिसे कीन्स

ने तरलता सम्बन्धी कहा है। प्रत्येक व्यक्ति निम्न उद्देश्यों के लिए तरलता की मांग करता है।

(i) कार्य सम्पादन उद्देश्य (Transaction motive)—व्यक्ति एवं व्यावसायिक संस्थान कार्य सम्पादन उद्देश्य के लिए अपने पास नगद मुद्रा अथवा तरल कोष रखते हैं। प्राय: अल्पकाल में व्यक्तियों एवं व्यावसायिक संस्थानों की आय की प्राप्ति तथा व्यय के बीच अन्तर रहता है अर्थात इन्हें हर समय आय प्राप्त नहीं होती है बल्कि एक निश्चित समयावधि के बाद ही प्राप्त होती है जबकि इन्हें विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय समय पर व्यय करना पड़ता है। इसलिए इन्हें अपने पास तरल कोष या नगद कोष रखने होते हैं। उपभोक्ताओं की कार्य सम्पादन उद्देश्य के लिये तरलता की माग आय के आकार तथा आय प्राप्ति के समयान्तर पर निर्भर करती है जबकि व्यावसायिक संस्थानों की कार्य सम्पादन के लिए तरलता की माग व्यावसायिक दशाओं एवं वस्तुओं की कीमतों पर निर्भर करती है। उपभोक्ताओं तथा व्यावसायियों दोनों की ही कार्य सम्पादन के उद्देश्य के लिए तरलता की मांग समय विशेष पर ब्याज दर से स्वतन्त्र तथा स्थिर होती है।

(ii) दूरदर्शिता उद्देश्य (Precautionary motive)—प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कभी भी अप्रत्याशित दुर्घटनाएं उत्पन्न हो सकती हैं। अत: व्यक्ति इनका सामना करने के लिए अपने पास नगद कोष या मुद्रा रखना पसन्द करता है क्योंकि ऐसे असामयिक समय पर वही धन व्यक्ति के काम आता है जो व्यक्ति के पास नगद या तरल कोषों में है। अल्पकाल में दूरदर्शिता उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग ब्याज दर से स्वतन्त्र तथा स्थिर रहती है। दूरदर्शिता उद्देश्य के लिये तरलता की माग आय स्तर, व्यवसाय की प्रकृति तथा साख सुविधाओं से अधिक प्रभावित होती है।

(iii) सट्टे का उद्देश्य (Speculation motive)—कीन्स के अनुसार अनेक व्यक्ति सट्टे के उद्देश्य के लिए अपने पास नगद कोष रखते हैं। यहां सट्टे के उद्देश्य का तात्पर्य ब्याज दरों के परिवर्तनों द्वारा लाभ कमाना होता है। सट्टे के उद्देश्य के लिए मुद्रा की माग तथा ब्याज दरों में गहरा सम्बन्ध है तथा कीन्स के सिद्धान्त में सट्टे के उद्देश्य के लिए मुद्रा की मांग का केन्द्रीय स्थान है। (बाण्डों के मूल्य तथा ब्याज दरों में विपरीत सम्बन्ध होता है अर्थात बाजार में ब्याज दर बढ़ती है तब बाण्डों का मूल्य घटता है और जब ब्याज दर घटती है तब बाण्डों का मूल्य बढ़ता है। इन परिवर्तनों के लाभों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति अपने पास नगद कोष रखते हैं। जब विनियोक्ताओं का अनुमान हो कि भविष्य में ब्याज दर बढ़ेगी तो वे अपने पास तरल कोष रख सकते हैं ताकि भविष्य में ब्याज दर बढ़ने पर बाण्ड कम मूल्य पर खरीद सकें। इसके विपरीत वे सोचते हैं कि भविष्य में ब्याज दर कम हो जावेगी और बाण्डों का मूल्य बढ़ जावेगा तो वे वर्तमान में बाण्ड खरीद लेते हैं ताकि

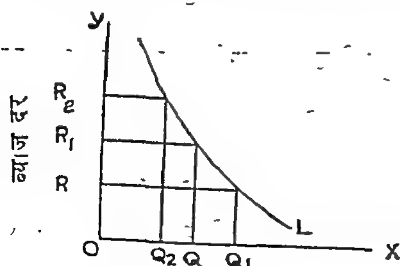
भविष्य में इन्हें अधिक मूल्य पर बेच कर लाभ कमा सकें। विनियोक्ता लोग ब्याज दर कम होने पर सट्टा उद्देश्य के लिए तरलता की अधिक मांग करते हैं तथा अधिक ब्याज दर पर कम।) सट्टे के उद्देश्य के लिए ब्याज दर तथा तरलता पसन्दगी में उल्टा सम्बन्ध है अर्थात कम ब्याज दर पर सट्टे के उद्देश्य के लिए अधिक तथा अधिक ब्याज दर पर तरलता की कम मांग की जाती है।

इस प्रकार तरलता की मांग तीन उद्देश्यों के लिए की जाती है जो (i) कार्य सम्पादन उद्देश्य, (ii) दूरदर्शिता उद्देश्य तथा (iii) सट्टा उद्देश्य हैं। इनमें से प्रथम दो के लिए तरलता की मांग ब्याज दर से स्वतन्त्र एवं अल्पकाल में स्थिर होती है। जबकि तीसरे उद्देश्य के लिए मुद्रा की मांग तथा ब्याज दर में गहरा सम्बन्ध है। अतः अल्पकाल में जब तरलता की मांग कार्य सम्पादन उद्देश्य तथा दूरदर्शिता उद्देश्य के लिए ब्याज दर से स्वतन्त्र तथा स्थिर रहती है तब तरलता की मांग अल्पकाल में सट्टा उद्देश्य के लिए ही प्रभावित होती है। अतः तरलता की कुल मांग इन तीन उद्देश्यों के लिए सम्मिलित मांग के बराबर होती है। यदि प्रथम दो उद्देश्यों के लिए तरलता की मांग को M_1 तथा सट्टा उद्देश्य के लिए तरलता की मांग को M_2 कहा जाय तो मुद्रा की मांग अथवा तरलता पसन्दगी को सूत्र के रूप में निम्न प्रकार लिख सकते हैं $M = M_1 + M_2$

अर्थात मुद्रा की मांग (M) = कार्य सम्पादन उद्देश्य हेतु मांग + दूरदर्शिता उद्देश्य हेतु मांग (M_1) + सट्टा उद्देश्य हेतु मांग (M_2)।

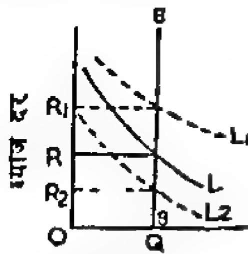
(2) मुद्रा की पूर्ति (Supply of Money)—किसी देश में सिक्के, पत्र-मुद्रा तथा बैंक साख मिलकर मुद्रा की कुल पूर्ति का निर्माण करते हैं। किसी भी देश में मुद्रा की पूर्ति मौद्रिक अधिकारी द्वारा की जाती है जो ब्याज दरों से स्वतन्त्र तथा समय विशेष पर निश्चित अथवा स्थिर रहती है अर्थात समय विशेष पर द्रव्य का पूर्ति वक्र उदग्र रेखा होती है।

(3) ब्याज दर का निर्धारण (Determination of Interest)—कीन्स के अनुसार किसी समय विशेष पर ब्याज दर वहां निर्धारित होती है जहां मुद्रा या तरलता का मांग वक्र मुद्रा के पूर्ति वक्र को काटता है। रेखा चित्र 41·2 में तरलता अथवा मुद्रा का मांग वक्र दिखाया गया है। इस चित्र में OX अक्ष पर मुद्रा की मात्रा तथा OY अक्ष पर ब्याज दर दिखायी गई है। जैसे-जैसे ब्याज दर बढ़ती है वैसे-वैसे तरलता अथवा मुद्रा की कम मांग की जाती



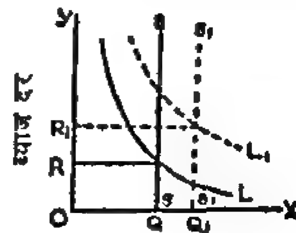
रेखा चित्र सं. 41·2

है। रेखा चित्र स 41 3 में मुद्रा की मांग तथा पूर्ति के साम्य द्वारा ब्याज दर का निर्धारण बताया है। इस रेखा चित्र मे SS मुद्रा का स्थिर पूर्ति वक्र है तथा L मुद्रा का



मुद्रा की मात्रा

रेखा चित्र स 41·3



मुद्रा की मात्रा

रेखा चित्र 41 4

प्रारम्भिक मांग वक्र है। मुद्रा की माग तथा पूर्ति के साम्य द्वारा OR ब्याज दर का निर्धारण हुआ है। मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहने पर तरलता की कुल माग वक्र बढ़ कर L_1 होने पर ब्याज दर OR से बढ़कर नये साम्य द्वारा OR_1 हो जाती है। जबकि मुद्रा की मांग वक्र घटकर L_2 होने पर ब्याज दर घटकर OR_2 हो जाती है। रेखा चित्र स 41 4 पर मुद्रा की मांग तथा पूर्ति दोनों में परिवर्तन होने पर नये साम्य द्वारा ब्याज दर को दिखाया गया है। इसमे प्रारम्भिक मुद्रा का माग वक्र L है तथा SS पूर्ति वक्र है। इनके साम्य द्वारा OR ब्याज दर निर्धारित होती है। मुद्रा का माग वक्र बदलकर L_1 तथा पूर्ति वक्र बदलकर S_1S_1 होने पर मुद्रा के नये माग वक्र एव पूर्ति वक्र के साम्य द्वारा OR_1 ब्याज दर निर्धारित होगी।

सिद्धांत की आलोचनाएं—इस सिद्धात की अनेक आलोचनाए की गई हैं जिसमें से प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित हैं.

(1) **मुद्रा की अस्पष्ट व्याख्या**—कीन्स का ब्याज का सिद्धांत एक मौद्रिक सिद्धांत है परन्तु वास्तविकता यह है कि इस सिद्धात में मुद्रा की व्याख्या भी ठीक तरह से नहीं की गई। एक स्थान पर कीन्स ने मुद्रा में साख मुद्रा को सम्मिलित किया है जबकि एक अन्य स्थान पर कहा है कि साख को मुद्रा में सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए।

(2) **अपूर्ण सिद्धान्त**—कीन्स का यह सिद्धान्त अपूर्ण है क्योंकि यह ब्याज दर के निर्धारण म मुद्रा की माग तथा पूर्ति का ही अध्ययन करता है जबकि यह ब्याज दर के निर्धारण पर बचत एव विनियोग के प्रभावों की उपेक्षा करता है। अत यह अपूर्ण या अधूरा सिद्धान्त है।

(3) **एक पक्षीय सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त में ब्याज दर के निर्धारण मे मुद्रा की मांग पर ही अधिक बल दिया गया है तथा पूर्ति को ब्याज दर से स्वतन्त्र तथा अल्पकाल में स्थिर मान लिया है। अत यह सिद्धान्त एक पक्षीय है।

(4) **दीर्घकालीन ब्याज दरों के निर्धारण की व्याख्या नहीं करता**—कीन्स का सिद्धान्त ब्याज की केवल अल्पकालीन दरों से सम्बंधित है तथा ब्याज की दीर्घकालीन प्रवृत्तियों की व्याख्या नहीं करता है।

(5) **ब्याज के लिए बचत व प्रतीक्षा आवश्यक**—जैकब विनर के अनुसार—"बचत के बिना तरलता के परित्याग का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। ब्याज दर तरलता के बगैर बचत का पुरुस्कार है।" अतः कीन्स का यह कहना कि ब्याज तरलता के परित्याग का पुरुस्कार है, गलत है।

(6) **संकुचित क्षेत्र**—यह एक मौद्रिक सिद्धान्त है अतः मौद्रिक अर्थव्यवस्था में ही कार्यशील हो सकता है। अतः वस्तु विनिमय अर्थव्यवस्थाओं में यह लागू नहीं होता है।

(7) **व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में असफल**—कीन्स का तरलता पसन्दगी सिद्धान्त अनेक व्यावहारिक समस्याओं की व्याख्या करने में असमर्थ रहा है। उदाहरण के तौर पर मन्दी के समय लोगों की तरलता पसन्दगी बहुत अधिक रहती है परन्तु अन्य वस्तुओं के मूल्यों की तरह मन्दी में ब्याज दर भी नीची रहती है। इसी तरह तेजी के समय लोगों की तरलता पसन्दगी बहुत कम होते हुए भी ब्याज दर ऊंची रहती है।

(8) **ब्याज दर अनिर्धारणीय**—कीन्स के तरलता पसन्दगी सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर अनिर्धारणीय है क्योंकि कीन्स के अनुसार ब्याज दर तरलता की मांग तथा तरलता की पूर्ति पर निर्भर करती है। तरलता की मांग कार्य सम्पादन उद्देश्य, दूरदर्शिता उद्देश्य एवं सट्टा उद्देश्य पर निर्भर करती है। इनमे से प्रथम दो उद्देश्यों के लिए तरलता की मांग समय विशेष पर स्थिर होती है तथा आय स्तर पर निर्भर करती है। आय स्तर के निर्धारण में ब्याज दरों का महत्वपूर्ण योगदान होता है अतः आय स्तर को जाने बगैर ब्याज दर नहीं जानी जा सकती है तथा ब्याज दर जाने बगैर आय स्तर। अतः ब्याज दर अनिर्धारणीय है।

(9) **विभिन्न ब्याज दरों के सह-अस्तित्व की व्याख्या में असफल**—प्रो. हाम के अनुसार "तरलता पसन्दगी सिद्धान्त के आधार पर ब्याज की विभिन्न दरों के सह-अस्तित्व को समझना असम्भव है क्योंकि नकदी में पूर्ण समानता के कारण ब्याज दर भी सदैव समान रहनी चाहिए।"

ब्याज का नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त या उधार-देय कोष सिद्धान्त
(Neo-Classical Theory of Interest or Loanable Fund Theory of Interest)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय स्वीडन के अर्थशास्त्री विक्सैल को है जबकि इस सिद्धान्त के विकास में गुनार मिर्डल, बेप्ट हेन्सन, वर्टिल ओहलिन आदि अर्थशास्त्रियों ने भी योगदान किया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज उधार देय कोषों के प्रयोग के लिए दी गई कीमत है तथा ब्याज दर का निर्धारण साख बाजार में उधार देय कोषों की मांग तथा पूर्ति के साम्य द्वारा होता है। "उधार देय कोषों" का तात्पर्य मुद्रा की उस मात्रा से है जो ऋण प्रदान करने वाले व्यक्तियों एवं संस्थाओं द्वारा साख बाजार में

उपलब्ध की जाती है। इस सिद्धान्त का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है

1 उधार देय कोषों की माग—उधार देय कोषों की माग (i) विनियोग, (ii) उपभोग एव (iii) सचय के लिए की जाती है।

(i) विनियोग (Investment)—उधार देय कोषों की माग सर्वाधिक विनियोग के लिए उत्पादकों, व्यावसायियों एव सरकार द्वारा की जाती है। विनियोग के लिए माग उस समय तक की जाती है जब तक विनियोग की शुद्ध सम्भाव्य आय ब्याज दर के बराबर न हो जाय। ब्याज दर में परिवर्तन विनियोग के लिए उधारदेय कोषों की माग को प्रभावित करते हैं। ब्याज दर कम होने पर विनियोग के लिए मांग बढ जाती है तथा ब्याज दर के बढ़ने पर माग कम हो जाती है।

(ii) उपभोग (Consumption) —उपभोग के लिए उधार योग्य कोषों की मांग उपभोक्ताओं एव गृहस्वामियों के द्वारा की जाती है। उपभोग के लिए मांग आय एव खर्चे म अन्तर होने के कारण की जाती है। ब्याज दर कम होने पर उपभोग के लिए उधार देय कोषों की माग कुछ बढ़ जाती है तथा ब्याज दर कम होने पर घट जाती है।

(iii) सचय (Hoarding)—उधारदेय कोषों की माग अनेक व्यक्तियों द्वारा अपने पास नगद के रूप म धन रखने के लिए की जाती है। सचय के लिए उधारदेय कोषों की माग करने वाले व्यक्ति न तो कोषों का विनियोग करते है और न ही उपभोग में व्यय करते हैं बल्कि नगद कोषों को अपने पास निष्क्रिय रखते हैं। सचय के लिए भी उधारदेय कोषों की माग ब्याज के अनुसार लोचदार होती है। यदि ब्याज दर ऊंची होती है तो सचय के लिए माग कम की जाती है तथा ब्याज दर नीची होने पर सचय के लिए मांग अधिक की जाती है।

इस प्रकार विनियोग, उपभोग एव सचय के लिए सम्मिलित माग उधारदेय कोषों की मांग होती है। उधारदेय कोषों का मांग वक्र बायें से दायें को ऊपर से नीचे को गिरता हुआ होता है।

(2) उधारदेय कोषों की पूर्ति—उधारदेय कोषों की पूर्ति (i) बचत, (ii) असचय, (iii) बैंक साख तथा (iv) अविनियोग से होती है।

(i) बचत (Savings)—व्यक्तियों एव परिवारों की बचतें उधारदेय कोषों का एक महत्वपूर्ण भाग होती हैं। व्यावसायिक फर्में भी अपने अतिरिक्त लाभों में से बचत करती हैं। बचतें ब्याज दर से प्रभावित होती हैं। ब्याज दर अधिक होने पर अधिक बचतें की जाती हैं तथा ब्याज दर कम होने पर बचतें कम हो की जाती हैं।

(ii) असचय (Dishoarding)—पिछले सचय का कुछ भाग चालू अवधि में उधार देने के लिए उपलब्ध हो सकता है। सामान्यतया ब्याज दर ऊंची होने

पर पिछले संचय से अधिक राशि उधार देने के लिए बाहर निकाली जावेगी तथा ब्याज दर कम होने पर कम ही राशि संचय से उधार देने को निकाली जाती है।

(iii) **बैंक साख (Bank Credit)**—बैंकों द्वारा जमाओं तथा साख सृजन से उधार देय कोषों की पूर्ति की जाती है। बैंक सामान्यतया ब्याज दर अधिक होने पर अधिक साख का सृजन करते हैं तथा कम ब्याज दर पर उधार भी कम दी जाती है।

(iv) **अविनियोग (Disinvestment)**—जब संरचनात्मक परिवर्तन के कारण विद्यमान मशीनों व पूंजीगत सामान को घिसने दिया जाता है और उनके प्रतिस्थापन की व्यवस्था नहीं की जाती है तो यह अविनियोग कहलाता है। ऊंची ब्याज दर अविनियोग को प्रोत्साहित करती है।

(3) **ब्याज दर का निर्धारण (Determination of Interest)**—ब्याज दर का निर्धारण वहां होता है जहां उधारदेय कोषों की मांग तथा उधारदेय कोषों की पूर्ति दोनों बराबर हों।

सिद्धान्त की आलोचनाएं—इस सिद्धान्त की अनेक आलोचनाएं की गई हैं जिनमें से प्रमुख आलोचनाएं निम्न लिखित है :

(i) **बचतों पर ब्याज दर के प्रभाव को बहुत बढ़ा चढ़ा कर बताया गया है**—बचतों पर ब्याज दर के प्रभाव को बहुत अधिक बढ़ा चढ़ा कर बताया गया है। व्यावहार में सभी बचतें ब्याज दर से प्रभावित नहीं होती हैं; अनेक बचतें अनायास ही हो जाती हैं। बचतें ब्याज की अपेक्षा आय स्तर से अधिक प्रभावित होती है।

(ii) **आय स्तर को स्थिर माना है जो गलत है**—इस सिद्धान्त में आय स्तर को स्थिर माना है जो ठीक नही है। इस सिद्धान्त में आय पर विनियोगों के प्रभाव की उपेक्षा की गई है जबकि विनियोग बढ़ने से रोजगार, उत्पादन तथा आय बढ़ती है।

(iii) **ब्याज दर का निर्धारण कठिन**—इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण कठिन है क्योंकि उधारदेय कोषों की पूर्ति बचतों से प्रभावित होती है तथा बचत ज्ञात करने के लिए आय स्तर एवं ब्याज दर दोनों ज्ञात करनी होती हैं।

क्या ब्याज की दर ऋणात्मक अथवा शून्य हो सकती है? (Can the rate of interest be negative or zero)—क्या ब्याज की दर ऋणात्मक अथवा शून्य हो सकती है? इस प्रश्न का अर्थ यही है कि क्या ब्याज की दर शुद्ध ब्याज से कम या इसके बराबर हो सकती है? ऐसा केवल कागज पर ही संभव हो सकता है व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा कभी कभी ही देखने को मिला है।

व्यावहारिक दृष्टि से ब्याज की दर ऋणात्मक अथवा शून्य असाधारण परिस्थितियों यथा अराजकता, मारकाट आदि में ही हो सकती है। देश विभाजन के समय पाकिस्तान से भारत आने वाले भारतीयों ने अपने धन की सुरक्षा के लिये

उसे अन्य लोगों को उतनी ही या उससे कम राशि प्राप्त करने की शर्त पर भी सौंप दिया था। यही स्थिति दंगा ग्रस्त अथवा डाकू ग्रस्त क्षेत्रों में होती है। पर व्यवहार में ऐसी परिस्थितियां कम दशाओं में ही उत्पन्न होती हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से निम्न अवस्थाओं में ब्याज की दर शून्य हो सकती है।

(i) अगर किसी समाज में पूंजी की निर्माण दर अत्यधिक ऊंची होने के कारण पूंजी की पूर्ति इसकी मांग से बहुत अधिक हो जाय तो पूंजी की उत्पादकता शून्य हो सकती है। ऐसी स्थिति में ब्याज दर शून्य हो सकती है। परन्तु व्यवहार में ऐसा देखने को नहीं मिलता है। उन्नत तथा विकसित राष्ट्रों में पूंजी निर्माण दर अत्यधिक ऊंची हो सकती है परन्तु ऐसे समाज में आर्थिक विकास दर भी उसी गति से बढ़ती जाती है।

(ii) पिछड़ी अर्थव्यवस्था में विकास दर अत्यधिक मंद रहती है परन्तु इसमें उपभोग भी अति सीमित होता है। अतः कुछ लोग अधिक धन बचाने में समर्थ हो जाते हैं। वे अपनी बचत को पूंजी की सुरक्षा की दृष्टि से या तो अन्य लोगों को ब्याज की शून्य दरों पर सौंप देते हैं या फिर उसे जमीन में गाड़ कर रख देते हैं।

(iii) इस्लाम धर्म में ब्याज का लेना पाप माना जाता है। इसका कारण यही है कि अरब राष्ट्रों में आर्थिक क्रियाओं के अति सीमित होने के कारण रुपये के लेन-देन का उद्देश्य उपभोग की पूर्ति करना ही माना जाता था। इस प्रकार जिन देशों में समाज की सम्पूर्ण आय को उपभोग कार्यों पर व्यय कर दिया जाता है या विकास के अभाव में रुपये से आर्थिक लाभ प्राप्त करने की बात सोची भी नहीं जा सकती वहां ब्याज की दर शून्य होती है। परन्तु उन्नत राष्ट्रों में पूंजी की वृद्धि दर अत्यधिक ऊंची होने पर भी पूंजी की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक अथवा शून्य नहीं हो सकती। अतः इनमें ब्याज की दर भी शून्य या ऋणात्मक नहीं हो सकती है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि केवल अति असामान्य परिस्थितियों तथा अति पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्थाओं में ही ब्याज की दर शून्य हो सकती है। परन्तु प्रगतिशील अर्थव्यवस्था में जनसंख्या में वृद्धि, नये-नये आविष्कारों तथा युद्धों के कारण पूंजी के विनाश के कारण पूंजी की मांग सदैव बनी रहती है अतः इनमें ब्याज दर शून्य नहीं हो सकती है।

प्रश्न एवं संकेत

(1) कुल ब्याज और वास्तविक ब्याज में अन्तर बताइये।

(संकेत—सर्वप्रथम कुल ब्याज और वास्तविक ब्याज का अर्थ लिखें तथा इसके बाद कुल ब्याज तथा वास्तविक ब्याज में अन्तर स्पष्ट कर दें।)

(2) ब्याज के तरलता पसन्दगी सिद्धान्त को समझाइये ।

अथवा

कीन्स के ब्याज के तरलता पसन्दगी सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये ।

(संकेत—तरलता पसन्दगी का अर्थ बता कर तरलता की माँग, तरलता की पूर्ति तथा ब्याज दर का निर्धारण रेखा चित्रों की सहायता से स्पष्ट कर दें । अन्त में इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाओं का भी वर्णन कर दें ।

(3) ब्याज के नवप्रतिष्ठित सिद्धान्त को समझाइये ।

अथवा

ब्याज के उधार देय कोष सिद्धांत की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये ।

(संकेत—सबसे पहले उधारदेय कोष सिद्धान्त का अर्थ लिख कर इस सिद्धान्त के मांग पक्ष तथा पूर्ति पक्ष की व्याख्या करते हुये ब्याज दर का निर्धारण बतलावें । अन्त में इस सिद्धान्त की सक्षेप में आलोचना भी कर दें ।)

(4) क्या ब्याज दर ऋणात्मक अथवा शून्य हो सकती है ?

(संकेत—सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्याज दर शून्य या ऋणात्मक नहीं हो सकती है जबकि असाधारण परिस्थितियों में व्यवहार में ब्याज दर शून्य हो सकती है ।

(5) ब्याज दरों में विभिन्नता की व्याख्या कीजिये ।

(संकेत—ब्याज दर की विभिन्नता के कारण लिख दें ।)

---

42 लाभ (Profit)

उत्पादन में साहसी या उद्यमी को अपनी सेवाओं के प्रतिफल के रूप में जो कुछ भी मिलता है वह लाभ कहलाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि राष्ट्रीय आय का वह भाग जो वितरण की प्रक्रिया में उद्यमी को प्राप्त होता है लाभ कहलाता है। यह राशि साहसी को 'अवशिष्ट लाभ' के रूप में प्राप्त होती है अर्थात् उत्पादन के अन्य सभी साधनों के पुरस्कारों का भुगतान करने के उपरान्त जो शेष बच रहता है वही साहसी का लाभ होता है।

कुछ ध्यान देने योग्य बातें—यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि साहसी उत्पादन के अन्य साधनों को भाड़े पर काम में लगाकर उनमें समन्वय स्थापित करके उनसे उत्पादन कार्य चलाता है। साहसी के अभाव में इन साधनों का प्रयोग सम्भव नहीं। साहसी को वेतन पर नहीं रखा जा सकता। वह स्वयं भूमि, श्रम, पूँजी, प्रबन्ध आदि को भाड़े पर रखता है। भूमि, श्रम, पूँजी तथा प्रबन्ध के पारिश्रमिक तो पूर्व निर्धारित एवं निश्चित होते हैं परन्तु साहसी का लाभ एक दम अनिश्चित एवं अनिर्धारित होता है। वह उत्पत्ति की लागत तथा उससे प्राप्त होने वाली आय का अनुमान लगाता है। परन्तु ये अनुमान कभी-कभी गलत भी हो सकते हैं। इस स्थिति में उसे लाभ के स्थान पर हानि होती है। इस प्रकार साहसी का पुरस्कार ऋणात्मक (negative) हो जाता है। परन्तु अन्य साधनों के पुरस्कार सदैव धनात्मक रहते हैं।

लाभ का अर्थ—प्रो० सेम्युलसन के अनुसार, "लाभ किसका प्रतिफल होता है? इसके उत्तर पर अर्थशास्त्री सदैव ही सहमत नहीं होते हैं। हाल ही में एक स्नातक छात्र ने विभिन्न आधुनिक पाठ्य पुस्तकों का अवलोकन किया और उसे भिन्न भिन्न 14 उत्तर मिले।'[1] प्रो० नाइट ने भी इसी से मिलते-जुलते विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि 'सम्भवतः आर्थिक विश्लेषण में लाभ के अतिरिक्त और कोई

1 "What is profit the return to? Economists do not always agree on the answer A Graduate student recently checked over a number of modern text books and came up with 14 different answers."— —P A Samuelson

ऐसा शब्द या धारणा नहीं है जिसे इतने विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया है।" इस प्रकार लाभ को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है।

साधारण भाषा में लाभ उस समस्त राशि को कहते हैं जो उत्पादक को उत्पादन कार्य चलाने के कारण प्राप्त होती है; अर्थात् कुल उत्पत्ति के मूल्य में से कुल वास्तविक व्यय घटाने के उपरान्त जो राशि शेष रह जाती है वह उत्पादक अथवा साहसी का लाभ कहलाती है। पर यह तो कुल लाभ होता है। आर्थिक लाभ का तात्पर्य शुद्ध लाभ से होता है। आर्थिक लाभ साहसी के कार्यों अर्थात् जोखिमों तथा अनिश्चितताओं को झेलने के लिए पुरस्कार है। शुम्पीटर ने लाभ को नवप्रवर्तन (innovations) अर्थात् नवीन लागत बचत रीति का परिणाम कहा है।

प्रो० हेनरी ग्रेसन (Henry Grayson)—ने लाभ को 1. "नव प्रवर्तन का पुरस्कार 2. जोखिम तथा अनिश्चितताओं को स्वीकार करने का पुरस्कार 3. बाजार संरचना में अपूर्णताओं का परिणाम कहा है। स्पष्ट है कि किसी भी एक अथवा तीनों परिस्थितियों का कोई सम्मिश्रण आर्थिक लाभ को उत्पन्न कर सकता है।"

कुछ अर्थशास्त्री लाभ को नवप्रवर्तन का पुरस्कार कहते है तो कुछ ने लाभ को जोखिम का पुरस्कार माना है। कुछ ने इसे बाजार संरचनाओं में अपूर्णताओं का परिणाम माना है। कुछ अर्थशास्त्री लाभ को अवशिष्ट आय (Residual Income) मानते हैं, जो अन्य साधनों का भुगतान करने के पश्चात् उत्पादक के लिये बच रहती है। इस प्रकार लाभ शब्द का अन्तर स्पष्ट रूप से समझने के लिये 'कुल लाभ' (Gross Profit) तथा 'शुद्ध लाभ' (Net Profit) का अन्तर समझ लेना आवश्यक है।

कुल लाभ—साधारण भाषा में जिस अर्थ में 'लाभ' शब्द का प्रयोग किया जाता है वह कुल लाभ ही होता है। इसे (व्यवसाय में विनियोजित पूंजी पर प्राप्त होने वाले प्रतिफल को) प्रतिशत के रूप में व्यक्त किया जाता है। साहसी द्वारा उत्पत्ति के विक्रय मूल्य में से अर्थात् फर्म की कुल आगम (Total Revenue) में से, उत्पत्ति में प्रयुक्त साधनों यथा श्रम, पूंजी, भूमि तथा प्रबन्ध का ठहराया गया मूल्य तथा घिसाई व्यय को निकाल देने के उपरान्त जो शेष बच रहता है वह कुल लाभ कहलाता है। ठहराये गये मूल्य पर क्रय किये गये साधनों के अतिरिक्त उत्पादक अपने स्वयं के श्रम, भूमि, पूंजी तथा प्रबन्ध का प्रयोग भी उत्पादन में करता है। साहसी के अपने स्वयं के साधनों के पुरस्कार को 'अस्पष्ट लागतें' या 'अव्यक्त लागतें' (Implicit Costs) कहते है। क्रय किये गये साधनों की लागत को 'व्यक्त लागतें' या 'स्पष्ट लागतें' (Explicit Costs) कहते है। इस प्रकार कुल आगम में से केवल व्यक्त लागतें घटाने के उपरान्त जो शेष बचता है उसे 'कुल लाभ' कहते हैं। कुल आगम में से व्यक्त लागतें तथा अव्यक्त लागतें दोनों को घटाने के उपरान्त जो कुछ शेष बच जाता है वह शुद्ध लाभ या आर्थिक लाभ कहलाता है।

प्रो० सेम्युल्सन ने मत व्यक्त किया है कि माय में से व्यय चुकाने के बाद 'जो कुछ बचता है उसमें कुछ अंश फर्म के मालिकों द्वारा दी गई पूंजी का प्रतिफल हो सकता है। कुछ अंश फर्म के मालिकों द्वारा किये गये व्यक्तिगत काम का प्रतिफल हो सकता है। कुछ अंश स्वनियोजित प्राकृतिक साधनों का प्रतिफल हो सकता है। साधारणत जिसे लाभ कहते हैं, वह वास्तव में स्वयं के द्वारा प्रयुक्त साधनों को अव्यक्त ब्याज, अव्यक्त-लगान तथा अव्यक्त-मजदूरी के अतिरिक्त कुछ नहीं है।"[2]

कुल लाभ के अंग (Constituents of Gross Profit)—कुल लाभ के निम्नलिखित अंग हैं :—

(1) आर्थिक लाभ या शुद्ध लाभ—इसे कई अर्थों में प्रयोग किया जाता है। उनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

(2) व्यक्त लागतें—इनमें उत्पत्ति के साधनों का ठहराया हुआ मूल्य, घिसाई व्यय, बीमा व्यय आदि शामिल होते हैं।

(3) अव्यक्त लागतें—इनमें स्वामी द्वारा प्रयुक्त स्वयं के साधनों यथा श्रम, पूंजी, भूमि तथा प्रबन्ध का प्रतिफल शामिल होता है।

(4) एकाधिकारी लाभ—कभी-कभी कोई उत्पादक अपने क्षेत्र में एक मात्र उत्पादक होने के कारण वस्तु की पूर्ति पर पूरा-पूरा नियंत्रण रखकर वस्तु का मनमाना मूल्य वसूल करता है तो उसे अपनी इस स्थिति के कारण जो अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है वह उसका एकाधिकारी लाभ होता है।

(5) अप्रत्याशित आय (Chance gains)—कभी-कभी उत्पादकों को आर्थिक तथा राजनीतिक अथवा सामाजिक परिवर्तनों के फलस्वरूप कुछ अप्रत्याशित आय हो जाती है। वह उनके कुल लाभ को बढ़ा देती है। उदाहरण के रूप में युद्ध के समय, फैशन में परिवर्तन के कारण अथवा राष्ट्रपति द्वारा अध्यादेश जारी करके मूल्य-वृद्धि के कारण उद्योगपतियों को रात-रात में करोड़ों, लाखों रु० का लाभ हो जाता है यह 'अप्रत्याशित आय', 'छप्पर फाड़ आय' (Wind falls), संयोग आय आदि नामों से जानी जाती है। इसका स्वभाव अस्थायी किस्म का होता है।

शुद्ध लाभ—कुल लाभ में से आर्थिक लाभ के अतिरिक्त अन्य सभी मदों को

---

2 "But obviously, part at least of what left may be merely the return to the owners of the firm for the capital supplied by them Part may be the return to the personal work provided by the owners of the firm ....Part may be the rent return on self employed natural resources ... .. Much of what is ordinarily called profit is really nothing but ....implicit interest, implicit rent and implicit wages, is the earnings of self employed factors." —P. A Samuelson

घटा देने पर जो शेष बचता है वह शुद्ध लाभ होता है। यह उत्पादकों के निम्न-लिखित कार्यों का परिणाम होता है। इन्हें शुद्ध लाभ के अंग कहते हैं।

शुद्ध लाभ के अंग
(Constituents of Net Profit)

(1) **समन्वय का प्रतिफल**—साहसी अथवा उद्यमी उत्पादन कार्य प्रारम्भ करने की समस्त योजना बनाता है, विभिन्न क्षेत्रों से उत्पादन के साधनों को एकत्रित करके उन्हें आवश्यक अनुपात में मिलाकर उनसे उत्पादन कार्य चलाता है। अपने इस प्रयास के बदले मे उसे जो कुछ प्रतिफल मिलता है वह शुद्ध लाभ का ही एक अंग होता है।

(2) **जोखिम का प्रतिफल**—वह उत्पादन प्रारम्भ करते समय उत्पादन के पैमाने के अनुसार उत्पादन की लागत तथा आगम का अनुमान लगाता है। उसके अनुमान गलत भी सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु वह उत्पादन कार्य चलाने की जोखिम उठाता है तथा भाड़े पर लिए गए साधनों का प्रतिफल यथा समय चुकाता रहता है। इस अनिश्चितता तथा जोखिम के कारण उसे जो प्रतिफल मिलता है वह भी शुद्ध लाभ का ही एक अंग होता है।

(3) **नवप्रवर्तन का प्रतिफल**—कभी-कभी उत्पादक उत्पादन प्रणाली की नवीन लागत बचत रीति द्वारा अथवा नवीन प्रकार की मशीनो आदि का प्रयोग करके उत्पादन चलाते हैं। फलस्वरूप उन्हें अधिक लाभ प्राप्त होता है। यह लाभ भी शुद्ध लाभ का ही एक अंग होता है।

उपरोक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि फर्म की कुल आगम में से समस्त व्यक्त लागतों को घटादें तो शेष कुल लाभ बचता है। कुल लाभ में से अव्यक्त लागतें तथा मूल्य ह्रास बीमा व्यय, एकाधिकारी तथा आकस्मिक लाभों को घटा दें तो शुद्ध लाभ बचता है। कभी-कभी अव्यक्त लागतें, मूल्य ह्रास व्यय तथा बीमा व्यय की सम्मिलित मात्रा कुल लाभ से अधिक बैठती है। इस स्थिति में जोखिम आदि का पुरस्कार धनात्मक होने की बजाय ऋणात्मक होता है। यह उत्पादक को हानि होती है। शुद्ध लाभ सामान्य अथवा असामान्य लाभ हो सकता है। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है :

सामान्य तथा असामान्य लाभ (Normal Profit and Supernormal Profit)—प्रत्येक उद्योग तथा फर्म को कुछ न कुछ लाभ की आशा अवश्य रहती है। इसे प्राप्त न होने पर कोई भी उद्यमी उत्पादन कार्य चलाना उचित तथा लाभदायक नहीं समझता है। उद्यमी को सम्बन्धित व्यवसाय में बनाये रखने के लिए यह लाभ आवश्यक है। यह सामान्य लाभ कहलाता है। यह उत्पादक को दीर्घकाल में प्राप्त होता है। यह भी सम्भव हो सकता है कि अल्पकाल में उद्यमी को सामान्य लाभ भी प्राप्त न हो तथा हानि भी उठानी पड़े। परन्तु दीर्घकाल में उसे सामान्य लाभ अवश्य मिलना चाहिए अन्यथा वह उत्पादन कार्य बन्द कर देगा। यह उद्यम-

कर्ता को, अन्य साधनों के समान, उसके द्वारा उठाई गई जोखिम तथा समन्वय के प्रतिफल के रूप में प्राप्त होता है। जैसा हमने मूल्य निर्धारण के समय देखा है कि सामान्य लाभ लागत का ही एक अंग होने के कारण वस्तु के मूल्य में सम्मिलित होता है। सामान्य लाभ सीमान्त उद्यमकर्ताओं को भी प्राप्त होता है। श्रीमती जॉन राबिन्सन के अनुसार 'सामान्य लाभ वह होता है जो कि न तो इतना अधिक होता है कि नई-नई फर्में उद्योग की ओर आकर्षित हों और न इतना कम होता है कि वर्तमान फर्में ही उद्योग को छोड़ने लग जाय।"

अति सामान्य लाभ वह लाभ होता है जो उद्यमी को सामान्य लाभ के अतिरिक्त प्राप्त होता है। यह साधारणतः अधि-सीमान्त उद्यमियों को उनकी कुशलता के कारण प्राप्त होता है। इस प्रकार यह लगान के समान होता है। यह उत्पादन लागत में सम्मिलित नहीं होता है। फर्म अथवा उद्यमी इसके अभाव में भी उद्यम में बने रहते हैं।

लाभ के सिद्धान्त
(Theories of Profit)

लाभ क्यों उत्पन्न होता है तथा लाभ का निर्धारण किस प्रकार होता है? इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के अलग-अलग मत हैं। अर्थशास्त्री कुल लाभ को उत्पादन के अन्य साधनों के समान एक प्रतिफल मानते हैं। इनके अनुसार लाभ का निर्धारण भी पूंजी के प्रतिफल ब्याज अथवा श्रम के प्रतिफल मजदूरी के समान होता होता। कुछ अर्थशास्त्री लाभ को एक आधिक्य के रूप में मानते हैं। यह कुल आगम में से कुल भुगतान करने के पश्चात् व्यवसायी के लिए शेष बच रहता है। इस प्रकार यह अनिश्चितता, जोखिम, नवप्रवर्तन, परिवर्तन आदि का प्रतिफल होता है। तीसरी श्रेणी में ऐसे अर्थशास्त्री आते हैं जो लाभ की अनार्जित प्रकृति पर बल देते हैं। कार्ल मार्क्स का श्रम शोषण सिद्धान्त इसी श्रेणी में आता है। लाभ के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन आगे किया जा रहा है—

(1) लाभ का लगान सिद्धांत (Rent Theory of Profit)—हालांकि लाभ के लागत सिद्धांत के बारे में सीनियर तथा जे० एस० मिल आदि अर्थशास्त्रियों ने भी विचार प्रकट किये थे। परन्तु इस सिद्धांत के पूर्ण विकास का श्रेय अमेरिकी अर्थशास्त्री फासिस एल० वाकर को है। उनके मतानुसार लाभ योग्यता का लगान होता है (rent of ability)। इस प्रकार भूमि के समान योग्य साहसी कम योग्य साहसी की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त करता है। रिकार्डो के लगान सिद्धांत के अनुसार जिस प्रकार भूमि विभिन्न श्रेणियों की होती है तथा सबसे कम अच्छी भूमि सीमान्त अथवा लगान-रहित भूमि कहलाती है उसी प्रकार साहसी भी विभिन्न योग्यताओं वाले होते हैं। कम योग्यता वाला साहसी सीमांत साहसी होने के नाते कोई लाभ प्राप्त नहीं करता है। उससे पूर्व के साहसी अधिसीमांत या श्रेष्ठ साहसी होने के कारण लाभ-प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सीमांत साहसी अपनी उत्पत्ति को बाजार में बेचकर केवल अपनी

लागत ही निकाल पाता है। उसे कोई लाभ नहीं मिलता। परन्तु अधिसीमांत साहसी अर्थात श्रेष्ठ साहसी अपनी योग्यता के कारण कम लागत पर वस्तु का उत्पादन करने के कारण लाभ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार लगान की तरह लाभ एक भेदात्मक बचत (differential gain) होता है।

लगान के समान लाभ भी मूल्य को निर्धारित नहीं करता वरन् मूल्य द्वारा निर्धारित होता है। वस्तु का मूल्य अधिक होने पर लाभ अधिक होता है तथा मूल्य कम होने पर कम रहता है। लाभ और लगान में एक सैद्धांतिक मतभेद है। भूमि प्रकृति का उपहार होने के कारण इसकी पूर्ति अल्प तथा दीर्घ दोनों ही कालों में स्थिर रहती है। इस प्रकार लगान एक स्थाई आय है। परन्तु उद्यमियों की पूर्ति को दीर्घकाल में घटाया बढ़ाया जा सका है। दीर्घकाल में उद्यमियों की पूर्ति बढ़ने से उत्पादन बढ़ेगा तथा मूल्य गिरेंगे और लाभ भी कम हो जायेंगे। धीरे-धीरे शुद्ध लाभ शून्य हो जायेंगे। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साहसी को केवल उसके निरीक्षण का पुरस्कार तथा अपने साधनों का पुरस्कार अर्थात् व्यक्त लागतें ही प्राप्त होंगे।

सिद्धांत की आलोचनाएं :

(1) इस सिद्धांत में जोखिम तथा अनिश्चितता के तत्वों की उपेक्षा की जाती है। वास्तव में लाभ योग्यता का लगान नहीं वरन् जोखिम तथा अनिश्चितताओं का पुरस्कार होता है। वर्तमान मिश्रित पूंजी वाली कम्पनियों के युग में अधिक अंश खरीदने वालों को अधिक लाभांश प्राप्त होता है भले ही वे योग्य हों या अयोग्य हों।

(2) यह नियम यह नहीं बताता कि लाभ क्यों उत्पन्न होता है? केवल एक सामान्य कथन को बनाता है।

(3) लाभ के लगान सिद्धांत की यह धारणा उचित नहीं कि लाभ मूल्य को प्रभावित नहीं करता अर्थात यह सिद्धांत 'लाभ' तथा सामान्य लाभ को एक ही मानता है। सामान्य लाभ तो लागत का ही एक अंग होता है।

(4) लाभ की लगान से समता करना ठीक नही क्योंकि लगान एक निश्चित आय होती है जबकि लाभ अनिश्चित होता है। लगान सदैव धनात्मक होता है। कभी कभी वह शून्य भी हो सकता है परन्तु लाभ ऋणात्मक भी हो जाता है। लगान स्थिर तथा परिवर्तनशील दोनों ही अवस्थाओं मे उत्पन्न होता है. परन्तु लाभ केवल परिवर्तनशील (dynamic) अर्थव्यवस्था में ही उत्पन्न होता है। स्थिर अर्थव्यवस्था में अनिश्चितताओं के न होने के कारण लाभ उत्पन्न नहीं होता है।

(5) लगान में सीमांत भूमि तो हो सकती है परन्तु लाभ में सीमांत साहसी (लाभ रहित) नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य लाभ न मिलने पर साहसी उत्पादन कार्य का परित्याग करके अन्य कोई कार्य करने लगता है।

2. लाभ का मजदूरी सिद्धांत (Wage Theory of Profit) — इस सिद्धांत के प्रमुख समर्थक प्रो टाजिग तथा डेवन पोर्ट हैं। इस सिद्धांत के अनुसार लाभ भी मजदूरी का ही एक रूप होता है। यह केवल संयोग के कारण ही उत्पन्न नहीं होता।

लाभ तो एक प्रकार की मजदूरी है जो उद्यमी को उसकी सेवाओं तथा संगठन कार्य की सेवा, जोखिम उठाने की सेवा, आदि के कारण प्राप्त होती है। टॉजिग के अनुसार लाभ उद्यमकर्त्ता की वह मजदूरी है जो उसे अपनी विशेष योग्यता के कारण प्राप्त होती है।' अर्थात् उद्यमी भी एक प्रकार का श्रमिक होता है। यह बात दूसरी है कि उसके श्रम में शारीरिक श्रम का अंश मानसिक श्रम की तुलना में कम होता है। साहसी की आय (लाभ) भी उसके विशिष्ट मानसिक गुणों का परिणाम होती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उद्यमकर्ता भी एक श्रमिक के समान होता है और उसे मिलने वाला लाभ उसकी मजदूरी के रूप में होता है।

सिद्धान्त की आलोचनायें—इस सिद्धान्त के अनुसार श्रमिक तथा उद्यमी के मौलिक अन्तरों को भुला दिया जाता है हालांकि उद्यमकर्ता तो जोखिम उठाता है पर श्रमिक को कोई जोखिम उठानी नहीं पड़ती है। श्रमिक को अपने श्रम के साथ साथ मजदूरी मिलती जाती है परन्तु उद्यमी को अन्त तक अर्थात् उत्पत्ति के बिकने तक लाभ की बाट देखनी पड़ती है और यह आवश्यक नहीं कि उसे लाभ हो ही। उसे हानि भी हो सकती है।

3 लाभ का जोखिम सिद्धान्त (Risk Theory of Profit)—1907 में अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रो० हाले (Hawlay) ने अपनी पुस्तक 'Enterprise and Productive Process' में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार लाभ व्यवसाय में जोखिम उठाने का पुरस्कार होता है। एक उद्यमी या साहसी भविष्य की माँग के आधार पर उत्पादन चलाने की जोखिम उठाता है। माँग, लागत, मूल्य इत्यादि का अनुमान लगाकर उत्पादन के अन्य साधनों को समन्वित करके उत्पादन चलाता है। उन्हें उनका ठहराया हुआ मूल्य यथा समय देता रहता है। उद्यमी को उत्पादन कार्य में जोखिम बनी रहती है क्योंकि उसके सभी अनुमान गलत भी हो सकते हैं और उसे उत्पत्ति की बिक्री से उतनी आय नहीं हो सकती जितनी लागत उसने उत्पादन साधनों के भुगतान आदि के रूप में व्यय की है। इस प्रकार साहसी जोखिम उठाने के इस कार्य के बदले में कुछ न कुछ पुरस्कार अवश्य चाहेगा और यही लाभ होता है। देखने में ऐसा आता है कि विभिन्न व्यवसायों में जोखिम की मात्रा भी विभिन्न होती है इसीलिये विभिन्न व्यवसाय के स्वामियों को भिन्न भिन्न मात्राओं में लाभ मिलता है। जिन व्यवसायों में जोखिम अधिक होती है उनमें लाभ भी अधिक होते हैं।

सिद्धान्त की आलोचनायें

(1) इस सिद्धान्त में जोखिम को ही लाभ का एक मात्र निर्धारक माना जाता है। नव प्रवर्तन उद्यमियों की योग्यता समन्वय आदि के प्रतिफल की इस सिद्धान्त में अवहेलना की गई है।

(2) कार्वर के अनुसार लाभ जोखिम के कारण उत्पन्न नहीं होता है वरन् लाभ इसलिये उत्पन्न होता है कि उद्यमी द्वारा जोखिम कम करदी जाती है। इस

प्रकार लाभ जोखिम उठाने का प्रतिफल न होकर जोखिम कम करने का प्रतिफल होता है।

(3) प्रो. नाइट के अनुसार लाभ अज्ञात जोखिम का पुरस्कार होता है। नाइट ने ज्ञात तथा अज्ञात जोखिम बताई हैं। ज्ञात जोखिमो यथा आग, चोरी, दुर्घटना आदि को बीमा करके समाप्त किया जा सकता है। अज्ञात जोखिमो का पहिले से अनुमान नही लगाया जा सकता है। माग तथा लागत की दशाओ सम्बन्धी जोखिमो का पूर्वानुमान नही लगाया जा सकता है। लाभ इन्ही जोखिमो का पुरस्कार होता है।

4 लाभ का अनिश्चितता वहन सिद्धान्त(The Uncertainty Bearing Theory of Profit)—सर्व प्रथम इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रो. एफ. एच. नाइट (F. H. Knight) ने अपनी पुस्तक 'Risk Uncertainty and Profit' मे किया था। उनके मतानुसार, "**लाभ अबीमा योग्य (Non-insurable) जोखिमों अर्थात् अनिश्चितताओं को वहन करने का पुरस्कार है और लाभ की मात्रा अनिश्चितता उठाने की मात्रा पर निर्भर करती है।**" प्रो. नाइट ने अनिश्चितताओ तथा जोखिम मे अन्तर माना है। उनके अनुसार सभी जोखिम अनिश्चिततायें उत्पन्न नही करती। इस अन्तर को अधिक स्पष्ट करने के लिये उन्होने व्यापार मे जोखिमो को दो भागों मे बाटा है (i) बीमा योग्य जोखिम (Insurable Risks) तथा (ii) अबीमा योग्य जोखिम (Non–insurable risks)। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है।

(i) **बीमा योग्य जोखिम**—ऐसे जोखिम जिनका अनुमान पहिले ही लगाया जा सकता है, बीमा योग्य जोखिम होते है। इनकी लगभग सही-सही साख्यिकीय गणना भी की जा सकती है। उदाहरण के रूप मे चोरी, आग, दुर्घटना, तोड़-फोड़ हड़ताले आदि ऐसी जोखिम हैं जिनका बीमा कराया जा सकता है तथा इनके कारण होने वाली हानि को दूसरो पर डालकर इससे बचा जा सकता है। इस प्रकार इन जोखिमो के कारण कोई अनिश्चितता उत्पन्न नही होती है। अत. इनके कारण लाभ उत्पन्न नही होता है।

(ii) **अबीमा योग्य जोखिम**—ये अज्ञात जोखिम होती हैं। इनका पूर्वानुमान लगाना असम्भव होता है। इनकी साख्यिकीय गणना भी नही की जा सकती है। अत: इनके भार को दूसरो पर डालने के लिये इनका बीमा नही कराया जा सकता। इनसे अनेक अनिश्चितताये उत्पन्न होती है। उदाहरण के तौर पर निम्नलिखित जोखिमे अबीमा योग्य होती है—(1) व्यक्तियो की रुचि, फैशन इत्यादि मे परिवर्तनो के कारण माग मे होने वाले परिवर्तन, (2) नये-नये यन्त्र तथा मशीनो आदि का आविष्कार जो वर्तमान यन्त्र तथा मशीनो को अप्रचलित कर सकते हैं तथा लागत मे बचत लाने वाले हो सकते हैं, (3) उत्पादन की नवीन तकनीकी पद्धतियो के कारण भी नयी नयी फर्में कम उत्पादन लागत पर उत्पादन प्राप्त कर सकती है, (4) तेजी मंदी के व्यापारिक चक्र (trade cycle) अधिक जोखिम भरे होते है, (5) सरकारी नीतियो तथा कर व राजकोषीय नीति, मूल्य नीति, राष्ट्रीयकरण, पूर्ति पर नियंत्रण

आदि के कारण उत्पत्ति को कम मूल्यों पर बेचना पड़ सकता है, (6) जनसंख्या में परिवर्तन तथा (7) कच्चे माल तथा शक्ति के नये नये स्रोतों की खोज आदि के कारण अनेक जोखिमें उत्पन्न हो जाती हैं।

इस प्रकार व्यवसाय में अबीमा योग्य जोखिमों के कारण अनेक अनिश्चिततायें उत्पन्न हो जाती हैं। प्रो नाइट के अनुसार इन अनिश्चितताओं को वहन करने का प्रतिफल ही लाभ है, उत्पादन कार्य में जितनी अधिक अनिश्चिततायें होती हैं लाभ की मात्रा उतनी ही अधिक होती है।

लाभ का निर्धारण—प्रो नाइट के अनुसार अनिश्चितता की प्रत्येक इकाई उत्पादक होती है इसलिये इसकी माग होती है। अनिश्चितता का पूर्ति-मूल्य भी होता है। क्योंकि जब तक एक निश्चित लाभ की आशा नही होगी तब तक कोई भी व्यक्ति अनिश्चितता वहन करने को तैयार नहीं होगा। यह अनिश्चितता वहन कार्य निम्नलिखित बातों द्वारा प्रभावित होता है—(1) साहसी की मनोवृत्ति, (2) उसकी आर्थिक स्थिति तथा (3) कुल साधनों का अंश जो वह जोखिम में डाल रहा है। लाभ की मात्रा इन बातों पर निर्भर करती है। अनिश्चितता तथा पूजी दोनों मिलकर ही प्रतिफल प्रदान करते हैं। पूजी निर्जीव होने के कारण अकेले ही प्रतिफल प्रदान नही कर सकती दूसरी ओर पूजी के अभाव मे अनिश्चितता वहन अर्थहीन होता है। प्रो बोल्डिंग ने भी इस विचार के समर्थन मे मत व्यक्त किया है कि, "लाभ व्यवसाय के स्वामित्व की कठिनाइयों को सहने तथा अनिश्चितता को उठाने के कारण प्राप्त होता है।"

इस प्रकार लाभ अनिश्चितता को उठाने का प्रतिफल होता है।

सिद्धांत की आलोचनायें—इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं—

(1) साहसी केवल अनिश्चितता वहन करने का कार्य ही नहीं करता है। वह उत्पादन कार्य क्रम का निर्धारण, साधनों का संयोजन, संगठनात्मक कार्य तथा अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करता है। अत लाभ को केवल अनिश्चितता उठाने का प्रतिफल मान लेना ठीक नहीं है।

(2) अनिश्चितता की सही सही माप नहीं की जा सकती अत लाभ का ठीक ठीक अनुमान नही लगाया जा सकता है।

(3) अनिश्चितता के अतिरिक्त अन्य तत्व यथा एकाधिकार में मंदनिपुणता, पूजी की कमी, लागत की कमी आदि भी लाभ की पूर्ति को प्रभावित करते हैं।

(4) अगर लाभ को अनिश्चितता का परिणाम कहा जाय तो अनिश्चितता को भी उत्पादन के अन्य साधनों यथा भूमि, श्रम, पूंजी तथा प्रबन्ध के समान उत्पादन का एक साधन मानी जानी चाहिये। परन्तु इसे एक पृथक साधन नही माना जा सकता। अत लाभ एक मात्र अनिश्चितताओं का परिणाम नहीं माना जा सकता।

(5) इस सिद्धान्त में केवल आकस्मिक लाभ की व्याख्या की गई है। इसमें शुद्ध लाभ की व्याख्या नहीं की गई है।

(6) कभी कभी अनिश्चितताओं के होने पर भी साहसी को हानि उठानी पड़ती है जबकि लाभ अनिश्चितताओं का परिणाम माना जाता है।

(7) नाइट का यह सिद्धान्त कोई स्वतन्त्र विचार नहीं है। यह बहुत कुछ हाले के जोखिम सिद्धान्त की उपज है क्योंकि अनिश्चितता का सम्बन्ध जोखिम से होता है।

5. लाभ का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory of Profit)—उद्यम भी भूमि, श्रम, पूंजी तथा प्रबन्ध के समान उत्पादन का एक साधन होता है। अत: लाभ भी उद्यमी की सीमान्त उत्पादकता का परिणाम होता है। जिन उद्योगों में साहसी की पूर्ति कम होती है उनमे साहसी की उत्पादकता अधिक होती है अत: उनमें लाभ की मात्रा अधिक होती है। इसके विपरीत जिन उद्योगों में साहसी की पूर्ति अधिक होती है उनमें साहसी की सीमान्त उत्पादकता कम होने के कारण लाभ की मात्रा कम होती है।

आलोचनाएं—एक फर्म मे एक ही उद्यमी होता है अत: एक फर्म में उद्यमी की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात नहीं की जा सकती है। साहसी की सीमान्त उत्पादकता को ज्ञात करना बड़ा कठिन होता है। यह सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं क्योंकि सभी साहसी एक समान कुशल नही होते। दूसरे एक साहसी की वृद्धि या कमी से उद्योग के कुल उत्पादन में वृद्धि या कमी से साहसी की सीमान्त उत्पादकता का सही माप नहीं होता। अत: उद्योग में भी साहसी की सीमान्त उत्पादकता को ठीक-ठीक ज्ञात नहीं किया जा सकता है। एकाधिकारी लाभ की इस सिद्धान्त में व्याख्या नहीं की जा सकती है। अप्रत्याशित लाभों अथवा संयोग लाभों की भी व्याख्या इस सिद्धान्त में नहीं की जाती है क्योंकि इनका साहसी की सीमान्त उत्पादकता से कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

6. लाभ का समाजवादी सिद्धान्त (The Socialist Theory of Profit)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कार्ल मार्क्स ने किया है। उनके अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसमें व्यय किये गए श्रम के बराबर होता है। परन्तु पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु के सम्पूर्ण मूल्य का केवल एक अंश ही श्रमिक को मजदूरी के रूप मे दिया जाता है। अधिकांश भाग पूंजीपति द्वारा हड़प लिया जाता है। इस प्रकार लाभ प्राप्त होने का प्रमुख कारण साहसी द्वारा श्रमिकों का शोषण है। कार्ल मार्क्स ने इसे 'वैध डाका" (Legalised Robbery) कहा है। इसी कारण साम्यवादी अर्थ व्यवस्था मे लाभ का स्थान नहीं होता है।

आलोचना—कार्ल मार्क्स का यह कथन असत्य है कि उत्पत्ति का मूल्य उसमें व्यय किए गए श्रम के बराबर होता है। मार्क्स ने उत्पत्ति का श्रेय केवल श्रम को ही दिया है परन्तु व्यवहार में यह ठीक नहीं। पूंजी, भूमि, प्रबन्ध तथा साहसी की सेवाओं के अभाव में किसी भी प्रकार का उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार लाभ को "वैध डाका" कहना ठीक नहीं।

7 लाभ का प्रावैगिक सिद्धांत (Dynamic Theory of Profit)—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रो जे बी. क्लार्क के अनुसार "लाभ मूल्य तथा लागत मे अन्तर है।" यह परिवर्तनों का परिणाम होता है और केवल परिवर्तनशील अर्थ-व्यवस्था मे उत्पन्न होता है, स्थिर अर्थव्यवस्था मे नहीं। क्लार्क के अनुसार परिवर्तन-शील अथवा प्रावैगिक अर्थव्यवस्था मे जो परिवर्तन निरन्तर होते रहते है उन्हें पाच भागों मे बाटा जा सकता है—(1) जनसख्या, (2) पूजी की मात्रा, (3) उपभोक्ता की रुचि, फैशन व आवश्यकतायें, (4) उत्पादन की रीतियों मे सुधार तथा (5) औद्योगिक सस्थानो के रूप। इन परिवर्तनो के कारण अकुशल उत्पादको का स्थान कुशल उत्पादक ले लेते हैं। इस प्रकार ये परिवर्तन मूल्य तथा लागत म परिवर्तन लाते हैं। यह अन्तर ही लाभ होता है।

एक स्थिर अर्थव्यवस्था मे उपरोक्त पाचो प्रकार के आधारभूत परिवर्तन अनुपस्थित होते हैं। अत भविष्य स्पष्ट दर्शी होता है तथा आर्थिक अनिश्चितताओं का नामो निशान नही होता है। परिणामत लागत तथा मूल्य समान रहते हैं। अत लाभ नही होता। इस प्रकार स्थिर अर्थव्यवस्था मे साहसी का कार्य एक सामान्य निरीक्षक (Supervisor) का होता है जिसके लिए मिलने वाला पुरस्कार "प्रबन्ध की मजदूरी" के रूप मे होता है लाभ के रूप मे नही।

इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार स्थिर अर्थव्यवस्था में लाभ उत्पन्न नही होता है। लाभ-परिवर्तनो का परिणाम है जो केवल प्रावैगिक अर्थ व्यवस्था मे ही सम्भव है।

आलोचनाएं—(1) वास्तव मे समस्त अर्थव्यवस्था प्रावैगिक या परिवर्तन-शील होती है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि लाभ पहिले से ही विद्यमान होते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से यह विचार ठीक नहीं।

(2) साहसी की जोखिम उठाने की क्षमता की इस सिद्धान्त में उपेक्षा की जाती है।

प्रो० नाइट के अनुसार कुछ प्रावैगिक परिवर्तन ज्ञात होते हैं। उनका बीमा कराकर उनसे सम्बन्धित अनिश्चितताओं को समाप्त किया जा सकता है। इनके वित्तीय परिणाम लागत के एक भाग के रूप म होते हैं। दूसरे प्रकार के परिवर्तन अनिश्चित होने के कारण उनका बीमा नही कराया जा सकता। ये ही लाभ को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार लाभ केवल अनिश्चित परिवर्तनशील परिवर्तनों का परिणाम होता है सभी प्रकार के परिवर्तनो का नहीं।

8. लाभ का नवप्रवर्तन पुरस्कार सिद्धांत (Innovation Theory of profit)—यह सिद्धान्त क्लार्क द्वारा प्रतिपादित लाभ के प्रावैगिक सिद्धान्त से मिलता जुलता है। इसका प्रतिपादन शुम्पीटर (Schumpeter) ने किया था। इसलिए इसे शुम्पीटर का नवप्रवर्तन पुरस्कार सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्त मे क्लार्क के पाच आधारभूत परिवर्तनों के स्थान पर आविष्कारों अथवा नव प्रवर्तनों

को लाभ का कारण माना गया है। शुम्पीटर ने गतिशील अर्थ व्यवस्था में नये-नये आविष्कारों अथवा नये-नये विचारों को लाभ की उत्पत्ति का कारण माना है। इन आविष्कारों अथवा नवीन पद्धतियों की उन्होंने तीन अवस्थायें मानी हैं– (1) नये यन्त्र, मशीन या विचार की योजना बनाना, (2) इस योजना को मूर्त रूप प्रदान करने के लिये आवश्यक वित्तीय तथा अन्य साधनों की व्यवस्था करना तथा (3) उन नवीन यन्त्र तथा आविष्कारों को उत्पादन कार्यों में प्रयोग करने की जोखिम उठाना। उत्पादन प्रक्रिया में इन विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों के सफल होने पर लाभ प्राप्त होने लगता है। इस प्रकार लागत कम बैठने लगती है। लागत तथा मूल्य में अन्तर होने के कारण ही लाभ उत्पन्न होता है।

शुम्पीटर के मतानुसार लाभ नवप्रवर्तन का कारण व परिणाम दोनों हैं। नवप्रवर्तन लागत कम करते हैं। अतः लागत से मूल्य अधिक होने के कारण लाभ उत्पन्न होता है। परन्तु लाभ की भावना से प्रेरित होकर ही उद्यमी नवप्रवर्तन लाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार नवप्रवर्तन तथा लाभ एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

परन्तु लाभ नवप्रवर्तन द्वारा उत्पन्न होते हैं परन्तु अन्य लोग भी जब इन नवप्रवर्तनों का प्रयोग करने लगते हैं तो धीरे-धीरे लाभ लुप्त हो जाते हैं क्योंकि इन प्रवर्तनों में कोई नवीनता नहीं रह जाती है। परन्तु प्रावैगिक अर्थव्यवस्था में नये-नये परिवर्तन सदैव होते रहते हैं। दूसरे, लाभ नव-प्रवर्तनों के प्रयोग करने वालों को प्राप्त होता है न कि नवप्रवर्तनों के विचार को प्रस्तुत करने वालों को प्राप्त होता हो।

शुम्पीटर ने लाभ को जोखिम का पुरस्कार नहीं माना है। परन्तु यदि गहराई से सोचा जाय तो नव-प्रवर्तन भी जोखिम का एक विशेष रूप है। कारण नवप्रवर्तनों का प्रयोग सफल सिद्ध हो भी सकता है और सिद्ध नहीं भी हो सकता है। इस प्रकार नव-प्रवर्तनों का प्रयोग एक प्रकार की जोखिम उठाने के समान है।

आलोचनायें—लाभ के निर्धारण में जोखिम तथा अनिश्चितता की उपेक्षा की जाती है।

9. लाभ का मांग और पूर्ति का सिद्धांत (Demand and Supply Theory of Profit)—यह सिद्धांत लाभ निर्धारण का आधुनिक सिद्धांत है। जिस प्रकार उत्पादन के अन्य साधनों का मूल्य उनकी मांग व पूर्ति के अनुसार निर्धारित होता है उसी प्रकार उद्यमी अथवा साहसी का मूल्य उसकी मांग तथा पूर्ति के अनुसार निर्धारित होता है।

साहसी की मांग—साहसी की मांग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर करती है। यह साहसी की सहायता से होने वाली कुल उत्पत्ति तथा बिना साहसी की सहायता से होने वाली कुल उत्पत्ति के अन्तर के बराबर होती है अर्थात् साहसी की सीमांत उत्पादकता जितनी अधिक होगी उसकी मांग उतनी ही अधिक

होगी। औद्योगिक उन्नति, उत्पत्ति का आकार तथा पैमाने तथा उद्योगों में जोखिम की सम्भावना ये तीनों बातें प्रत्यक्ष रूप से साहसी की मांग को प्रभावित करती हैं। जैसे जैसे उद्योगों का विकास होगा उद्योगों का पैमाना बढ़ता जायगा तथा उद्योगों का संगठन उतना ही जटिल होता चला जायगा। फलस्वरूप साहसी की माग भी बढ़ती जायगी।

साहसी की पूर्ति—साहसी की पूर्ति अनेक बातों पर निर्भर करती है। इनमें से जनसख्या का आकार, साहसी की सख्या, समाज की स्थिति, औद्योगिक अनुभव, पूंजी की उपलब्धि, आय का वितरण तथा उत्पत्ति में जोखिम की सम्भावना आदि बातें साहसी की पूर्ति को अधिक प्रभावित करती हैं। इनमें सामाजिक स्थिति का विशेष महत्व है क्योंकि सामाजिक स्थिति पर ही औद्योगिक प्रगति, साहसी की सख्या, औद्योगिक अनुभव आदि बातें निर्भर करती हैं।

साम्य—साहसी की माग तथा पूर्ति मे जहां सन्तुलन हो जाता है वहीं लाभ निर्धारित होता है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे दीर्घकाल में लाभ साहसी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा। अगर साहसी को इससे अधिक लाभ होता है तो यह आकस्मिक, अप्रत्याशित अथवा संयोग लाभ माना जाता है।

यह हम पहिले ही अध्ययन कर चुके हैं कि साहसी की सीमान्त उत्पादकता का अनुमान एक सम्पूर्ण उद्योग के साहसी की सख्या म परिवर्तन करके लगाया जा सकता है परन्तु एक फर्म के लिए एक ही साहसी होने के कारण एक फर्म में साहसी की सीमान्त उत्पादकता का अनुमान लगाना असम्भव तथा अव्यावहारिक है।

इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि लाभ भी लागत का ही एक भाग है और यह जोखिम का प्रतिफल है।

लाभ का कौनसा सिद्धान्त सर्वोत्तम है?—लाभ निर्धारण सम्बन्धी जिन नियमों का अध्ययन किया गया है उनमें से कौनसा सिद्धान्त अच्छा है? वास्तव में देखा जाय तो लाभ का कोई सा भी नियम स्वयं में पूर्ण नहीं है। किसी में भी लाभ की पूरी-पूरी व्याख्या नहीं की गई है। प्रत्येक सिद्धान्त में साहसी के केवल एकाध भाग का ही उल्लेख किया जाता है। परन्तु लाभ एक ही प्रकार के कार्य से प्राप्त आय नहीं होती। यह तो सभी कार्यों का मिला-जुला परिणाम होता है। उत्पादन की योजना बनाना, साधनों को जुटाना, उनमें समन्वय स्थापित करना, उन्हें अग्रिम रूप से पारिश्रमिक देकर जोखिम उठाना, तथा भविष्य की सभी प्रकार की अनिश्चितताओं को वहन करना ये सभी कार्य उत्पादनकर्ता को करने होते हैं। लाभ के किसी भी एक सिद्धान्त द्वारा इन सभी तत्वों की व्याख्या नहीं की गई है।

वैसे सभी सिद्धान्त एक दूसरे से इस प्रकार मिले जुले हैं कि सभी मिलकर ही लाभ की पूरी पूरी व्याख्या कर सकते हैं। नव प्रवर्तन, अनिश्चितता, जोखिम, गतिशीलता आदि सभी तत्वों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। गतिशीलता के कारण समाज मे परिवर्तन होते हैं अतः आर्थिक प्रगति सम्भव होती है। परन्तु साहसी अनिश्चितता

तथा जोखिम उठाकर ही आर्थिक प्रगति का लाभ उठा सकता है। इस प्रयास में कुछ सफल हो जाते हैं और कुछ असफल रहते हैं। जो सफल हो जाते हैं वे लाभ के भागी होते हैं। इस प्रकार अनिश्चितता भी लाभ की एक विशेषता है।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी एक सिद्धान्त के आधार पर लाभ की सही-सही व्याख्या नहीं की जा सकती है। फिर भी लाभ का जोखिम तथा अनिश्चितता का सिद्धान्त तथा अवशिष्टता का सिद्धान्त और लाभ का मांग व पूर्ति का सिद्धान्त लाभ की अधिक सही व्याख्या करते हैं।

प्रश्न एवं संकेत

1. लाभ शब्द की व्याख्या कीजिए। लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों को समझाइए। कौनसा सिद्धान्त आपकी दृष्टि से अच्छा है ?

(संकेत—प्रारम्भ में लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों को समझाकर लाभ की व्याख्या करें बाद में अपने विचार व्यक्त करें कि लाभ का कौनसा सिद्धान्त अच्छा है।)

2. लाभ की परिभाषा दीजिए। लाभ का निर्धारण कैसे होता है ? क्या इसे योग्यता का लगान कहा जा सकता है ?

(संकेत—प्रथम दोनों भागों का उत्तर प्रश्न क्रमांक 1 के समान दें। अन्तिम भाग के उत्तर में लाभ के लगान सिद्धान्त की व्याख्या करें।)

(3) "नाइट के लाभ सिद्धान्त" अथवा "लाभ का अनिश्चितता वहन सिद्धान्त" की व्याख्या कीजिए।

(4) संक्षेप में टिप्पणियां लिखो—

(i) लाभ योग्यता का लगान है (ii) लाभ जोखिम का प्रतिफल है (iii) बीमा योग्य तथा अबीमा योग्य जोखिम (iv) व्यक्त तथा अव्यक्त लागतें (v) कुल लाभ के अंग।

(5) शुद्ध लाभ तथा कुल लाभ में अन्तर बताइये और बताइए कि शुद्ध लाभ का निर्धारण कैसे होता है ?

(6) सामान्य लाभ तथा अतिरिक्त लाभ में अन्तर बताइये। क्या साहसी का पुरस्कार उत्पादन लागत में प्रवेश करता है ?

(7) लाभ की विवेचना करते हुए लाभ के आधुनिक सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।